आधुनिक योरोप

पूर्वार्द्ध

(१७८९—१८७१)

अ० न० मेहता, एम० ए०, पी-एच० डी०
भूतपूर्व अध्यक्ष, इतिहास तथा राज्य-विज्ञान विभाग
वलवन्त राजपूत कॉलेज, आगरा

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल
पुस्तक प्रकाशक
हॉस्पिटल रोड, आगरा

दो शब्द

हिन्दी के भारत की राष्ट्र-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो जाने के बाद से अनेक विश्वविद्यालयों ने उच्च शिक्षा हिन्दी के द्वारा देना आरम्भ कर दिया है। परन्तु अभी उच्च शिक्षा के अनेकानेक विषयों पर हिन्दी में उपयुक्त साहित्य की बड़ी कमी है। योरोपीय इतिहास पर एक-दो विद्वानों के अपने ढंग के अच्छे ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किन्तु उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये अभी अनेक अच्छे ग्रन्थों की आवश्यकता है। मैंने प्रस्तुत पुस्तक लिखकर इस आवश्यकता की आंशिक पूर्ति करने का प्रयास किया है।

इस पुस्तक के लिये मैं मौलिकता का लेशमात्र भी दावा नहीं करता। अनेक प्रख्यात अधिकारी योरोपियन एवं अमेरिकन लेखकों के ग्रन्थों से मैंने अपनी सामग्री जुटाई है* और शिक्षण के अपने थोड़े-बहुत अनुभव के प्रकाश में विश्वविद्यालयो के स्नातकों के लिये जितना ज्ञान मैंने अपेक्षित समझा है, उसे अपने ही ढंग से सरल-सुगम शैली में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। जब तक हिन्दी में इस विषय पर उच्च कोटि के ग्रन्थ प्रकाशित नहीं होते, तब तक अंग्रेजी भाषा में लिखे हुए उत्तमोत्तम ग्रन्थों का अवलोकन छात्रों के लिये अनिवार्य ही रहेगा। इस दृष्टि से मैंने स्थान-स्थान पर पाद-टिप्पणियों में ऐसे ग्रन्थों की ओर संकेत किया है। प्रायः ये सब ग्रन्थ ऐसे हैं जो सामान्य कोटि के कॉलेजों के पुस्तकालयों में मिल सकते हैं और छात्रों की पहुँच तथा समझ के बाहर नहीं हैं। विषय के समुचित ज्ञान के लिये यह आवश्यक है कि छात्र उनमें से अधिकाधिक ग्रन्थ पढ़ें। पाद-टिप्पणियों की सहायता से इस कार्य में उन्हें काफ़ी सुविधा रहेगी।

इतिहास के समुचित अध्ययन के लिये ऐतिहासिक मानचित्रों का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। इस दृष्टि से मैंने इस पुस्तक में कई सुन्दर मानचित्र दिये हैं जिनसे अध्ययन में काफ़ी सहायता मिलेगी।

योरोप के अनेक स्थानों तथा व्यक्तियों के नामों के शुद्ध उच्चारण की समस्या मेरे सामने रही है। उसे हल करने में मुझे अपने मित्र, अनेक भाषाओं के ज्ञाता, हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक एवं अपने कॉलेज के अंग्रेजी-विभाग के अध्यक्ष श्री डॉ० रामविलास शर्मा से बड़ी सहायता मिली है जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। परन्तु अनेक कारणों से मैं सदैव उनसे सहायता न ले सका और मुझे डर है कि कहीं-कहीं हिन्दी में नाम अशुद्ध रह गये होंगे जिन्हें मैं अगले संस्करण में शुद्ध करने का प्रयास करूँगा। कई नाम लिखे कुछ और पढ़े कुछ और ही जाते हैं। मैंने प्रायः उन नामों के आगे कोष्ठक में अंग्रेजी लिपि में उनका रूप दे दिया है जिससे पाठक उन नामों तथा उनके उच्चारणों से परिचित हो सकें।

---

* इन ग्रन्थों की सूची पुस्तक के अन्त में दी हुई है।

पुस्तक को सब प्रकार से उपादेय बनाने का प्रयत्न तो मैंने पूरा किया है परन्तु विषय की विशदता, पुस्तक के सीमित आकार तथा स्नातकों की आवश्यकताओं के मेरे अपने अनुमान के कारण इसमें त्रुटियाँ रह जाना सम्भव है। यदि उन त्रुटियों की मुझे सूचना मिली तो मैं अगले संस्करण में उन्हें दूर करने का प्रयत्न करूंगा। यदि पुस्तक हमारे विश्वविद्यालयों के छात्रों के काम की हो सकी और उन्हें इससे सन्तोष हो सका तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूंगा। एक शिक्षक के लिये छात्रों के सन्तोष से अधिक मूल्यवान कोई पुरस्कार नहीं हो सकता। आशा है, मुझे यह पुरस्कार प्राप्त हो सकेगा।

आगरा
अनन्त चतुर्दशी
३-९-५२

अ० न० मेहता

द्वितीय (संशोधित) संस्करण का वक्तव्य

पाठकों की सेवा में 'आधुनिक योरोप—पूर्वार्द्ध' का यह द्वितीय संशोधित संस्करण प्रस्तुत है। इस संस्करण में विषय को अधिक स्पष्ट एवं विशद बनाने के निमित्त अनेक स्थानों पर संशोधन किया गया है और कुछ नई सामग्री का भी समावेश किया गया है। इस कार्य में मैंने हाल ही में प्रकाशित कुछ प्रामाणिक ग्रन्थों से सहायता ली है और उनके नाम पुस्तक के अन्त में दी हुई पाठ्य ग्रन्थावली में शामिल कर दिये हैं। योरोपीय इतिहास के आधुनिक युग की एक महत्वपूर्ण बात योरोप के संसारव्यापी विस्तार की है। दुर्भाग्यवश पिछले संस्करण में इस महत्वपूर्ण बात की ओर पूरा-पूरा ध्यान नहीं दिया जा सका। इस भूल का प्रतिकार अन्त में एक नया अध्याय 'योरोप का विस्तार' देकर किया गया है। पुस्तक में स्थान-स्थान पर दिये हुए कई मानचित्रों का भी, उनमें अधिक पूर्णता एवं शुद्धता लाने की दृष्टि से, संशोधन किया गया है। मुझे विश्वास है कि इस संशोधित रूप में पुस्तक पाठकों को अधिक सन्तोष दे सकेगी।

गंगा दशमी
२३-६-६१

अ० न० मेहता

चतुर्थ (संशोधित) संस्करण का वक्तव्य

इस संस्करण में भी यत्र-तत्र नये प्रकाशित ग्रन्थों के आधार पर संशोधन एवं परिवर्तन किये गये हैं और विषय-विवेचन को अधिक प्रामाणिक बनाने का प्रयत्न किया गया है। आशा है इससे पुस्तक की उपयोगिता में कुछ वृद्धि होगी।

श्रीराधाष्टमी
३-९-६५

अ० न० मेहता

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

———

मानचित्र सूची

आधुनिक योरोप के इतिहास
की
पृष्ठभूमि

[प्राचीन काल से १७८९ तक]

अध्याय १

प्राचीन कालीन योरोप

आधुनिक योरोप के इतिहास के समुचित अध्ययन के लिये उसके पिछले युगों के इतिहास की मुख्य-मुख्य बातों का ज्ञान आवश्यक है। योरोप की गणना आज संसार के सभ्यतम भू-भागों में होती है, परन्तु वह मानव इतिहास के मंच पर बहुत बाद में आया। जिस समय भारतवर्ष, चीन, पश्चिमी एशिया, मिस्र आदि देशों में उच्च कोटि की सभ्यताएँ विद्यमान थीं, उस समय समस्त योरोप जंगली एवं असभ्य दशा में था। योरोप का इतिहास ढाई हज़ार वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है। वहाँ सर्वप्रथम सभ्यता का उदय ग्रीस तथा पश्चिमी एशिया के बीच में स्थित ईजियन सागर के द्वीपों में हुआ जिनमें क्रीट का द्वीप सबसे बड़ा है। क्रीट ईजियन सभ्यता का केन्द्र था। यह सभ्यता संसार की प्राचीन सभ्यताओं (सिंध, चीन, मिस्र, सुमेरियन तथा एसीरियन) की समकालीन थी और उन्हीं के समान उत्कृष्ट कोटि की थी। अनुमानतः कोई डेढ़ हज़ार वर्षों के शान्तिपूर्ण विकास के उपरान्त १२०० ई० पू० के लगभग उत्तर की ओर से आनेवाले यूनानियों ने इस सभ्यता के प्रधान केन्द्रों को नष्ट करके उसका अन्त कर दिया। इस सभ्यता का अन्त तो हो गया, परन्तु नष्ट हो जाने पर भी उसने यूनानियों पर बड़ा प्रभाव डाला। जिस सभ्यता का यूनानियों ने विकास किया उसकी जननी ईजियन सभ्यता ही थी।*

(अ) यूनानी सभ्यता

जिन यूनानियों ने ईजियन सभ्यता के क्रीट आदि केन्द्रों पर आक्रमण किया था वे प्रधानतः प्रख्यात आर्य प्रजाति की एक शाखा थे। ईसा के पूर्व दूसरी सहस्राब्दी में किसी समय उत्तर की ओर से चलकर वे बाल्कन प्रायद्वीप में होते हुए यूनान (ग्रीस) में आ बसे। ग्रीस बड़ा ऊबड़-खाबड़ प्रदेश है। समस्त दिशाओं में फैली हुई अनेक पहाड़ियों ने इस प्रदेश की अनेक घाटियों को पृथक् कर दिया है जिनके बीच उन दिनों यातायात के अच्छे साधनों के अभाव के कारण पारस्परिक सम्पर्क कठिन था। फलतः जब यूनानी लोग यहाँ आकर इन घाटियों में बसे तो विभिन्न घाटियों में बसे हुए लोगों के बीच निकट सम्पर्क स्थापित न हो सका और वे एक दूसरे से अलग बने रहे। इन

---

* Swain : A History of World Civilization, p. 102.

घाटियों में उन्होंने अपने-अपने नगर स्थापित किये। प्रत्येक नगर एक स्वतन्त्र राज्य होता था और आसपास के नगर-राज्यों से उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता था। ऐसे नगर-राज्य ग्रीस में सैकड़ों थे जिनमें प्रमुख एथेन्स तथा स्पार्टा के राज्य थे। इन राज्यों की जनसंख्या अधिक नहीं होती थी। अधिकांश राज्यों की जनसंख्या ५०,००० से अधिक नहीं थी। एथेन्स का राज्य सबसे बड़ा था परन्तु उसकी जनसंख्या भी अनुमानतः तीन लाख से अधिक नहीं थी।

ग्रीस और लघु एशिया के बीच के समुद्र में असंख्य छोटे-छोटे द्वीप हैं। यूनानी लोग इनमें जा बसे और इनसे आगे बढ़कर उन्होंने लघु एशिया के तट पर भी अपनी बस्तियाँ बसा लीं। वे उत्तर, पश्चिम तथा दक्षिण की ओर भी बढ़े और काले सागर, दक्षिणी इटली, सिसली, दक्षिणी फ्रांस, पूर्वी स्पेन तथा उत्तरी अफ्रीका के तट पर उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित किये जो सैंकड़ों वर्षों तक फलते-फूलते रहे।

संस्कृति—दक्षिण की ओर बढ़ते समय यूनानियों में एकता नहीं थी और न वे राजनीतिक दृष्टि से आगे भी कभी एक हो सके। इस पर भी उनमें तीन बातें ऐसी थीं जो उनकी आधारभूत सांस्कृतिक एकता की द्योतक थीं। वे सब अपने आपको एक पुरखा—हेलेन—की सन्तान समझते थे। इसी कारण वे अपने आपको हेलेनीज और अपने देश को हेलास कहते थे। उनकी सभ्यता भी इसी कारण हेलेनीज सभ्यता कहलाती है। उन सबका धर्म भी एक था। वे लोग भारतीय आर्यों की भाँति देवताओं में विश्वास करते थे। उनके प्रधान देवता ज्यूस (Zeus), डेमेटर (Demeter), अपोलो (Apollo), पोसीडॉन तथा डायोनीसस (Dionysus) थे। देवियों में सबसे प्रमुख एथीना (Athena) थी जो एथेन्स राज्य की अधिष्ठात्री देवी थी। ऑलिम्पस पर्वत इन देवताओं का निवासस्थान समझा जाता था। वे लोग देवताओं से डरते नहीं थे वरन् उन्हें महापुरुष समझ कर उनकी आराधना करते थे और उन्हें अपने सुख-दुःख के साथी तथा रक्षक समझते थे। देवताओं के लिये वे बड़े भव्य मन्दिरों का निर्माण करते थे। मन्दिरों में पुजारी या पुरोहित होते थे जो धार्मिक उत्सव तथा यज्ञादि करते थे, परन्तु समाज पर उनका आधिपत्य नहीं था। वास्तव में यूनानियों का प्रत्येक क़बीला अपनी उत्पत्ति किसी देवता से मानता था और इस प्रकार देवता समाज के संस्थापक माने जाते थे। देवता उनके अपने आत्मीय थे और उन्हें प्रसन्न करने के लिये किसी पुरोहित के माध्यम की आवश्यकता नहीं थी। इस बात का एक महत्वपूर्ण सामाजिक परिणाम यह निकला कि यूनानियों में पुरोहित-वर्ग का प्राधान्य नहीं हो पाया और राज्य में लौकिक तथा धार्मिक शक्तियों के बीच में संघर्ष की सम्भावना कभी नहीं हो पाई। यूनानी राज्य धर्म-निरपेक्ष राज्य थे और यह बात राजनीतिक स्वतन्त्रता के अनुकूल थी। इसका अर्थ यह नहीं है कि यूनानी राज्यों का कोई धर्म नहीं होता था। राज्य से अलग कोई संगठित धर्म तथा पुरोहित-वर्ग नहीं था, इसी प्रभाव

के कारण धर्म का समाज तथा राज्य से घनिष्ठ सम्बन्ध था। वास्तव में यूनानियों के लिये राज्य केवल एक राजनीतिक संस्था ही नहीं वरन् धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक संस्था भी था। जिस प्रकार प्रत्येक परिवार तथा क़बीले की उत्पत्ति किसी देवता से मानी जाती थी, उसी प्रकार प्रत्येक राज्य का भी एक अधिष्ठाता देवता या अधिष्ठात्री देवी होती थी। उसका आदर करने और उसके लिये होनेवाले सार्वजनिक यज्ञों एवं उत्सवों में भाग लेने में ही यूनानी नागरिक के धार्मिक कर्त्तव्य की इतिश्री थी। इससे अधिक उससे कुछ भी अपेक्षित नहीं था। ऑलिम्पस पर्वत पर ज्यूस की उपासना के उपलक्ष्य में प्रति चौथे वर्ष खेल हुआ करते थे जिनमें ग्रीस के सभी राज्यों के प्रतिनिधि भाग लेते थे। उन्हें देखने के लिये सब जगह के दर्शक एकत्रित हुआ करते थे। यहाँ विभिन्न राज्यों के लोगों को परस्पर मिलने का अच्छा अवसर मिलता था और उन्हें अपनी आधारभूत एकता की अनुभूति होती थी। ये एक प्रकार से राष्ट्रीय खेल होते थे और इन खेल-कूद के दिनों में विभिन्न राज्य अपने पारस्परिक कलहों एवं युद्धों को स्थगित कर दिया करते थे।

यूनानियों को एकता के सूत्र में ग्रथित करनेवाली तीसरी बात उनकी सामान्य भाषा ग्रीक थी। विभिन्न क़बीलों की बोलियाँ अवश्य अलग-अलग थीं, जैसे डोरिक, आयोनिक आदि, परन्तु ग्रीक भाषा उन सबकी सामान्य भाषा थी। यूनानियों के आदि कवि नेत्रहीन होमर के महाकाव्य इलियड (Iliad) तथा ओडिसी (Odyssey) इसी भाषा में लिखे गये थे, जिनका सर्वत्र समान रूप से आदर होता था और जिनसे सब समान रूप से प्रेरणा प्राप्त करते थ।

राजनीतिक व्यवस्था—सामान्य उत्पत्ति, सामान्य धर्म एवं सामान्य भाषा जैसे एकता के प्रबल साधनों के होते हुए भी यूनानी लोग राजनीतिक एकता के सूत्र में कभी नहीं बँध सके। सारे देश में असंख्य स्वतन्त्र नगर-राज्य थे। नगर के चारों ओर एक नगरकोट हुआ करता था जिसके अन्दर ही राज्य का सारा सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन व्यतीत होता था। यहीं व्यापार होता था और यहीं राज्य के कला-कौशल होते थे। नगरकोट के बाहर कृषि-भूमि और चर-भूमि थी। कृषि और पशु-चारण दासों का काम था। यूनान के सभी नगर-राज्यों में तीन प्रकार के निवासी होते थे—नागरिक, विदेशी लोग तथा दास। विदेशियों तथा दासों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। दासों का काम कृषि करना, पशु चराना, घरेलू काम करना आदि था। नागरिकों को इन कामों को करने की चिन्ता नहीं थी और उन्हें राज्य के कामों में भाग लेने के लिये इस प्रकार पर्याप्त समय मिलता था।

विभिन्न राज्यों की शासन-पद्धतियाँ विभिन्न थीं, परन्तु मोटे तौर से शासन-पद्धति के विकास में कई समानताएँ थीं। आरम्भ में अधिकांश राज्यों में एकतन्त्र शासन था और वंशक्रमानुगत राजा शासन करते थे, परन्तु ईसा से पूर्व आठवीं

शताब्दी के लगभग अधिकांश राजाओं के अधिकार छिन गये और उनकी जगह कुलीनतन्त्रीय शासन स्थापित हो गये। व्यापार और सम्पत्ति के बढ़ने के साथ इन राज्यों में बड़े महत्वपूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन होने लगे। जो नगर-राज्य व्यापारिक क्षेत्र में अधिक प्रगतिशील थे, वहाँ प्रायः साहसिक व्यक्ति कुलीनों के अन्यायों के विरुद्ध जनता का पक्ष लेकर उठ खड़े होते थे और बलपूर्वक शासन छीन लेते थे। ऐसे शासक टायरेण्ट कहलाते थे। इनमें से कई बड़े सदाशय होते थे और जनहित में शासन करते थे, परन्तु कभी-कभी वे स्वयं अत्याचारी हो जाते थे और जनता उन्हें निकालकर जनतन्त्र स्थापित कर लेती थी। इन नगर-राज्यों में परिवर्तन बड़ी जल्दी-जल्दी हुआ करते थे। किन्तु ईसा से पूर्व छठी या पाँचवीं शताब्दी तक ग्रीस के प्रमुख नगर-राज्यों में ऐसी शासन-पद्धतियाँ स्थापित हो चुकीं थीं जो प्रायः स्थायी बनी रहीं।

स्पार्टा—हम ऊपर बता चुके हैं कि ग्रीस के नगर-राज्यों में स्पार्टा और एथेन्स मुख्य थे। इन दोनों राज्यों के आदर्श एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत थे। स्पार्टा कृषिप्रधान राज्य था और उसमें नागरिकों के प्रशिक्षण तथा सैनिक अनुशासन पर अत्यधिक जोर दिया जाता था। वहाँ कुलीनतन्त्रीय शासन था। राजनीतिक अधिकार-प्राप्त नागरिकों की संख्या वहाँ अपेक्षाकृत बहुत थोड़ी थी। अधिकांश निवासी या तो दास (Helots) थे जो अपने मालिकों की टहल करते थे, उनकी खेती करते थे और जिन्हें भारी कर देने पड़ते थे, या व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र (Perioeci) थे, परन्तु इन्हें कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त न थे। राज्य बालक-बालिकाओं की शिक्षा-दीक्षा पर पूरा नियन्त्रण रखता था। बालकों को कड़ी सैनिक शिक्षा दी जाती थी और उनके स्वास्थ्य तथा शारीरिक गठन पर पूरा ध्यान दिया जाता था। बालिकाओं को भी कड़ी शारीरिक शिक्षा दी जाती थी। उनके शिक्षण का एकमात्र उद्देश्य यह था कि वे स्वस्थ एवं हृष्टपुष्ट बालकों की माताएँ बनें। इस प्रकार स्पार्टा के नागरिकों का सारा समय शरीर को बलिष्ठ बनाने तथा वीरोचित गुणों की अभिवृद्धि में ही बीतता था और बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिये उन्हें अवकाश नहीं मिलता था इसका परिणाम यह हुआ कि स्पार्टा अपने युद्ध-कौशल के लिये तो अमर हो गया परन्तु यूनानी सभ्यता के विकास में उसका कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं रहा।

एथेन्स—एथेन्स स्पार्टा के विपरीत बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उन्नति एवं स्वतन्त्रता का पुजारी था। वहाँ प्रजातन्त्र का सर्वाधिक विकास हुआ। एथेन्स के प्रजातन्त्र का जन्मदाता सोलन (Solon) था जिसने ५८४ ई० पू० के लगभग एथेन्स के लिये एक संविधान का निर्माण किया। यह संविधान स्वयं तो प्रजातन्त्रीय नहीं था परन्तु इसके द्वारा कुलीनों की शक्ति पर नियन्त्रण लगाया गया, जनता को कुछ अधिकार मिले और इस प्रकार प्रजातन्त्र का श्रीगणेश हुआ। सोलन के समय के बाद एथेन्स में अन्य स्थानों के अनुसार पिसिस्ट्रेटस (Pisistratus) का एकतन्त्र शासन

स्थापित हुआ। इसका शासन तो अच्छा था, परन्तु अपनी स्वतन्त्रता छिन जाने से एथेन्स के निवासी इस शासन को सहन न कर सके। उन्होंने उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र को पदच्युत कर दिया और एथेन्स में प्रजातन्त्र स्थापित हो गया। उसका आधार क्लेस्थनीज़ (Cleisthenes) का संविधान (५०८ ई० पू०) था। इसके उपरान्त प्रजातन्त्र की उत्तरोत्तर उन्नति होती गई। परन्तु चरम उन्नति को प्राप्त होने के पहिले एथेन्स को फ़ारस के आक्रमण का मुक़ाबला करना पड़ा जिसमें उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

फ़ारस का आक्रमण—इन्हीं दिनों पश्चिमी एशिया में फ़ारस का महान् साम्राज्य था और सम्राट् डेरियस उसका विस्तार कर रहा था। पश्चिमी एशिया के भूमध्यसागरीय तट पर यूनानी उपनिवेश थे जिनको अपने साम्राज्य में मिलाने का उसने प्रयत्न किया। उन उपनिवेशों ने विद्रोह कर दिया। एथेन्स को यह आशंका हुई कि डेरियस आगे बढ़ कर ग्रीस पर भी कहीं आक्रमण न कर बैठे। इस कारण उसने यूनानी उपनिवेशों की सहायता को कुछ जहाज़ भेजे। इस पर क्रुद्ध होकर डेरियस ने एथेन्स पर आक्रमण कर दिया और मेरेथॉन (Marathon) की खाड़ी में अपनी विशाल सेना उतार दी। एथेन्स ने स्पार्टा तथा अन्य राज्यों से सहायता माँगी, परन्तु कहीं से सहायता मिलने के पूर्व ही एथेन्सवालों ने मेरेथॉन के मैदान में फ़ारसवालों को बुरी तरह से परास्त कर दिया (४९० ई० पू०)। इसके दस वर्ष बाद ४८० ई० पू० में डेरियस के उत्तराधिकारी ज़रक्सीज़ (Xerxes) ने अपने पिता की पराजय का बदला लेने के लिये आक्रमण किया। इस बार उसने जल-मार्ग तथा स्थल-मार्ग दोनों से आक्रमण किया। जल और स्थल दोनों पर घोर युद्ध हुए, जिनमें दोनों पक्षों की बहुत क्षति हुई, परन्तु अन्त में एथेन्स और स्पार्टा की सम्मिलित शक्ति ने फ़ारसवालों को ऐसा परास्त किया कि उन्होंने फिर कभी यूनान विजय करने की चेष्टा न की।

एथेन्स का उत्कर्ष—इस विजय के बाद के ५० वर्ष का समय एथेन्स के चरम उत्कर्ष का काल था। इसमें एथेन्स में पूर्ण प्रजातन्त्र की स्थापना हुई और कला-साहित्य, विज्ञान एवं दर्शन के क्षेत्र में एथेन्सवालों ने बड़ी उन्नति की। इस युग के अधिकांश में एथेन्स की बागडोर एक अत्यन्त सुयोग्य शासक एवं राजनीतिज्ञ पेरिक्लीज़ (Pericles) के हाथों में थी। उसके समय में एथेन्स ग्रीस के बौद्धिक एवं कलात्मक जीवन का केन्द्र और क्रियात्मक प्रजातन्त्र का आदर्श बन गया। वह स्वयं एथेन्स को 'हेलास की पाठशाला' (School of Hellas) कहता था और उसका दावा सत्य ही था। कला, साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि के क्षेत्र में एथेन्स ने जितनी उन्नति इन पचास वर्षों में की, उतनी इतने थोड़े से समय में आज तक किसी भी देश ने नहीं की।*

पतन—पेरिक्लीज़ की मृत्यु के बाद (४२९ ई० पू०) एथेन्स के पतन का

* Strong : Dynamic Europe, p. 48.

सूत्रपात हो गया। प्रजातन्त्र की सफलता के लिये कुशल नेतृत्व के अतिरिक्त तीन बातें अनिवार्य हैं—ज्ञानवान, क्रियाशील एवं साहसी नागरिक समुदाय, विचार-विमर्श के आधार पर नीति-निर्धारण तथा जनता के अधिकारों की सुरक्षा के एकमात्र साधन-संविधान के लिये आदर-भावना। पेरिक्लीज़ की मृत्यु के बाद एथेन्स में जो परिस्थिति उत्पन्न हुई, उससे यह स्पष्ट प्रकट हो गया कि यदि सुव्यवस्था का मूल्य चुकाकर स्वतन्त्रता खरीदी जाती है तो वह बड़ी महँगी पड़ती है। इसके साथ ही यह स्पष्ट हो गया कि एक कुशल नेता के मिल जाने पर उस पर बिल्कुल निर्भर हो जाने से काम नहीं चलता। जनता के लिये निरन्तर सतर्क रहना और शासन की क्रियाओं को अच्छी तरह समझते रहना अत्यन्त आवश्यक है। पेरिक्लीज़ की मृत्यु के उपरान्त एथेन्स को उसकी कोटि का दूसरा नेता प्राप्त नहीं हुआ। उस कुशल राजनीतिज्ञ के स्थान पर साधारण कोटि के विवेकहीन नेता आसीन हो गये, साहस का स्थान भीरुता ने ले लिया, विचार विमर्श ने वाक्-कलह का रूप धारण कर लिया, स्वतन्त्रता अनियन्त्रितता में परिवर्तित हो गई और संविधान के लिये कोई आदर-भावना न रही।* स्वतन्त्रता की अतिशयता स्वयं उसके नाश का कारण बन गई।

फ़ारस की प्रचण्ड सेनाओं का मुक़ाबला करते समय तो यूनानियों ने, मुख्यकर एथेन्स और स्पार्टा ने, एक दूसरे का साथ दिया था, परन्तु उस भय के हट जाने पर वह सहयोग तथा एकता की भावना भी विदा हो गई। फ़ारस के विरोध का नेतृत्व एथेन्स कर रहा था। अपनी सफलता और विजय के मद में उन्मत्त होकर उसने दूसरे राज्यों की स्वतन्त्रता का अपहरण करना आरम्भ किया जिस पर वे बिगड़ खड़े हुए। स्पार्टा ने उनका नेतृत्व किया और इसके फलस्वरूप ग्रीस में ३० वर्ष तक घरेलू युद्ध का ताण्डव होता रहा। यह युद्ध पिलापॉनीज़ियन युद्ध (Peloponnesian War) कहलाता है। इसमें अन्त में एथेन्स का पराभव हो गया। स्पार्टा भी जो एथेन्स-विरोधी राज्यों के संघ का नेता था अपनी विजय का उपभोग बहुत दिनों तक न कर सका। उसे एक दूसरे नगर-राज्य थीब्ज़ (Thebes) के प्राधान्य के सामने अपना मस्तक झुकाना पड़ा। परन्तु थीब्ज़ भी यूनानियों को एकता के सूत्र में न बाँध सका और उसका नक्षत्र मेसीडोनिया के उदीयमान सूर्य के सामने क्षीण पड़ गया।

ग्रीस की स्वतन्त्रता का नाश—ग्रीस के उत्तर में मेसिडोनिया (मक़दूनिया) का प्रदेश है। यूनानी लोग मेसिडोनियावालों को वर्बर समझते थे। सभ्यता की दृष्टि से वे यूनानियों से बहुत पिछड़े हुए थे, परन्तु उनमें यूनानी रक्त था, उनकी भाषा भी ग्रीक भाषा से मिलती-जुलती थी और उनके विचार भी कुछ-कुछ यूनानियों के समान थे। वहाँ एकतन्त्र शासन था और मेसिडोनिया शक्तिशाली राजाओं के शासन

*Ibid., p. 52

में एक सुदृढ़ सैनिक राज्य बन गया था। जिन दिनों यूनानियों की शक्ति क्षीण हो रही थी, उन्हीं दिनों मेसिडोनिया उत्कर्ष के पथ पर अग्रसर था। चौथी सदी ई० पू० में वहाँ के शासक द्वितीय फ़िलिप (३८२-३३६ ई० पू०) ने अपने राज्य का विस्तार करना आरम्भ किया और वह वाल्कन प्रायद्वीप विजय करके ग्रीस पर चढ़ दौड़ा। इस आक्रमण को रोकने का मुख्य भार एथेन्स पर पड़ा, परन्तु एथेन्सवाले उसके सामने टिक न सके। धीरे-धीरे मेसिडोनिया की सेनाओं ने पहले तो फिलिप के नेतृत्व में और उसकी मृत्यु के बाद उसके दुर्दान्त दिग्विजयी पुत्र महान् सिकन्दर के नेतृत्व में सारे ग्रीस पर अधिकार कर लिया और ग्रीस की स्वतन्त्रता का अन्त हो गया। सिकन्दर यूनानी दार्शनिक अरस्तू (एरिस्टॉटल) का शिष्य रह चुका था। वह यूनानी विचारों से बड़ा प्रभावित हुआ। उन विचारों को ग्रहण कर उसने पश्चिमी एशिया तथा मिस्र में फैले हुए अपने विशाल साम्राज्य में उनका प्रचार किया। इस प्रकार यूनानी संस्कृति दूर-दूर तक फैल गई। परन्तु इस प्रसार में पूर्वीय संस्कृतियों के सम्पर्क के फलस्वरूप उसने नया रूप ग्रहण कर लिया। इस रूप में यह संस्कृति हेलेनिस्टिक (Hellenistic) कहलाती है। यूनानी कला का भारतीय कला से भी सम्पर्क हुआ जिसके फलस्वरूप भारतवर्ष में मूर्ति-निर्माण कला की एक नई शैली विकसित हुई जो गान्धार शैली के नाम से विख्यात है।

ग्रीस की सांस्कृतिक देन—उन दिनों राजनीतिक दृष्टि से तो ग्रीस पतन के गर्त्त में गिरता चला जाता था, परन्तु उसकी संस्कृति फलती-फूलती रही। इसी काल में ग्रीस ने दो महान् दार्शनिक प्लेटो (अफलातून) तथा एरिस्टॉटल उत्पन्न किये। अफ़लातून, सुकरात (Socrates) का शिष्य था। सुकरात पेरिक्लीज़ का समकालीन था। वह अन्धविश्वास के खण्डन तथा सत्य अथवा यथार्थ ज्ञान की आवश्यकता का उपदेश देना अपना कर्त्तव्य समझता था। यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये उसने यह आवश्यक बतलाया कि प्रत्येक बात सत्य की कसौटी पर कसी जाय और उस पर पूरी उतरने पर वह ग्रहण की जाय। एथेन्स के नवयुवक उसकी तरफ बड़ी संख्या में आकर्षित होते थे। उसके उपदेश का परिणाम यह हुआ कि उसके अनुयायी अपनी सभी पुरानी बातों को सत्य की कसौटी पर कस कर और उन्हें पूरी उतरते न देख कर सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। एथेन्स के दम्भी तथा पाखण्डी नेताओं को इस बात से अपने प्रजातन्त्र के लिये बड़ा संकट दिखाई दिया और उन्होंने उस पर नवयुवकों को बहकाने का दोष लगाया। उससे अपने विचारों का परित्याग करने के लिये कहा गया, परन्तु उसने सत्य का पक्ष छोड़ कर अपनी आत्मा की हत्या करना स्वीकार नहीं किया और राज्य की आज्ञा से विषपान कर अपने शरीर का अन्त कर दिया (३९९ ई० पू०)।

प्लेटो—सुकरात के विषय में हमें जो कुछ मालूम है वह उसके अद्वितीय

शिष्य अफ़लातून के कारण । उसकी पुस्तकों द्वारा ही सुकरात की शिक्षाओं का ज्ञान संसार को हो सका है । अफ़लातून (४२६-३४७ ई० पू०) एथेन्स का ही निवासी था और सुकरात की शिष्य-मण्डली में था । उसकी गणना संसार के महान् दार्शनिकों में की जाती है । उसके आदर्शवाद (Idealism) का प्रभाव बाद के विचारकों पर काफ़ी पड़ा है । वह सत्यान्वेषी था और सत्य के अन्वेषण के लिये उसने एक पाठशाला (Academy) खोली थी जिसमें दूर-दूर से विद्यार्थी पढ़ने आते थे । राजनीति में वह बुद्धिवादी था और प्रजातन्त्र का विरोधी । उसका विश्वास था कि जब तक शासन एक दार्शनिक शासक (Philosopher King) के हाथों में नहीं दिया जाता, तब तक राजनीतिक जीवन के दोषों का अन्त नहीं हो सकता । 'रिपब्लिक' (Republic) नामक पुस्तक में उसने अपनी इस कल्पना को मूर्त्त रूप देने का प्रयास किया है ।

अरस्तू—अफ़लातून की एकेडेमी के अनेक विद्यार्थियों में एक अरस्तू (Aristotle) था जो उसका प्रधान शिष्य था, परन्तु गुरु और शिष्य में कुछ मौलिक बातों में मतभेद था । अफ़लातून आदर्शवादी था और अरस्तू यथार्थवादी । वह थ्रेस प्रान्त में स्थित स्टेगिरा का निवासी था और सत्रह वर्ष की अवस्था में एथेन्स आगया था । आगे चलकर वह सिकन्दर का गुरु भी रहा था । इतिहास में वह राज्य-विज्ञान का जन्मदाता कहा जाता है । संसार उसकी पुस्तक 'पॉलिटिक्स' (Politics) के लिये सदा उसका ऋणी रहेगा, जिसका निर्माण उसने १५८ राज्यों के संविधानों के अनुशीलन के आधार पर किया था । वह केवल राज्य-विज्ञान का ही पण्डित नहीं था, दर्शन-शास्त्र, आचार-शास्त्र, वनस्पति-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान, गणित आदि विज्ञानों में भी वह पारंगत था । इन सब विषयों पर उसने ग्रन्थ लिखे । वास्तव में उसके ग्रन्थ पुरातन कालीन ज्ञान के भण्डार हैं ।

यूनानी सभ्यता और संस्कृति वास्तव में एथेन्स की सभ्यता और संस्कृति थी जिसका चरमोत्कर्ष-काल पेरिक्लीज़ था तथा उसके बाद का समय अथवा मोटे तौर से ईसा से पूर्व चतुर्थ शताब्दी था । हम ऊपर लिख चुके हैं कि एथेन्स ने इन दिनों साहित्य, कला, विज्ञान, दर्शन आदि में बड़ी उन्नति की । यूनानियों का साहित्य आज तक पश्चिमी सभ्यता की निधि माना जाता है । होमर-रचित इलियड तथा ओडिसी संसार के महान् महाकाव्यों में अपना स्थान रखते हैं । महाकवि पिण्डर (Pindar) की रचनाओं में उत्कृष्ट कोटि के गीतिकाव्य के दर्शन होते हैं । यूनानी साहित्य के नाटक भी बड़ी उच्च कोटि के हैं । हेरोडोटस (Herodotus) इतिहास का जन्मदाता माना जाता है । थ्यूसीडाइडीज़ (Thucydides) संसार का प्रथम सामरिक इतिहासकार हुआ है । भौतिक-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, खगोल-विज्ञान गणित, चिकित्सा, प्रकृति-विज्ञान आदि ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं में यूनानियों ने संसार को बहुत कुछ दिया । गणित में पाइथोगोरस (Pythogoras), यूक्लिड

(Euclid) तथा आर्किमिडीज़ (Archimedes) के नाम अमर रहेंगे। हिपोक्रेटीज़ (Hippocrates) पश्चिम में चिकित्सा-विज्ञान का जन्मदाता माना जाता है। दर्शनशास्त्र में सुकरात, अफलातून तथा अरस्तू के नाम चिरस्मरणीय हैं। अरस्तू ने जहाँ राज्य-विज्ञान को जन्म दिया, वहाँ प्रकृति-विज्ञान की भी नींव उसी ने डाली।

संसार को यूनानी सभ्यता ने अनुपम देन दी है। योरोपीय सभ्यता की आधार-शिला यूनानी सभ्यता ही है। प्रायः कहा जाता है कि आधुनिक सभ्यता में जो बातें मूल्यवान् हैं उनमें से प्रायः प्रत्येक के लिये हम यूनानी संस्कृति के ऋणी हैं।* यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण अवश्य है परन्तु इतना जरूर मानना पड़ेगा कि यूनान ने पश्चिमी संसार को बहुत कुछ दिया और यदि मानव सभ्यता के खण्ड नहीं हो सकते और वह एक ही समूची सभ्यता है तो संसार यूनानियों का सर्वदा ऋणी रहेगा। प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता, वैधानिक क़ानून, व्यक्ति का गौरव तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आदर्श, जिनकी पूजा आजकल संसार करता है, उसे यूनानियों से ही प्राप्त हुए हैं।

यूनानियों के पतन के कारण— किन्तु इतनी उच्च कोटि की सभ्यतावाले यूनानी अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को क़ायम न रख सके। उन्होंने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सामने अनुशासन, व्यवस्था एवं एकता को नगण्य समझा और इन गुणों के अभाव में जब उन्हें शक्तिशाली दुर्दान्त बाह्य शत्रु के आक्रमण का मुक़ाबला करना पड़ा तो वे परास्त हो गये। प्रारम्भ में यूनानियों की सैनिक शक्ति काफी बढ़ी-चढ़ी थी परन्तु बाद में वह क्षीण हो गई। यूनान के विभिन्न राज्यों में पारस्परिक संघर्ष सदा चलता रहता था जिससे उनकी सैनिक शक्ति का ह्रास हो गया। कला आदि की उन्नति करने में उन्होंने वाणिज्य, कृषि तथा उद्योगों की ओर ध्यान नहीं दिया जिससे उनकी आर्थिक शक्ति भी क्षीण हो गई। यूनानी लोग व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बड़ा आदर करते थे परन्तु वे यूनानियों से भिन्न लोगों को हीन समझते थे और उन्हें कोई अधिकार नहीं देते थे। हम देख चुके हैं कि यूनान के नगर-राज्यों में अधिकार-विहीन दासों की संख्या बहुत अधिक थी। यूनानियों में स्त्री का दर्जा भी बहुत नीचा था और सन्तानोत्पत्ति ही उसका एकमात्र कार्य समझा जाता था। जो समाज दासों तथा स्त्रियों के शोषण पर आश्रित हो, वह अधिक दिनों तक शक्तिशाली नहीं बना रह सकता। जैसा हम देख चुके हैं, यूनानी लोग फ़िलिप तथा सिकन्दर से परास्त होकर अपनी स्वतन्त्रता खो बैठे और यूनान मेसिडोनिया के साम्राज्य का भाग बन गया। फिर भी एक दृष्टि से हम यह नहीं कह सकते कि यूनानी पराधीन हो गये, क्योंकि मेसिडोनियावालों में यूनानी रक्त था और इस तरह से यूनान पर यूनानी राजवंश का ही राज्य रहा। इसके पहले भी बहुत दिनों तक अनेक यूनानी राज्य पहले एथेन्स, फिर स्पार्टा और बाद में

---

* Fisher : A History of Europe, p. 49.

थीबीज के आधिपत्य में रह चुके थे, जो विशुद्ध यूनानी राज्य थे। अब वे मेसिडोनिया राज्य के वशवर्ती थे। समस्त यूनानी राज्य मेसिडोनिया के आधिपत्य में थे परन्तु विभिन्न राज्यों का पृथक् अस्तित्व और उनका आन्तरिक स्वातन्त्र्य अब भी बना रहा। किन्तु इतनी स्वतन्त्रता भी अधिक दिनों तक न रही। सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त उसके सारे साम्राज्य को उसके सेनानायकों ने आपस में बाँट लिया। एक सेनानायक मेसिडोनिया के सिंहासन पर ही आसीन हो गया। इस अव्यवस्था में यूनानी लोगों ने अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता प्राप्त करने की फिर से कोशिश की, परन्तु उन्हें सफलता न मिल सकी। इसी बीच में पश्चिम की ओर रोम के राज्य ने बड़ी उन्नति कर ली थी और वह चारों ओर अपना विस्तार कर रहा था। उसने यूनान में हस्तक्षेप करना शुरू किया और १४६ ई० पू० तक उसे अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया।

(आ) रोमन सभ्यता

रोमन लोगों ने ग्रीस की स्वतन्त्रता तो छीन ली परन्तु उन्होंने ग्रीस की उत्कृष्ट सभ्यता को वहीं मुरझाकर नष्ट होने से बचा लिया। रोमनों में दूसरों की अच्छी बातों को ग्रहण कर उन्हें आत्मसात् कर लेने का बड़ा भारी गुण था। रोमन लोग भी उसी आर्य प्रजाति की एक शाखा थे जिससे यूनानी लोग निकले थे। उसकी एक शाखा लेटिन कहलाती थी। किसी समय ये दोनों लोग साथ-साथ भी रहे थे, जिसके फलस्वरूप रोमवालों का धर्म और उनकी प्रारम्भिक राजनीतिक संस्थाएँ यूनानियों जैसी ही थीं। रोम भी प्रारम्भ में ग्रीस के नगर-राज्यों की तरह एक नगर-राज्य था। रोम इटली के पश्चिमी तट के मध्य में टाइबर नदी के मुख से कुछ दूर भीतर की ओर बसा हुआ है। इसकी स्थापना ७५३ ई० पू० में हुई थी। इसे प्रारम्भ से ही अपने पड़ोसी आर्येतर जातियों के राज्यों से युद्ध करना पड़ा। धीरे-धीरे यह राज्य उन्नति करता रहा और ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में इटली का प्रमुख नगर-राज्य बन गया।

रोम का नगर-राज्य—ग्रीस के नगर-राज्यों के समान रोम में भी प्रारम्भ में राजाओं का शासन रहा, परन्तु ५०० ई० पू० के लगभग एकतन्त्र के स्थान पर गणतन्त्र (Republic) की स्थापना हुई। रोम के राज्य के निवासी दो श्रेणियों में विभक्त थे—पेट्रेशियन (कुलीन) तथा प्लेबियन (जनसाधारण)। जिस प्रकार ग्रीस में राजनीतिक सत्ता यूनानियों के हाथों में थी, उसी प्रकार रोम में भी प्रारम्भ में सत्ता कुलीन वर्गों के हाथों में थी। राज्य का दैनिक शासन कुलीनों द्वारा प्रतिवर्ष निर्वाचित दो मजिस्ट्रेटों के हाथों में था जो कॉन्सल (Consul) कहलाते थे। उनकी सहायता के लिये दो सभाएँ होती थीं। एक सभा एसेम्बली कहलाती थी जिसका निर्वाचन जनसाधारण द्वारा होता था। दूसरी सभा—सीनेट—कुलीनों की होती थी और उसके अधिकार एसेम्बली के अधिकारों से बहुत विस्तृत होते थे। जब कभी युद्ध होता था या कोई राष्ट्रीय संकट उपस्थित होता था तो रोम निवासी ६ महीने के लिये एक डिक्टेटर (Dictator)

नियुक्त कर और उसे अनियन्त्रित सत्ता देकर शासन का सम्पूर्ण भार उसे सौंप देते थे। संकट टल जाने पर वह अपने पद से हट जाता था और उसे अपने शासन-काल में किये हुए अपने कामों के वास्ते उत्तर देना पड़ता था।

इस शासन-व्यवस्था में जनसाधारण को कोई भाग प्राप्त नहीं था, अतः उनमें बड़ा असन्तोष था। उन्होंने कुछ समय बाद अपने अधिकारों के लिये संघर्ष छेड़ दिया। यह संघर्ष वर्षों तक चलता रहा। अन्त में जनसाधारण की विजय हुई और उन्हें धीरे-धीरे शासन के अनेक अधिकार प्राप्त हो गये। उन्हें शासन में ऊँचे और प्रतिष्ठित पद मिलने लगे, यहाँ तक कि राज्य के दो कॉन्सलों में से एक जन-साधारण वर्ग का होने लगा। सीनेट में भी उन्हें स्थान मिला और उनके साथ होनेवाले अन्य भेदभाव भी मिट गये।

विस्तार—इस पारस्परिक मतभेद के मिट जाने पर रोमवासियों में एकताजन्य नवीन शक्ति का संचार हुआ और रोम ने अपनी विजय-पताका चारों दिशाओं में फह-राने पर कमर बांधी। यह विजय और साम्राज्य-विस्तार चार चरणों में सम्पन्न हुआ। प्रथम चरण में उत्तरी इटली के लोम्बार्डी के मैदान के दक्षिण में स्थित समस्त इटली पर २७० ई० पू० तक रोम का अधिकार हो गया। द्वितीय चरण में रोम को लोम्बार्डी के मैदान में रहनेवाले गॉलों (Gauls) तथा उत्तरी अफ्रीका के शक्तिशाली राज्य कार्थेज (Carthage) से युद्ध करना पड़ा। कार्थेज से कोई १०० वर्ष से अधिक काल तक युद्ध चलता रहा (२६४-१४६ ई० पू०)। कार्थेज का सेनापति हेनिबॉल अद्वितीय वीर था। एक बार तो वह अपनी विशाल सेना के साथ स्पेन में होकर योरोप में जा पहुँचा, आल्प्स की बर्फ से ढकी ऊँची पर्वत-श्रेणियों को पार कर इटली में घुस गया और रोम तक पहुँच गया। कार्थेज के साथ जो युद्ध हुए वे प्यूनिक (Punic) युद्ध कहलाते हैं। तीन लम्बे युद्धों में कार्थेज परास्त हो सका। अन्तिम युद्ध में रोमवालों ने कार्थेज के नगर का विध्वंस कर उस जगह हल चलवा दिया। कार्थेज की विजय से उत्तरी अफ्रीका रोम-राज्य का एक प्रान्त बन गया और स्पेन तथा भूमध्यसागर के पश्चिमी भाग के द्वीप रोम के राज्य में शामिल हो गये। इसी चरण में रोमवालों ने आल्प्स पर्वत के दक्षिण में लोम्बार्डी के मैदान में रहनेवाले गॉल लोगों को परास्त करके उनका प्रदेश भी रोम के राज्य में सम्मिलित कर लिया। तीसरे चरण में भूमध्यसागर के पूर्वार्द्ध की बारी आई। इस चरण में उसने ग्रीस विजय कर लिया और अफ्रीका तथा पश्चिमी एशिया के तटवर्ती वे भाग जो सिकन्दर के साम्राज्य में शामिल थे, रोम के राज्य में शामिल हो गये। इस प्रकार लघु एशिया, सीरिया तथा मिस्र रोम-राज्य के भाग बन गये और समस्त भूमध्यसागर एक विशाल रोमन झील बन गया। राज्य-विस्तार का अन्तिम चरण रोमन गणतन्त्र का अन्तिम चरण था। इस चरण में रोम के प्रतिभाशाली कॉन्सल जूलियस सीजर ने आल्प्स के दूसरी ओर के गॉल प्रान्त (Trans-Alpine

Gaul) को, जिसकी सीमा आधुनिक फ़ान्स की सीमा से मिलती-जुलती थी, विजय किया और ब्रिटेन पर दो आक्रमण किये। वह ब्रिटेन विजय न कर सका, परन्तु वह मार्ग-दर्शन कर गया और उसकी मृत्यु (४४ ई० पू०) के बाद सम्राट् क्लॉडियस ने इंगलैंड भी विजय कर लिया। इस प्रकार ईसा के जन्मकाल तक रोम की पताका उत्तर में ब्रिटेन तथा गॉल से दक्षिण अफ़्रीका के उत्तरी प्रदेशों तथा मिस्र तक और पूर्व में लघु एशिया तथा सीरिया से लेकर पश्चिम में स्पेन तक फैले हुए विशाल भूभाग पर फहरा रही थी। इस प्रकार ईसा के जन्म से पहले रोम का एक विशाल साम्राज्य स्थापित हो चुका था, यद्यपि नाम के लिये वह साम्राज्य नहीं, गणतन्त्र राज्य था।

रोमवालों में व्यवस्थित ढंग से काम करने का स्वाभाविक गुण था। वे नये-नये प्रदेश विजय करते थे और साथ ही साथ उनकी शासन-व्यवस्था भी करते जाते थे। इस प्रकार यह सारा साम्राज्य सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित था। उसका केन्द्र रोम था और स्थान-स्थान पर रोमनों के उपनिवेश थे जो वास्तव में रोमन सैनिकों के शिविर थे। इन शिविरों तक अच्छी सड़कें बनी हुई थीं जिनके द्वारा साम्राज्य के विभिन्न भागों में यातायात सुगम था और सेनाएँ द्रुतगति से साम्राज्य के प्रत्येक भाग में भेजी जा सकती थीं। प्रारम्भ में तो रोम की सेनाएँ रोमन नागरिकों की सेनाएँ थीं परन्तु बाद में साम्राज्य के विभिन्न भागों के वेतन-भोगी सैनिक भी उनमें भरती कर लिये गये थे। ये सेनाएँ कॉन्सलों के अधिकार में होती थीं और उनका प्रशिक्षण तथा अनुशासन बड़ा कड़ा होता था। सैनिक सेवा रोमन नागरिकों को भाररूप प्रतीत होती थी परन्तु अपने गणतन्त्र के लिये वे इस भार को सहन करते थे। उन्हें अपने गणतन्त्र की सेवा से सन्तोष था और यह भी सन्तोष था कि यदि वे विभिन्न लोगों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर रहे थे तो उसके साथ ही उन्हें क़ानून और व्यवस्था की अनुपम देन भी दे रहे थे। इनके साथ ही वे रोमन जीवन के आदर्श और रोमन सभ्यता का भी प्रसार कर रहे थे। रोमन शिविरों का जीवन रोम के जीवन के समान ही होता था। इस प्रकार रोमन उपनिवेश विजित प्रदेश में साम्राज्य की रक्षा के साधन ही नहीं थे, वे समस्त साम्राज्य के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक एकीकरण के भी अच्छे साधन थे। सारे साम्राज्य में लेटिन (रोम की) भाषा का प्रयोग होता था, केवल दक्षिण-पूर्व के यूनानी प्रदेशों में ही ग्रीक भाषा का प्रयोग होता रहा। लेटिन सेना की भाषा थी, शासन का काम भी उसी में होता था और वही पाठशालाओं में पढ़ाई जाती थी। वही रोमन क़ानून की भी भाषा थी। क़ानून रोमन सभ्यता का मूल था। इतने विशाल साम्राज्य का एकीकरण क़ानून के बिना असम्भव था। समस्त साम्राज्य में रोमन क़ानून का पालन होता था।

गणतन्त्र की निर्बलता—गणतन्त्रीय शासन के अन्तर्गत रोम ने इतने विशाल साम्राज्य का निर्माण तो कर लिया परन्तु उसको सम्हालने का भार गणतन्त्रीय संविधान

सहन न कर सका । इन महान् विजयों के फलस्वरूप रोम को अपार सम्पत्ति प्राप्त हुई । यूनानियों के सम्पर्क से उन्हें नवीन विचार प्राप्त हुए । दिग्विजय करनेवाले सेनापतियों की शक्ति बढ़ी और उन्हें सन्तुष्ट करना आवश्यक हो गया । इन सब बातों के फलस्वरूप पुरानी रोमन व्यवस्था में आन्तरिक उथल-पुथल अवश्यम्भावी हो गई । रोम में सर्वाधिक शक्तिशाली संस्था सीनेट थी परन्तु वह इस अधिकाधिक जटिल होती हुई समस्या का सामना न कर सकी । उसे प्रायः डिक्टेटर नियुक्त करने पड़े जिनमें मैरियस (Marius), सल्ला (Sulla) तथा पाम्पी (Pompey) जैसे प्रतिभाशाली सेनानायक थे । इससे गणतन्त्रीय व्यवस्था की दुर्बलता स्पष्ट प्रकट होती है । ऐसे निर्बल गणतन्त्र का अन्त होने में केवल साहसी नेता के उठ खड़े होने की देर थी, जो कुशल सेनानायक होने के साथ-साथ राजनीतिक प्रतिभा-सम्पन्न भी होता । ऐसा व्यक्ति जूलियस सीज़र था ।

सीज़र उस परिस्थिति की आवश्यकता को बहुत अच्छी तरह समझता था और उस आवश्यकता की पूर्ति करने की योग्यता भी उसमें थी । वह गॉल का विजेता सेनापति था । वह ४८ ई० पू० में रोम का डिक्टेटर बन बैठा । ४५ ई० पू० में सीनेट ने उसे जीवन भर के लिये कॉन्सल बना दिया, परन्तु उसके अनेक शत्रु थे जो उसके उत्कर्ष को सहन नहीं कर सकते थे । उनमें कई गणतन्त्र के भी प्रेमी थे । उन लोगों ने अगले ही वर्ष (४४ ई० पू०) उसकी हत्या कर दी । सीज़र का अन्त तो हो गया परन्तु उसके पहले ही वह अपना सुधार-कार्य कर चुका था और साम्राज्य-शासन की नींव डाल चुका था ।

साम्राज्य की स्थापना—सीज़र की मृत्यु का प्रतिशोध उसके भतीजे ऑक्टेवियन (Octavian) ने अपने चाचा के हत्यारों को कुचल कर लिया और वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों को हटा कर साम्राज्य का सर्वेसर्वा बन गया । २७ ई० पू० में सीनेट ने उसे ऑगस्टस (Augustus) की पदवी से विभूषित किया और इस प्रकार साम्राज्य की विधिवत् स्थापना हुई । ऑक्टेवियन इस महान् परिवर्तन को गणतन्त्रीय आवरण से ढके रहा । उसने संविधान का गणतन्त्रीय रूप बना रहने दिया परन्तु वास्तविक शक्ति का वह एकमात्र स्वामी था । सीनेट, जो गणतन्त्र की सबसे शक्तिशाली संस्था थी, उसके आदेशों को स्वीकार करनेवाली संस्था मात्र रह गई । संविधान के अनुसार उसे केवल कॉन्सल के अधिकार प्राप्त थे, किन्तु वह सेनानायक (Imperator) भी था, जिस हैसियत से उसके हाथों में सैनिक सत्ता भी थी । इसके अतिरिक्त उसे ट्रिब्यून (Tribune) पद की लोक-प्रदत्त सत्ता भी प्राप्त थी । इस प्रकार संविधान के अनुसार उसके अधिकार जनता की ओर से दिये हुए थे जो कभी भी छीने जा सकते थे, परन्तु वास्तव में इस बात में कोई सार नहीं था और उसकी शक्ति अनियन्त्रित थी ।

इस प्रकार रोम के विशाल साम्राज्य का आरम्भ हुआ । ऑगस्टस प्रथम

सम्राट् था। उसने १४ ई० तक शासन किया। उसके बाद अच्छे-बुरे योग्य-अयोग्य अनेक सम्राट् हुए, परन्तु इस विशाल साम्राज्य की शक्ति दो शताब्दियों से अधिक न टिक सकी। सम्राटों की शक्ति का मुख्य आधार उनकी सेना थी। सारा साम्राज्य सेना के बल पर ही खड़ा किया गया था। साम्राज्य में सेना का प्रभाव बढ़ गया था। सेना के विभिन्न सेनानायकों के हौसले भी बढ़े हुए थे। वे जिसे चाहते थे सम्राट् बना दिया करते थे। सेनानायक स्वयं भी राजसिंहासन पर अधिकार करने के लिये आपस में झगड़ते रहते थे। कभी-कभी एक ही समय में कई सम्राट् होते थे अर्थात् सेना साम्राज्य के विभिन्न भागों में अपने-अपने सेनानायकों को सम्राट् घोषित कर देती थी और ऐसे सम्राट् साम्राज्य के विभिन्न भागों में राज्य करते थे। तीसरी शताब्दी (१९२-२८४ ई०) में सेना का इस प्रकार का उत्पात बहुत बढ़ गया था।*

साम्राज्य पर संकट—इधर तो साम्राज्य के अन्दर ही इस प्रकार के उत्पात हो रहे थे, उधर साम्राज्य को बाहरी शत्रुओं का भी मुक़ाबला करना पड़ा। वैसे तो साम्राज्य को अनेक युद्ध करने पड़े थे, वह स्वयं अनेक सफल युद्धों का ही परिणाम था, परन्तु अब उसे विजय के लिये नहीं, किन्तु आत्मरक्षा के लिये युद्ध करना पड़ा। पूर्व की ओर उसका पार्थियनों और बाद में फ़ारस के लोगों के साथ वर्षों तक संघर्ष चलता रहा, किन्तु इन युद्धों से साम्राज्य की शक्ति को कोई विशेष क्षति नहीं पहुँची। परन्तु पश्चिम की ओर जो युद्ध साम्राज्य को करने पड़े, उनके परिणाम उसके लिये बड़े भयंकर निकले। उसमें साम्राज्य को उत्तर की ओर से आनेवाली बर्बर जाति का मुक़ाबला करना पड़ा। इन जातियों का साम्राज्य पर आक्रमण योरोपीय इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण है। उससे योरोप में महान् परिवर्तन हुए और आज हम जो राज्य-व्यवस्था वहाँ देखते हैं उसके विकास का सूत्रपात हुआ।

ट्यूटन लोगों के आक्रमण—राइन-डेन्यूब नदियों की सीमा के पार कुछ जातियाँ रहती थीं जो जर्मन या ट्यूटॉनिक कहलाती थीं। वे आर्य प्रजाति की शाखाएँ थीं। उनका असली घर स्केण्डिनेविया में था, जहाँ से वे धीरे-धीरे दक्षिण की ओर बढ़ रही थीं और राइन-डेन्यूब रेखा के पार आ बसी थीं। सम्राट् ऑगस्टस ने उनको विजय करने का प्रयत्न किया था, परन्तु उसकी सेनाओं की बुरी तरह से पराजय हुई और उसका उद्देश्य सफल नहीं हो सका। इसके बाद रोमन सम्राटों का काम उन जातियों को अपनी सीमा के पार रोके रखना ही रहा और इसमें कुछ समय तक उन्हें सफलता भी मिली।

आधुनिक राष्ट्रों का जन्म—योरोप के आधुनिक राष्ट्रों में से अधिकांश इन ट्यूटन लोगों से ही उत्पन्न हुए हैं। इनके प्रस्थान के बाद जो लोग स्केण्डिनेविया में बने

---

*E. A. Freeman : General Sketch of European History, pp. 87 ff.

रहे, उनकी सन्तान आगे चल कर स्वीड (Swedes), नॉर्वेजियन (Norwegian) तथा डेन (Danes) कहलाई। जो ट्यूटन जन-समूह भ्रमण करता रहा, वह मोटे तौर से दो भागों में विभक्त था—पश्चिमी जर्मन तथा पूर्वी जर्मन। पश्चिमी जर्मन लोग पश्चिम की ओर बढ़कर राइन नदी की सीमा तक पहुँच गये। उनमें से कुछ तो डेनमार्क के दक्षिण में बस गये और कुछ उनके भी दक्षिण में राइन नदी के मध्य के निकट जा बसे। डेनमार्क के दक्षिण में बसनेवाले लोगों की मुख्य उपशाखाएँ ऑंग्ल (Angles) और सेक्सन (Saxons) थीं जिनके सम्मिश्रण से प्रख्यात ऑंग्ल-सेक्सन जाति बनी। राइन नदी के मध्य के निकट बसनेवाली उपशाखा फ्रेन्क (Frank) कहलाती थी। इन उपशाखाओं ने योरोपीय इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। माध्यमिक काल में इङ्गलैण्ड तथा फ्रांस के राज्यों की नींव डालनेवाले लोग यही थे। पूर्वी जर्मन लोग गोथ (Goths) भी कहलाते थे। ये लोग डेन्यूब नदी के किनारे जा पहुँचे और दो भागों में विभक्त हो गये—पश्चिमी गोथ या विज़िगोथ (Visigoths) और पूर्वी गोथ (Ostrogoths)। इन मुख्य शाखाओं के अतिरिक्त इन लोगो की ओर भी कई छोटी-बड़ी उपशाखाएँ थीं, जैसे लोम्बार्ड (Lombards), वेण्डाल (Vandals), बर्गण्डियन (Burgundians), एलिमेनी (Alemanni) आदि जिनके पीछे पश्चिमी और मध्य-योरोप के विभिन्न प्रदेशों के नाम पड़े।

इन लोगों के अलग-अलग स्वतन्त्र क़बीले थे जिनका एक नेता होता था जिसकी सहायता के लिए एक कुलीनों की सभा तथा एक स्वतन्त्र जनता की सभा होती थी। ईसा के बाद की द्वितीय शताब्दी से आगे रोमन साम्राज्य की जनसंख्या घटने लगी और उसकी सैनिक शक्ति भी क्षीण होने लगी। इस कारण रोमन सम्राट् इन लोगों को अपने साम्राज्य में बसा कर उनसे भूमि जोतने की तथा वैतनिक सैनिक सेवा लेने लगे। इसका परिणाम साम्राज्य के लिये हानिकर हुआ। अब सीमा के दोनों ओर ये लोग बसे हुए थे और इस प्रकार साम्राज्य की सीमाएँ अस्पष्ट हो गईं। इन लोगों ने रोमनों के युद्ध के ढङ्ग भी सीख लिये। इस के अतिरिक्त इनमें से बहुत से साम्राज्य की सेवाओं में बहुत ऊँचे पदों पर पहुँच गये, यहाँ तक कि चौथी तथा पाँचवीं शताब्दियों में सेना की कमान अधिकांश में इन्हीं लोगों के हाथों में थी।

चौथी शताब्दी के मध्य में पूर्व की ओर से आनेवाले हूणों का इन लोगों पर आक्रमण हुआ। हूणों का दबाव सर्वप्रथम गोथ लोगों पर पड़ा। ऑस्ट्रोगोथ लोगों को उन्होंने दबाकर अपने अधीन कर लिया परन्तु विजिगोथ लोगों ने सम्राट् से अनुमति प्राप्त करके डेन्यूब नदी को पार कर साम्राज्य में बस कर अपनी रक्षा की (३७६ ई०)। किन्तु उनका आना साम्राज्य के लिये बड़ा अनिष्टकारी रहा। वे लोग थ्रेस नामक प्रान्त में बस गये और उन्होंने शीघ्र ही विद्रोह कर दिया। रोमन सेना हारी और सम्राट् वेलेन्स स्वयं मारा गया। अपने नेता एलेरिक के नेतृत्व में वे ग्रीस में घुस गये

और अन्त में उन्होने इटली पर आक्रमण करके ४१० ई० में रोम लूट लिया। सम्राट् को उनसे सन्धि करनी पड़ी और वे लोग सम्राट् की नौकरी में भरती हो गये।

साम्राज्य का विभाजन—ट्यूटन लोगों का वर्णन करते-करते हम बहुत आगे बढ़ आये हैं। जिन दिनों यह उथल-पुथल हो रही थी उन्हीं दिनों रोमन साम्राज्य के संगठन में भी बड़ा परिवर्तन हो गया था। आप यह देख चुके हैं कि २७ ई० पू० तक रोम राज्य गणतन्त्रीय था। उस वर्ष ऑगस्टस सम्राट् बना और गणतन्त्र साम्राज्य में परिवर्तित हो गया, यद्यपि गणतन्त्रीय संस्थाएँ क़ायम रही आई। २८४ ई० में डायोक्लीटियन (Diocletian) सम्राट् हुआ। वह बड़ा योग्य था। उसने एक नई व्यवस्था क़ायम की। अब दो रोमन सम्राट् होने लगे जो सहयोगियों की तरह काम करते थे। इनकी उपाधि ऑगस्टस थी। उनके नीचे दो सीज़र होते थे। सारा रोमन साम्राज्य चार भाग में बँट गया और एक-एक भाग का शासन इन चारों को दिया गया।* स्वयं डायोक्लीटियन पूर्वी भाग में शासन करता था और उसकी राजधानी निकोनीडिया थी। उसका सहयोगी मेक्सीमिलन इटली में मिलान में शासन करता था। दोनों सीज़रों में से एक गॉल या ब्रिटेन में रहता था और दूसरा एशिया में। अब रोम की वह प्रतिष्ठा नहीं रही। साम्राज्य के अन्य नगर भी समय-समय पर राजधानी बनने लगे। परन्तु यह व्यवस्था अधिक दिनों तक न चली। ३२३ ई० में कॉन्स्टेण्टाइन, जो ब्रिटेन और गॉल में सीज़र रह चुका था, समस्त साम्राज्य का एकमात्र सम्राट् बन गया और अपनी मृत्युपर्यन्त (३३७ ई०) बना रहा। उसने डायोक्लीटियन की व्यवस्था को नष्ट तो कर दिया था परन्तु इतने बड़े साम्राज्य की व्यवस्था एक स्थान से होना कठिन था। इसलिये उसने साम्राज्य के लिये पूर्व में बॉस्फोरस जल-संयोजक पर स्थित ग्रीक नगर बाईजेण्टियम को 'नवीन रोम' का नाम देकर वहाँ एक राजधानी और स्थापित की। यह नगर उसके नाम पर कॉन्स्टेण्टीनोपल कहलाने लगा। सम्राट् यहीं रहने लगा, पर एक सम्राट् रोम में भी बना रहा। इस प्रकार फिर एक ही साम्राज्य में दो सम्राट् होने लगे परन्तु ये दोनों सहयोगी थे, परस्पर स्वतन्त्र नहीं। कॉन्स्टेण्टाइन ने ईसाई धर्म को भी स्वीकार कर लिया (इसके विषय में आप आगे पढ़ेंगे) और उसे साम्राज्य का धर्म बना दिया। इस व्यवस्था में भी समय-समय पर परिवर्तन होते रहे।

उन दिनों ट्यूटॉनिक लोगों की हलचल बढ़ गई थी। हम ऊपर आपको गोथ लोगों के उत्पातों का हाल बतला चुके हैं। आप एलेरिक द्वारा रोम की लूट का हाल पढ़ चुके हैं। वह समय बड़ी उथल-पुथल का था। जर्मन जाति की अनेक शाखाएँ पश्चिमी साम्राज्य में फैलती जा रही थीं। वे रोमन सेनाओं से लड़तीं, आपस में लड़तीं

---

*Hayes and Baldwin : A History of Europe, Vol. I, p. 71.

और जहाँ उन्हें मौका मिलता बस कर अपना शासन स्थापित कर लेती थी। इस प्रकार पश्चिमी योरोप में नये-नये ट्यूटॉनिक राज्य स्थापित हो रहे थे।

हूणों का आक्रमण और पश्चिमी रोमन साम्राज्य का अन्त—इस समय रोमनों तथा ट्यूटनों दोनों को हूणों के आक्रमण का सामना करना पड़ा। उसका सरदार एटिला (Attila) था जो मध्य-एशिया की ओर से इधर विजय करता हुआ बढ़ा चला आ रहा था। आपको स्मरण होगा कि उन्हीं दिनों भारतवर्ष पर भी हूणों के आक्रमण हो रहे थे। उन्होंने राइन नदी को पार कर इधर-उधर खूब लूट-मार मचाई, परन्तु अन्त में रोमन, गोथ और फ्रैंक लोगों की सम्मिलित सेनाओं ने उसे शालोन्स (Chalons) के युद्ध में परास्त कर दिया। एटिला परास्त तो हो गया परन्तु इससे पश्चिम रोमन साम्राज्य की जड़ हिल गई। उसकी शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई और रोम में कोई सम्राट् ऐसा नहीं हुआ जो ऐसी स्थिति में व्यवस्था स्थापित करके साम्राज्य का उद्धार कर सकता। साम्राज्य के विभिन्न प्रान्त लोम्बार्डी, फ्रान्स, स्पेन, ब्रिटेन आदि स्वतन्त्र हो गये और वहाँ नये ट्यूटन राज्य स्थापित हो गये। रोम के सम्राट् इस समय शक्तिहीन कठपुतलीमात्र रह गये थे और वास्तविक शक्ति ट्यूटन सरदारों के हाथों में थी। उन्होंने एक बारह वर्ष के बालक रोम्यूलस को सम्राट् बना रखा था। एक वेण्डाल सरदार ओडोएकर (Odoacer) ने रोम्यूलस के समर्थकों को हरा कर उसे सिंहासन से उतार दिया (४७६ ई०) और रोम का शासन स्वयं अपने हाथों में ले लिया। उसके आदेश से सीनेट ने पूर्वी सम्राट् जीनो (Zeno) से एक ही साम्राज्य के लिये दो सम्राट् अनावश्यक बतलाकर पश्चिमी सम्राट् के पद को तोड़ देने की प्रार्थना की। इसके साथ ही उसने इटली के शासन के लिये ओडोएकर को नियुक्त करने की प्रार्थना भी की। जीनो ने दोनों प्रार्थनाएं स्वीकार कर लीं और पश्चिम रोमन साम्राज्य का अन्त हो गया। साम्राज्य का अन्त तो हो गया परन्तु शताब्दियों तक उसका अस्तित्व एक स्मृति तथा एक स्वप्न अथवा आदर्श के रूप में बना रहा। पूर्वी रोमन साम्राज्य इसके बाद भी लगभग १,००० वर्षों तक कायम रहा।

साम्राज्य के पतन के कारण—इस प्रकार रोमन साम्राज्य का अन्त हो गया। साम्राज्य का पतन, जैसा आप ऊपर देख चुके हैं, एक दम नहीं हुआ वरन् उसका सिलसिला कोई दो शताब्दियों तक चलता रहा। अपने गौरव तथा समृद्धि के काल में भी साम्राज्य में कई ऐसी बातें विद्यमान थीं जो उसको निर्बल बना रही थीं—(१) एक व्यक्ति का शासन, (२) दासता तथा कृषक-दासता (Serfdom) के ऊपर आधारित आर्थिक व्यवस्था, (३) धार्मिक विश्वास की निर्बलता तथा (४) ऐसी

सेना जिसमें बर्बर जातियों तथा अ-रोमन जातियों के सैनिकों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही थी।*

'रोम बहुत बढ़ गया था और उसका साम्राज्य इतना विशाल हो गया था कि उसमें एकता असम्भव हो गई थी। जनता में अपने साम्राज्य के प्रति भक्ति तथा अभिमान की भावना नहीं रही थी। भ्रष्टाचार तथा पक्षपातयुक्त शासन से यह भावना और भी नष्ट होती जा रही थी। साम्राज्य की आर्थिक व्यवस्था पर शासन का पूर्ण नियन्त्रण था जिससे वह निर्बल हो गई थी। जनता के पालन के लिये एक अपेक्षाकृत छोटे से समुदाय पर करों का अत्यधिक बोझ लाद दिया गया था। आर्थिक क्रियाएँ शिथिल हो गई थीं, व्यक्तिगत चेष्टाएँ नष्ट हो गई थीं और जनता भाग्यवादी हो गई थी। धनियों में उदासीनता व्याप्त हो गई थी और ग़रीबों में असन्तोष घर कर चुका था जिसके कारण साम्राज्य की सुरक्षा की जड़ निर्बल हो चुकी थी। इन आन्तरिक निर्बलताओं के कारण साम्राज्य पर बर्बर जातियों का आक्रमण सम्भव हो सका और उसके धक्के से लड़खड़ाता हुआ साम्राज्य धराशायी हो गया।

रोम की देन—'रोम का पतन तो हो गया, परन्तु केवल इसी अर्थ में कि उसका राजनीतिक प्राधान्य जाता रहा। किन्तु उसकी सांस्कृतिक देनों का अधिकांश बना रहा। वे अन्य विचारों के साथ मिलकर नई सभ्यताओं के आधार बन गईं। लेटिन भाषा, रोम के राजनीतिक आदर्श, क़ानून, सैनिक संगठन और निर्माण-कला भावी पीढ़ियों के लिये रोम की बहुमूल्य देनें हैं। रोमनों ने एक विश्व-राज्य की मिसाल संसार के सामने रखी जिससे विश्व-विजय के इच्छुक साहसी व्यक्तियों को अब भी प्रेरणा प्राप्त होती है। राजनीतिक क्षेत्र में राज्य का निरपेक्ष प्राधान्य प्रतिष्ठित हो गया, क़ानूनी सिद्धान्त तथा व्यवहार में व्यक्ति के वैधानिक अधिकारों को अवैधानिक आक्रमणों से मुक्ति प्राप्त हो गई। कम से कम सिद्धान्त के क्षेत्र में रोमन क़ानून ने राज्य पर जनता की अनुमति का नियन्त्रण लगा दिया।

'रोम का पतन एक दुर्घटना थी, यह कहना उचित नहीं होगा। अपने संगठन के अन्तर्गत जितना कार्य उससे बन सका, उतना कार्य वह कर गया। बौद्धिक चेष्टाओं में पुनः जीवन डालने के लिये नये रक्त तथा नये आदर्शवाद की आवश्यकता थी। बर्बर आक्रमण देखने में तो नाशकारी दिखाई देते थे, परन्तु उन्नति के लिये जो स्फुरणशक्ति आवश्यक थी और जिसे रोमन लोग खो चुके थे, उसे जर्मन लोगों ने प्रदान किया। रोमन लोग सभ्यता एवं संस्कृति के स्रष्टा नहीं थे, परन्तु उन्होंने व्यवस्था एवं एकता स्थापित की जिसके द्वारा प्राचीन सभ्यताओं के परिपाक से इटली की ओजस्वी साम्राज्यवादी

* Hayes, Moon and Wayland : World History, p. 188.

सभ्यता का प्रादुर्भाव हो सका। जिस रोमन सभ्यता ने विश्व-संस्कृति के विकास में एक महत्वपूर्ण भाग लिया था, वह मध्य-युग की राजनीति, उसके क़ानून, धर्म तथा आर्थिक जीवन की आधारभूत व्यावहारिक बातों में समाविष्ट हो गई।'*

रोम ने भूमध्यसागरीय संसार को एकता के सूत्र में बाँधा और इसी कारण वह योरोप को भी एकता के सूत्र में बांधने का साधन बन गया। साररूप में रोमन साम्राज्य आधुनिक संसार का बीज था और आज योरोप तथा पश्चिमी संसार रोम के ही अभिवर्धित रूप हैं, क्योंकि साम्राज्य का विघटन करने के कार्य में बर्बर लोगों ने, जो वहीं बस गये थे, विजित रोमनों के आदर्शों एवं भावनाओं को ग्रहण कर लिया और इस प्रकार वे स्वयं यूनानी-रोमन सभ्यता के रंग में रंग गये। योरोप की आधुनिक राज्य-व्यवस्था इसी आधार पर स्थापित हुई।†

(ई) ईसाई धर्म और ईसाई चर्च

जहाँ रोम ने समस्त भूमध्यसागरीय संसार को एकता के सूत्र में बाँधा, संसार को क़ानून और व्यवस्था के आदर्श दिये और साम्राज्य-शासन की पद्धति की शिक्षा दी तथा यूनानी सभ्यता का सर्वत्र प्रचार किया, वहाँ रोम ने ईसाई चर्च को सार्वभौम बनाने में भी बड़ा महत्वपूर्ण काम किया। रोम ने ईसाई धर्म को साम्राज्य का धर्म केवल आध्यात्मिक उद्देश्य से ही स्वीकार नहीं किया था, उसमें राजनीतिक उद्देश्य भी सम्मिलित था; किन्तु यह कहना अनुचित नहीं होगा कि यदि रोम ने योरोप के अधिकांश को राजनीतिक एकता में न बांध दिया होता तो यूनानी सभ्यता के समान ईसाई धर्म भी समस्त योरोप में नहीं फैलता।‡

रोमन साम्राज्य के अन्त के बहुत पहले से ही साम्राज्य में ईसाई धर्म का काफी प्रचार हो चुका था और बर्बर जातियों में भी उस धर्म का काफ़ी प्रचार था। जिन दिनों समस्त साम्राज्य बर्बर आक्रमणों से त्रस्त था, चारों ओर अराजकता, युद्ध तथा लूट-मार फैली हुई थी और साम्राज्य जनता की रक्षा करने में असमर्थ था, उन दिनों समस्त साम्राज्य में यदि कोई संस्था ऐसी थी जो त्रस्त जनता को आश्वासन दे सकती, आपत्तिकाल में उनका साथ देकर उन्हें शान्ति-सन्देश सुनाती, तो वह थी एकमात्र ईसाई चर्च।

जीसस क्राइस्ट—ईसाई धर्म के प्रवर्तक जीसस क्राइस्ट थे जिनका जन्म प्रथम रोमन सम्राट् आक्टेवियस के शासन काल में लघु एशिया के पेलेस्टाइन प्रदेश में स्थित बेथलेहम ग्राम में एक यहूदी परिवार में हुआ था। वे यहूदी धर्म में उत्पन्न हुए और

---

* Swain : A History of World Civilization, p. 196.

† Strong : Dynamic Europe, pp. 70-71.

‡ Ibid, p. 72.

उसी में पले। यहूदी धर्म एकेश्वरवादी है और उसका मुख्य धार्मिक ग्रन्थ ओल्ड टेस्टामेण्ट (Old Testament) है। यहूदी धर्म एक राष्ट्रीय धर्म था। उस धर्म में वे ही लोग सम्मिलित हो सकते थे जो उसके विधि-विधान तथा कड़े आचार-विचार का पूर्णतया पालन कर सकते थे। जीसस क्राइस्ट ने यहूदो धर्म-शास्त्र को ग्रहण कर उसके आधार पर एक नया धर्म चलाया। यहूदियों के पैगम्बरों ने भविष्यवाणी की थी कि किसी समय राजा डेविड के वंश में एक मसीहा प्रकट होगा जो समस्त मानव समाज पर राज्य करेगा, पापियों से उनके पाप का प्रायश्चित करवायगा और उन्हें संसार के अन्त के लिये तैयार करेगा। जीसस क्राइस्ट ने बतलाया कि मैं ही वह मसीहा हूँ, परन्तु लोगों ने इस बात पर विश्वास नहीं किया और वे उन्हें नास्तिक बतला कर परेशान करने लगे।

जीसस क्राइस्ट ने विशुद्ध एकेश्वरवाद तथा प्रेम एवं सेवा का उपदेश दिया। उनके उपदेश का संग्रह न्यू टेस्टामेण्ट कहलाता है। ओल्ड तथा न्यू दोनों टेस्टामेण्ट मिलकर बाइविल कहलाते हैं। उन दिनों रोम के लोग अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते थे। साम्राज्य के विभिन्न भागों में राजा को साक्षात् देवता माना जाता था। रोमन सम्राट् भी देवता समझे जाते थे और कई सम्राट् तो स्वयं अपने आप को ईश्वर कहते थे। वह सम्राट् तो था ही, साथ ही धर्म का अधिष्ठाता भी था। जीसस क्राइस्ट का कथन था कि ईश्वर एक है और उसी एक ईश्वर की उपासना करनी चाहिये। अन्य देवी-देवताओं की पूजा करना पाप है। रोमन साम्राज्य के अधिकारियों को जीसस के इस उपदेश में राजद्रोह के दर्शन होते थे और वे जीसस को साम्राज्य का शत्रु मानने लगे। उन पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया और उन्हें प्राणदण्ड दिया गया।

जीसस को तो प्राणदण्ड मिला, परन्तु इससे उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म (ईसाई धर्म) को कोई हानि नहीं पहुँची। उनके अनुयायियों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ने लगी। वे लोग बड़े धर्मपरायण थे और अपने धर्म के प्रचार में बड़े से बड़े कष्टों को भी कुछ नहीं गिनते थे। साम्राज्य के कर्मचारियों ने उन्हें बड़ी-बड़ी यातनाएँ दीं, परन्तु उनकी परवाह न करते हुए वे अपने कार्य में लगे रहे। उनके प्रयास से ईसाई धर्म साम्राज्य में तथा बर्बर जातियों में फैलता रहा और साम्राज्य की सर्वसाधारण जनता का अधिकांश ईसाई धर्म का अनुयायी हो गया। जिन दिनों साम्राज्य पर बर्बर जातियों के आक्रमण हो रहे थे, उन दिनों सम्राटों को जनसाधारण की सहानुभूति एवं भक्ति की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस दृष्टि से सम्राट् कॉन्स्टेण्टाइन ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया और ईसाई धर्म रोमन साम्राज्य का राजधर्म भी बन गया। इसके अनन्तर ईसाई धर्म ने बड़ी शीघ्र उन्नति की और प्रायः समस्त योरोप ईसाई हो गया।

ईसाई चर्च की स्थापना—ईसाई चर्च की सर्वप्रथम स्थापना जेरूसलम में हुई थी। जब इस धर्म का प्रचार बाहर भी होने लगा तो अन्य स्थानों में भी चर्च स्थापित

होने लगे। एक स्थान में रहने वाले सभी ईसाई उपासना के लिये एकत्रित होते थे। इस एकत्रित ईसाई समाज का नाम ही चर्च था और सर्वसाधारण का होने के कारण ही इस धर्म का नाम 'केथॉलिक' (Catholic) अर्थात् सबका या सब के लिये पड़ा। सभी बड़े नगरों में एक-एक चर्च होता था, जिसमें एक पादरी (बिशप) होता था जो उस नगर के और पड़ोस के चर्चों की देख-भाल करता था। इन बड़े नगरों के चर्चों से ही प्रचारक लोग इधर-उधर जाते थे और स्थान-स्थान पर प्रचार करते हुए चर्च की स्थापना करते थे। रोम का चर्च सभी चर्चों में प्रतिष्ठित था क्योंकि ऐसा समझा जाता था कि रोम के बिशप ईसा के शिष्यों में से मुख्य पीटर के उत्तराधिकारी थे। आरम्भ में सभी बिशप पोप (पिता) कहलाते थे, परन्तु आगे चलकर यह पदवी केवल रोम के बिशप की ही रह गई और वह समस्त ईसाई चर्च का अध्यक्ष बन गया। इन विभिन्न चर्चों में रहनेवाले बिशप और साधु आरम्भ में बड़े धर्मप्राण, शुद्धाचरण तथा लोकसेवक हुआ करते थे। वे धर्मोपदेश देते थे, शिक्षा देते थे, रोगियों की चिकित्सा करते थे, दीन-दुःखियों की सहायता एवं सेवा करते थे और विपत्ति के समय जनता को धैर्य बँधाते थे। अतः सर्वसाधारण में उनका बड़ा आदर था। बर्बर जातियों के आक्रमणों के समय में यदि जनता के कष्ट कोई दूर कर सकता था तो वह था ईसाई चर्च। अनेक बर्बर लोग भी ईसाई हो चुके थे और वे भी उसका आदर करते थे। इस प्रकार आक्रमण के दिनों में जहाँ साम्राज्य की प्रतिष्ठा क्षीण हो रही थी, वहाँ ईसाई चर्च की प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी।

अध्याय २

मध्य-युग (The Middle Ages)

पश्चिमी रोमन साम्राज्य के अन्त के बाद के एक हज़ार वर्षों का समय मध्य-युग कहलाता है। इस युग के भी प्रायः दो विभाग किये जाते हैं—(१) ४७६ ई० से १,००० ई० तक अन्धकार-युग (The Dark Age) और (२) १,००० ई० से १,५०० ई० तक का मध्य-युग। यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी एक युग का अन्त और दूसरे युग का आरम्भ किसी एक तिथि को नहीं होता; वह तो एक प्रक्रिया होती है जो धीरे-धीरे चलती रहती है। इस प्रकार का काल-विभाजन केवल सुविधा की दृष्टि से किया जाता है।

पश्चिमी योरोप में अव्यवस्था—आप देख चुके हैं कि पश्चिमी रोमन साम्राज्य का अन्त बर्बर आक्रमणों के कारण हुआ। साम्राज्य के अन्त के बाद पश्चिमी योरोप में बड़ी अव्यवस्था फैल गई। उस समय कोई एक शक्ति या शक्तियां ऐसी नहीं थीं जो इस समस्त प्रदेश में शान्ति एवं व्यवस्था क़ायम कर सकतीं। वह समय तो ऐसा था जिसमें 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत पूर्णतया चरितार्थ होती थी। विभिन्न जातियों के सरदार तथा साहसिक नेता परस्पर लड़ते हुए इधर-उधर फिरते रहते थे और जहां मौक़ा देखते अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लेते थे। उस समय एक साम्राज्य की जगह सैकड़ों छोटे-बड़े राज्य क़ायम हो गये थे। जिसमें ज़रा भी शक्ति थी वह स्वतन्त्र होकर अपना राज्य स्थापित कर लेता था। रोम-राज्य में अनेक बड़े-बड़े नगर थे जिनमें व्यापारियों के मण्डल अथवा निगम होते थे जिनके हाथ में काफ़ी शक्ति थी। ऐसे समय में वे भी स्वतन्त्र हो गये और इस प्रकार अनेक नगर-राज्य भी स्थापित हो गये। ये राज्य भी स्थायी नहीं थे, उनमें परस्पर युद्ध होते रहते थे, पुराने राज्य नष्ट होते रहते थे और नये बनते रहते थे। हम ऊपर बतला चुके हैं कि इस अस्थिरता के युग में ईसाई चर्च स्थिरता का स्तम्भ था। वही अव्यवस्था, अराजकता एवं अस्थिरता के बीच व्यवस्था, एकता और स्थिरता की स्थापना के लिये निरन्तर प्रयत्नशील था। ग्रीस के युग में सभ्यता की एकता थी, रोम के युग में शासन की एकता थी, किन्तु मध्य-युग में ऐसी एकता थी जिसकी सृष्टि ईसाई चर्च ने की थी। जिस प्रकार रोमन साम्राज्य के दिनों में साम्राज्य समाज को सुव्यवस्थित बनाये रखने

वाली तथा उसका निर्देशन करनेवाली शक्ति थी, उसी प्रकार इस युग में ईसाई चर्च वही कार्य कर रहा था। वास्तव में, रोमन साम्राज्य तो समाप्त हो चुका था, परन्तु उसका विश्व-राज्य का आदर्श बना रहा और योरोपीय जनता विश्व-राज्य को छोड़ किसी अन्य प्रकार के राज्य की कल्पना कर ही नहीं सकती थी, यद्यपि उस समय असंख्य छोटे-छोटे राज्य विद्यमान थे। आदर्श और व्यवहार में इतनी विपरीतता अन्य किसी भी युग में नहीं दिखाई देती।

विश्व-राज्य का आदर्श—मध्यकालीन आदर्श ईसाई विश्व-राज्य (Respublica Christiana)—एक सार्वभौम ईसाई समाज—का था, जिसका जीवन-सिद्धान्त एक ही था, परन्तु जिसकी व्यवस्था के लिये ईश्वर ने दो अधिकारियों का विधान किया था। आध्यात्मिक जीवन के नियमन के लिये केथॉलिक चर्च तथा सांसारिक जीवन के नियमन के लिये एक विश्व-राज्य। इस आदर्श का एक अङ्ग तो विद्यमान था; ईसाई चर्च सार्वभौम था, वह समस्त ईसाई जगत के धार्मिक जीवन का नियमन करता था और उसके अध्यक्ष पोप का उस पर एकछत्र राज्य था। परन्तु कई शताब्दियों तक इस मध्य-युगीन आदर्श के दूसरे अङ्ग का अभाव रहा। आठवीं शताब्दी के अन्त में पोप तृतीय लीओ ने इस अभाव की भी पूर्ति कर दी।

आधुनिक राष्ट्र-व्यवस्था का आरम्भ—इस युग में, जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं योरोप की आधुनिक राष्ट्र-व्यवस्था की नींव पड़ी। आक्रमणकारियों की विभिन्न जातियाँ विभिन्न प्रदेशों में जा बसीं और उनमें से बहुत सी वहीं रह गईं। लोम्बार्ड लोग उत्तरी इटली में पो नदी के मैदान में बस गये और उनके नाम पर उस प्रदेश का नाम लोम्बार्डी पड़ा। बर्गण्डियन लोग आधुनिक फ़ान्स के पूर्वी भाग में, बेवेरियन (अथवा स्वेबियन) लोग बेवेरिया में तथा एलीमेनी लोग स्विट्ज़रलैण्ड में बस गये। फ़्रैंक लोगों के नाम पर आधुनिक फ़ान्स का नाम पड़ा। इसी प्रकार सेक्सनी का नाम सेक्सन लोगों के नाम पर और इङ्गलैण्ड का नाम आंग्ल (Angles) लोगों के नाम पर पड़ा जो सेक्सन लोगों के साथ वहाँ जा बसे थे। इन्हीं दोनों के सम्मिश्रण से विशाल एंग्लो-सेक्सन जाति की उत्पत्ति हुई जो आज संसार के एक बड़े भाग में फैली हुई है।

इन सब जातियों में फ़्रैंक जाति सबसे अधिक शक्तिशाली थी। आठवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रायः समस्त पश्चिमी योरोप को इसने अपने अधिकार में कर लिया था। जिस प्रकार ४५१ ई० में पश्चिमी गोथ राजा थियोडोरिक ने हूण सरदार एटिला को परास्त करके इतिहास की दिशा बदल दी थी, उसी प्रकार इस समय एक फ़्रैंक राजा चार्ल्स मार्टेल (Charles Martel) ने ७३२ ई० में दक्षिणी फ़ान्स में स्थित टूर (Tours) नामक स्थान पर मूर (Moor) लोगों (इस्लाम धर्म के अनुयायी अरब और अफ़्रीकन लोगों) को परास्त करके वही कार्य कर दिखाया। वे लोग इस्लाम

धर्म के अनुयायी थे जिसके प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद थे। हज़रत मुहम्मद के अनुयायियों ने अपने नवीन धर्म के जोश में संसार को इस्लाम का अनुयायी बनाने का बीड़ा उठाया था। आरम्भ में उन्हें बड़ी जबरदस्त सफलता भी मिली थी और उन्होंने अरब, फ़ारस, बेबीलोनिया, ईजिप्ट, उत्तरी अफ़्रीका तथा (उत्तरी भाग को छोड़ कर समस्त) स्पेन को विजय कर वहाँ के निवासियों को मुसलमान बना लिया था। उन लोगों ने अब पिरेनीज़ पर्वत को पार कर फ्रांस में घुसने की चेष्टा की, परन्तु चार्ल्स मार्टेल के हाथों पराजित होकर वे वापस स्पेन में लौट गये, जहाँ कुछ थोड़े-से स्थानों पर उनका अधिकार १४९२ ई० तक बना रहा।

पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना—चार्ल्स मार्टेल का पुत्र पेपिन तथा पौत्र शार्लमेन भी बड़े प्रतापी हुए। शार्लमेन ने अपने राज्य की सीमा का बहुत विस्तार किया और रोम तक इटली को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। रोम का पोप उन दिनों उत्तरी इटली में रहनेवाले लोम्बार्ड लोगों से बहुत तंग था; वे प्रायः उसकी भूमि पर आक्रमण किया करते थे। एक समय जब लोम्बार्डों ने पोप की भूमि छीन ली तो पोप ने पेपिन को अपनी रक्षा के लिये बुलाया था। पेपिन ने लोम्बार्डों को परास्त कर पोप की भूमि उसे वापस दे दी। इसी प्रकार शार्लमेन ने भी किया। इससे प्रसन्न हो कर ८०० ई० में २५ दिसम्बर को रोम के गिर्जे में पोप तृतीय लिओ ने शार्लमेन के मस्तक पर राजमुकट रख कर उसका रोम के सम्राट् के पद पर अभिषेक कर दिया। इस प्रकार सवा तीन सौ वर्ष के बाद रोमन साम्राज्य की फिर से स्थापना हुई। नये सम्राट् का राज्याभिषेक पोप ने किया था, इस कारण नया सम्राट् पवित्र रोमन सम्राट् (Holy Roman Emperor) और साम्राज्य पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) कहलाया।

शार्लमेन की ८१४ ई० में मृत्यु हो गई। उसके तीस वर्ष बाद ही उसका सारा साम्राज्य उसके तीन पौत्रों में विभक्त हो गया। सबसे छोटे लड़के चार्ल्स को पश्चिमी फ़्रैंकिया (बाद में फ़्रांस) मिला, दूसरे लड़के लुई को पूर्व की ओर का भाग (बाद में जर्मनी) मिला और ज्येष्ठ लड़के लोथेयर (Lothair) को बीच का भाग मिला जो उत्तर में ज्यूडर ज़ी से लेकर दक्षिण में रोम तक फैला हुआ था। यह विभाजन वर्दां (Verdun) की सन्धि के अनुसार हुआ था। यह सन्धि योरोप के इतिहास में बड़ी महत्वपूर्ण है। इसने उन प्रदेशों को निर्धारित कर दिया जो बाद में चलकर फ़्रांस और जर्मनी बने और बीच में ऐसा प्रदेश छोड़ दिया जो कि सदा फ़्रांस और जर्मनी के बीच झगड़े की जड़ बना रहा है।

धीरे-धीरे इन राज्यों में भी अराजकता छा गई और उनके स्थान पर अनेक छोटे-बड़े राज्य स्थापित हो गये। अन्त में जर्मनी में ९३६ ई० में सेक्सनी का सरदार

ऑटो (Otto) एकता स्थापित कर सका। ९६२ ई० में पोप ने ऑटो को पवित्र रोमन सम्राट् के पद पर आसीन कर दिया और तभी से इस पद पर अन्त तक कोई न कोई जर्मन राजा ही रहा।*

नये आक्रमण—शार्लमेन के साम्राज्य के विध्वंस के साथ ही साथ उत्तर और पूर्व की ओर से आक्रमण की फिर से एक बाढ़ आई। उत्तर से आनेवाले लोग ट्यूटन थे (डेन, नार्वेजियन तथा स्वीड जो सब मिलकर नोर्समेन (Norsemen) कहलाते थे)। उन्होंने पश्चिमी योरोप पर आक्रमण किया। पूर्व की ओर से आक्रमण करनेवाले मंगोल जाति के मगयार (Magyars) लोग थे जो पूर्वी योरोप पर चढ़ दौड़े। उन लोगों ने पहले तो आक्रमण किया और बाद में विजय करके वे वहीं बस गये। इस आक्रमण के पहिले से ही राज्य-व्यवस्था टूट-फूट रही थी, अब उसकी प्रक्रिया में तेजी आई और विघटन का कार्य बड़ी जल्दी-जल्दी होने लगा। विघटन की इस प्रक्रिया में उसने जो रूप धारण किया वह सामन्त-व्यवस्था (Feudalism) कहलाता है।

सामन्त-व्यवस्था—सामन्त-व्यवस्था वास्तव में कोई व्यवस्था नहीं थी, वह एक संगठित अव्यवस्था थी। उसका किसी ने विचारपूर्वक निर्माण नहीं किया; नोर्समेन के आक्रमणों के कारण उसका स्वाभाविक विकास हो गया। वह संकटकालीन पारस्परिक बीमा- व्यवस्था थी।† उन दिनों में प्रत्येक व्यक्ति संकट में था। प्रति वर्ष आक्रमणकारी धावा बोलते थे और जनता में हाहाकार मचा देते थे। ऐसी अवस्था में बेचारे ग़रीबों और किसानों को अपने पड़ोसी किसी रईस या अमीर के निवास-स्थान में ही, जो प्राय: एक गढ़ी के रूप में होता था, रक्षा प्राप्त हो सकती थी। किसान सुरक्षा प्राप्त करने के लिये अपनी भूमि उस रईस को सौंप देते थे और उसकी सब प्रकार से सेवा करने का वचन देते थे। रईस उनकी सुरक्षा का भार अपने ऊपर लेकर उन्हें अपना सेवक बना लेते थे और उनकी भूमि अपनी ओर से उन्हीं को सौंप देते थे। जिन ग़रीबों के पास खेत न होते थे वे अन्य प्रकार से सेवा करने का वचन देकर रईसों से सुरक्षा प्राप्त करते थे। इसी प्रकार राजाओं को अपनी सुरक्षा और शत्रुओं का मुकाबला करने के लिये सैनिक सहायता की आवश्यकता होती थी जो उन्हें वैसे ही नहीं मिल सकती थी। इस कारण वे अपनी भूमि सैनिक सेवा का वचन ले कर अपने सरदारों में बाँट देते थे और प्रत्येक सरदार को उसकी भूमि या जागीर के अन्दर अपने प्रभुत्व के अधिकार सौंप देते थे।‡

---

* सन् १८०६ ई० में नेपोलियन ने इस पद का अन्त कर दिया।

† Hayes, Moon and Wayland : World History, p. 300.

‡ Myers : Medieval and Modern History, p. 76.

वे सरदार भी इसी तरह सेवा का वचन लेकर अपनी-अपनी भूमि कुछ आसामियों को बाँट दिया करते थे। इसी प्रकार वे भी अपनी-अपनी भूमि छोटे-छोटे आसामियों को बाँट देते थे। इस प्रकार सारी भूमि अन्त में छोटे-छोटे किसानों में बँट जाया करती थी और प्रत्येक व्यक्ति का अपने ऊपर किसी से सम्बन्ध जुड़ जाया करता था जिसका आधार भूमि-स्वामित्व था। सबसे ऊपर राजा होता था, उसके नीचे उसके सरदार होते थे, जिन्हें हम सामन्त या जागीरदार कह सकते हैं। राजा की जो भूमि उनके पास होती थी वह फ़ीफ़ (Fief) या फ़्यूड (Feud) अथवा जागीर कहलाती थी। सामन्तों के नीचे छोटे-छोटे आसामी (Vassals) या ज़मींदार होते थे। सबसे नीचे साधारण किसान और भूमि-रहित (अर्ध-) दास (Serfs) होते थे जो बेगार करके अपने स्वामियों की सेवा करते थे। इस व्यवस्था में कोई एकरूपता नहीं थी। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में इसके रूप भिन्न-भिन्न होते थे। एक सामन्त या आसामी अपने स्वामी को वचन देकर जो दायित्व स्वीकार करता था वे भी सर्वत्र एक से नहीं होते थे। एक बात इसमें सर्वत्र समान थी। इस व्यवस्था में कोई भी व्यक्ति बिना स्वामी के नहीं होता था। यह सारी व्यवस्था एक पिरेमिड (Pyramid) के समान थी जिसमें सबसे नीचे असंख्य कृषक और अर्ध-दास हुआ करते थे, उनके ऊपर भिन्न-भिन्न प्रकार के आसामी एवं जागीरदार होते थे और सबसे ऊपर राजा होता था जो स्वयं ईश्वर का सामन्त समझा जाता था। इस स्वामि-सेवक सम्बन्ध का आधार भूमि था।

इस व्यवस्था के दो पक्ष थे—राजनीतिक और सामाजिक। राजनीतिक पक्ष में इसका सार था शासन का विकेन्द्रीकरण। उस अराजकता के समय में इस व्यवस्था से सुरक्षा तथा न्याय का प्रबन्ध हो सका। जो समय (इक़रार) स्वामी और सेवक में होता था उसके अनुसार दोनों पक्षों के कुछ कर्त्तव्य होते थे। जैसा कहा जा चुका है, इस व्यवस्था का विकास ऊपर और नीचे दोनों ओर से हुआ था। नीचे के लोगों को रक्षा की आवश्यकता थी, ऊपर के लोगों को सेवा की। राजा या सामन्त का काम लुटेरों तथा आक्रमणकारियों से अपने अधीनस्थ लोगों की केवल रक्षा करना ही नहीं था, वह उनके पारस्परिक विवादों को दूर करता था और अपने न्यायालय में न्याय करता था। इस प्रकार जनता को सुरक्षा प्राप्त होती थी जिसके बदले रईसों और सरदारों को सेवा प्राप्त होती थी जिसकी उन्हें आवश्यकता थी। इस प्रकार राज्य में कोई एक केन्द्रीय शासन नहीं होता था। प्रत्येक सामन्त अपने क्षेत्र में एक प्रकार का शासक था, उसके अपने क़ानून होते थे और अपने न्यायालय। व्यक्तियों का सम्बन्ध केवल अपने स्वामी से होता था; राजा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था।

सामाजिक पक्ष में यह एक आर्थिक व्यवस्था थी जिसे मेनोरियल (Manorial) व्यवस्था कहते हैं। मध्य-युग में किसानों के व्यक्तिगत छोटे-छोटे खेत नहीं होते थे। खेत एक बड़ी जायदाद के रूप में होते थे और मेनर (Manor) कहलाते थे। प्रत्येक

मेनर का एक स्वामी होता था। उसकी एक गढ़ी होती थी जिसमें वह रहता था। उसके साझेदार कृषक उसके साथ ही गढ़ी के बाहर गाँव में रहते थे। कृषक लोग दो वर्ग के होते थे—स्वतन्त्र (Freeholders) और विलीन (Villein) या अर्धदास (Serf)। स्वतन्त्र कृषकों की संख्या छोटी सी थी और वे धनी हुआ करते थे। वे भूमि का कुछ भाग स्वतन्त्र रूप से अपने काम में ला सकते थे और उसके लिये अपने स्वामी को निश्चित लगान देते थे। वे इच्छानुसार मेनर में रह सकते थे या उसे छोड़ कर अन्यत्र जा सकते थे। विलीन न तो स्वतन्त्र व्यक्ति थे और न दास। स्वामी उनके शरीर का स्वामी नहीं था, वे बेचे नहीं जा सकते थे। उनका सम्बन्ध स्वामी की अपेक्षा भूमि से था, यद्यपि उन्हें स्वामी के प्रति कुछ कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था। उनसे मेनर में रहने का अधिकार नहीं छीना जा सकता था, परन्तु वे स्वामी की अनुमति के बिना मेनर को छोड़ भी नहीं सकते थे। उन लोगों को स्वामी की अनेक प्रकार से सेवा करनी पड़ती थी। भूमि के प्रयोग के लिये उन्हें धन, जिन्स तथा श्रम के रूप में अदायगी करनी पड़ती थी। उन्हें कुछ निश्चित लगान देना पड़ता था, मुर्गी, अण्डे, शहद आदि एक निश्चित परिमाण में भेंट करना पड़ता था और अपने स्वामी के खेत पर प्रायः वर्ष में छः महीने काम करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त फसल के अवसर पर उनसे अधिक काम भी लिया जा सकता था। उन्हें अपने स्वामी के हलों की मरम्मत करनी पड़ती थी, वे मेंड़ों पर झाड़ियाँ लगाते थे और खाइयाँ खोदते थे, उन्हें उनकी भेड़ों की ऊन काटनी पड़ती थी और इसी तरह के पचासों काम करने पड़ते थे।

निवा— हम ऊपर बतला चुके हैं कि इस व्यवस्था का विकास धीरे-धीरे स्वाभाविक [illegible] थी। किन्तु इसने बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की। उस महान राजनीतिक अराजकता के युग में सुरक्षा और न्याय इसी व्यवस्था से ही उपलब्ध हो सके। परोक्ष रूप में इससे कृषि की भी उन्नति हुई। इसके साथ ही प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार और कर्त्तव्य की नागरिक भावना को प्रोत्साहन मिला। सामन्तों एवं सरदारों की शक्ति से राजाओं की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध भी लगा। परन्तु जहाँ इस व्यवस्था में इतने गुण थे, वहाँ उसमें अनेक अवगुण भी विद्यमान थे। कालान्तर में शान्ति स्थापित होने पर विविध राजाओं में आपस में युद्ध होने लगे। प्रबल और प्रतापशाली सामन्त भी प्रायः अपने राजा के विरुद्ध विद्रोह कर बैठते थे। एक ही राजा के सामन्त आपस में लड़ते रहते थे और राज्य में अशान्ति मचाये रहते थे। कई व्यक्ति एक से अधिक स्वामियों के सामन्त भी हुआ करते थे। सैनिक जीवन को आवश्यकता से अधिक महत्व मिलने लगा और परोक्ष रूप से व्यापार तथा उद्योग-धन्धों का ह्रास हुआ। सर्वसाधारण का, और विशेष रूप से भूमिहीन श्रमिकों का, निर्मम शोषण हुआ जिनकी दशा बिल्कुल दासों जैसी हो गई।

इस प्रकार इस समय राजनीतिक दृष्टि से समस्त पश्चिमी तथा मध्यवर्ती योरोप असंख्य छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था। पवित्र रोमन साम्राज्य ने समय-समय पर राजनीतिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया, परन्तु यह एकता अधिक दिनों तक क़ायम न रह सकी। पवित्र रोमन साम्राज्य स्वयं सामन्त-पद्धति पर संगठित था और उसके सामन्त बड़े शक्तिशाली थे। साम्राज्य के बाहर कई राज्य बन रहे थे जिनमें फ्रान्स, स्पेन और इंगलेंड मुख्य थे। वे सब भी सामन्त-पद्धति पर आधारित थे परन्तु धीरे-धीरे, जैसा हम आगे देखेंगे, वे सामन्त-पद्धति का नाश कर शक्तिशाली राष्ट्र बन गये।

चर्च का प्रभाव— योरोप की राजनीतिक दशा तो इस प्रकार अव्यवस्थित थी और वहाँ कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो अधिकांश पश्चिमी योरोप को अपने प्रभाव में रख सकती, किन्तु धार्मिक क्षेत्र में चर्च का संगठन बड़ा शक्तिशाली था और समस्त ईसाई संसार पर ईसाई चर्च के अध्यक्ष पोप का एकाधिपत्य था। चर्च बिलकुल रोमन साम्राज्य के अनुसार संगठित था। विभिन्न देश चर्च के निमित्त प्रान्तों, जिलों (Dioceses) तथा ग्रामों (Parishes) में विभक्त थे। प्रत्येक प्रान्त के लिये एक बड़ा पादरी आर्चबिशप होता था। एक जिले का मुख्य पादरी बिशप कहलाता था। हर एक पेरिश में जो ग्राम या नगर का एक भाग होता था, एक छोटा पादरी होता था जो अपने इलाके के समस्त धार्मिक कृत्य करवाता था। इन पादरियों की नियुक्ति पोप के द्वारा या उसकी अनुमति से होती थी। छोटे पादरियों पर बड़े पादरियों का अधिकार होता था और अन्त में सब पोप के अधीन थे तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे। उन दिनों चर्च का बड़ा ज़बरदस्त प्रभाव था। जनता वैसे ही धर्मप्राण होने के कारण चर्च का आदर करती थी और उससे डरती थी। इसके अतिरिक्त धार्मिक क्षेत्र में उसकी शक्ति बड़ी व्यापक थी। प्रत्येक व्यक्ति चर्च से सम्बद्ध था; उससे पृथक् व्यक्ति के जीवन का कोई मूल्य नहीं था; व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त पादरियों के अंकुश में रहता था। विरोधियों एवं अपराधियों का दमन करने के लिये चर्च के पास कोई सेना या पुलिस नहीं होती थी, परन्तु उसके पास इससे भी अधिक प्रभावकारी शस्त्र मौजूद था। वह अपराधी को धर्म-बहिष्कृत (Excommunicate) करके उसे मुक्ति से वंचित कर सकता था। पोप राजाओं पर इस अधिकार से पूरा अंकुश रखता था। एक धर्म-बहिष्कृत राजा की आज्ञाओं का पालन करना प्रजा के लिये आवश्यक नहीं रहता था। उस राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र हो सकते थे, उसकी कोई भी हत्या कर सकता था, परन्तु उसका रक्षक कोई नहीं होता था। पोप अप्रसन्न होकर किसी भी राज्य में समस्त धार्मिक कृत्यों का निषेध कर सकता था जिससे उस समय की धर्मप्राण जनता में त्राहि-त्राहि मच जाती थी।

इसके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी चर्च का बड़ा भारी प्रभाव था। वह राज-

नीतिक क्षेत्र में आन्तरिक कुशासन तथा बाह्य असदाचरण के लिये राजाओं की भर्त्सना करके तथा सामाजिक क्षेत्र में विवाह के क़ानून द्वारा पारवारिक जीवन पर तथा प्रायश्चित के विधान द्वारा मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन पर अपना नियन्त्रण रखता था और सम्पत्ति को सामान्य हित में एक धरोहर बतला कर तथा दान की भावना पर ज़ोर देकर आर्थिक उद्देश्यों पर भी नियन्त्रण रखता था। बौद्धिक तथा मानसिक क्षेत्र में शिक्षा पर अपने एकाधिकार द्वारा उसने अपना नियन्त्रण स्थापित कर रखा था और नास्तिकता तथा कुतर्क के लिये ताड़ना तथा धर्म-बहिष्कार द्वारा उसने समस्त जनता पर एक समान संस्कृति लाद रखी थी।* मनुष्य को सोचने-विचारने की बिलकुल स्वतन्त्रता नहीं थी। जो कुछ पोप तथा पादरी वर्ग कहता था, वही सत्य था, शेष सब मिथ्या एवं अग्राह्य था। पादरियों से भिन्न विचार रखना या चर्च के सिद्धान्तों के विषय में शंका अथवा कुतर्क करना नास्तिकता का प्रमाण था जिससे लिये प्राण-दण्ड मिलता था।

अन्य प्रकार से भी चर्च बड़ा शक्तिशाली था। उसके पास अपार सम्पत्ति थी। दान-दक्षिणा के अतिरिक्त धार्मिक लोग उसे भूमि भी भेंट करते थे जिससे उसको खूब आय होती थी। इसके अतिरिक्त वह समस्त ईसाइयों से अनेक प्रकार के कर भी वसूल करता था। इसके साथ ही चर्च की सम्पत्ति तथा चर्च से सम्बन्धित व्यक्ति राज-करों से मुक्त थे।

चर्च केवल एक धार्मिक संस्था ही नहीं था। वह बहुत से शासन-सम्बन्धी काम भी करता था। उसका अपना क़ानून (Canon Law) था और उसके अपने न्यायालय होते थे, जिनमें पादरियों, अनाथों, विधवाओं आदि के तथा विवाह, वसीयत, नास्तिकता आदि से सम्बन्ध रखनेवाले मामलों की जाँच होती थी। चर्च के आदमियों पर राजा का क़ानून लागू नहीं होता था और राजकीय न्यायालय उन्हें दण्ड नहीं दे सकते थे। पोप अपने आपको समस्त राजाओं का अधिराज समझता था। वह स्वयं सम्राट् के समान ठाट-बाट के साथ रहता था और भिन्न-भिन्न राजाओं के दरबार में उसके राजदूत रहते थे। चर्च के पास भूमि होने के कारण पादरी लोग विभिन्न राज्यों में राजाओं के सामन्त भी होते थे तथा ऊँचे पादरी प्रायः राज्य के प्रतिष्ठित पदों पर कार्य करते थे और इस प्रकार राज्य के शासन पर भी उनका प्रभाव रहता था।

राज्य और चर्च का संघर्ष—इस प्रकार राज्य और चर्च के अधिकार-क्षेत्र बड़े अंश तक समान थे और इस कारण दोनों के बीच संघर्ष अनिवार्य था। मध्य-युगीन राज्य सामन्ती राज्य होने के कारण निर्बल थे। जब तक राज्य निर्बल

---

* Barker in Hearnshaw (ed): The Social and Political Ideas of Some Great Medieval Thinkers, p. 15.

रहे और चर्च शक्तिशाली रहा, तब तक राजाओं की ओर से चर्च की शक्ति का अधिक विरोध नहीं हुआ, परन्तु धीरे-धीरे कुछ राज्य शक्तिशाली होने लगे और एक शक्तिशाली राजा के लिये शासन के कामों में पोप का हस्तक्षेप असह्य होना स्वाभाविक था। पोप भी राजाओं की बढ़ती हुई शक्ति और चर्च के पदाधिकारियों पर उनके बढ़ते हुए अधिकार को सहन नहीं कर सकते थे। फलतः कालान्तर में चर्च और राज्य के बीच संघर्ष होने लगा। जर्मनी और फ्रान्स के कई राजाओं ने पोप का अनेक बार विरोध किया। आरम्भ में तो पोप उन्हें परास्त कर सका परन्तु मध्य-युग के अन्त की ओर जब योरोप में राष्ट्रीयता एवं व्यक्तिवाद का जोर बढ़ा, राष्ट्रीय राज्य बनने लगे तथा उन्हें जनता का समर्थन प्राप्त होने लगा और उधर पोप तथा पादरियों के विलासी एवं भ्रष्ट जीवन के कारण लोगों के हृदय में उनके प्रति श्रद्धा कम होने लगी तो पोप का पक्ष निर्बल पड़ गया और राजाओं को पोप के कठोर नियन्त्रण से मुक्ति मिलने लगी। अपार सम्पत्ति के कारण पोप, पादरियों तथा मठों में रहनेवाले साधुओं का जीवन तो विलासमय हो ही रहा था और वे अपने धार्मिक कर्त्तव्यों को छोड़ कर रागरंग तथा राजनीतिक षड्यन्त्रों में मस्त रहा करते थे, इसके अतिरिक्त उन्होंने धर्म को भी बड़ा आडम्बरयुक्त बना दिया था। चर्च के कई समझदार व्यक्तियों ने इन दोषों के विरुद्ध और चर्च का सुधार करने के लिये आवाज़ उठाना शुरू किया। ऐसे सुधारकों में इङ्गलंड का विक्लिफ़ (१३२०-१३४८), बोहीमिया का हस (१३६६-१४१५) तथा फ्लोरेन्स का सेवोनरोला (१४५२-१४६८) मुख्य थे, परन्तु अभी पोप तथा चर्च की प्रतिष्ठा अधिक नहीं गिरी थी। उनका और उनके अनुयायियों का कठोर दमन किया गया। हस तथा सेवोनरोला जीवित जला दिये गये। विक्लिफ़ की भी यही दशा होती परन्तु पोप के हाथों में पड़ने के पहिले ही उसकी मृत्यु हो गई।

पूर्वी रोमन साम्राज्य और मुसलानों का आक्रमण—पूर्वी रोमन साम्राज्य पर भी विपत्तियाँ तो आईं, परन्तु उसका उतना अनिष्ट नहीं हुआ जितना पश्चिमी रोमन साम्राज्य का हुआ। जिन दिनों नोर्समेन का आक्रमण पश्चिमी साम्राज्य पर हुआ, उन्हीं दिनों पूर्वी साम्राज्य पर स्लाव (Slav) तथा बलगार लोगों (Bulgarians) का आक्रमण हुआ। स्लाव लोग बाल्कन प्रायद्वीप में बस गये और ग्रीस तक घुस गये। बलगार लोगों का हूणों से रक्त-सम्बन्ध था और वे बड़े भयंकर थे। उन्होंने आठवीं शताब्दी के अन्त में साम्राज्य में प्रवेश किया और वे डेन्यूब नदी तथा बाल्कन पर्वत के बीच के प्रदेश पर अधिकार करके वहीं बस गये। एक बार तो ऐसा प्रतीत हुआ कि वे सारे बाल्कन प्रायद्वीप पर छा जायेंगे, पर १०१४ ई० में रोमन सम्राट् बेसिल ने उन्हें परास्त कर बाल्कन पर्वत के उत्तर में ही रोक दिया।

पूर्व की ओर से साम्राज्य को मुसलमान अरबों के आक्रमणों का मुकाबला करना पड़ा। आप देख चुके हैं कि अरबों ने अपने नये धार्मिक जोश की अदम्य शक्ति

से मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद की शताब्दी में ही उनके उत्तराधिकारी खलीफ़ाओं के नेतृत्व में पूर्व में सिन्ध से लेकर पश्चिम में स्पेन तथा पुर्तगाल तक एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया था। इस साम्राज्य-स्थापन में अरबों ने एशिया में स्थित रोमन साम्राज्य पर आक्रमण किया और उसके अधिकांश पर अधिकार कर लिया। ७१७ ई० में उन्होंने कॉन्स्टेण्टीनोपल पर भी आक्रमण किया, परन्तु वे परास्त हुए और फिर सात शताब्दियों तक उन्होंने उधर मुख नहीं किया। अरबों की इस विजय के सिलसिले में ईसाइयों की धर्मभूमि—पेलेस्टाइन, जहाँ ईसाई लोग सदा तीर्थ-यात्रा करने पहुँचते थे, मुसलमानों के हाथों में पहुँच गई। परन्तु अरब लोग धर्म के मामलों में असहिष्णु नहीं थे। वे ईसाइयों को अपने तीर्थ-स्थानों की यात्रा बेखटके करने देते थे और उन्हें किसी प्रकार भी सताते नहीं थे। अतः ईसाइयों को यह अरब-विजय अधिक नहीं खटकी।

धर्म-युद्ध (Crusades)—अरब लोगों ने सभ्यता के क्षेत्र में बहुत उन्नति की और अरब सभ्यता तत्कालीन योरोपीयन सभ्यता से कहीं अधिक वैभवशाली और समृद्ध थी। परन्तु अरबों का साम्राज्य अधिक नहीं टिक सका। दसवीं शताब्दी में उस पर उत्तर-पूर्व की ओर से तुर्किस्तान के मैदानों के निवासी तुर्कों के भीषण आक्रमण हुए। अरबों का साम्राज्य इन असभ्य तुर्कों के आक्रमण के धक्कों को न सह सका। तुर्कों ने उसका विध्वंस कर दिया और उसकी जगह तुर्क सरदारों ने अनेक राज्य स्थापित कर लिये। पेलेस्टाइन भी इस प्रकार तुर्कों के हाथों में पहुँच गया। तुर्क लोगों ने इस्लाम ग्रहण कर लिया था, परन्तु उन पर अरबों की संस्कृति और सभ्यता का अधिक प्रभाव न पड़ा। वे धार्मिक बातों में बड़े असहिष्णु थे। उन्होंने पेलेस्टाइन में पहुँचनेवाले ईसाई तीर्थ-यात्रियों पर अत्याचार करना आरम्भ किया जिससे समस्त योरोप के ईसाई जगत में खलबली मच गई और अपने धर्म-स्थानों का उद्धार करने के लिये लोगों में जोश फैला। रोम के पोप ने ईसाइयों का एक बड़ा सम्मेलन किया (१०९५) और योरोप के विभिन्न राजाओं को अपने पारस्परिक युद्धों को बन्द कर अपनी धर्म-भूमि का उद्धार करने का आदेश दिया। पीटर नामक एक साधु ने भी घूम-घूमकर आन्दोलन किया और सर्वत्र लोग इस धर्मयुद्ध के लिये तैयार हो गये। जो लोग इस युद्ध के लिये जाते उनके वक्षस्थल पर या कन्धे पर लाल कपड़े का एक विशाल क्रॉस (Cross) होता था। इसी कारण ये युद्ध क्रूसेड (Crusade) के नाम से विख्यात हुए और उनमें भाग लेनेवाले लोग क्रूसेडर कहलाये।

इस धर्म-युद्ध में सैनिक, कृषक, कारीगर, व्यापारी राजा-महाराजा सभी प्रकार के लोग बड़े उत्साह के साथ शामिल हुए। ईसाइयों का अपनी धर्म-भूमि के उद्धार का

प्रयत्न कोई डेढ़ सौ वर्ष तक (१०९६ से १२५०) चलता रहा और कुल मिला कर आठ क्रूसेड हुए। इन युद्धों में बड़ी मारकाट हुई। एक बार ईसाइयों ने जेरुसलेम विजय करके अपने अधिकार में कर लिया, परन्तु वे उस पर अपना अधिकार अधिक दिनों तक न रख सके। तुर्कों ने उसे वापिस छीन लिया और अन्त में ईसाई तीर्थ-स्थान तुर्कों के हाथों में ही बने रहे।

धर्म युद्ध के परिणाम— इस प्रकार ये धर्म-युद्ध असफल हुए, परन्तु उनसे अन्य कई प्रकार के लाभ अवश्य हुए। मध्य-युग में पश्चिमी योरोपवाले कूप-मण्डूक बन गये थे और बाह्य जगत से उनका सम्पर्क बिलकुल नहीं रहा था। इस युद्धों के कारण उनका पूर्वी देशों से सम्पर्क हुआ, यात्राओं तथा भौगोलिक अध्ययन को प्रोत्साहन मिला। क्रूसेडों में भाग लेनेवाले व्यक्ति नये लोगों से मिले और उन्होंने उनसे नये विचार ग्रहण किये। जो वहाँ से लौटे उनका बौद्धिक क्षितिज अधिक विशद हो गया और उन्हें अपने सीमित जीवन से अरुचि हो गई। इन युद्धों के फलस्वरूप पूर्वी देशों से व्यापार होने लगा, योरोप में नई-नई वस्तुएँ पहुँचने लगीं और इटली के वेनिस तथा जिनोआ नगर इस व्यापार के केन्द्र होने के कारण बड़े समृद्ध एवं वैभवशाली हो गये। विद्वान् लोग पूर्व की संस्कृति से आकर्षित हुए। एरिस्टॉटल के वैज्ञानिक ग्रन्थ, अरबी अंक, बीज गणित, दिग्दर्शक यन्त्र और काग़ज़ पश्चिमी योरोप में क्रूसेडरों की खोजों के परिणाम-स्वरूप ही पहुँचे। मध्य-युग में लोगों का विश्वास था कि व्यक्ति के इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन की जितनी भी आवश्यकताएँ हैं वे सब चर्च तथा ईसाई धर्म के द्वारा पूर्ण हो सकती हैं तथा उसे और किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है। एक दूसरी सभ्यता के सम्पर्क तथा नवीन अनुभव प्राप्त करके लौटनेवाले लोगों ने इस विश्वास का खण्डन किया और इस प्रकार लोगों के मस्तिष्क पर चर्च का जो अत्यधिक प्रभाव था, वह निर्बल पड़ने लगा। इन धर्म-युद्धों ने योरोप में नवीन विचारों का प्रसार करके तथा पुराने विचारों, विश्वासों एवं संस्थाओं को क्षति पहुँचा कर बड़ा भारी काम किया और इसी के फलस्वरूप सांस्कृतिक नव-जागरण सम्भव हो सका।* इसके साथ मध्य-युग का भी अन्त हो गया और योरोप ने अपने इतिहास के आधुनिक युग में प्रवेश किया।

---

* Swain : A History of World Civilization, pp. 348-49.

अध्याय ३

आधुनिक युग का आरम्भ

(अ) सांस्कृतिक नव-जागरण

आधुनिक युग का आरम्भ सांस्कृतिक नव-जागरण के साथ होता है। इस शब्दावली से उन सब बौद्धिक परिवर्तनों का बोध होता है जो मध्य-युग के अन्त में दृष्टिगोचर हो रहे थे। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। इसका आरम्भ धीरे-धीरे तेरहवीं शताब्दी में ही हो चुका था। मध्य-काल योरोप की एक लम्बी मोहनिद्रा का युग था। इस युग का जीवन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, मानसिक, आत्मिक तथा धार्मिक सभी दृष्टियों से अत्यन्त पिछड़ा हुआ था। राजनीतिक दृष्टि से यह युग अधिकांश में अराजकता का युग था और इसमें सुसंगठित शासन-व्यवस्था का अभाव था। सामाजिक जीवन अस्तव्यस्त था। साधारण जनता अधिकार-विहीन थी और तुच्छ समझी जाती थी; अधिकार केवल सामन्तों को ही प्राप्त थे। आर्थिक दृष्टि से भी किसानों का जीवन बड़ा दयनीय था। सामन्त लोग उनका शोषण करते थे और उनकी दशा दासों से भी बुरी थी। धार्मिक क्षेत्र में तो चर्च का प्राधान्य था ही, मानसिक तथा आत्मिक क्षेत्रों पर भी चर्च ने पूरा अधिकार जमा रखा था। उस युग में शिक्षा का प्रचार बहुत कम था और साधारण जनता प्रायः अशिक्षित थी। उन दिनों विद्या तथा ज्ञान के केन्द्र ईसाई चर्च और मठ हुआ करते थे। शिक्षा अधिकतर धार्मिक हुआ करती थी और लेटिन भाषा में दी जाती थी जो सभ्यता और संकृति की भाषा समझी जाती थी। मध्य-युग के उत्तरार्ध में शिक्षा का प्रचार बढ़ने लगा और ऑक्सफ़ोर्ड, केम्ब्रिज, पेरिस, बोलोन्या आदि विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। आरम्भ में ये विश्वविद्यालय ईसाई मठों के ही अंग थे और उनमें मुख्यतः लेटिन तथा ईसाई धर्म-शास्त्रों की ही शिक्षा दी जाती थी। इनके अतिरिक्त व्याकरण, दर्शन, चिकित्सा-शास्त्र तथा तर्क-शास्त्र भी शिक्षा के विषय थे। परन्तु इन विद्यापीठों में धर्माधिकारियों का प्राधान्य होने के कारण विज्ञान की अधिक उन्नति नहीं हुई, क्योंकि विज्ञान जिज्ञासु होता है और परीक्षण करके सत्य का अनुसन्धान करना चाहता है। धर्माधिकारी इस बात को पसन्द नहीं कर सकते थे। उनके लिये बाइबिल में जो कुछ लिखा हुआ था और उसकी जो व्याख्या वे करते थे, वह सर्वमान्य थी और उसमें शंका करना नास्तिकता का घोर अपराध था। इस प्रकार समाज का बौद्धिक एवं आत्मिक जीवन चर्च के शिकंजे में जकड़ा हुआ था। ऐसी अवस्था में उन्नति के सब स्रोत सूख गये थे और समाज की उन्नति कुण्ठित हो गई थी।

परन्तु मध्य-युग की अन्तिम दो शताब्दियों में हम योरोपीय समाज को अपनी लम्बी निद्रा में करवट लेते देखते हैं, जिसका कारण था अरबों से सम्पर्क। अरबों ने स्पेन पर अधिकार कर लिया था और सिसिली का द्वीप भी वर्षों तक उनके अधिकार में रहा था। अरब लोगों की सभ्यता तत्कालीन योरोपीय सभ्यता से कहीं उन्नत थी। योरोप में तो वर्बर आक्रमणों के साथ ही यूनानी साहित्य, विज्ञान और कला का लोप हो चुका था परन्तु अरब के लोगों ने उन्हें जीवित रखा था। यूनानी लेखकों एवं विचारकों के ग्रन्थों का उन्होंने अरबी भाषा में अनुवाद करके और सिसिली तथा स्पेन में स्थापित अपने विद्यालयों में उनके अध्ययन-अध्यापन द्वारा उनका प्रचार किया। प्लेटो, एरिस्टॉटल आदि यूनानी दार्शनिक ईसाई नहीं थे और उनके ग्रन्थों में विशुद्ध दर्शन एवं ज्ञान का प्रतिपादन किया गया था जिनका ईसाई या अन्य किसी धर्म से किसी प्रकार का सम्बन्ध न था। इन विद्यालयों में विचारों की पूर्ण स्वतन्त्रता थी और अरब विद्वान् बड़े उदार थे। उनके सम्पर्क से ईसाई विद्वानों में भी उदारता तथा विचार-स्वातन्त्र्य की ओर प्रवृत्ति होने लगी और उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन होने लगा। इसके साथ ही इन्हीं दिनों (तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दियों में) कुछ तो धर्म-युद्धों के कारण और कुछ अन्य कारणों से व्यापार एवं देशाटन बढ़ रहा था और बड़े-बड़े व्यापारिक नगरों का उत्थान हो रहा था। व्यापार तथा देशाटन के फलस्वरूप लोगों का बाह्य सम्पर्क बढ़ रहा था और वे अपने सीमित विचारों के संकुचित दायरे से निकल कर एक विशद संसार में प्रवेश कर रहे थे। उनका मानसिक एवं बौद्धिक क्षितिज विस्तृत हो रहा था, उनकी जिज्ञासा जाग्रत हो रही थी, सत्य के अनुसन्धान की प्रेरणा मिल रही थी और उनका दृष्टिकोण दक़ियानूसी विचारों को त्याग कर उदार बन रहा था। इस प्रकार पश्चिमी योरोप के लोगों की मानसिक दासता की शृंखलाएं टूट रही थीं, उनमें आत्मिक साहस बढ़ रहा था और वे उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहे थे।

इसी अवस्था में एक महत्वपूर्ण घटना हुई जिसने इस प्रवृत्ति को और भी तीव्र कर दिया। १४५३ में तुर्कों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी कॉन्स्टेण्टीनोपल पर अधिकार कर लिया। उनके अत्याचार से बचने के लिये वहां जो सैकड़ों यूनानी और रोमन विद्वान् रहते थे, वे अपने प्राचीन अमूल्य यूनानी ग्रन्थों को लेकर पश्चिमी योरोप की ओर चले गये। सर्वप्रथम वे इटली में जा बसे और वहां से धीरे-धीरे सर्वत्र फैल गये। यूनानी साहित्य, दर्शन, विज्ञान, कला आदि का जो अध्ययन योरोप में पहले से हो रहा था उसमें अब अधिक उन्नति हुई। यूनानी जीवन का दृष्टिकोण मध्य-युगीन योरोपीय जीवन के दृष्टिकोण से बिलकुल विपरीत था। मध्य-युग में चर्च ने लोगों को प्रमाण में विश्वास करने तथा चर्च की शिक्षाओं में ही जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान प्राप्त करने की शिक्षा दी थी। इसके अतिरिक्त ईसाई भिक्षुओं ने संसार

को असार एवं क्षणभंगुर बतलाकर तथा पारलौकिक जीवन को अधिक महत्व देकर सांसारिक जीवन के प्रति उपेक्षा का पाठ पढ़ाया था। सारांश में, मध्य-कालीन योरोप-वाले अन्धविश्वासी तथा प्रमाणवादी थे। इनके विपरीत यूनानियों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक एवं भौतिक था। वे किसी बात को प्राचीन अथवा परम्परागत होने के कारण स्वीकार नहीं करते थे। वे अपनी बुद्धि से सोचते थे, अनुसन्धान करते थे और परीक्षण करके किसी वस्तु को ग्रहण करते थे। वे कष्टों को चुपचाप सहन करना नहीं, वरन् आनन्द का उपभोग करना अपना ध्येय समझते थे। वे स्वर्ग-नरक के झगड़े में पड़कर अपनी शक्ति और अपने सुख का नाश नहीं करते थे। यूनानियों के इन विचारों ने योरोप के मानसिक जगत में महान् उथल-पुथल मचा दी और मध्य-युगीन योरोप की जड़ हिला दी। अन्धविश्वास, प्रमाणवाद तथा चर्च की प्रधानता को धक्का लगा, लोग सांसारिक जीवन से विरक्ति को त्याग कर उसमें अधिकाधिक रुचि लेने लगे। उनमें आत्मिक साहस का उदय हुआ और वे समझने लगे कि मनुष्य अपना जीवन स्वयं सुखी बना सकता है। इस प्रकार योरोपीय जीवन में स्फूर्ति आई। जीवन का दृष्टि-कोण पारलौकिक से बदलकर भौतिक एवं मानववादी हुआ। बौद्धिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—साहित्य, कला, विज्ञान आदि-में एक नये युग का आरम्भ हुआ और योरोपीय इतिहास ने आधुनिक युग में पदार्पण किया।

इस प्रकार योरोप में यह मानसिक क्रान्ति और उसके फलस्वरूप सांस्कृतिक नवजागरण हुआ जिसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पड़ा। इन्हीं दिनों योरोप-वासियों को मुद्रणकला का ज्ञान भी बाहर से मिला और धीरे-धीरे मुद्रणालय खुलने लगे। पुस्तकें बड़ी संख्या में छपने लगीं, लोग उन्हें पढ़ने लगे और उनके ज्ञान तथा दृष्टिकोण का विस्तार होने लगा। दिग्दर्शकयन्त्र से दूर-दूर के देशों की सामुद्रिक यात्राएँ सम्भव हो सकीं। मार्कोपोलो, कोलम्बस, वास्कोडिगामा जैसे साहसिक यात्री दूर-दूर की यात्राओं पर जाने लगे। इस सिलसिले में उन्होंने अमेरिका को खोज निकाला और भारतवर्ष का नया मार्ग मालूम कर लिया। इन यात्राओं तथा भौगोलिक खोजों से लोगों का ज्ञान तथा अनुभव बढ़ा और योरोप उन्नति के पथ पर बड़ी तेजी से आगे बढ़ने लगा।

(आ) नवजागरण-काल के राज्य

नवजागरण का प्रभाव जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में हुआ था। बौद्धिक तथा कला के क्षेत्र में उसने मानववाद (Humanism) को पुनर्जीवित किया और मनुष्य के विचारों एवं भावनाओं के ऊपर जोर दिया जाने लगा। परन्तु हमारे अध्ययन की दृष्टि से उसका सबसे बड़ा प्रभाव राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन तथा उसके आधार पर निर्मित राष्ट्रीय राज्यों के रूप में प्रकट हुआ। नवयुग के आरम्भ में हम कुछ शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों का उदय देखते हैं, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि

इस समय राष्ट्रीयता से व्यक्ति के अधिकारों का कोई सम्बन्ध नहीं था। उसका सम्बन्ध शक्ति से, एक राज्य की दूसरे राज्य से स्वतन्त्र होकर काम करने की शक्ति अर्थात्

संप्रभुता से था। इसका प्रभाव विभिन्न राज्यों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में प्रकट होने लगा।*

राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान—राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान सामन्तवाद की समाधि पर हुआ। विभिन्न देशों में शक्तिशाली सामन्त परस्पर लड़ा करते थे जिसके फलस्वरूप धीरे-धीरे उनकी शक्ति क्षीण हो चुकी थी। बारूद के आविष्कार ने भी राष्ट्रीय राज्यों की उन्नति में बड़ा योग दिया। अब बारूद और तोपों के सामने सामन्तों की गढ़ियों का, जिनके बल पर सामन्त लोग राजाओं का सफलता से विरोध कर सकते थे, कोई मूल्य नहीं रहा और राजा लोग उनका दमन कर सके। राजाओं को व्यापारी नगरों तथा शान्ति के इच्छुक मध्यम वर्ग ने भी सहायता दी, क्योंकि सामन्तों के युद्धों के कारण फैली हुई अशान्ति से व्यापार तथा उद्योग-धन्धों को बड़ी हानि पहुँच रही थी और वे समझते थे कि सुदृढ़ शक्तिशाली शासन के बिना शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

नवीन युग के आरम्भ में इंगलैंड, फ़्रांस तथा स्पेन अच्छे सशक्त राष्ट्रीय राज्य बन गये थे। इंगलैंड में सप्तम हेनरी ने सामन्तों का दमन कर निरंकुश राज्य स्थापित कर लिया था। फ़्रांस में ग्यारहवें लुई ने भी यही करके समस्त फ़्रांस को राजनीतिक

* Strong : Dynamic Europe, p. 138.

एकता के सूत्र में बाँध लिया था। इसी प्रकार स्पेन में समस्त देश के एकीकरण का कार्य एरेगॉन (Aragon) के शासक फर्डिनेण्ड ने केस्टिल (Castille) की रानी इसाबेला के साथ विवाह करके दोनों राज्यों को सम्मिलित करके किया। जर्मनी में कहने को तो पवित्र रोमन सम्राट् सार्वभौम था, परन्तु वह निर्बल था और सभी राज्य प्रायः स्वतन्त्र थे। इसी प्रकार इटली में भी अनेक राज्य थे जो परस्पर झगड़ते रहते थे। इस प्रकार जर्मनी और इटली विभक्त एवं अशक्त बने रहे जिसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी योरोप के शक्तिशाली राज्यों को पहले तो इटली और बाद में जर्मनी में गड़बड़ मचाने का अवसर मिल गया।

योरोप में आधुनिक युग का आरम्भ इटली पर आधिपत्य जमाने के लिये फ्रांस और स्पेन की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता से हुआ। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त (१४९४) में दोनों में युद्ध आरम्भ हुआ जो कोई ६० वर्ष तक चलता रहा। यह युद्ध बिलकुल व्यर्थ हुआ, परन्तु इन युद्धों के फलस्वरूप हम आधुनिक युग के कुछ विशिष्ट लक्षणों को प्रकट होते हुए देखते हैं। यहीं से सशस्त्र अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा का श्रीगणेश होता है। किसी एक राज्य को अधिक शक्तिशाली बनने से रोकने के लिये उसके विरुद्ध गुट बनाना अर्थात् शक्ति-सन्तुलन (Balance of Power) के सिद्धान्त का जन्म भी इन युद्धों से ही हुआ। कूटनीति, शक्ति-सन्तुलन तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के नियम आदि बातें ऐसी हैं जो आधुनिक युग की विशिष्ट बातें हैं और इस युग को मध्य-युग से अलग करती हैं। मध्य-युग के विश्व-राज्य के सिद्धान्त के अन्तर्गत ये बातें असम्भव थीं। इनके साथ ही हम राजनीति का नैतिकता से सम्बन्ध-विच्छेद होता हुआ भी देखते हैं जिसके दुष्परिणाम आज स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं।*

धर्म-सुधार (Reformation)

कारण— जब इस प्रकार योरोप में मानसिक क्रान्ति हो रही थी और राष्ट्रीय राजा अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे, उसी समय धर्म-सुधार का क्रान्तिकारी आन्दोलन आरम्भ हुआ। नवजागरण के फलस्वरूप जो नये विचार और नवीन दृष्टिकोण योरोपवासियों को प्राप्त हुए उन्होने कई प्रकार से विस्फोटक शक्तियों की तरह कार्य किया। यह कार्य विशेषकर धर्म के क्षेत्र में बड़ा महत्वपूर्ण हुआ। मध्य-युग में लोग चर्च की शिक्षाओं और उसके आदेशों को अटल सत्य मान कर बिना मीनमेख के स्वीकार करते थे, परन्तु अब नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप लोग प्राचीन विचारों, विश्वासों एवं संस्थाओं की आलोचना करने लगे और उनमें उन्हें दोष दिखाई देने लगे। पोप तथा पादरियों का जीवन अधिकतर भ्रष्ट एवं विलासी हो गया था और धर्म में उन्होंने अनेक आडम्बर रच लिये थे जिनमें वास्तविक धर्म छिप गया था। चर्च के पास अपार

* Strong : Dynamic Europe, pp. 139-142.

सम्पत्ति थी, परन्तु वह उस पर राज्य को कर नहीं देता था। पादरी लोग जमींदार भी थे और वे कृषकों पर अत्याचार करते थे। राजाओं के सामन्त होते हुए भी उन पर राजाओं का कोई अधिकार नहीं था। पोप शासन-कार्य में भी हस्तक्षेप करते थे। ये सब बातें राजाओं को और जनता को अखरती थीं और वे अब उन्हें सहन करने को तैयार नहीं थे। इस प्रकार इन दिनों साधारण जनता में चर्च के प्रति असन्तोष बढ़ रहा था। चर्च के अन्दर भी सच्चे ईसाई पोप तथा पादरियों के अनाचार तथा धार्मिक आडम्बर एवं कुरीतियों के कारण असन्तुष्ट थे और चर्च का सुधार करना चाहते थे। हम देख चुके हैं कि चौदहवीं शताब्दी से चर्च के इन दोषों के विरुद्ध आवाज़ उठने लगी थी। विक्लिफ़, हस तथा सेवोनरोला की चर्चा हम इसी सम्बन्ध में ऊपर कर चुके हैं।

मार्टिन ल्यूथर—इस विरोध ने धीरे-धीरे धर्म-सुधार आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। इस आन्दोलन की वास्तविक नींव डालनेवाला एक जर्मन सन्यासी तथा विटेनवुर्ग विश्वविद्यालय का दर्शनाचार्य मार्टिन ल्यूथर (१४८३-१५४६) था। वह बड़ा ही धार्मिक व्यक्ति था और चर्च की बुराइयों से बड़ा असन्तुष्ट था। वह रोम में पोप के विलासी जीवन की झाँकी देख चुका था और उसमें सुधार करना चाहता था। १५१७ में उसे एक अवसर मिला। उस वर्ष पोप का एक दूत टेट्ज़ेल मुक्तिपत्र (Indulgences)* बेचता हुआ विटेनवुर्ग पहुँचा। ल्यूथर ने उसका विरोध किया। इस पर पोप ने उसे रोम बुलाया परन्तु उसने वहाँ जाने से इन्कार कर दिया। पोप ने उसे धर्म-बहिष्कृत कर दिया परन्तु ल्यूथर को जर्मनी के कई शासकों का, विशेषकर सेक्सनी के शासक का, समर्थन प्राप्त था और उसका पोप कुछ न बिगाड़ सका। धीरे-धीरे ल्यूथर के अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई। अनेक राजाओं ने, जो चर्च के वैभव तथा सम्पत्ति को ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे तथा उसकी सम्पत्ति छीन कर अपनी शक्ति बढ़ाना चाहते थे, इस आन्दोलन का समर्थन किया और बहुत शीघ्र ही योरोप की ईसाई जनता दो भागों में विभक्त हो गई। पोप के समर्थक 'रोमन केथोलिक' और उसके विरोधी 'प्रोटेस्टेण्ट' कहलाये।

केल्विन—चर्च के दोषों से असन्तुष्ट और पोप-विरोधी सुधारकों में ल्यूथर के अतिरिक्त दो महान् सुधारक और थे—ज़्विग्ली तथा केल्विन। ज़्विग्ली का प्रभाव तो अधिक नहीं रहा परन्तु केल्विन के अनुयायी अनेक थे। केल्विन ल्यूथर की अपेक्षा कहीं

---

*यदि कोई ईसाई पाप करता था और सच्चे हृदय से पाप को स्वीकार करके नियमित प्रायश्चित करता था तो पादरी उसे मुक्ति-पत्र दे देते थे, जिसका आशय यह होता था कि मृत्यु के बाद उसे पाप का दण्ड नहीं मिलेगा। पोप ऐसे मुक्ति-पत्र द्रव्य एकत्रित करने के लिये बेचा करता था।

अधिक कट्टर तथा विशुद्धवादी था। धीरे-धीरे समस्त (पश्चिमी) योरोप में ल्यूथर और केल्विन के विचारों का प्रचार बढ़ता गया। कई राजा-महाराजाओं ने धर्म-सुधार आन्दोलन की आड़ लेकर चर्च की सम्पत्ति छीन ली और अपने राज्य में पोप के धार्मिक आधिपत्य का अन्त कर वे स्वयं राज्य के चर्च के अधिपति बन गये। इस प्रकार कुछ तो लोगों की धर्म-सुधार की हार्दिक इच्छा और कुछ राजाओं के स्वार्थ के कारण प्रोटेस्टेण्ट धर्म ने बड़ी उन्नति की। ल्यूथर के अनुयायी उत्तरी जर्मनी के राज्यों में अधिक थे। वहाँ से उनके मत का प्रचार नॉर्वे, स्वीडन तथा हॉलैण्ड में हुआ। फ्रांस, स्कॉटलैण्ड, बेल्जियम, स्विट्ज़रलैण्ड, पोलैण्ड तथा हङ्गरी में केल्विन के मत का प्रचार अधिक हुआ। इङ्गलैण्ड में धर्म-सुधार ने राजनीतिक रूप ग्रहण किया। वहाँ का राजा अष्टम हेनरी अपनी पत्नी केथरीन का परित्याग करना चाहता था परन्तु जब पोप ने उसके लिये अनुमति न दी तो वह रोम से अपना सम्बन्ध विच्छेद करके स्वयं इङ्गलैण्ड के चर्च का अधिपति बन गया। वहाँ कई वर्ष तक धार्मिक स्थिति अनिश्चित रही परन्तु सोलहवीं शताब्दी के अन्त में महारानी एलिज़ाबेथ प्रोटेस्टेण्ट तथा केथोलिक चर्च के मध्यवर्ती एंग्लिकन चर्च की स्थापना द्वारा धार्मिक झगड़े का अन्त करके शान्ति स्थापित कर सकी। दक्षिणी जर्मनी, इटली तथा स्पेन रोम के चर्च के अनुयायी बने रहे।

धर्म-सुधार आन्दोलन की प्रतिक्रिया (Counter-Reformation)—ल्यूथर वास्तव में रोम के चर्च से सम्बन्ध-विच्छेद करने का इच्छुक नहीं था परन्तु घटनाचक्र कुछ ऐसा चला कि उसे रोम के चर्च से अलग होना पड़ा और वह रोमन चर्च-विरोधी आन्दोलन का प्रवर्तक बन गया। रोमन चर्च में अनेक सच्चे ईसाई ऐसे थे जो उसकी कुरीतियों का निवारण कर चर्च का अन्दर से ही सुधार करना चाहते थे। प्रोटेस्टेण्ट धर्म की तीव्र प्रगति को देखकर वे बड़े चिन्तित हुए और स्वयं पोप तथा पवित्र रोमन सम्राट् को भी रोमन चर्च में कुछ आवश्यक सुधार करके प्रोटेस्टेण्ट धर्म की प्रगति को रोकने की चिन्ता हुई। इस उद्देश्य से ट्रेण्ट नामक स्थान पर एक धार्मिक सभा हुई (१५४५-१५६३) जिसमें धर्म के सिद्धान्तों की परिभाषा और व्याख्या की गई। मोटी-मोटी बुराइयों को दूर किया गया और पादरियों तथा संन्यासियों के जीवन को सुधारने के लिये कठोर अनुशासन के नियम बनाये गये। अनेक धर्म-प्रचारक संस्थाएँ भी धर्म-प्रचार का कार्य करने लगीं जिनमें 'जीसस का समाज' अथवा जेसुइट समाज (Jesuit Society) प्रमुख था। इसका संस्थापक स्पेन-निवासी एक अवकाश-प्राप्त सैनिक इग्नेटियस लॉयोला (Ignatius Loyola) था। इस समाज में बड़े उत्साही कार्यकर्ता थे। इसने शिक्षा तथा धर्म-प्रचार द्वारा केथोलिक धर्म की बड़ी सेवा की। इसके साथ ही पोप ने कैथोलिक धर्म के शत्रुओं को दण्ड देने के लिये एक विशेष धार्मिक न्यायालय (Inquisition) की स्थापना की जिसने स्पेन तथा इटली में हज़ारों व्यक्तियों को जीवित दशा में ही अग्नि में होम कर धर्म-द्रोह का दण्ड दिया।

सांस्कृतिक नवजागरण तथा धर्म-सुधार आन्दोलन ने मध्य-युग का अन्त कर दिया। उस युग में, जैसा आप देख चुके हैं, जीवन पर धर्म और चर्च का बड़ा प्रभाव था। इन दोनों आन्दोलनों ने पश्चिमी योरोप के ऊपर धर्म का जो पूर्ण अधिकार था और पोप का समस्त योरोप का नेतृत्व करने का जो दावा था, उन दोनों का अन्त कर दिया। अब पश्चिमी योरोप की सभ्यता अधिकाधिक धर्म-निरपेक्ष होती गई और राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान बड़ी तेज़ी से होने लगा। अभी तक ईसाई धर्म-ग्रन्थ लेटिन भाषा में होते थे और जनता में शिक्षा का अभाव था। फलतः साधारण लोग उन ग्रन्थों को पढ़ नहीं पाते थे और पादरियों के चंगुल में फँसे रहते थे। अब प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति होने लगी, मुद्रणकला के प्रचार से पुस्तकें छपने लगीं, बाइबिल के भी प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद छपे, गिरजाघरों में उपासना भी प्रादेशिक भाषाओं में होने लगी और धर्म, जिस पर अभी तक पादरियों का एकाधिकार था, अब वास्तव में जनता का बन गया। सामाजिक जीवन नैतिक दृष्टि से अधिक उन्नत हो गया। सम्पन्न मठों के टूट जाने से राष्ट्रीय राज्यों की सम्पत्ति और शक्ति बढ़ी। व्यापार आदि जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी जो बन्धन थे वे हट गये। इस प्रकार धर्म-सुधार आन्दोलन ने चर्च के शिकंजे को तोड़ कर धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक जीवन को मुक्त कर दिया। परन्तु आरम्भ में तो इस आन्दोलन ने योरोप में बड़ी अशान्ति मचा दी। वह युग धार्मिक कट्टरता एवं असहिष्णुता का था। इसके कारण प्रत्येक राज्य में धार्मिक युद्धों का आरम्भ हुआ जिनमें अन्य देशों के राजा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायता करते थे। पोप भी जहाँ-तहाँ इन युद्धों को प्रोत्साहन देते रहते थे। प्रोटेस्टेण्ट राजा के राज्य में रोमन केथोलिक और रोमन केथोलिक राजा के राज्य में प्रोटेस्टेण्ट बुरी तरह सताये जाते थे और उन पर बड़े-बड़े अत्याचार किये जाते थे। राजाओं पर से पोप का डर उठ जाने से वे निरंकुश हो गये और योरोप में सर्वत्र राजाओं का निरंकुश राज्य स्थापित हो गया। इस प्रकार कुछ समय तक तो इस आन्दोलन के फलस्वरूप बड़ी अशान्ति फैली और राजनीतिक तथा सांस्कृतिक उन्नति रुक गई। फिर भी सब कुछ देखते हुए धर्म-सुधार आन्दोलन ने योरोप के पुनरुत्थान में और आधुनिक योरोप के निर्माण में बड़ी सहायता की।

(ह) तीस-वर्षीय युद्ध (१६१८-१६४८)

धर्म-सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप जो अनेक धार्मिक युद्ध हुए उनमें सबसे महत्वपूर्ण और युगान्तरकारी युद्ध जर्मनी* का तीस-वर्षीय युद्ध था। आप पढ़ चुके हैं कि उत्तरी जर्मनी के राजा प्रोटेस्टेण्ट थे और दक्षिणी जर्मनी के केथोलिक। दोनों

* उन दिनों जर्मनी आजकल की भाँति एक राज्य नहीं था। वह सारा प्रदेश जिसमें जर्मन भाषा बोली जाती थी जर्मनी कहलाता था। उसका अधिकांश पवित्र रोमन साम्राज्य में था और ऑस्ट्रिया भी उसमें सम्मिलित था।

सम्प्रदाय एक दूसरे के शत्रु थे परन्तु आरम्भ में ऑस्ट्रिया के सम्राट् (जो पवित्र रोमन सम्राट् भी था और इस प्रकार जर्मनी के समस्त राज्यों का अधिराज था) की सहिष्णुता एवं उदारता की नीति के कारण कोई गड़बड़ नहीं हुई। किन्तु दोनों में तनाव बढ़ रहा था जिसका परिणाम यह हुआ कि १६१८ में जब बोहीमियावालों ने सम्राट् की इच्छा के विरुद्ध पेलेटिन के शासक (Elector) फ्रेडरिक को, जो प्रोटेस्टण्ट राजाओं के संघ का नेता था, अपना शासक चुन लिया, तो उनमें युद्ध छिड़ गया जो ३० वर्षों तक चलता रहा। इस लम्बे युद्ध का असली कारण तो धार्मिक तनाव था परन्तु इसके पीछे मुख्यतः राजनीतिक एवं आर्थिक हित काम कर रहे थे। सम्राट् अपनी शक्ति बढ़ाना चाहता था और जर्मनी के छोटे-छोटे राजा अपनी स्वतन्त्रता क़ायम रखना चाहते थे। यह युद्ध आरम्भ में जर्मनी का धार्मिक गृह-कलह मात्र था, परन्तु धीरे-धीरे इसका रूप बदला और अन्त में यह धार्मिक हितों के स्थान पर राजवंशों के हितों का युद्ध बन गया जिसमें एक ओर ऑस्ट्रेया के हेप्सबुर्ग (Hapsburg) तथा दूसरी ओर फ्रान्स के बूर्बो (Bourbon) राजवंश एक दूसरे का नाश करने पर कटिबद्ध थे। प्रोटेस्टेण्ट पक्ष को जर्मनी के बाहर डेनमार्क, स्वीडन तथा फ्रान्स से भी सहायता मिली और केथोलिक पक्ष को स्पेन ने सहायता दी।

परिणाम—इस युद्ध में दोनों ओर से बड़ी बर्बरता एवं नृशंसता बरती गई और जर्मनी का सर्वनाश हो गया। परन्तु इसके परिणामस्वरूप धार्मिक कलह का युग समाप्त हो गया। इतने विनाश के बाद योरोपवालों की आँखें खुलीं, उन्हें धार्मिक कलह की व्यर्थता मालूम हो गई और सहिष्णुता की आवश्यकता अनुभव होने लगी। अभी तक इस युग की घटनाओं का आधार मुख्यतः धर्म था परन्तु अब धर्म के नाम पर युद्ध बन्द हो गये और राजवंशीय हितों एवं राष्ट्रीय सीमाओं के विस्तार के लिये अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का युग आया।

वेस्ट फ़ेलिया की सन्धि—वेस्ट फ़ेलिया की सन्धि (१६४८) से इस युगान्तरकारी युद्ध का अन्त हुआ। राजनीतिक दृष्टि से इस युद्ध के बड़े महत्वपूर्ण परिणाम हुए। जर्मनी का आर्थिक विनाश तो हो ही चुका था, इस सन्धि से राजनीतिक दृष्टि से भी उसके खण्ड-खण्ड हो गये। वहाँ छोटे-बड़े सब प्रकार के कोई ३५० स्वतन्त्र राज्य स्वीकार कर लिये गये। अभी तक पवित्र रोमन साम्राज्य की जैसी-तैसी कुछ स्थिति थी परन्तु अब उसमें कोई वास्तविकता नहीं रही। इस बात के बड़े महत्वपूर्ण परिणाम हुए। जब तक योरोप में एक राज्य—पवित्र रोमन साम्राज्य या हेप्सबुर्ग-वंशीय साम्राज्य—ऐसा था जो अन्य समस्त राज्यों से प्रतिष्ठा और बल में

---

* C. J. H. Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol, I, p. 273.

श्रेष्ठ था तब तक आधुनिक राज्य-व्यवस्था, जिसमें सभी राज्य समान कोटि के समझे जाते हैं, स्थापित नहीं हो सकती थी। अब यह साम्राज्य अपनी श्रेष्ठता खोकर अन्य राज्यों के समान एक साधारण राज्य रह गया और योरोप की आधुनिक राज्य-व्यवस्था के निर्माण का मार्ग तैयार हो गया।* इसके अतिरिक्त ऑस्ट्रिया के हैप्सबुर्ग-वंशीय शासकों ने उत्तरी जर्मनी की ओर से अपना ध्यान हटाकर अपने साम्राज्य के जर्मनी के बाहर के प्रदेशों की ओर देना आरम्भ किया जिससे आगे चलकर प्रशा के प्रधान मन्त्री बिस्मार्क के लिये प्रशा के नेतृत्व में समस्त जर्मनी का राजनीतिक एकीकरण का मार्ग तैयार हो गया। इस सन्धि से उत्तरी जर्मनी के ब्रेण्डनबुर्ग राज्य† को राइन नदी की ओर के कई प्रदेश मिल गये। उत्तरी जर्मनी में वह सबसे बड़ा राज्य हो गया और ऑस्ट्रिया का सबसे प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बन गया। फ़्रान्स को एलसास (Alsace) प्रान्त मिला जिससे उसकी सीमा भी राइन नदी तक पहुँच गई और उसे अपनी सीमा के विस्तार के लिये प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार इस युद्ध ने जर्मनी और फ़्रान्स के भावी संघर्ष का बीज बो दिया। इसी सन्धि के अनुसार हॉलैण्ड‡ तथा स्विट्ज़रलैण्ड की स्वतन्त्रता भी स्वीकार कर ली गई। हॉलैण्ड अब उन्नति के पथ पर आगे बढ़ा और शीघ्र ही योरोप में एक प्रमुख नाविक शक्ति बना गया। स्वीडन को भी उत्तरी जर्मनी में कुछ प्रदेश मिले और कुछ समय के लिये वह योरोप के शक्तिशाली राष्ट्रों में गिना जाने लगा परन्तु उसकी शक्ति शीघ्र ही क्षीण हो गई और योरोपीय राजनीति में उसका कोई विशिष्ट स्थान नहीं रहा। इस युद्ध के परिणामस्वरूप स्पेन की शक्ति का भी ह्रास हुआ और उसका स्थान योरोपीय राज्यों में गौण रह गया। जर्मनी की दुर्दशा तथा स्पेन के ह्रास से फ़्रान्स को अपनी सैनिक उच्चाकांक्षाओं की उन्नति का अवसर मिला जिससे चौदहवें लुई ने और आगे चलकर नेपोलियन ने पूरा-पूरा लाभ उठाया। इस युद्ध के बाद का समय फ़्रान्स के उत्कर्ष का समय था।∞

इस प्रकार सांस्कृतिक नव-जागरण तथा धर्म-सुधार युगान्तरकारी आन्दोलन सिद्ध हुए। नव-जागरण ने योरोप को परस्पर लड़ते हुए अनेक खण्डों में विभक्त कर दिया और धर्म-सुधार आन्दोलन ने उसके और भी खण्ड-खण्ड कर दिये। नव-जागरण के फल-

---

* Ibid., p. 274.

† आगे चलकर यही राज्य ब्रेण्डनबुर्ग-प्रशा, फिर केवल प्रशा और अन्त में जर्मनी के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

‡ हॉलैण्ड स्पेन के साम्राज्य में था। उसके निवासी प्रॉटेस्टेण्ट थे। उन्होंने स्पेन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था और बड़े घोर संघर्ष के बाद १५८१ में वे स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुके थे।

∞ Fisher : A History of Europe, p. 630.

स्वरूप जो युद्धों का पहिला सिलसिला शुरू हुआ उसने इटली को निर्बल कर दिया और उसकी राजनीतिक एकता दीर्घकाल के लिये असम्भव कर दी। ल्यूथर के विरोध से युद्धों का जो दूसरा सिलसिला आरम्भ हुआ, उससे स्पेन का पतन हो गया और नीदरलैंड के दो खण्ड हो गये जिनमें से एक (हॉलैण्ड) स्वतन्त्र हो गया। तीसरे युद्ध ने जर्मनी का सर्वनाश कर दिया और उसे एक शताब्दी के लिये अशक्त एवं दयनीय बना दिया। परन्तु जहाँ इटली और जर्मनी की यह दुर्दशा हुई, वहाँ फ्रांस, इङ्गलैण्ड तथा हॉलैण्ड के उत्कर्ष के दिन आये। उन्होंने समुद्र पार अपने बड़े-बड़े साम्राज्य क़ायम कर लिये।

(उ) सामुद्रिक क्रान्ति

जहाँ नव-जागरण ने योरोप में युग-परिवर्तन कर दिया, वहाँ उसने एक महान् सामुद्रिक क्रान्ति भी उपस्थित कर दी। पन्द्रहवीं शताब्दी के अधिकांश में बड़ी-बड़ी महत्वपूर्ण समुद्रयात्राएँ हुई जिनके कारण नये-नये प्रदेश खोज निकाले गये। इन यात्राओं का आरम्भ तो केवल पूर्वी देशों के लिये नया सामुद्रिक मार्ग ढूँढ़ निकालने के लिये हुआ था क्योंकि तुर्कों के कारण पश्चिमी एशिया का मार्ग संकटापन्न और प्रायः बन्द हो गया था परन्तु इनके परिणाम बड़े क्रान्तिकारी हुए।

इन यात्राओं का पहिला परिणाम तो नये-नये देशों की खोज में प्रकट हुआ। थोड़े ही समय में साहसी नाविकों ने आस्ट्रेलिया को छोड़ कर समस्त संसार को खोज निकाला। एक बार नये-नये देशों की खोज हो जाने पर उन देशों में उपनिवेश बसाने का क्रम आरम्भ हुआ जिसमें स्पेन तथा पुर्तगाल अग्रणी रहे। स्पेनवाले पश्चिम की ओर गये और उन्होंने मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका पर अधिकार कर लिया। पुर्तगाल वाले पूर्व की ओर गये और उन्होंने हिन्द महासागर पर अपना प्राधान्य स्थापित कर लिया। परन्तु उन देशों का एकाधिकार बहुत दिनों तक स्थायी न रहा सका। शीघ्र ही फ्रांस, इङ्गलैण्ड तथा हॉलैण्ड मैदान में आ गये; पश्चिम की ओर उन्होंने उत्तरी अमेरिका में अपने उपनिवेश बसाये और वे पूर्व की ओर भी व्यापार करने के लिये जा पहुँचे।

परिणाम—मध्य-युग के अन्त में व्यापार की उन्नति के फलस्वरूप योरोप में नगरों तथा मध्य-वर्ग का उत्थान आरम्भ हो गया था। इन यात्राओं और उपनिवेशों के बस जाने के कारण व्यापार में अत्यधिक वृद्धि हुई और नगरों तथा मध्य-वर्ग की ओर भी उन्नति हुई। मध्य-वर्ग विशेषतः व्यापारिक तथा व्यावसायिक लोगों का था और इस विस्तार को उसी से प्रोत्साहन मिला था। स्पेन तथा पुर्तगाल में मध्य-वर्ग नहीं पनपा और वहाँ यह समस्त प्रयास अधिकांश में राज्य की ओर से हुआ था। इस कारण वे इस विस्तार से लाभ नहीं उठा सके और धीरे-धीरे दौड़ में पिछड़ गये। महाद्वीप के मध्यवर्ती

तथा पूर्वी देश नये सामुद्रिक मार्गों से दूर होने के कारण सामुद्रिक व्यापार तथा विस्तार में भाग न ले सके। केवल फ्रांस, इंगलैण्ड तथा हॉलैण्ड ही ऐसे देश थे जिनमें व्यावसायिक हित प्रधान थे और मध्य-वर्ग की सम्पत्ति तथा प्रभाव में वृद्धि हो रही थी। इनी वर्ग ने आगे चलकर राजनीतिक क्रान्ति का नेतृत्व किया और जनतन्त्र की स्थापना का आरम्भ किया। इन नये मार्गों की खोज से व्यापार का मार्ग बदल गया और भूमध्य-सागर तथा उसके तट पर बसे हुए वेनिस तथा जिनोआ जैसे बड़े-बड़े व्यापारी नगरों की अवनति हो गई। उनका स्थान लन्दन तथा एण्टवर्प जैसे नगरों ने ले लिया और अटलाण्टिक महासागर के तट पर बसे हुए देशों (स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, हॉलैण्ड तथा इंगलैण्ड) का महत्व बढ़ा।

निरंकुश शासन का युग (१६४८-१७८९)—तीस वर्षीय युद्ध ने मध्यकालीन योरोप का बिलकुल अन्त कर दिया और उसके आगे की शताब्दी में निरंकुश शासकों के शासन में योरोप का नव-निर्माण हुआ तथा उसकी आधुनिक राज्य-व्यवस्था स्थापित हुई। वेस्टफेलिया की सन्धि के बाद डेढ़ सौ वर्षों में योरोप के प्रत्येक देश में निरंकुश शासन का विकास हुआ और शासकों की आक्रामक नीति के फलस्वरूप सर्वत्र बड़ी अशान्ति रही जिसके परिणाम अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के क्रान्तिकारी परिवर्तनों में प्रकट हुए। हम यहाँ इस युग के प्रमुख राज्यों के सम्बन्ध में कुछ मुख्य बातों की चर्चा करेंगे।

फ्रान्स—इस युग का सबसे प्रबल राज्य फ्रांस था। धर्म-सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप वहाँ वर्षों तक भीषण गृह-कलह मचता रहा परन्तु १५९८ में चतुर्थ हेनरी ने वहाँ के प्रोटेस्टेन्टों को स्वतन्त्रता देकर राज्य में शान्ति स्थापित की और अपने प्रतिभाशाली मन्त्री सली (Sully) की सहायता से अनेक सुधार करके उसे समृद्ध एवं शक्तिशाली राज्य बना दिया। तीस-वर्षीय युद्ध से उसकी स्थिति और भी अच्छी हो गई जिससे लाभ उठाकर चौदहवें लुई (१६६१-१७१५) ने फ्रांस को योरोप का प्रमुख राज्य बना दिया, यहाँ तक कि उसके शासन का समय योरोपीय इतिहास में चौदहवें लुई का युग (Age of Louis XIV) कहलाता है। उसने अपने लम्बे शासनकाल में अपने राज्य को उसकी प्राकृतिक सीमाओं (राइन, आल्प्स तथा पिरेनीज़ पर्वत) तक पहुँचाने के लिये चार बड़े युद्ध किये जिनमें उसे स्पेन, ऑस्ट्रिया, हॉलैण्ड तथा इंगलैण्ड के विरोध का सामना करना पड़ा। लुई अन्त में विफल हुआ परन्तु इन युद्धों के बड़े महत्वपूर्ण परिणाम हुए। जहाँ इन युद्धों से अन्य राज्यों को लाभ पहुँचा, वहाँ फ्रांस को बड़ी क्षति पहुँची। उसकी आर्थिक दशा खराब हो गई, जनता में भी असन्तोष बढ़ने लगा। उसका उत्तराधिकारी पन्द्रहवाँ लुई (१७१५-१७७४) आलसी और विलासी था। उसके मन्त्री भी योग्य नहीं थे और दरबार के विलासी जीवन तथा युद्धों के फलस्वरूप

फ्रांस की आर्थिक दशा उत्तरोत्तर बिगड़ती रही। उसे दो महान् युद्धों—ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध (१७४०-१७४८) तथा सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६-१७६३)—में भाग लेना पड़ा जिससे उसकी बड़ी क्षति हुई। फ्रांस का सबसे प्रबल शत्रु इंगलैण्ड था जिसने उसे महाद्वीप में फँसाये रखा और उसके साम्राज्य का बहुत बड़ा भाग (जिसमें उत्तरी अमेरिका में स्थित कनाडा भी था) छीन लिया। १७७४ में उसका पोता सोलहवाँ लुई सिंहासन पर बैठा। उसने उत्तरी अमेरिका के अंग्रेजी उपनिवेशों को इंगलैण्ड के विरुद्ध सहायता दी और पुरानी पराजय का प्रतिशोध किया। इससे फ्रांस की प्रतिष्ठा

तो कुछ बढ़ी परन्तु उसकी आर्थिक दशा बिलकुल ही बिगड़ गई जिसके परिणामस्वरूप १७८९ में महान् क्रान्ति हुई और फ्रांस में पुरानी व्यवस्था (Ancient Regime) का अन्त हुआ।

इंगलैण्ड—इंगलैण्ड ने ट्यूडर वंश के शासन-काल (१४८५-१६०३) में अच्छी उन्नति करली थी। सप्तम हेनरी ने सामन्तों का दमन करके सुदृढ़ निरंकुश शासन की नींव डाली। अष्टम हेनरी ने यह कार्य जारी रखा और रोम के चर्च से इंगलैण्ड के चर्च का सम्बन्ध तोड़ कर तथा मठों की सम्पत्ति छीन कर वह स्वयं चर्च का अध्यक्ष बन गया। इस प्रकार वहाँ धर्म-सुधार आन्दोलन शुरू हुआ। बीच में मेरी ट्यूडर (१५५३-१५५८) ने पोप से क्षमा माँग कर इंगलैण्ड के चर्च पर फिर से पोप का आधिपत्य

स्थापित कर दिया परन्तु यह सम्बन्ध स्थायी नहीं रहा और एलिज़बेथ (१५५८-१६०३) ने फिर से पोप से सम्बन्ध-विच्छेद करके मध्यवर्ती एंग्लिकन चर्च की स्थापना की। एलिज़बेथ के विरुद्ध केथोलिकों ने कई षड्यन्त्र किये और स्पेन के केथोलिक राजा द्वितीय फ़िलिप ने भी आक्रमण किया परन्तु १५८८ में स्पेन की पराजय हुई और एलिज़बेथ निष्कंटक हो गई। इतना ही नहीं, इससे इंगलैण्ड की प्रतिष्ठा भी बढ़ी और उसकी समुद्रिक शक्ति बढ़ने लगी। ट्यूडर वंश के बाद स्टुअर्ट-वंशीय राजाओं ने भी निरंकुश शासन करना प्रारम्भ किया परन्तु अब इंगलैण्ड की जनता निरंकुश शासन सहने को तैयार नहीं थी। अतः राजा और पार्लमिण्ट में संघर्ष होने लगा। प्रथम चार्ल्स के समय में यह संघर्ष तीव्र हो गया और उसमें तथा पार्लमिण्ट में युद्ध छिड़ गया। आठ-नौ वर्षों तक युद्ध चलता रहा। अन्त में चार्ल्स हारा और शक्ति सेना के हाथ में पहुँच गई जिसने उसे मृत्युदण्ड दिया (१६४९)। इसके बाद कुछ समय तक इंगलैण्ड में गणतन्त्रीय शासन रहा परन्तु शीघ्र ही सेनानायक क्रॉमवेल ने सारी सत्ता अपने हाथ में ले ली और कुछ वर्षों तक इंगलैण्ड क्रॉमवेल के सैनिक शासन में रहा। परन्तु इंगलैण्ड की जनता उसे सहन न कर सकी। १६६० में उसने चार्ल्स के लड़के द्वितीय चार्ल्स को, जो भाग कर फ्रान्स चला गया था, वापस बुला लिया। स्टुअर्ट-वंशीय राजा केथोलिक थे और वे येन-केन-प्रकारेण इंगलैण्ड में केथोलिक धर्म की पुनः स्थापना करना चाहते थे। इसी प्रश्न पर तनाव बढ़ा और द्वितीय जेम्स १६८८ में सिंहासन छोड़कर भाग गया। पार्लमिण्ट के नेताओं ने उसकी पुत्री मेरी को, जिसका हालैण्ड के शासक विलियम से विवाह हुआ था, उसके पति सहित बुलाया और उन दोनों को संयुक्त शासक बना कर सिंहासन पर आसीन कर दिया। यह घटना इंगलैण्ड के इतिहास में 'रक्तहीन क्रान्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके फलस्वरूप इंगलैण्ड में राजा के अधिकार सीमित हो गये और संविधानिक शासन का युग प्रारम्भ हुआ। १७१४ में स्टुअर्ट वंश का अन्त हो गया और जर्मनी का हेनोवर-वंशीय प्रथम जॉर्ज राजा बनाया गया। उसकी माता प्रथम जेम्स की पोती थी।

इस युग में इंगलैण्ड ने अपनी सामुद्रिक शक्ति खूब बढ़ाई और एक बड़ा साम्राज्य स्थापित कर लिया। उसने योरोपीय राजनीति में भी भाग लिया और वह समय-समय पर बननेवाले गुटों में भी सम्मिलित हुआ; परन्तु वह सदा फ्रान्स का विरोधी रहा। महाद्वीपीय शक्ति होने के कारण फ्रान्स तो महाद्वीप में ही उलझा रहा और इंगलैण्ड ने उसके साम्राज्य का बहुत सा भाग छीन लिया। फ्रान्स की सबसे बड़ी हानि अमेरिका में हुई जहाँ सप्तवर्षीय युद्ध के फलस्वरूप कनाडा उसके हाथ से निकल गया (१७६३)। परन्तु यह विजय इंगलैण्ड को बड़ी महँगी पड़ी। कनाडा के दक्षिण में अटलांटिक महासागर के पश्चिमी तट पर कई अंग्रेजी उपनिवेश थे जिन पर इंगलैण्ड कड़ा शासन करता था। जब तक उन्हें फ्रान्स का भय था तब तक तो वे चुप रहे

परन्तु जब कनाडा अंग्रेजों के हाथ में चला गया तो वे कड़े शासन के विरुद्ध बिगड़ खड़े हुए। दोनों में युद्ध हुआ। फ्रांस ने विद्रोही उपनिवेशों का साथ देकर अपनी पराजय का बदला लिया। इंगलेण्ड परास्त हुआ और उसे अमेरिका में स्थित उपनिवेशों की स्वतन्त्रता स्वीकार करनी पड़ी। इस प्रकार अमेरिका के संयुक्त राज्य का जन्म हुआ (१७८१)। इससे इंलगण्ड की प्रतिष्ठा को बड़ी हानि पहुँची परन्तु तृतीय जॉर्ज के सुयोग्य मन्त्री छोटे पिट के नेतृत्व में इंगलैण्ड ने फ्रेंच क्रान्ति के आरम्भ के समय तक अपनी पूर्व स्थिति फिर से प्राप्त कर ली थी। महाद्वीपीय राजाओं के समान तृतीय जॉर्ज भी सांविधानिक शासन को अलग हटा कर निरंकुश शासन स्थापित करना चाहता था परन्तु उसका यह उद्देश्य सफल न हो सका।

ऑस्ट्रिया—महाद्वीप में फ्रांस का सबसे बड़ा शत्रु ऑस्ट्रिया था। फ्रांस के बूर्बां-वंशीय राजा तथा ऑस्ट्रिया के हेप्सबुर्ग-वंशीय राजा सदा एक दूसरे का विनाश करने का प्रयत्न करते रहते थे। ऑस्ट्रिया के शासक पवित्र रोमन सम्राट्* भी हुआ करते थे। सम्राट् की हैसियत से सम्पूर्ण साम्राज्य पर उनका प्रभुत्व था परन्तु यह प्रभुत्व केवल नाम-मात्र का था। साम्राज्य के अन्तर्गत जितने राज्य थे वे प्रायः स्वतन्त्र थे। स्वयं ऑस्ट्रिया का राज्य भी काफी विशाल था जिसमें अनेक प्रजातियों के लोग रहते थे। राज्य का मुख्य भाग स्वयं ऑस्ट्रिया था जिसमें जर्मन लोगों का निवास था। इसी भाग में ऑस्ट्रिया की राजधानी वियना थी। इसके उत्तर की ओर बोहीमिया तथा मोरेविया के प्रदेश थे जिनमें मुख्यतः चेक प्रजाति के लोग रहते थे। पूर्व की ओर हंगरी का राज्य था जिसमें मगय र प्रजाति प्रधान थी। उसकी स्थिति एक पृथक् राज्य के समान थी। उसकी शासन-व्यवस्था पृथक् थी परन्तु उसका राजा ऑस्ट्रिया का राजा ही होता था। मगयार लोगों के अतिरिक्त इस प्रदेश में रूमानियन, क्रोट तथा सर्ब प्रजातियों के लोगों की संख्या भी काफी थी। आल्प्स पर्वत के दक्षिण में मिलान का प्रदेश भी ऑस्ट्रिया के अधिकार में था। वहाँ इटालियन लोग निवास करते थे जो सब प्रकार से अन्य लोगों से भिन्न थे। इन सब प्रदेशों के अतिरिक्त बेल्जियम का प्रदेश भी ऑस्ट्रिया के अधीन था जिसके निवासी कुछ तो फ्रेंच और कुछ फ्लेमिश थे। यह प्रदेश उसे स्पेन से प्राप्त हुआ। इस प्रकार ऑस्ट्रिया का राज्य 'भानमती का कुनबा' था। विविध प्रजातियों के जो लोग उसमें रहते थे वे सन्तुष्ट नहीं थे। उनका असन्तोष राज्य की निर्बलता का एक बहुत बड़ा कारण था।

---

* पवित्र रोमन सम्राट् का पद वंशानुगत नहीं था। जर्मनी के सात बड़े राज्यों (जिनकी संख्या आगे चलकर आठ हो गई थी) के शासक उसका निर्वाचन करते थे। इसी कारण वे शासक इलेक्टर (Elector) कहलाते थे। परन्तु कई शताब्दियों तक कुछ ऐसा रहा कि इस पद पर सदा ऑस्ट्रिया के हेप्सबुर्ग-वंशीय राजा ही चुने जाते रहे।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक आॅस्ट्रिया योरोप का प्रमुख राज्य था किन्तु वेस्टफ़ालिया की सन्धि के बाद से उसका प्राधान्य जाता रहा। जर्मनी में वास्तविक सत्ता स्थापित करने के उद्देश्य में निराश हो कर अब हप्सबुर्ग-वंशीय राजाओं ने जर्मनी के बाहर के प्रदेशों को संगठित करने तथा पूर्व की ओर तुर्की के साम्राज्य को हड़पने का विचार किया। परन्तु इसके साथ ही वे फ़्रान्स के बूर्बों वंश से अपनी शत्रुता को न भुला सके। अतः अब उनका उद्देश्य पूर्व की ओर अपने राज्य का विस्तार करना और पश्चिम की ओर फ़्रान्स की शक्ति को कुचलना बन गया। फ़्रेंच क्रान्ति के समय आॅस्ट्रिया के सिंहासन पर सम्राट् छठे चार्ल्स (१७११-४०) की कन्या मेरिया थिरीसा (१७४०-६५) का पुत्र द्वितीय जोजेफ़ (१७६५-१७९०) आसीन था। चार्ल्स के कोई पुत्र नहीं था इस कारण उसने योरोप के विभिन्न राजाओं से मेरिया थिरीसा को अपनी उत्तराधिकारिणी मानने का वचन लिया। परन्तु चार्ल्स की मृत्यु के बाद प्रशा के शासक महान् फ़्रेडरिक ने उससे साइलेशिया प्रान्त छीन लिया। जोजेफ़ बड़ा योग्य शासक था। उसका मुख्य उद्देश्य अपने राज्य के अन्तर्गत प्रजाति, धर्म तथा भाषा के समस्त भेदों को मिटा कर उसका एकीकरण करना और उस पर निरंकुश शासन करना था। वह निरंकुश शासक तो था परन्तु प्रजा का हित चाहता था। उसने कई सुधार भी किये परन्तु उन सुधारों से प्रजा का सन्तुष्ट होना तो अलग रहा, उल्टे असन्तोष बढ़ता गया। सदाशय एवं प्रबुद्ध (Enlightened) होते हुए भी उसने प्रशा और रूस से मिल कर पोलैण्ड के प्रथम विभाजन (१७७२) में भाग लिया और उसका बहुत-सा भाग अपने राज्य में शामिल कर लिया। उसने रूस की तुर्की के विभाजन की योजना में सहयोग दिया और उससे सन्धि करके १७८८ में तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। फ़्रेन्च क्रान्ति के आरम्भ के समय यह युद्ध चल रहा था।

प्रशा—पवित्र रोमन साम्राज्य में आॅस्ट्रिया के अतिरिक्त छोटे-बड़े कोई ३५० राज्य थे जिनमें से प्रशा, बवेरिया, हेनोवर, सैक्सनी आदि बड़े थे। उनमें से सबसे मुख्य और शक्तिशाली प्रशा का राज्य था। वेस्टफ़ेलिया की सन्धि के अनुसार इसके राज्य का काफ़ी विस्तार हो गया था। प्रशा के राज्य हाॅहेनत्सॉलर्न वंश के थे। इस युग में इस वंश का सबसे प्रतिभाशाली राजा महान् फ़्रेडरिक था (१७४०-८६) जिसने प्रशा को शक्तिशाली बना कर योरोप के एक प्रमुख राज्य के पद पर ला बिठाया। उसने अपनी सेना का बड़ा अच्छा संगठन किया और उसके बल पर राज्य का काफ़ी विस्तार किया। आॅस्ट्रिया से उसने साइलेशिया का प्रान्त छीन लिया और पश्चिमी प्रशा का प्रदेश भी अपने राज्य में मिला लिया। वह भी द्वितीय जोजेफ़ के समान प्रजा का हितैषी तथा निरंकुश शासक था। वह अपने आपको अपनी प्रजा का प्रथम सेवक कहता था परन्तु राज्य-विस्तार के लिये वह किसी भी साधन का प्रयोग करने में नहीं हिचकता

था। १७७२ में उसने रूस तथा ऑस्ट्रिया से मिल कर पोलैण्ड का प्रथम विभाजन किया और उसका एक बहुत बड़ा भाग हड़प लिया। उसने प्रशा को जर्मनी में ऑस्ट्रिया का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बना दिया और वह सदा उसके मनसूबों को विफल करने का प्रयत्न करता रहा।

रूस—सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक रूस एक बर्बर एशियाई राज्य समझा जाता था परन्तु महान् पीटर (१६८९-१७२५) के अनेक सुधारों के फलस्वरूप वह एक आधुनिक राज्य बन कर योरोप के राजनीतिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ। वह रूस की सीमा को बाल्टिक सागर तथा काले सागर तक विस्तार करना चाहता था। बाल्टिक सागर तक तो उसने रूस की सीमा पहुँचा दी थी परन्तु वह दक्षिण की ओर नहीं बढ़ सका था। यह काम द्वितीय केथरीन (१७६२-९६) ने पूरा किया। उसने ऑस्ट्रिया तथा प्रशा से मिलकर पोलैण्ड के प्रथम विभाजन में भाग लिया और तुर्की से युद्ध करके अपनी सीमा काले सागर तक पहुँचा दी तथा क्रीमिया प्रायद्वीप पर अधिकार कर लिया। फ्रेंच क्रान्ति के आरम्भ काल में वह ऑस्ट्रिया से मिल कर तुर्की से युद्ध करने में संलग्न थी।

इस समय के अन्य राज्य स्पेन, पुर्तगाल, हॉलैण्ड, डेनमार्क, स्वीडन तथा स्विट्ज़रलैण्ड थे। इटली जर्मनी की भाँति ही कई राज्यों में विभक्त था और उस पर फ्रान्स तथा ऑस्ट्रिया का प्रभाव था। दक्षिण-पूर्व में तुर्की साम्राज्य था जिसकी ओर रूस तथा ऑस्ट्रिया की आँखें लगी हुई थीं। प्रशा, ऑस्ट्रिया तथा रूस से घिरा हुआ पोलैण्ड का बड़ा किन्तु निर्बल राज्य था जिसका बहुत-सा भाग इन तीनों पड़ोसी राज्यों ने १७७२ में हड़प लिया था।

शासन-व्यवस्था—इस युग में अधिकांश राज्यों में शासन का प्रचलित रूप निरंकुश एकतन्त्र था। प्रायः सर्वत्र सामन्त-पद्धति विद्यमान थी परन्तु उसका रूप विकृत हो चुका था। सामन्तों को उनके विशेषाधिकार तो प्राप्त थे परन्तु उनके कर्तव्य बन्द हो चुके थे। अब वे राजा के आज्ञाकारी चाटुकार दरबारी थे। वे ही राजा के परामर्श-दाता थे और उसके आदेशानुसार वे ही शासन-संचालन करते थे। स्वभावतः शासन राजा और इन्हीं थोड़े से व्यक्तियों के हित में होता था और जनता के कल्याण की ओर किसी का ध्यान नहीं था। प्रजातन्त्र का कहीं नाम भी नहीं था। इङ्गलैण्ड में, तथा वेनिस, जिनोआ जैसे गणतन्त्रों में भी यही दशा थी। वहाँ शासन का रूप प्रजा-तन्त्रीय अवश्य था परन्तु शासन कुलीनों तथा उच्च वर्गों के हित में ही होता था। अठारहवीं शताब्दी में महान् फ्रेडरिक, द्वितीय जोजेफ, द्वितीय केथरीन जैसे कुछ शासक निरंकुश होते हुए भी सदाशय तथा उस समय प्रचलित नवीन विचारों से प्रभावित थे और उन्हें प्रजा के हित का ध्यान था। उन्होंने कुछ सुधार भी किये परन्तु इस सम्बन्ध में अपनी प्रजा से परामर्श करना चाहिये, यह बात उन्हें नहीं सूझती थी।

शासन में निपुणता बिलकुल नहीं थी। अत्याचार तथा भ्रष्टाचार का बोलबाला था। उसमें जनता की स्वतन्त्रता तथा उसके आर्थिक, बौद्धिक एवं नैतिक कल्याण के लिये कोई स्थान नहीं था। नैतिक दृष्टि से भी शासन बड़ा पतित था। उन दिनों अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता जैसी कोई वस्तु थी ही नहीं। राजा लोग अपने राज्य-विस्तार तथा स्वार्थ-साधन में दूसरों के अधिकारों तथा अपने दिये हुए वचनों की बिलकुल परवाह नहीं करते थे; संधियाँ तोड़ने, वचन भंग करने तथा विश्वासघात में उन्हें कोई अनौचित्य नहीं दिखाई देता था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का नियमन शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त पर होता था जिसके अनुसार यदि कोई राज्य इतना शक्तिशाली हो जाता जिससे दूसरे राज्यों की सुरक्षा को भय उत्पन्न होता तो अन्य राज्य उसके विरुद्ध गुट बना कर उसे दबाने का प्रयत्न करते थे। परन्तु अठारहवीं शताब्दी में यह सिद्धान्त विकृत हो गया और सबल राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों को हड़पने के लिये गुट बनाने लगे। १७४० में महान् फ्रेडरिक ने मेरिया थिरीसा से साइलेशिया का प्रान्त छीन लिया। ऑस्ट्रिया, प्रशा तथा रूस ने पोलैण्ड का विभाजन कर लिया। रूस और ऑस्ट्रिया तुर्की को हड़पने का जाल रच रहे थे। सारांश में, राजनीतिक सदाचार के लिये उन दिनों कोई गुञ्जायश नहीं थी। शासन की इच्छा और बल ही सब कुछ थे। इस प्रकार फ्रेञ्च क्रान्ति के पूर्व योरोप के स्वतन्त्र और परस्पर असम्बद्ध राज्य अपने तात्कालिक हित तथा शक्ति-सन्तुलन सिद्धान्त के अनुकूल अस्थायी गुटों का निर्माण करते हुए और अपने सार्वजनिक जीवन में धर्म के किसी भी नियन्त्रण तथा मानवता के प्रति किसी भी दायित्व को अस्वीकार करते हुए अपने हित-साधन में संलग्न थे।* यह सिद्धान्तहीन एवं अनैतिक व्यवस्था योरोपीय इतिहास में 'पुरातन व्यवस्था' कहलाती है। वास्तव में यह सिद्धान्तहीन नहीं थी। प्रतिष्ठित एवं परम्परागत पुरातन संस्थाओं का आदर, वैधानिकता तथा संधियों एवं वचनों का पालन तथा अधिकारों के प्रति भक्ति इस व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त थे। परन्तु अठारहवीं शताब्दी के शासकों ने इन सिद्धान्तों को उठा कर ताक में रख दिया था।† ऐसी अवस्था में कोई राज्य सुरक्षित नहीं था। जो व्यवस्था अपने आधारभूत सिद्धान्तों के प्रति इतनी उदासीन हो उसका विनाश रुक नहीं सकता। फ्रान्स में यह निराधार व्यवस्था क्रान्ति के प्रथम धक्के में ही ढह गई।

सामाजिक व्यवस्था : ज़मींदार—प्राय: सर्वत्र साधारण जनता की दशा अत्यन्त दयनीय थी। अधिकांश जनता गाँवों में तथा छोटे क़स्बों में रहती थी और उसका मुख्य व्यवसाय खेती था। ग्राम्य समाज प्रायः दो परस्पर विरोधी वर्गों—

* Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 10.

† Hazen : Modern European History, p. 28.

ज़मींदार और कृषक—में विभक्त था। ज़मींदार लोग मध्य-कालीन सामन्तों के वंशज थे। बड़े-बड़े ज़मींदारों का रहन-सहन बड़े ठाट-बाट का था और राजा तथा राजपरिवार के व्यक्तियों के बाद समाज में उनका स्थान सर्वोच्च था। उन्हें सामन्तीय विशेषाधिकार अब भी उसी प्रकार प्राप्त थे और वे अब भी राजकरों एवं दायित्वों से उसी प्रकार मुक्त थे जैसे उनके पूर्वज। किन्तु समाज के प्रति जो कर्त्तव्य उनके पूर्वज किया करते थे, वे अब नहीं रहे थे। यह पराश्रयी वर्ग समाज के ऊपर भार था और जनता में इसके प्रति बड़ा असन्तोष था।

कृषक—कृषक दो प्रकार के थे—स्वतन्त्र तथा अर्ध-दास (Serf)। मध्य-योरोप तथा पूर्वी योरोप में अधिकांश कृषक अब भी अर्ध-दास अवस्था में थे और उन्हें क़ानून अथवा रिवाज के अनुसार अब भी अपना बहुत-सा समय अपने स्वामी के खेतों में काम करने में लगाना पड़ता था। जहाँ (जैसे फ़ान्स में) यह अर्ध-दास व्यवस्था (Serfdom) टूट चुकी थी, वहाँ भी कृषक करों के अत्यधिक भार से दबे हुए थे। उन्हें राजा को कर देने पड़ते थे, अपने स्वामियों को अनेक प्रकार की भेंटें देनी पड़ती थीं और चर्च उनसे कई प्रकार के कर वसूल करता था। सब प्रकार के करों को चुकाने के बाद उनके पास इतना ही बचता था कि वे किसी प्रकार जीवित रह सकते थे।

पादरी—इनके अतिरिक्त समाज में एक वर्ग पादरियों का था जो स्वयं दो श्रेणियों में विभक्त थे। एक श्रेणी तो बड़े-बड़े ऊँचे पादरियों की थी जो चर्च की अपार सम्पत्ति का उपभोग करते थे और धर्म से नाता तोड़ कर कुलीन रईसों तथा जागीरदारों की तरह विलासमय जीवन व्यतीत करते थे। दूसरी श्रेणी में असंख्य छोटे-छोटे पादरी थे जो अपने धार्मिक कर्तव्य करते हुए साधारण भिक्षुओं की तरह जीवन व्यतीत करते थे। बड़े पादरियों के समक्ष उनकी स्थिति बड़ी हीन थी। उन्हें अकर्मण्य तथा विलासी बड़े पादरियों के जीवन के मुक़ाबले में अपनी हीन दशा अखरती थी और वे अपनी स्थिति से बड़े असन्तुष्ट थे। आप देखेंगे कि फ़ान्स में जब क्रान्ति हुई तो जहाँ बड़े पादरियों ने राजा-रईसों का साथ दिया, वहाँ छोटे पादरियों ने क्रान्तिकारियों का साथ दिया।

मध्य-वर्ग—इन वर्गों के अतिरिक्त समाज में एक मध्य-वर्ग था जो नगरों में रहता था। इस वर्ग में समृद्ध व्यापारी वर्ग तथा वकील, डॉक्टर, सरकारी नौकर, अध्यापक आदि लोग थे। देहात के छोटे जागीरदार तथा बड़े जागीरदारों के छोटे पुत्र-पौत्र भी, जिन्हें जागीर का भाग नहीं मिलता था और जो इन्हीं पेशों को करके अपना निर्वाह करते थे, इस वर्ग में शामिल थे। इस वर्ग की आर्थिक स्थिति अच्छी थी और इस दृष्टि से वे कुलीनों (रईसों और ज़मींदारों) की बराबरी के थे तथा शिक्षित भी थे; परन्तु वे सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में कुलीनों से नीचे थे तथा उन्हें न उनका

सम्मान और न उनके अधिकार ही प्राप्त थे। अतः यह वर्ग बड़ा असन्तुष्ट था और इसके विचार क्रान्तिकारी थे। हम देखेंगे कि आगे चलकर क्रान्ति का नेतृत्व इसी वर्ग ने किया।

नगरों में एक वर्ग शिल्पियों एवं कारीगरों का था। ये लोग अपने घरों पर ही अपने हाथों से या हाथ से चालित मशीनों से काम करके चीज़ें बनाते थे और बाज़ार में स्वयं बेच कर अपना निर्वाह करते थे। सभी व्यवसाय श्रेणियों (Guild) में सङ्गठित थे। प्रत्येक व्यवसाय की एक श्रेणी होती थी जो उस व्यवसाय-सम्बन्धी सभी बातों का निर्णय करती थी। माल कैसा बने, कितना बने, किस मूल्य पर बेचा जाय आदि सभी बातों का निर्णय श्रेणी करती थी। इस प्रकार व्यवसाय तथा उद्योग-धन्धों में प्रतिस्पर्द्धा नहीं थी और माल अच्छा तैयार होता था। परन्तु जहाँ एक ओर इस श्रेणी-पद्धति के ये गुण थे, वहाँ दूसरी ओर इसमें अनेक अवगुण भी थे। इस नियन्त्रण के कारण कारीगरों को बिलकुल स्वतन्त्रता नहीं थी और वे अपनी इच्छानुसार व्यवसाय नहीं कर सकते थे। यह व्यवस्था मध्य-युग से चली आ रही थी।

व्यावसायिक क्रान्ति—परन्तु अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक व्यावसायिक क्रान्ति हो रही थी जिसका श्रीगणेश इंगलैण्ड में कई यान्त्रिक आविष्कारों तथा कोयले के प्रयोग और भाप की शक्ति के आविष्कारों के फलस्वरूप हुआ। इन आविष्कारों के परिणामस्वरूप माल बहुत थोड़े समय में और बहुत बड़े परिमाण में तैयार हो सकता था। अतः पूँजीपतियों ने बड़े-बड़े कारखाने बनाना आरम्भ किया जिनमें वे शिल्पियों को नौकर रख कर बड़ी मात्रा में माल तैयार करने लगे। यह माल सस्ता होता था और अपने ही घरों में अपनी पूँजी एवं अपने औज़ारों से काम करनेवाले कारीगर उसका मुक़ाबला नहीं कर सकते थे। ऐसी स्थिति में श्रेणी-पद्धति ढीली पड़ने लगी थी परन्तु इससे कारीगरों की दशा सुधरने के स्थान पर और बिगड़ने लगी थी। अब तक वे अपनी पूँजी तथा अपने औज़ारों से माल बनाते थे और उनका लाभ उन्हीं को प्राप्त होता था परन्तु अब यह बात जाती रही और वे पूँजीपतियों के क्रीत दास की तरह रहने लगे। व्यवसायों की तरह व्यापार की भी दशा अच्छी नहीं थी। यातायात के साधन कम एवं असन्तोषजनक थे और जगह-जगह चुंगी की बाधाएँ थीं। व्यापारियों को अत्यधिक कर देने पड़ते थे और बड़ी असुविधाओं का सामना करना पड़ता था।

बौद्धिक क्रान्ति—इधर तो समाज की यह दशा थी और राजा तथा राज्याधिकारी वर्ग अपने स्वार्थ में रत थे, उधर समाज के एक वर्ग में बिलकुल विपरीत ढङ्ग की विचार-धारा चल रही थी। इस युग का सबसे क्रान्तिकारी लक्षण राजनीतिज्ञों के व्यवहार तथा उस युग के सर्वोत्तम एवं प्रभावशाली विचारों का घोर विरोध

है ।* अठारहवीं शताब्दी में एक बौद्धिक आन्दोलन चल रहा था। दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा विचारक मध्यकालीन अन्धविश्वासों से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से विचार करने लगे थे और प्रत्येक बात को बुद्धि की कसौटी पर कसते थे। वे पहले से चली आई हुई राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा न्यायिक संस्थाओं की तर्क तथा उनकी उपयोगिता के आधार पर परीक्षा करते थे और उनके दोषों का उद्घाटन कर समाज का ध्यान उनकी ओर आकर्षित करते थे। ऐसे विचारक प्रायः सभी देशों में थे, परन्तु उनमें सबसे मुख्य फ्रान्स के विचारक थे।† इनके विषय में आप अगले अध्याय में पढ़ेंगे। ऐसे विचारक मुख्यतः मध्यम वर्ग के थे और वे ही सुधार की माँग करने में सबसे आगे थे। ऐसे विचार धीरे-धीरे विशेषाधिकार-भोगी वर्ग को भी प्रभावित कर रहे थे और कुछ कुलीन तथा पादरी लोग भी सुधार के पक्षपाती हो चले थे। ऊपर हम बतला चुके हैं कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रशा का द्वितीय फ्रेडरिक, ऑस्ट्रिया का द्वितीय जोजेफ, रूस की द्वितीय केथरीन आदि कुछ शासक भी ऐसे हुए जो प्रजा के कष्टों का निवारण करना चाहते थे और जिन्होंने अपने राज्यों में कई प्रकार के सुधार भी किये। इस बौद्धिक क्रान्ति तथा मध्यम वर्ग के उत्थान के फलस्वरूप योरोपीय समाज में भारी परिवर्तन अनिवार्य-सा हो रहा था। कुछ समय तक तो प्रायः सभी देशों में ऐसा मालूम होता था मानो प्रबुद्ध मध्यम वर्ग तथा प्रबुद्ध कुलीनों एवं पादरियों के समर्थन से प्रबुद्ध राजाओं द्वारा शनैः-शनैः किये हुए सुधारों द्वारा ही यह परिवर्तन हो जायगा। केवल फ्रान्स में ही यह शङ्का करने के लिये कारण विद्यमान था कि वहाँ शायद सुधार के पहले क्रान्ति हो जाय।‡

---

* Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 10.

† F. Schevil : A History of Europe, p. 369.

‡ C. J. H. Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. 1, p. 588.

फ्रेञ्च क्रान्ति

(१७८९–१७९९)

अध्याय ४

क्रान्ति के पूर्व फ्रान्स की दशा

पिछले अध्याय में आप देख चुके हैं कि अठारहवीं शताब्दी की बौद्धिक क्रान्ति तथा मध्यम वर्ग के उत्थान के फलस्वरूप योरोपीय समाज में महान् परिवर्तन अनिवार्य हो रहा था। उसका आरम्भ १७८९ में फ्रान्स में एक महान् क्रान्तिकारी घटना के साथ हुआ जिसने योरोप की 'पुरातन व्यवस्था' (Ancient Regime) की जड़ हिला दी। यह घटना फ्रान्स की प्राचीन सभा एस्टेट्स-जनरल (Estates-General) का १७५ वर्ष बाद होनेवाला अधिवेशन और उससे आरम्भ होनेवाली फ्रान्स की महान् क्रान्ति थी। यह क्रान्ति सामन्तवाद की जीर्ण-शीर्ण सामाजिक व्यवस्था, वर्गीय विशेषाधिकार, निरंकुश शासन एवं नौकरशाही के विरोध का तथा मनुष्यमात्र की समानता के दावे और अधिकार के नवीन सिद्धान्तों के आधार पर मानव समाज के नव-निर्माण के प्रयत्न का साकार रूप था।*

सोलहवां लुई—उन दिनों फ्रान्स में सोलहवें लुई का शासन था जो १७७४ में अपने पितामह की मृत्यु के बाद बड़ी कठिन परिस्थिति में सिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। कोष खाली था और चौदहवें तथा पन्द्रहवें लुई के समय का ऋण राज्य पर लदा हुआ था। प्रति वर्ष राज्य का व्यय आमदनी से अधिक हो रहा था और राजपरिवार तथा दरबार के अनाप-शनाप खर्च में किसी प्रकार की कमी नहीं हो रही थी। आय करों से ही बढ़ सकती थी परन्तु जिन लोगों से कर लिया जाता, वे पहले से ही करों के अत्य-धिक भार से पिसे जा रहे थे और उन पर कर बढ़ाना असम्भव था। ऐसी कठिन परिस्थिति में किसी सुयोग्य, समझदार तथा निर्भीक राजा की आवश्यकता थी परन्तु सोलहवां लुई ऐसी परिस्थिति का सामना करने के बिलकुल अयोग्य था। वह सज्जन था, उसके इरादे अच्छे थे और उसमें कर्त्तव्य की भावना भी थी। वह एक उदार प्रबुद्ध शासक की भाँति शासन करने का इच्छुक था और सुधार करके प्रजा का हित करना चाहता था। परन्तु सिंहासन पर बैठने के समय उसकी अवस्था २० वर्ष की भी नहीं थी। उसे शिक्षा भी उचित नहीं मिली थी। इसके अतिरिक्त वह डरपोक एवं अस्थिरचित्त था और उसकी निर्णयशक्ति अत्यन्त दुर्बल थी। वह दूसरों के प्रभाव में

* Ramsay Muir : A Short History of the British Commonwealth, Vol. II, p. 149.

बड़ी सरलता के साथ आ जाता था। समस्त बूर्बों राजाओं के समान उस पर भी उसकी पत्नी मेरी आँत्वानेत (Marie Antoinette) का बड़ा भारी प्रभाव था। मेरी ऑस्ट्रिया की साम्राज्ञी मेरिया थिरीसा की सुन्दरी पुत्री थी। उसकी इच्छाशक्ति बड़ी दृढ़ थी, उसमें साहस था और वह तुरन्त निर्णय भी कर सकती थी। इस प्रकार जो गुण राजा में नहीं थे वे उसमें विद्यमान थे परन्तु उसमें भी इतनी योग्यता नहीं थी जो शासन की समस्याओं को समझ सकती और उनका समाधान कर सकती। उसे अपने आमोद-प्रमोद से मतलब था। वह सदा लोभी चाटुकारों से घिरी रहती थी जो उस समय की व्यवस्था से लाभ उठाते थे और इसी कारण सुधार के शत्रु थे। वह शासन-कार्य में हस्तक्षेप करती रहती थी, मंत्रियों की नियुक्ति में दखल देती थी और सदा षड्यन्त्रों में लगी रहती थी जिसके परिणाम सदा फ्रान्स के हित के विपरीत होते थे। इन कारणों से तथा उसके विलासमय जीवन एवं अत्यधिक खर्चीले रहन-सहन से राज्य की कठिनाइयाँ बढ़ती रहीं।*

आर्थिक स्थिति को सुधारने के प्रयत्न—सिंहासन पर बैठते ही लुई ने राज्य की आर्थिक व्यवस्था का भार एक सुयोग्य एवं साहसी अर्थ-मंत्री तुर्गो (Turgot) (१७७४-७६) को सौंपा। उसकी आर्थिक नीति संक्षेप में थी—'दिवालियापन, कर-वृद्धि तथा ऋण इन तीनों का निषेध।'† उसने राज्य की आर्थिक व्यवस्था को सुधारने के लिये खर्च में कमी करने तथा सार्वजनिक सम्पत्ति की उन्नति करने का निश्चय किया जिससे राज्य की आमदनी में वृद्धि हो। अपने दूसरे उद्देश्य की सिद्धि के लिये उसने अन्न के व्यापार पर जितने भी नियन्त्रणकारी क़ानून थे उन्हें रद्द कर दिया और अनाज का व्यापार स्वतन्त्र कर दिया। व्यवसायों की उन्नति के लिये श्रेणियों (Guilds) का दमन कर दिया गया; किसानों से जो बेगार ली जाती थी वह बन्द कर दी गई; उनसे जो काम लिया जाता था उसके लिये उनको मज़दूरी देने और उनके लिये समस्त भूमिपतियों से कर लेने की व्यवस्था की गई। इन सुधारों से व्यापार तथा उद्योग-धन्धों को लाभ हुआ और कर-व्यवस्था में भी कुछ समानता आई, परन्तु इससे वे लोग बड़े क्रुद्ध हुए जो उन दूषित क़ानूनों से लाभ उठाते थे और उन्होंने इन सुधारों का विरोध किया। इसके साथ ही अपने प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने कई अनावश्यक खर्चों को बन्द कर दिया और ऐसा करने में कई ऐसे पद तोड़ दिये जिनके लिये भारी वेतन दिये जाते थे परन्तु जिनका काम कुछ नहीं था। ऐसे लोग राजा तथा रानी के कृपा-पात्र थे। वे भी विरोध में शामिल हो गये। राजा ने इस विरोध का पहले तो सामना किया परन्तु अन्त में दब कर उसने तुर्गो को बरखास्त कर दिया।

---

* Hassall : The Balance of Power, p. 403.

† Hazen : The French Revolution, Vol. I, p. 116.

अब उसने नेकर (Necker) को अपना अर्थ-मंत्री बनाया (१७७६-१७८१)। उसने आरम्भ में कुछ छोटे-छोटे सुधार करके कुछ बचत की परन्तु १७७८ में फ़ान्स ने इङ्गलैण्ड के विरूद्ध अमेरिकन उपनिवेशों का साथ देना शुरू किया। युद्ध का खर्च बहुत था और उसकी व्यवस्था ऋण से ही की जा सकती थी। ऋण की व्यवस्था की गई परन्तु उसके अत्यधिक व्याज के भार से दशा और भी खराब हो गई। इस पर नेकर ने तुर्गो की योजना पर काम करना आरम्भ किया, जिस पर विरोधियों ने फिर शोर मचाया और राजा को १७८१ में उसे भी बरखास्त करना पड़ा।

नेकर के बाद केलोन (Calonne) अर्थ-मंत्री बनाया गया। वह राजदरबार का कृपापात्र था। पहिले तो उसने दरबार को प्रसन्न करने के लिये भारी-भारी ऋण लिये परन्तु अन्त में ऋण देनेवाला भी कोई नहीं रहा और उसने फ़ान्स की समस्त जनता पर सामान्य कर लगाने का प्रस्ताव किया। राजा ने इसके लिये विशेषाधिकारयुक्त वर्ग का समर्थन प्राप्त करने के निमित्त कुलीनों तथा प्रतिष्ठित लोगों (Notables) की एक सभा की और उनकी अनुमति माँगी। परन्तु उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि यह परिवर्तन एस्टेट्स-जनरल की स्वीकृति के बिना नहीं हो सकता। इस पर केलोन ने त्यागपत्र दे दिया (१७८६)। उसके बाद के अर्थ-मंत्री ब्रिएँन (Lomenie de Brienne) की भी यही दशा हुई। जब उसने नये करों का प्रस्ताव किया तो पेरिस की पार्लमाँ (न्यायालय) ने उसका विरोध किया और इस सिद्धान्त पर कि कर वही लगा सकते हैं, जिन्हें उन करों को देना पड़ता है एस्टेट्स-जनरल के अधिवेशन की माँग की। पहले तो राजा ने पार्लमाँ को धमकाने का प्रयत्न किया परन्तु जब उसने राजा के आदेश का पालन नहीं किया और वह अपनी माँग पर अड़ी रही तथा देश में भी उस माँग का अधिकाधिक समर्थन होने लगा, तो राजा ने दब कर १ मई १७८९ को एस्टेट्स-जनरल का अधिवेशन बुलाया। तुर्गो की मृत्यु हो चुकी थी। उसके बाद सुधारकों में नेकर ही मुख्य था। राजा ने उसे वापस बुलाकर अपना मुख्य मन्त्री बनाया।

एस्टेट्स-जनरल का अधिवेशन—एक क्रान्तिकारी घटना—एस्टेट्स-जनरल का अन्तिम अधिवेशन १६१४ में हुआ था और अब १७५ वर्ष बाद उसका अधिवेशन फिर होना था। इस संस्था में कुलीन वर्ग (Nobility), पादरी वर्ग (Clergy) तथा सर्वसाधारण जनता (Tiers-Etat=Third Estate or Commons) के प्रतिनिधि हुआ करते थे। प्रत्येक वर्ग के प्रतिनिधि अलग-अलग भवनों में बैठते थे और अलग-अलग विचार करते तथा मत देते थे। दो भवनों की अनुमति किसी बात की स्वीकृति के लिये पर्याप्त थी। इस सभा का काम केवल राजा को परामर्श देना था। वह न क़ानून बना सकती थी और न आय-व्यय पर ही उसका नियन्त्रण था; वह बिलकुल राजा की इच्छा पर निर्भर थी। उसका अधिवेशन करना या न

करना उसी की इच्छा पर था। यह सभा फ़्रान्स की पुरातन व्यवस्था का ही एक अंग थी और वैसे देखा जाय तो इसका अधिवेशन बुलाने में पुरातन व्यवस्था को कोई चोट नहीं पहुँचती थी। परन्तु १६१४ के बाद से राजाओं ने उससे कभी परामर्श नहीं किया और न उसका कभी अधिवेशन ही किया; राजा लोग उसके बिना ही कार्य करते रहे। इस प्रकार वह एक मृत संस्था हो चुकी थी। परन्तु अब विवश होकर राजा को उसका अधिवेशन करना पड़ा जिसका स्पष्ट अर्थ यह था कि अब राजा का निरंकुश शासन असफल हो चुका था और उसे अब जनता के प्रतिनिधियों के परामर्श की आवश्यकता थी। यदि जनता के प्रतिनिधि केवल परामर्श देकर और आर्थिक कठिनाइयों का हल बता कर विदा हो जाते तो कोई क्रान्ति नहीं होती। परन्तु, जैसा आप आगे देखेंगे, जनता के प्रतिनिधियों ने केवल परामर्श देने से इन्कार करके अपने भाग्य का निर्माण अपने ही हाथों में ले लिया और पुरातन व्यवस्था का अन्त कर दिया। इस प्रकार सांविधानिक दृष्टि से एक साधारण घटना होते हुए भी एस्टेट्स-जनरल के अधिवेशन का यह निमन्त्रण स्वयं एक क्रान्तिकारी घटना थी। एस्टेट्स-जनरल के अधिवेशन के साथ ही फ़्रेञ्च क्रान्ति आरम्भ होती है।*

क्रान्ति के कारण—अठारहवीं शताब्दी में कुछ अपवादों को छोड़ प्रायः समस्त योरोप की राजनीतिक, आर्थिक एवं समाजिक दशा एक-सी थी परन्तु यह क्रान्ति फ़्रान्स में सर्वप्रथम क्यों हुई, इसका समुचित उत्तर प्राप्त करने के लिये फ़्रान्स की तत्कालीन परिस्थिति की मुख्य-मुख्य बातों पर दृष्टि डालना आवश्यक है।

पुरातन व्यवस्था—उस समय का सम्पूर्ण समाज सामन्तवादी आधार पर श्रेणी-बद्ध था जिसमें ऊपर से नीचे तक विभिन्न श्रेणियाँ थीं जिनमें से प्रत्येक के वैधानिक अधिकार, सुख प्राप्त करने एवं उन्नति करने के अवसर तथा शक्ति आदि भिन्न-भिन्न थे।

निरंकुश एकतन्त्र—इस व्यवस्था में सबसे ऊपर राजा था जिसका पद वंशानुगत होता था। उसका दावा दैवी अधिकार से शासन करने का था और वह अपने आपको ईश्वर को छोड़ और किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं समझता था, अतः शासन में वह अत्यन्त निरंकुश था और उसकी इच्छा ही क़ानून थी जिसका उल्लंघन करना प्रजा के लिये दैवी आदेश के उल्लंघन करने के समान पाप था। वह अपनी इच्छानुसार क़ानून बनाता था, प्रजा से कर वसूल करता था और अपनी इच्छा के अनुसार ही राजकीय आय को खर्च करता था। किसी भी देश से युद्ध या सन्धि करना उसी

---

* क्रान्ति के सम्बन्ध में लेनिन ने कहा था कि क्रान्ति होने के लिये केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि बहुजन पुराने ढंग से रहने के लिये तैयार न हों; यह भी होना चाहिये कि शासकों के लिये पुराने ढंग से कार्य करते रहना असम्भव हो जाय।"

की इच्छा पर निर्भर था। इन बातों में उसे अपनी प्रजा से परामर्श करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। वह अपने राज्य में जिसे चाहता कैद कर सकता था और बिना उस पर मुक़द्दमा चलाये चाहे जो सजा दे सकता था। राजा ही नहीं, उसका कोई भी कृपापात्र इस अधिकार का उपभोग कर सकता था। इसके लिये उसे केवल राजा की मुद्रावाले पत्र (Letters de Catchet) की आवश्यकता थी। ऐसे पत्र राजा की ओर से किसी व्यक्ति को गिरफ्तार करने और उसे दण्ड देने के लिये जारी किये जाते थे परन्तु राजा के कृपापात्र ऐसे मुद्रायुक्त पत्र प्राप्त कर लेते थे जिनमें गिरफ्तार किये जानेवाले व्यक्ति के नाम का स्थान खाली रहता था। जिसको वे गिरफ्तार करना चाहते उसका नाम उसमें लिख कर वे उसे गिरफ्तार करवा लेते और अपनी इच्छानुसार उसे सज़ा दे देते थे। ऐसी अवस्था में किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं थी और न न्याय की ही वह आशा कर सकता था। सारांश में, राज्य के समस्त अधिकार राजा के हाथों में थे और वह अत्यन्त निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी था। इङ्गलेण्ड की पार्लामेण्ट के समान उस पर किसी प्रकार का भी अंकुश लगानेवाली जनता के प्रतिनिधियों की कोई सभा नहीं थी। इस प्रकार की एक सभा अवश्य थी जिसका नाम एस्टेट्स-जनरल (Estates General) था परन्तु उसका अन्तिम अधिवेशन १६१४ में हुआ था और अब तो लोग यह भी नहीं जानते थे कि उसका संगठन कैसा था। यदि कोई संस्था ऐसी थी जो राजा के स्वेच्छाचार पर कुछ अंकुश लगा सकती थी तो वह थी पार्लमां (Parlement) जो संख्या में तेरह थीं। वे इङ्गलेण्ड की पार्लामेण्ट की तरह नहीं थीं; वे न्यायालय थीं। उनके न्यायधीश वे लोग थे जिन्होंने इन पदों को खरीद कर कुलीनता प्राप्त करली थी। ये पद वंशानुगत हो गये थे। न्याय करने के अतिरिक्त उनका एक कार्य राजा के नये क़ानूनों को अपने रजिस्टरों में रजिस्ट्री करना भी था। कोई भी क़ानून, जब तक वह इस प्रकार रजिस्टर में लिख नहीं लिया जाता था, तब तक लागू न ही किया जा सकता था। इन न्यायालयों में पेरिस का न्यायालय सबसे महत्वपूर्ण था। वह प्रायः नये क़ानूनों को दर्ज करने से इन्कार कर देता था। परन्तु यदि बाद में राजा आदेश देता था तो उसे उस क़ानून की रजिस्ट्री करनी पड़ती थी। इस प्रकार राज्य का सारा जीवन राजा की मुट्ठी में था। जनता उसके विरुद्ध किसी प्रकार की आवाज भी नहीं उठा सकती थी क्योंकि भाषण, लेखन तथा प्रकाशन पर उसने ज़बरदस्त प्रतिबन्ध लगा रखे थे।

राजा का विलासी जीवन—राजा का जीवन भी अत्यन्त शानशौक़त का और खर्चीला था। अपने परिवार तथा असंख्य रईसों, अनुचरों तथा कर्मचारियों सहित पेरिस से १२ मील दूर वार्साय (Versailles) नामक नगर में वह एक भव्य विशाल प्रासाद में रहता था। उसके दरबार में १८००० आदमी थे जिनमें से १६,००० तो उसके तथा उसके परिवार के सेवक ही थे और शेष २,००० दरबारी लोग, मेहमान

श्रौर राजा की सेवा में रहने वाले चाटुकार सामन्त होते थे। राजा के पास रहनेवाले सामन्त भी रहन-सहन में उसी के श्रादर्श का अनुकरण करते थे। १७८९ में राजा के इस ठाठ-बाट, श्रामोद-प्रमोद तथा विलासी जीवन का खर्च ६ करोड़ रुपये के लगभग था। इतना ही नहीं, अपने इस अपार खर्च के साथ वह अपने कृपापात्रों को बड़े-बड़े पारितोषिक, पेन्शन श्रादि दिया करता था। अनुमान किया जाता है कि सोलहवें लुई ने क्रान्ति के पूर्व के अपने शासन के १५ वर्ष में इस प्रकार ३० करोड़ रुपया लुटाया था। बेचारी प्रजा की गाढ़ी कमाई का पैसा इस तरह पानी की तरह बहाया जाता था।

अव्यवस्थित शासन—शासन भी बड़ा अक्षम, अव्यवस्थित और खर्चीला था। शासन का प्रमुख राजा था। उसकी सहायता के लिये पांच समितियां होती थीं जो क़ानून बनाती थीं, राज्यादेश निकालती थीं और राज्य का समस्त अन्तरिक एवं बाह्य कार्य-सचालन करती थीं। यह व्यवस्था तो राजधानी में थी। प्रान्तीय शासन के लिये समस्त देश दो प्रकार के प्रान्तों में बँटा हुआ था। एक प्रकार के प्रान्त तो गवर्नमेण्ट कहलाते थे। उनकी संख्या ४० थी और उनमें से अधिकांश फ़्रान्स के प्रचीन प्रान्त थे। उनका शासन में कोई भाग नहीं होता था; उनके गवर्नर उच्च वर्ग के कुलीन लोग होते थे जो मोटी तनख्वाह पाते थे और राजधानी में राजा की सेवा में ऐश करते थे। शासन का वास्तविक कार्य दूसरे प्रकार के ३६ प्रान्तों में होता था जो जनरेलिटी (Generality) कहलाते थे। प्रत्येक जनरेलिटी में राजा द्वारा नियुक्त एक कर्मचारी होता था जो इण्टेण्डेण्ट (Intendent) कहलाता था। ये कर्मचारी मध्य-वर्ग के लोग हुआ करते थे और राजा के आदेशों का पालन करते थे। उन्हें जनता की आवश्यकताओं की ओर ध्यान देने की बिलकुल स्वतन्त्रता नहीं थी। फलतः वे और उसके अधीन कार्य करनेवाले कर्मचारी जनता में बड़े अप्रिय थे। सरकारी पदों पर नियुक्ति योग्यता के आधार पर नहीं होती थी। कुलीन तथा अमीर लोग उन्हें खरीद लेते थे और उन्हें सम्मान तथा अपनी आय बढ़ाने के साधन समझते थे। जनता की सेवा से उन्हें कोई मतलब नहीं था, स्थानीय स्वशासन का तो नाम भी नहीं था; स्थानीय कर्मचारियों को ज़रा-ज़रा सी बातों के लिये राजधानी से आदेश प्राप्त करना पड़ता था। इस प्रकार शासन में जनता का कहीं भी कोई हाथ नहीं था, जिससे उसे किसी प्रकार की राजनीतिक शिक्षा या अनुभव प्राप्त होता। यही कारण है कि क्रान्ति-काल में जब जनता ने शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया तो उसने भयङ्कर भूलें कीं।†

इस प्रकार फ़्रान्स का शासन अत्यन्त केन्द्रित था परन्तु उसमें एकरूपता नहीं

* Hazen : Modern European History, p. 34.

† Ibid, p. 36

थी। देश का शासन एक व्यक्ति के हाथ में होते हुए भी उसके भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न प्रकार के क़ानून थे; सारे देश में क़ानूनी रिवाजों के ३८५ भिन्न-भिन्न संग्रह थे जो भिन्न-भिन्न भागों में प्रचलित थे। देश के विभिन्न भागों में कर भी भिन्न-भिन्न प्रकार के थे।

आर्थिक व्यवस्था—राज्य की आर्थिक दशा भी दयनीय थी। राज्य की आमदनी का एक बड़ा भाग तो राजा पर खर्च होता था और समस्त राष्ट्रीय आय का आधा राज्य के ऋण के ब्याज में चला जाता था। प्रति वर्ष आय से व्यय अधिक होता था और राज्य का काम ऋण लेकर चलाया जाता था। बात यह नहीं थी कि राज्य की आमदनी बढ़ नहीं सकती थी। आय करों से होती थी परन्तु राज्य की कर-व्यवस्था असमानता और पक्षपात के सिद्धान्त पर निर्मित होने के कारण अत्यन्त दूषित थी। कर दो प्रकार के थे—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष कर जायदाद, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा आय पर लिये जाते थे। कुलीन वर्ग और पादरी इनमें से कुछ करों से तो बिलकुल मुक्त थे और शेष करों से प्रायः मुक्त थे, क्योंकि कर-निर्धारण करनेवाले राज्य-कर्मचारी डर कर उन पर नाममात्र का कर लगाया करते थे। उसकी सारी कमी शेष जनता पर कर लगा कर पूरी की जाती थी और इस प्रकार उस पर करों का अत्यधिक भार था। कुलीन वर्ग और पादरी जो सम्पन्न थे रुपये में तीन आने भी कर नहीं देते थे जब कि मध्य-वर्ग के व्यक्ति से प्रायः दसगुना वसूल कर लिया जाता था। परोक्ष करों में मुख्य नमक, शराब, तम्बाकू आदि पर लिये जाने वाले कर थे। इनमें से नमक-कर बड़ा ही दुखदायी था। नमक के व्यापार का एकाधिकार एक कम्पनी ने राज्य से खरीद रखा था और क़ानून के अनुसार सात वर्ष से अधिक अवस्थावाले प्रत्येक व्यक्ति को वर्ष में सात पौंड नमक अवश्य खरीदना पड़ता था। इसे वह खाने के काम में ही ला सकता था; पशुओं को खिलाने तथा अन्य कामों के लिये उसे अतिरिक्त नमक खरीदना पड़ता था। कम्पनी मनमाने भाव पर नमक बेचती थी और जो व्यक्ति नमक की नियमित मात्रा नहीं खरीदता था उसे राज्य से दण्ड मिलता था।* केवल नमक-कर का ही यह हाल नहीं था; प्रत्येक कर की वसूली ठेकेदार करते थे जो राज्य को एक निश्चित रकम देकर कर वसूल करने का अधिकार प्राप्त कर लेते थे और मनमानी रक़म वसूल करते थे। इस प्रकार राज्य की कर-व्यवस्था अत्यन्त असन्तोषजनक एवं अन्यायपूर्ण थी। जो सम्पन्न थे वे कुछ नहीं या बहुत कम देते थे और ग़रीबों का बुरी तरह शोषण होता था। इससे जनता तो असन्तुष्ट थी ही, साथ ही राज्य के कोष में

---

* नमक के गैर-क़ानूनी व्यापार के लिये अनुमानतः प्रति वर्ष ३०,००० आदमियों को कारावास तथा ५०० आदमियों को मृत्यु-दण्ड मिलता था। Hazen : The French Revolution, Vol. I, P. 70

राष्ट्रीय आय का जो उचित भाग पहुँचना चाहिये था, वह नहीं पहुँच पाता था। अतः राज्य का सदा दिवालिया बना रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

दूषित कर-व्यवस्था के फलस्वरूप राज्य जनता की सम्पत्ति का राष्ट्रीय कामों के लिये उपयोग नहीं कर सकता था; उसकी वाणिज्य-नीति भी ऐसी थी जिससे राज्य में सम्पत्ति की उत्पत्ति भी पूरी तरह न हो पाती थी। फ्रेन्च व्यापार अभी पूरी तरह से उन्नति नहीं कर पाया था। वस्तुओं के उत्पादन पर अभी तक मध्य-काल से चली आ रही श्रेणियों (Guilds) के नियन्त्रण लगे हुए थे। जो वस्तुएँ उत्पन्न होती थीं, उनको देश में ही इधर-उधर ले जाने में प्रत्येक प्रान्त की सीमा पर चुंगी देनी पड़ती थी जिससे वे बाजार में बहुत मँहगी बिकती थीं। ऐसे नियन्त्रणों में व्यापार की उन्नति असम्भव थी। इस प्रकार की अन्यायपूर्ण एवं अत्याचारपूर्ण आर्थिक व्यवस्था सब को अखरती थी और लोग, यहाँ तक कि कुलीन वर्ग में से भी कई, इसकी बड़ी आलोचना करते थे।

सामाजिक व्यवस्था—इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था तथा आर्थिक व्यवस्था में तो असमानता, विशेषाधिकार और पक्षपात का जोर था ही, ये दोष सामाजिक व्यवस्था के भी रोम-रोम में व्याप्त थे।

कुलीन वर्ग—हम ऊपर बतला चुके हैं कि समस्त समाज सामन्तवादी पद्धति पर असमानता एवं विशेषाधिकार के आधारभूत सिद्धान्तों पर श्रेणीबद्ध था, जिनमें प्रत्येक वर्ग के अधिकार एवं कर्त्तव्य भिन्न-भिन्न थे। राजा और राज्य-परिवार सर्वोपरि थे। उनके नीचे कुलीन वर्ग था। संख्या में इस वर्ग के लोग बहुत कम थे परन्तु राज्य में उनकी स्थिति बहुत ऊँची थी। फ्रान्स की समस्त भूमि के चतुर्थांश के लगभग उनके पास था। राज्य के शासन, उसकी सेना तथा चर्च में ऊँचे-ऊँचे पद उन्हीं लोगों को मिलते थे और इस प्रकार शासन पर उनका बड़ा प्रभाव रहता था। सम्पन्न होते हुए भी उन्हें बहुत कम कर देने पड़ते थे। उन्हें समस्त सामन्तीय अधिकार प्राप्त थे परन्तु अब उनके कर्त्तव्य सब लुप्त हो चुके थे। उनका कार्य राजा के दरबार में शान-शौक़त से रहना और मौज उड़ाना तथा दरबार के षड्यन्त्रों में लगे रहना था। वे अपनी जागीर में नहीं रहते थे, उनके कारिन्दे किसानों से भूमि का लगान वसूल करते थे और उन्हें नाना प्रकार के कष्ट देते थे। बहुत से कुलीन लोग छोटे और निर्धन थे जो गाँवों में ही रहते थे। उनकी दशा साधारण कृषकों से अच्छी नहीं थी परन्तु वे अपनी कुलीनता की परम्परा को बनाये रखना चाहते थे और किसानों से अपने सभी विशेषाधिकार प्राप्त करते थे। यह बात कृषकों को बहुत अखरती थी। कई कुलीन लोग तो प्राचीन सामन्तों के वंशज थे परन्तु कई लोग उन साधारण व्यक्तियों में से थे जिन्होंने राजा की कृपा से कुलीनता प्राप्त कर ली थी और उस श्रेणी में पहुँच गये थे। न्यायालयों के न्यायाधीश,

जिनकी चर्चा हमने ऊपर की है, इसी प्रकारके कुलीन थे। उन लोगों को भी सभी सामन्तीय विशेषाधिकार प्राप्त थे। मध्य-काल में यदि सामन्त लोग अपने विशेषाधिकार का उपभोग करते थे तो इसके साथ ही वे अपने अनेक प्रकार के कर्त्तव्य भी उनके प्रति करते थे और जनता उनसे प्रेम करती थी तथा उनका आदर करती थी। परन्तु अब उन्होंने अपना कर्त्तव्य भी करना बन्द कर दिया था और जनता उन्हें केवल निर्दय शोषक समझती थी। परन्तु यह शिकायत और यह दुर्भावना केवल बड़े, लोभी एवं स्वार्थी कुलीनों के ही प्रति थी। छोटे कुलीन लोग प्रायः असन्तुष्ट थे और इस व्यवस्था में सुधार की कामना करते थे।

पादरी वर्ग—कुलीनों के अतिरिक्त दूसरा विशेषाधिकारयुक्त वर्ग पादरियों का था। यह वर्ग कुलीनों से भी अधिक अप्रिय था। पादरी भी कुलीनों के समान दो प्रकार के थे—बड़े तथा छोटे। बड़े पादरियों का प्रभाव राज्य में बड़ा जबरदस्त था। चर्च की अपार सम्पत्ति का वे ही लोग उपभोग करते थे। अनुमानतः चर्च के पास समस्त देश की भूमि का पाँचवाँ भाग था जिससे उसे बड़ी भारी आय होती थी। इस आय के साथ ही चर्च को उसकी भूमि जोतनेवाले कृषकों से अनेक प्रकार के सामन्तीय कर तथा भेंटें मिलती थीं। इस समस्त भूमि तथा आमदनी पर उसे राज्य को कोई कर नहीं देना पड़ता था। बड़े पादरी चर्च के ऊँचे-ऊँचे पदों पर थे और अधिकांश पादरियों की वार्षिक आय डेढ़-दो लाख रुपये से कम नहीं थी, किसी-किसी की वार्षिक आय तो नौ-दस लाख तक पहुँचती थी। यह समस्त आय ऐश-आराम में खर्च होती थी। इन ऊँचे पदों पर प्रायः कुलीनों के छोटे लड़के हुआ करते थे जो इस आमदनी और प्रभाव के लोभ से पादरी वर्ग में दीक्षा ले लिया करते थे। इन्हें आमोद-प्रमोद से मतलब होता था, न कि अपने पद के धार्मिक कर्त्तव्यों तथा दीनों एवं पीड़ितों की सेवा से। वे अन्य कुलीनों की भाँति राजा के दरबार में विलासमय जीवन व्यतीत करते थे।

इसके विपरीत असंख्य छोटे पादरी, जो चर्च के वास्तविक धार्मिक कर्त्तव्यों का सम्पादन करते थे, बड़ी हीन दशा में थे। उनकी आमदनी बहुत कम होती थी जिससे जीवन-निर्वाह भी कठिन होता था। वे लोग साधारण जनता में से लिये जाते थे और अपनी दशा से उसी प्रकार असन्तुष्ट थे जैसे साधारण जनता के लोग। उन्हें साधारण जनता से सहानुभूति थी और आगे चलकर क्रान्ति में उन्होंने उसी का समर्थन करके क्रान्ति को, आरम्भ में, सफल बनाने में बड़ी सहायता दी।

चर्च का प्रभाव—चर्च का जनता पर बड़ा प्रभाव था। यह चर्च रोमन केथोलिक था। परन्तु फ़ान्स के क़ानून के अनुसार राज्य के समस्त नागरिक, चाहे वे रोमन केथोलिक हों या प्रोटेस्टेण्ट, चर्च के आधीन होते थे और उन्हें चर्च के कर

देने पड़ते थे। राज्य में धार्मिक स्वतन्त्रता बिलकुल नहीं थी। आप ऊपर देख चुके हैं कि चर्च के अपने क़ानून और अपने न्यायालय होते थे और राज्य के क़ानून चर्च के आदमियों पर लागू नहीं होते थे। चर्च एक प्रकार से राज्य के अन्दर दूसरा राज्य था। ऐसा धार्मिक स्वतन्त्रता का विरोधी तथा कर्तव्यहीन चर्च जनता में अप्रिय था। जनता की घृणा विशेषकर बड़े पादरियों के प्रति थी। कुलीनों के समान इन बड़े पादरियों के विशेषाधिकार भी जनता को असह्य थे। वास्तव में जब क्रान्ति हुई तो वह मुख्यतः राजा के निरंकुश एकतन्त्र के विरुद्ध नहीं, वरन् इन विशेषाधिकारयुक्त वर्गों—कुलीनों एवं पादरियों—के विरुद्ध हुई थी* और क्रान्तिकारियों ने आरम्भ में उन्हीं को समाप्त किया।

सर्वसाधारण वर्ग—इन दोनों वर्गों के बाद समाज में एक तृतीय वर्ग (Third Estate) था जिसमें राज्य की ९⁄₁₀ जनता शामिल थी। इसमें कई प्रकार के लोग थे, जैसे उच्च मध्यम वर्ग के लोग, शिल्पी, मजदूर तथा कृषक। उच्च मध्यम वर्ग में समाज के सम्पन्न, शिक्षित, बुद्धिमान तथा अध्यवसायी लोग थे, जैसे व्यापारी, कारखानों के मालिक, साहूकार, शिक्षक, डॉक्टर, वकील, सरकारी नौकर आदि। इस वर्ग की आर्थिक दशा अच्छी थी और शासन के ऊँचे पदों को छोड़ शेष पद इन्हीं लोगों के हाथों में थे। परन्तु सुयोग्य और सम्पन्न होते हुए भी इन्हें कुलीनों के से अधिकार तथा उनके जैसा सम्मान प्राप्त नहीं था और इस कारण यह वर्ग बड़ा असन्तुष्ट था। फ़ान्स के अधिकांश विचारक, लेखक तथा दार्शनिक इसी वर्ग के थे और उसके प्रारम्भिक दिनों में मुख्य कार्य इसी वर्ग ने किया था। शिल्पियों और मजदूरों की दशा भी अच्छी नहीं थी और वे मध्यम वर्ग के पूँजीपतियों (Bourgeoisie) की दया पर थे जो अपनी श्रेणियों (Guilds) तथा निगमों (Corporations) के द्वारा उद्योग-धन्धों तथा व्यापार पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रखते थे। उन लोगों में मजदूरों की दशा विशेषकर बुरी थी, जिन्होंने क्रान्ति के दिनों में बड़ी गड़बड़ मचाई।

कृषक लोगों की संख्या देश में सबसे अधिक—समस्त जनता के ८⁄₁₀ के लगभग अर्थात २ करोड़ के लगभग थी परन्तु उनकी दशा सबसे अधिक खराब एवं दयनीय थी। उनमें से कोई दस लाख अर्ध-दास थे, शेष स्वतन्त्र थे, परन्तु फिर भी उनकी दशा अच्छी नहीं थी।† उन्हें राज्य, चर्च तथा जमींदार को अनेक प्रकार के कर तथा नज़राने देने पड़ते थे और इसके अतिरिक्त अपने जमींदार की अनेक सेवाएँ करनी पड़ती थीं। इन सब प्रकार की अदायगियों में किसान की आमदनी का ८० प्रतिशत

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 14.
† Hazen : The French Revolution, Vol. I, p. 79.

चला जाता था। इतना ही नहीं, अन्य प्रकार से भी वे बड़े तंग थे। उन्हें अपना अनाज ज़मींदार की चक्की पर पीसना पड़ता था, अपने जैतून का तेल ज़मींदार के कोल्हू में पेरना पड़ता था, अपनी रोटी ज़मींदार के तन्दूर में सेकनी पड़ती थी, और मांस के लिये अपने पशुओं का वध भी ज़मींदार के बूचड़खाने में करना पड़ता था। इन सब कामों के लिये उसे अपने गाँव से प्रायः कई मील दूर जाना पड़ता था जिसमें बड़ा समय नष्ट होता था। यह कार्य भी मुफ्त नहीं होता था, इसके लिये भारी फीस देनी पड़ती थी। ज़मींदारों का जो विशेषाधिकार कृषकों को सबसे अधिक अखरता था, वह था शिकार करने का एकाधिकार। ज़मींदार का शिकार किसानों के खेतों में घुस जाता था, पर बेचारा किसान उसे उसमें से निकाल नहीं सकता था। शिकारी आते थे, उनके घोड़े खड़ी फ़सलें नष्ट कर देते थे, पर बेचारा किसान चूँ तक नहीं कर सकता था।

इस प्रकार फ्रेंच समाज में सर्वत्र महान् असमानता व्याप्त थी और पद, प्रतिष्ठा तथा उन्नति के अवसरों में जनता के विभिन्न वर्गों में बड़े विषम भेद विद्यमान थे। साथ ही जनता को साधारण नागरिक अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। उसे धार्मिक स्वतन्त्रता नहीं थी जिसकी ऊपर चर्चा की जा चुकी है। लोगों को अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता भी नहीं थी। छापेखानों के ऊपर बड़े नियन्त्रण थे और किसी पुस्तक या समाचारपत्र में कोई लेख सरकारी निरीक्षक की अनुमति के बिना छापा या प्रकाशित नहीं किया जा सकता था। न उन्हें सभा-सोसायटी बनाने या सार्वजनिक सभाएं करने तथा उनमें भाषण देने की स्वतन्त्रता ही थी। यहाँ तक कि, जैसा आप ऊपर देख चुके हैं, किसी व्यक्ति को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी नहीं थी। सरकारी कर्मचारी अथवा राजा के कृपापात्र मुद्रायुक्त पत्रों द्वारा किसी को भी गिरफ्तार कर सकते थे और उस पर मुक़द्दमा चलाये बिना उसे अनिश्चित काल के लिये कारागार में सड़ा सकते थे। ऐसी अवस्था में घोर असन्तोष होना और जनता का स्वतन्त्रता एवं समानता के लिये तरसना स्वाभाविक था।

बौद्धिक आन्दोलन—यह असन्तोष मौन नहीं था। एक शताब्दी से फ्रान्स में बड़े-बड़े प्रतिभाशाली लेखक और विचारक सामाजिक जीवन की इन कठिनाइयों और बुराइयों पर प्रकाश डाल रहे थे और उनकी कड़ी आलोचना कर जनता के असन्तोष, रोष तथा उनकी आकांक्षाओं को व्यक्त कर रहे थे। ऐसे अनेक विचारकों में मांतेस्क्यू, वोल्तेयर तथा रूसो मुख्य थे।

मांतेस्क्यू (१६८५-१७५५)—मांतेस्क्यू स्वयं कुलीन था और बोर्दो की पार्लमां का न्यायाधीश था। उसने विदेशों में खूब भ्रमण किया था और इंगलैंड में कुछ वर्ष रह कर वहाँ के संविधान का अच्छी तरह अध्ययन किया था। उसने सांविधानिक सम-

स्थाओं का गम्भीर अध्ययन किया था जिसका निचोड़ उसने एक पुस्तक (Spirit of Laws) में प्रकाशित किया। उसने राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त और पुरातन संस्थाओं के प्रतिष्ठित एवं प्राचीन होने के कारण ही पवित्रता एवं अभेद्यता के उनके दावे का बड़े तिरस्कारपूर्वक खण्डन किया। उसने फ्रेंच संस्थाओं एवं रीति-रिवाजों की बड़े व्यंगपूर्वक कड़ी आलोचना की और इंगलैंड की संस्थाओं से उनकी तुलना करके उन्हें हेय बतलाया। उसका कथन था कि इंगलैंड का शासन संसार में सर्वोत्तम था, क्योंकि वहाँ जनता की स्वतन्त्रता सुरक्षित थी। इसका कारण यह था कि वहाँ शासन राजा का निरंकुश एकतन्त्र नहीं, वरन् जनता के प्रतिनिधियों की सभा (पार्लामेंट) द्वारा मर्यादित एकतन्त्र था। उसने यह भी बतलाया कि जनता की स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक है कि शासन की विभिन्न शक्तियाँ—कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका—पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के हाथों में हों। परन्तु फ्रान्स में सभी शक्तियाँ एक ही व्यक्ति (राजा) के हाथों में केन्द्रित थीं जो पृथ्वी पर किसी के प्रति भी उत्तरदायी नहीं था। इसी कारण फ्रान्स की जनता स्वतन्त्रता से वंचित थी। इस प्रकार उसने शक्ति-पार्थक्य के प्रसिद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसके समय में तो इस सिद्धान्त का कोई प्रभाव नहीं हुआ परन्तु उसके बाद अमेरिका में और क्रान्ति के बाद निर्मित फ्रान्स के संविधानों के निर्माण में उसने बड़ा प्रभाव डाला। इस प्रकार उसने एकतन्त्र की निन्दा कर स्वतन्त्रता के लिये राजा की शक्तियों पर मर्यादाएँ लगाना आवश्यक बतलाया।

वोल्तेयर (१६६४-१७८७)—वोल्तेयर समस्त लेखकों में सबसे अधिक प्रभावशाली था। वह मध्यम वर्ग का था और अपने समय की अन्यायी व्यवस्था का शिकार बन कर कई बार कारागार का दण्ड भोग चुका था। उसे कई वर्ष तक फ्रान्स से भाग कर बाहर रहना पड़ा था। उसने तत्कालीन समाज की दशा का खूब अध्ययन किया था। पग-पग पर अत्याचार, अन्याय, निर्दयता, शोषण आदि के उसे जो दर्शन हुए, उससे वह बड़ा दुःखी हुआ और उसने अपनी पुस्तिकाओं, लेखों, व्यंगात्मक कृतियों, पत्रों आदि में अपने विचार प्रकट किये और सुधार की आवश्यकता पर जोर दिया। उसके आक्रमण अत्याचार, अन्याय, असहिष्णुता तथा अन्धविश्वास पर होते थे परन्तु उसकी मुख्य चोट कैथोलिक चर्च पर हुई जिसे वह अन्धविश्वास एवं असहिष्णुता का गढ़ तथा विचार-स्वातन्त्र्य का कट्टर शत्रु समझता था। वह प्रत्येक वस्तु को बुद्धि की कसौटी पर कसने और इस प्रकार पूरी उतरने पर ही ग्रहण करने पर जोर देता था। स्पष्टतः फ्रान्स की राजनीतिक संस्थाएँ क़ानून, चर्च के रीति-रिवाज आदि बुद्धि की कसौटी पर बिलकुल नहीं कसे जा सकते थे। फलतः उसके लेखों के प्रभाव से राज्य तथा चर्च के लिये जनता के हृदय में जो आदर-भावना थी और उनका उस पर जो प्रभाव था उसमें निर्बलता आ गई। उसके विचार गहन नहीं थे परन्तु उसने अपनी

प्रभावकारी शैली से इन विचारों का बड़ा प्रचार किया। राजनीति में उसके विचार उदार या प्रजातन्त्रीय नहीं थे। उसे प्रजा की सुधार कर सकने की शक्ति में बिलकुल विश्वास नहीं था। वह आवश्यक सुधार करने के लिये राजा को ही उपयुक्त समझता था। प्रशा के महान् फ्रेडरिक के प्रबुद्ध निरंकुश शासन को वह शासन का आदर्श रूप मानता था।

रूसो (१७१२-१७७८)—रूसो वोलतेयर से भिन्न था। वोल्तेयर तो बुद्धि-प्रधान था परन्तु रूसो भावना-प्रधान था। वोल्तेयर केवल दूषित संस्थाओं का विध्वंस चाहता था, रूसो एक नवीन समाज का संगठन करना चाहता था। वह जनीवा के एक घड़ी-साज का पुत्र था। उसके पिता का गार्हस्थ्य जीवन बड़ा कलुषित था जिसका उस पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। उसे स्वयं जीवन में बड़े धक्के खाने पड़े और दुःख उठाने पड़े। उसके विचारों में एकसूत्रता नहीं थी और आज तक उसके वास्तविक मन्तव्यों के विषय में एक मत नहीं हो सका है। उसका मुख्य ग्रन्थ सोशल कन्ट्राक्ट (Contrat Social) है। इस पुस्तक का आरम्भिक वाक्य है—'मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ था, परन्तु वह सर्वत्र शृंखलाओं में जकड़ा हुआ है।' ऐसा क्यों है और मनुष्य का बन्धन किस प्रकार न्याय्य हो सकता है; इन प्रश्नों का उत्तर उसने इस पुस्तक में देने का प्रयत्न किया है। उसका सारांश यह है कि समाज का निर्माण व्यक्तियों के समझौते से हुआ है। बहुत प्राचीन काल में मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में रहता था जिसकी असुविधाओं से मुक्ति पाने के लिये लोगों ने समझौता करके एक शासन के अधीन रहना स्वीकार कर लिया ताकि उनका जीवन तथा उनकी सम्पत्ति सुरक्षित रह सके। उसके विचार में वर्तमान समझौता अन्यायपूर्ण था क्योंकि उसमें विशेषाधिकारयुक्त वर्ग को अनुचित लाभ प्राप्त थे। इस कारण वह चाहता था कि लोग आधुनिक समाज को नष्ट कर फिर प्राकृतिक अवस्था में पहुँच जांय और एक नया तथा अधिक सन्तोषजनक समझौता करके एक नवीन समाज की सृष्टि करें। उसका सिद्धान्त था कि जनता ही सर्वोपरि है, समस्त सत्ता उसी के हाथ में है, किसी एक व्यक्ति या वर्ग के हाथों में नहीं। सब व्यक्ति स्वतन्त्र और समान हैं और शासन का मुख्य कार्य प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना है। सार्वभौमिकता जनता की इच्छा में निहित है और वह राज्य के क़ानून में व्यक्त होती है। क़ानूनों का पालन करने में व्यक्ति अपनी ही सदिच्छा का पालन करते हैं और इस प्रकार वे दिखाई तो बन्धन में देते हैं परन्तु वास्तव में स्वतन्त्र हैं। जनता की इच्छा सदैव सही होती है और प्रत्येक व्यक्ति को उसका पालन करना चाहिये। उसके सिद्धान्त में अनेक दोष हैं जिनमें से सबसे बड़ा दोष यह है कि उसके द्वारा प्रतिपादित राज्य में अल्पमत को बहुमत के अत्याचार से कोई सुरक्षा प्राप्त नहीं होती। उसे इसमें कोई बुराई नहीं दिखाई देती। वह यह भूल जाता

है कि बहुमत का अत्याचार भी उतना ही बुरा और कष्टदायक हो सकता है जितना एक अत्याचारी शासक का। उसके विचारों में अनेक त्रुटियाँ होते हुए भी उसने दो महान् सिद्धान्तों—जनता की सार्वभौम सत्ता तथा समस्त नागरिकों की राजनीतिक समानता—का प्रतिपादन किया जो तत्कालीन योरोपियन राज्यों के लिये घातक थे और जिन्होंने लोगों को बड़ा प्रभावित किया।* उस निरंकुश शासन के युग में ये सिद्धान्त बड़े आकर्षक सिद्ध हुए। रूसो के अनुयायी उग्र क्रान्तिकारी बन गये, जिन्होंने फ्रेंच संस्थाओं को समूल नष्ट करके उनके स्थान पर नयी संस्थाओं के निर्माण का बीड़ा उठाया। क्रान्ति की प्रगति पर इन विचारों का बड़ा प्रभाव रहा और आज तक उनका प्रभाव अक्षुण्ण बना हुआ है।†

दिदरो का विश्वकोष—उपर्युक्त तीन लेखकों के समान किसी भी अन्य फ्रेंच लेखक ने भावी पीढ़ियों का ध्यान आकर्षित नहीं किया परन्तु उन दिनों फ्रान्स में अनेक ऐसे प्रभावशाली लेखक और विचारक हुए जिनका प्रभाव तात्कालिक था और जिन्होंने क्रान्ति की भावना को जन्म दिया। उनमें से एक था 'विश्वकोष' (Encyclopedia) का सम्पादक दिदरो (१७१३-१७८४)। दिदरो का विश्वास था कि सत्य ज्ञान से सभी दोषों का निराकरण और सुख की वृद्धि हो सकती है। अतः उसने विश्वकोष का सम्पादन आरम्भ किया ताकि विभिन्न विषयों पर सरल एवं सुगम रीति से प्रकाश डाला जा सके और लोगों को उनका सत्य ज्ञान प्राप्त हो सके। यह विश्वकोष १७५१ से १७७२ तक १७ खण्डों में प्रकाशित हुआ। उसमें कई लेख स्वयं दिदरो के लिखे हुए थे। इस कार्य में उसे बड़े-बड़े लेखकों का सहयोग प्राप्त हुआ। उसमें वोल्तेयर ने इतिहास पर, दालम्बर्त (d'Alembert) ने गणित पर तथा केसने ने अर्थशास्त्र पर लेख लिखे। दिदरो का यह प्रयत्न सत्य का उद्घाटन करने के कारण सरकार तथा चर्च को बड़ा खतरनाक मालूम हुआ। दिदरो को सरकार ने बड़ा परेशान किया और उसे कारावास भी भोगना पड़ा परन्तु उसका प्रयत्न चलता रहा। इस विश्वकोष में अन्य अनेक विषयों के साथ एकतन्त्र शासन, सामन्त-प्रथा, कर-पद्धति, अन्धविश्वास, असहिष्णुता, क़ानून, दास-प्रथा आदि पर बड़े विशद रूप में विचार किया गया जिससे जनता के सामने उनके सही रूप तथा उनके गुण-दोष प्रकट हुए। जो कार्य वोल्तेयर अकेला कर रहा था उसमें इस विश्वकोष से बड़ी सहायता मिली।

---

* Hazen : The French Revolution, Vol. I, p. 104.

† नेपोलियन ने एक समय कहा था कि यदि रूसो न होता तो क्रान्ति भी नहीं होती। यह सत्य है कि रूसो के बिना क्रान्ति की दिशा दूसरी ही होती। Marriott : The Remaking of Modern Europe, 181.)

अर्थशास्त्री—इस विश्वकोष का एक सहयोगी लेखक केसने (Quesney) था जो उस समय के अर्थशास्त्रियों (Physiocrats) का नेता था। उसके साथियों में क्रान्तिकारी नेता मिरोबो का पिता भी था और सोलहवें लुई का अर्थ-मन्त्री तुर्गो भी उसके सिद्धान्तों का आदर करता था। इन अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि राष्ट्र की सम्पत्ति की उत्पत्ति कृषि और खानों से होती है; व्यापारी तथा वस्तुएँ बनानेवाले सम्पत्ति का उत्पादन नहीं करते, वे केवल उनका विनिमय करते हैं या उनका रूप बदलते हैं। अतः व्यापार तथा उद्योग-धन्धों का सरकारी नियन्त्रण केवल अस्वाभाविक ही नहीं, प्रत्युत राष्ट्र के सर्वोच्च आर्थिक हितों अर्थात् कृषि के हितों के लिये हानिकारक है। सरकारी नियन्त्रण कम से कम होना चाहिये और व्यापार तथा उद्योग-धन्धों को स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये (Laissez Faire)। उनके विचार में पूर्णतया मुक्त व्यापार तथा सार्वलौकिक शिक्षा की व्यवस्था की तात्कालिक आवश्यकता थी और अन्य सब प्रकार के करों को उठाकर केवल भूमि-कर रखना उचित था। इन अर्थशास्त्रियों का क्रान्ति की प्रगति पर काफ़ी प्रभाव पड़ा था, परन्तु वोल्तेयर तथा रूसो के अनुयायियों के समान वे कभी प्रभावशाली नहीं रहे।

इन लेखकों का प्रभाव तो बड़ा ज़बरदस्त था ही, उनके अतिरिक्त उस समय अनेक लोग अपने समय की समस्याओं पर विचार करते थे और छोटी-छोटी पुस्तकों तथा पुस्तिकाओं में अपने विचार प्रकट करते थे। लोग उन्हें पढ़ते थे, उन पर विचार करते थे और वादविवाद करते थे। इस प्रकार जनता का ध्यान सामाजिक एवं राजनीतिक अन्यायों की तरफ आकर्षित हो रहा था और उसमें एक अभूतपूर्व हलचल मच रही थी। इस प्रकार इस बौद्धिक आन्दोलन के फलस्वरूप तत्कालीन व्यवस्था के दोष प्रकाशित हुए, जनता सब बातों को सशङ्क एवं आलोचनात्मक दृष्टि से देखने लगी और तत्कालीन व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिये मनोवैज्ञानिक आधार तैयार हो गया।

बौद्धिक आन्दोलन का प्रभाव—किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि क्रान्ति के जन्मदाता ये लेखक तथा विचारक थे। क्रान्ति का स्रोत तो उस समय के राष्ट्रीय जीवन के दोषों में तथा सरकार की भूलों में था।* उन्होंने दोषों को प्रकाशित किया, जनता का ध्यान उनकी ओर आकर्षित करके उन पर बहस करने के लिये उसे प्रेरित किया और उसमें जोश उत्पन्न किया। जिस साहित्य से सारा देश आप्लावित हो रहा था, वह एक नवीन प्रकार का साहित्य था। वह राजनीतिक एवं आलोचनात्मक था और उसमें प्रचलित राजनीतिक विचारों एवं सिद्धान्तों का बड़ा आलोचनात्मक अध्ययन किया गया था। वह विश्लेषणात्मक था और उसमें सब प्रकार के विचारों

---

* Hazen : The French Revolution, Vol I, p. 105.

एवं संस्थाओं का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण करके ज़रा-ज़रा सी बातें खोल कर जनता के सामने रख दी गई थीं। इस साहित्य में प्राचीन प्रतिष्ठित बातों के लिये ज़रा भी आदर-भावना नहीं थी, बल्कि उनके प्रति बड़ी घृणा प्रकट की गई और उनका उपहास करके तत्कालीन व्यवस्था के आधार को निर्बल बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी गई। इस प्रकार यह साहित्य विनाशकारी था। उसने लोगों के विश्वास को हिला दिया, उनके दृष्टिकोण को बदल दिया और क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लिये तैयार कर दिया। परन्तु वह केवल विनाशकारी ही नहीं, रचनात्मक भी था। इन लेखकों ने अपने विचार प्रकट करके क्रान्ति के नेताओं को तैयार किया, उन्हें कुछ सिद्धान्तों की शिक्षा दी तथा उपयुक्त तर्कों और सूत्रों से सुसज्जित किया, उनके मस्तिष्कों को एक विशेष ढाँचे में ढाला, उनके सामने कुछ आदर्श रखे और उनमें भूमि पर स्वर्ग का निर्माण करने की आशा का संचार किया।

अमेरिका का प्रभाव—इस प्रकार फ़ान्स क्रान्ति के लिये तैयार था। उन्हीं दिनों उत्तरी अमेरिका के अङ्गरेजी उपनिवेशों ने इङ्गलैण्ड के विरुद्ध विद्रोह कर दिया (१७७५) और आठ वर्ष के लम्बे संघर्ष के बाद इङ्गलैण्ड के अत्याचार से स्वतन्त्रता प्राप्त की (१७८३)। फ़ान्स ने इङ्गलैण्ड के विरुद्ध उपनिवेशों की सहायता की और अपनी पराजय का प्रतिशोध लिया, परन्तु यह प्रतिशोध स्वयं उसी के लिये घातक प्रमाणित हुआ। फ़ान्स के स्वयंसेवक सैनिक अमेरिका में जाकर लड़े थे और लोगों को अत्याचार के विरुद्ध लड़कर उससे मुक्ति पाते हुए तथा अपने ही विचारकों—रूसो तथा मांतेस्क्यू—के सिद्धान्तों को कार्यान्वित होते हुए देख कर फ़ान्स लौटे थे। अमेरिका की स्वतन्त्रता के युद्ध का असर फ़ान्सवासियों पर पड़े बिना न रहा और उनमें भी निरंकुश शासन का अन्त करके एक नवीन स्वतन्त्र राष्ट्र के निर्माण के लिये उत्साह उत्पन्न हुआ। इसके अतिरिक्त फ़ान्स की आर्थिक व्यवस्था वर्षों से खराब चली आ रही थी। इस युद्ध के भारी खर्च से वह ऐसी बिगड़ी कि अनेक प्रयत्न करने पर भी नहीं सुधरी और अन्त में क्रान्ति के श्रीगणेश का तात्कालिक कारण बन गई।*

इंगलैण्ड का प्रभाव—अमेरिका के समान इंगलिश चैनल के पार इङ्गलैण्ड की घटनाओं का भी फ़ान्स पर काफ़ी प्रभाव पड़ा था। आयर्लैण्डवालों ने, जो एक शताब्दी से अमेरिकावालों से भी अधिक कष्टदायक नियन्त्रणों से पीड़ित थे, संघर्ष करके १७७९ से १७८२ तक उन नियन्त्रणों में काफ़ी कमी करवाली थी। यह तो एक तात्कालिक घटनामात्र थी जिसने फ़ान्सवालों के सामने मुक्ति प्राप्त करने का एक

---

* F. J. C Hearnshaw : Main Currents of European History, p. 45.

क्रियात्मक उदाहरण प्रस्तुत किया था। परन्तु इससे भी गहरी प्रेरणा उन्हें इङ्गलैण्ड की राजनीतिक विचारधारा तथा उसके सांविधानिक इतिहास से प्राप्त हुई थी। मांतेस्क्यू इंगलैण्ड के सांविधानिक शासन से बड़ा प्रभावित हुआ था और उसे यह विश्वास हो गया था कि इंगलैण्ड के नागरिकों की स्वतन्त्रता वहाँ के मर्यादित एकतन्त्र के ही कारण थी। इंगलैण्ड के सुप्रसिद्ध विचारक लॉक (Locke) का शक्ति-पार्थक्य का सिद्धान्त मांतेस्क्यू के इसी नाम के सिद्धान्त पर आधारित था। लॉक का प्रभाव रूसो पर भी काफ़ी था। उसने लॉक के ही 'सम्मति पर आधारित शासन' के सिद्धान्त को विकसित करके 'जनता के प्रभुत्व-सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया था। १६८८ में इंगलैण्ड में रक्तहीन राजनीतिक क्रान्ति के फलस्वरूप जो सांविधानिक शासन स्थापित हुआ उसकी तुलना में फ्रान्सवालों को अपना निरंकुश एकतन्त्र असह्य प्रतीत होने लगा। फ्रान्स के अर्थशास्त्रियों पर भी, जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया है, इङ्गलैण्ड के प्रख्यात अर्थ-शास्त्री स्मिथ का बड़ा भारी प्रभाव था।

क्रान्ति का आरम्भ फ्रान्स में क्यों हुआ?—इस प्रकार हम देखते हैं कि फ्रान्स में इस समय एक साथ ही कई ऐसी बातें विद्यमान थीं जो किसी देश को क्रान्ति की ओर ले जाती हैं – निरंकुश किन्तु निर्बल एकतन्त्र; भ्रष्ट, सांसारिक चर्च; पराश्रयी, कर्तव्यहीन तथा अत्याचारी कुलीन वर्ग; शिक्षित, सम्पन्न किन्तु असन्तुष्ट मध्यम वर्ग; पीड़ित तथा दलित कृषक वर्ग; ख़ाली और क़र्ज़ में लदा हुआ राज्य-कोष; शासन तथा आर्थिक व्यवस्था में अराजकता; कुशासन एवं पारस्परिक शंका से विभक्त राष्ट्र; प्रगतिशील विचार तथा उच्च कोटि की सभ्यता।

फ्रान्स के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में अनेक बुराइयाँ थीं, किन्तु केवल इन बुराइयों के ही कारण क्रान्ति नहीं हो सकती थी। योरोप के अन्य देशों में भी यही हाल था, बल्कि वहाँ कई बातों में इससे भी ख़राब दशा थी। प्रशा, ऑस्ट्रिया, पोलैण्ड, रूस आदि देशों में उस समय भी कृषक अर्ध-दास अवस्था में थे और सामन्त पद्धति विद्यमान थी। फ्रान्स में अधिकांश कृषक स्वतन्त्र थे और अन्य देशों के कृषकों की अपेक्षा उनकी दशा अच्छी थी। इसके साथ ही फ्रान्स में सामन्त प्रथा भी भग्न दशा में थी। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में रिशल्यू (Richelieu) ने कुलीनों की राजनीतिक सत्ताएँ छीन ली थीं। इस प्रकार सामन्तवाद का राज-नीतिक रूप नष्ट हो चुका था परन्तु उसका सामाजिक रूप विद्यमान था। कुलीनों के विशेषाधिकार अब भी मौजूद थे, यद्यपि अब वे अपने कर्तव्य नहीं करते थे। जब तक कुलीन लोग शासन करते थे, अपनी प्रजा की रक्षा करते थे और उनकी आवश्यकताओं का ध्यान रखते थे, तब तक उनकी स्थिति मजबूत थी और उन्हें कोई भय नहीं था। परन्तु अब न तो वे शासन करते थे और न अपनी प्रजा के साथ अपनी जागीर में ही रहते थे। इसके साथ ही कृषक स्वतन्त्र थे और अपनी भूमि के स्वामी थे। ऐसी दशा

में उनके विशेषाधिकार कृषकों को अखरते थे। क्रान्ति सामन्त-पद्धति के नहीं वरन् उसके जीर्ण-शीर्ण अवशेषों के नाश पर तुली हुई थी।*

कृषकों की संख्या कुल जनसंख्या की ८० प्रतिशत से अधिक थी परन्तु यह बहुसंख्यक असन्तुष्ट कृषक वर्ग क्रान्ति नहीं कर सकता था। उसे नेतृत्व की आवश्यकता थी। यह नेतृत्व उसे मध्यम वर्ग से मिला जो ब्रिटेन तथा हॉलैण्ड को छोड़ अन्य देशों के मध्यम वर्ग से कहीं अधिक बड़ा, सुशिक्षित एवं सम्पन्न था। उस समय के बौद्धिक आन्दोलन के नेता इसी वर्ग के थे और उनके विचार प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी थे। वे अपनी स्थिति से असन्तुष्ट थे और उसमें सुधार चाहते थे। वे देश की विशाल पीड़ित जनता के स्वाभाविक नेता थे। इस प्रकार फ्रान्स में क्रान्ति के लिये आवश्यक नेतृत्व विद्यमान था जिसका अन्य देशों में अभाव था। इसके साथ ही अन्य देशों के लोगों की अपेक्षा फ्रान्स के लोग सामान्यतया अधिक उन्नत विचारवाले थे। इस कारण उन्हें बुराइयाँ अधिक अखरती थीं। ऐसा राष्ट्र ही जो नये विचार ग्रहण कर सके, मांतेस्क्यू, वोल्तेयर, रूसो जैसे व्यक्तियों को उत्पन्न कर सकता है और उत्पन्न कर उनकी बातों को सुन सकता है। अन्य किसी देश में लोकमत इतना जाग्रत और आलोचनात्मक नहीं था परन्तु आलोचकों को प्रतिनिधि-सभाओं के अभाव में अपने सिद्धान्तों को शासन के काम में लागू करने के अवसर प्राप्त नहीं थे। इस प्रकार कृषकों की सापेक्ष दृष्टि से अच्छी अवस्था, सुशिक्षित एवं सुयोग्य मध्यम वर्ग के नेतृत्व तथा सामान्यतया उच्चकोटि की सभ्यता के कारण ही क्रान्ति सर्वप्रथम फ्रान्स में हुई।†

---

* Lodge : A History of Modern Europe, pp. 474-75.

†Marriott : The Remaking of Modern Europe, pp. 14-15, and Ketelbey : A History of Modern Times, pp. 25-26.

अध्याय ५

क्रान्ति का प्रारम्भ

राष्ट्रीय (संविधान) सभा
National (Constituent) Assembly
(मई १७८९—सितम्बर १७९१)

एस्टेट्स-जनरल के तीन विभाग थे जिनमें कुलीन वर्ग, पादरी वर्ग तथा सर्वसाधारण वर्ग के प्रतिनिधि अलग-अलग बैठ कर मत देते थे। तीनों वर्गों के प्रतिनिधियों की संख्या प्रायः बराबर थी। इस व्यवस्था में कुलीन वर्ग तथा पादरी वर्ग के दो मत हो जाते थे और सर्वसाधारण वर्ग का अल्पमत रह जाता था। जनता इस स्थिति से असन्तुष्ट थी। यह देख कर नेकर ने सर्वसाधारण जनता के प्रतिनिधियों की संख्या दुगुनी कर दी जिससे उनके लिये कुछ छोटे पादरियों तथा प्रगतिशील विचारों के रईसों के समर्थन से बहुमत प्राप्त कर लेना सरल हो गया। परन्तु सभा के तीनों विभाग अलग-अलग बैठ कर विचार करेंगे या एक साथ बैठ कर, इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर वह मौन रहा।

एस्टेट्स-जनरल का चुनाव—१७८९ की वसन्त ऋतु में देश में सामान्य निर्वाचन हुआ। देश के प्रत्येक विभाग में समाज के तीनों वर्गों के प्रौढ़ मतदाताओं ने अपनी-अपनी शिकायतों एवं आदेशों के स्मृति-पत्र (Cahiers) तैयार किये और अपने-अपने वर्ग के प्रतिनिधि चुने। ऐसे स्मृति-पत्र हज़ारों की संख्या में थे। परन्तु किसी भी स्मृति-पत्र में एकतन्त्र के या बूर्बो वंश के विरुद्ध कोई शिकायत नहीं थी। प्रत्येक वर्ग की माँगें अलग-अलग थीं परन्तु कई बातों में तीनों वर्गों की माँगें समान थीं। प्रायः सभी में सांविधानिक शासन की अर्थात् एक संविधान द्वारा शासन की मर्यादाएँ स्थिर करने और राजा तथा जनता के अधिकारों को निश्चित करने की, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, भाषण तथा लेखन की स्वतन्त्रता, मुद्रायुक्त पत्रों के व्यवहार के अन्त, एस्टेट्स-जनरल के नियमित अधिवेशन तथा क़ानून बनाने और कर स्वीकृत करने के उसके अधिकार, क़ानून के सामने सबकी समानता, सरकारी नौकरियों का द्वार सब के लिये समान रूप से खुले रहने, करों को सबसे समान रूप से वसूल करने आदि की माँगें थीं। सर्वसाधारण वर्ग कुलीनों का सम्मान और उनके अधिकारों को छीनना नहीं चाहता था परन्तु सामन्तीय विशेषाधिकारों एवं करों से जो मुक्ति उन्हें प्राप्त थी उसका अन्त करना चाहता था। आश्चर्य की बात तो यह थी कि पादरी वर्ग तथा कुलीन वर्ग भी करों से जो मुक्ति उन्हें अभी तक प्राप्त थी उसका त्याग करने के लिये

तैयार था । इस प्रकार सभी वर्ग काफी सुधार चाहते थे और आशा करते थे कि अब समस्त भेद-भाव मिट जायगा, समस्त वर्गों के दिल मिल जायेंगे और राष्ट्र का उस दयनीय अवस्था से उद्धार हो जायगा ।*

प्रथम अधिवेशन—५ मई १७८९ को एस्टेट्स-जनरल का अधिवेशन हुआ । उसमें कुल मिलाकर १,२०० के लगभग सदस्य थे । सदस्यों को राजनीतिक अनुभव नहीं था परन्तु यदि राजा उनका कुशलतापूर्वक नेतृत्व करता तो सारी समस्याएँ सरलता से सुलझ जातीं और कोई गड़बड़ नहीं होती । जैसा स्मृति-पत्रों से मालूम होता है, एस्टेट्स-जनरल का शासन को पलटने तथा एकतन्त्र और कुलीन वर्ग के विनाश का इरादा नहीं था । परन्तु उसे यह आशा थी कि उसके सामने सुधार के प्रस्ताव पेश किये जायेंगे जिनको स्वीकार करके वह शासन का सुधार कर सकेगी और आर्थिक व्यवस्था ठीक कर सकेगी । यदि सरकार सुधार की योजना उसके सामने रखती तो इसमें कोई शंका नहीं थी कि सभा उस पर विचार करती, शायद उसमें संशोधन करती और उसे स्वीकार कर लेती । परन्तु न राजा और न नेकर ही इस बात को समझ पाये । राजा उसे केवल परामर्श देनेवाली सभा समझता था और अपने विशेषाधिकारों को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहता था । नेकर ने भी कोई सुधार-योजना सभा के सामने न रखी और आरम्भ से ही गड़बड़ होने लगी ।

संघर्ष का श्रीगणेश—दूसरे ही दिन ६ मई को यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि सदस्य किस प्रकार मत देंगे—अलग-अलग भवनों में या सब एक साथ एक भवन में । कुलीन वर्ग तथा पादरी वर्ग ने अपने-अपने भवन का अलग निर्माण कर लिया परन्तु सर्वसाधारण वर्ग ने अलग बैठने से इन्कार कर दिया । तनाव बढ़ा परन्तु सरकार ने स्थिति को सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं किया । कोई डेढ़ महीने तक गतिरोध बना रहा और कोई काम नहीं हुआ । सर्वसाधारण वर्ग ने बार-बार अन्य वर्गों को उसके साथ बैठने के लिये आमन्त्रित किया परन्तु वे अड़े रहे । धीरे-धीरे छोटे पादरी सर्वसाधारण वर्ग के पास आने लगे और १६ जून को सर्वसाधारण वर्ग के प्रतिनिधियों ने अपने आप को राष्ट्रीय सभा (National Assembly) घोषित करके एक क्रान्तिकारी क़दम उठाया । उन्होंने अन्य वर्गों के प्रतिनिधियों को राष्ट्रीय सभा में सम्मिलित होने के लिये फिर आमन्त्रित किया । यह क़दम वास्तव में क्रान्तिकारी था क्योंकि पुराने संविधान में इसके लिये कोई व्यवस्था नहीं थी ।†

इस पर दरबारियों के प्रभाव में आकर लुई ने सेना भेज कर सभा-भवन को बन्द कर दिया (२० जून) । जब सर्वसाधारण वर्ग के सदस्य वहाँ पहुँचे और उन्होंने

---

* J. M. Thompson : The French Revolution, p p. 10-13.

† Hazen : The French Revolution, Yol. I, p. 227.

सभा-भवन बन्द पाया तो उन्होंने पास ही के टेनिस के मैदान में एकत्रित होकर शपथ ली कि जब तक हम अपने देश के लिये एक नया संविधान नहीं बना लेंगे तब तक विसर्जित नहीं होंगे। लुई ने सभा-भवन बन्द करके बड़ी भूल की थी। अब भी यदि वह दरबारियों के प्रभाव से मुक्त होकर सर्वसाधारण वर्ग का साथ देता तो फ्रान्स का इतिहास दूसरा ही होता परन्तु वह दुराग्रही दरबारियों के प्रभाव में बना रहा और ग़लती पर ग़लती करता रहा।

२३ जून को उसने तीनों वर्गों की सम्मिलित सभा की और उसके सामने एक लम्बी-चौड़ी सुधार-योजना प्रस्तुत की, परन्तु इसके साथ ही सर्वसाधारण वर्ग के उस समय तक के कामों को असांविधानिक एवं ग़लत बता कर राष्ट्रीय सभा को स्वीकार करने से इन्कार करके तीनों भवनों को अलग-अलग अपने अधिवेशन करने का आदेश दिया। कुलीन वर्ग तथा पादरी वर्ग उठ कर चला गया परन्तु सर्वसाधारण वर्ग बैठा रहा। जब राजा के कर्मचारी ने उसे चले जाने को कहा तो उसके एक कुलीन-वर्गीय नेता मिराबो ने उत्तर दिया कि अपने स्वामी से जाकर कह दीजिये कि हम यहाँ जनता की शक्ति से उपस्थित हैं और तलवार की नोंक पर ही यहाँ से हट सकते हैं।

जनता की प्रथम विजय—लुई की स्थिति बड़ी कठिन थी। धीरे-धीरे कई पादरी और प्रगतिशील विचारों के कुछ कुलीन लोग राष्ट्रीय सभा में सम्मिलित हो गये। लुई को दबना पड़ा और १६ जून को उसने कुलीन वर्ग को सर्वसाधारण वर्ग के साथ बैठने का आदेश दिया। यह जनता की पहली विजय थी। उस दिन राजा की सत्ता उसके हाथ से खिसक कर राष्ट्रीय सभा के हाथ में चली गई।*

राष्ट्रीय सभा—राष्ट्रीय सभा में सुधारवादियों का असंदिग्ध बहुमत था। सर्वसाधारण वर्ग तो सुधारवादी था ही, पादरियों का बहुमत तथा काफ़ी कुलीन भी उनके साथी थे। उनके हाथ में बड़ा महत्वपूर्ण अवसर था परन्तु उनमें व्यावहारिक अनुभव की बड़ी कमी थी और किसी को भी शासन की समस्याओं को हल करने का व्यावहारिक ज्ञान नहीं था। अतः वे प्रत्येक बात पर विशुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करते थे और उनकी योजनाएँ अव्यावहारिक होती थीं।

राष्ट्रीय सभा का कार्य संविधान-निर्माण था और इसके लिये आवश्यक था कि वह शान्तचित्त होकर गम्भीरतापूर्वक बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के विचार करती। परन्तु उन दिनों देश में बड़ा जोश था और पेरिस में उस समय असंख्य बेकार तथा बेघरबार लोग एकत्रित थे। दुर्भाग्यवश सभा पर इस भीड़ का दबाव पड़ने लगा और शान्त एवं गम्भीर विचार असम्भव हो गया। हम आगे चल कर देखेंगे कि पेरिस की इस भीड़ के प्राधान्य के कारण क्रान्ति का रूप विकृत हो गया।

* Schevill : A History of Europe, p. 134.

इसके लिये राजा तथा सभा दोनों ही उत्तरदायी थे। निरंकुश शासन के यकायक असफल हो जाने से शासन निर्बल हो गया था और सारे देश में अव्यवस्था फैल गई थी। लोग प्रायः सरकारी कर्मचारियों पर आक्रमण कर देते थे और उन्हें मार डालते थे। कृषक अपने भूमिपतियों की गढ़ियों को लूट लेते थे और जला देते थे। ऐसी स्थिति में राजा तथा सभा दोनों को परस्पर सहयोग करके शान्ति तथा व्यवस्था क़ायम रखने का प्रयत्न करना चाहिये था। परन्तु राजा अपनी रानी तथा दरबारियों के प्रभाव में था जो सभा की विजय के कारण उससे नाराज़ थे और सभा भी राजा तथा उसके दरबार के षड्यन्त्रों से डरती थी। इस प्रकार पारस्परिक शंका के कारण दोनों में सहयोग असम्भव हो गया और धीरे-धीरे स्थिति बिगड़ती गई।

बास्तिल का पतन—सभा की शंका निर्मूल नहीं थी। उसकी विजय से रुष्ट होकर राजा को दरबार-पार्टी ने सेना के बल पर अपने अधिकार को फिर से स्थापित करने के लिये राज़ी कर लिया। उसने पेरिस में सेना एकत्रित की ताकि जनता की भीड़ दबी रहे और वह अपने मन्त्री नेकर तथा सभा का विसर्जन कर सके। नेकर लोकप्रिय हो गया था। उसको बरखास्त करने की खबर से जनता में बड़ी उत्तेजना फैली। सेना को देखकर, जिसमें बहुत से विदेशी सैनिक थे, वह भड़क उठी। ११ जुलाई को नेकर बरखास्त कर दिया गया। इस पर जनता में जोश फैला और जगह-जगह दंगे होने लगे। भावी आपत्ति का सामना करने के लिये पेरिस के निर्वाचक-गण (जिन्होंने राष्ट्रीय सभा के लिये सदस्य चुने थे) एकत्रित हुए और नगर के शासन के लिये तथा राजा की सेना और उत्तेजित भीड़ से नगर की रक्षा करने के लिये आयोजन करने लगे। उन्होंने एक नागरिक रक्षक-दल बनाया; सरकारी शस्त्रागार से शस्त्र निकाल लिये और वे अपनी रक्षा के लिये तैयार हो गये। नागरिक रक्षक-दल से भी अधिक आश्वासन उन्हें पेरिस की राजकीय सेना से मिला। उसके सैनिक फ़्रेंच थे और क्रान्ति की भावना से परिपूर्ण थे। वे पेरिसवालों की तरफ शामिल हो गये। जोश बढ़ता गया और १४ जुलाई को एक भीड़ ने बास्तिल (Bastille) के पुराने क़िले पर, जो अब कारागार की तरह काम में आ रहा था और जिसे लोग अत्याचार का गढ़ समझते थे, आक्रमण कर दिया। पाँच घण्टे की लड़ाई के बाद जिसमें जनता के २०० व्यक्ति मारे गये, बास्तिल के क़िलेदार ने दरवाज़ा खोल दिया और हथियार डाल दिये। जनता के आनन्द का पारावार नहीं रहा। फ़्रांस में तथा उसके बाहर बास्तिल के पतन का स्वतन्त्रता की विजय तथा निरंकुश स्वेच्छाचारी एकतन्त्र के, जिसका वह प्रतीक समझा जाता था, विनाश के रूप में स्वागत हुआ। यह घटना निरंकुश शासन के अन्त की सूचक अवश्य थी परन्तु इसके साथ ही इससे यह भी सूचना मिल रही थी कि फ़्रान्स में भीड़ का शासन प्रारम्भ हो रहा है।

परिणाम—बास्तिल के पतन का तात्कालिक परिणाम तो यह हुआ कि

दरबारी-पार्टी समझ गई कि क्रान्ति की बाढ़ शस्त्र-बल से रोकी नहीं जा सकती। उसकी पराजय स्पष्ट थी। उसके उग्र सदस्य, जिनका नेता लुई का भाई आर्तुआ का काउण्ट (Count of Artois) था, देश छोड़ कर चले गये। राजा स्वयं पेरिस पहुँचा (१७ जुलाई)। जनता के हृदय में अभी भी राजा के प्रति भक्ति मौजूद थी। उसने उसका स्वागत किया। पेरिस की जनता ने अभी तक जो कुछ किया था, राजा ने उसे स्वीकार कर लिया, सेना को नगर से हटा लिया और नेकर को वापस बुला लिया। इस बीच में पेरिसवालों ने नगर के शासन के लिये कम्यून (नगरपालिका) स्थापित कर ली थी जिसका अध्यक्ष बैली (Bailly) था। नागरिक रक्षक-दल का भी ठीक तरह से संगठन कर लिया गया था और उसका नाम राष्ट्रीय रक्षक-दल (National Guard) रख दिया गया था जिसका संचालक लाफ़ायेत नियुक्त किया गया था। इसके साथ ही बूर्बोवंशीय सफ़ेद झण्डे की जगह उन्होंने एक तिरंगा (नीला, लाल तथा सफ़ेद) झण्डा स्वीकार कर लिया था। राजा ने इन सब बातों को भी स्वीकार कर लिया।

जब बास्तिल के पतन की खबर प्रान्तों में फैली तो सभी जगह लोगों ने पेरिस-वासियों का अनुकरण करके नगरपालिकाएँ स्थापित कर लीं तथा रक्षक-दल बना लिये। नगरों के बाहर गाँवों में कृषक सामन्तवाद के विरुद्ध उठ खड़े हुए। उन्होंने जागीरदारों की गढ़ियाँ लूट लीं और उनके सब पत्र जला दिये। लोगों ने मठों को भी लूट लिया। जगह-जगह राजकीय सेनाएँ भी जनता से जा मिलीं। इस प्रकार बास्तिल के पतन के परिणामस्वरूप पुरानी शासन-पद्धति तथा सामन्तवाद दोनों का पतन हो गया।

सामन्तवाद की अन्त्येष्टि— देश भर से इन बातों की सूचना राष्ट्रीय सभा को, जिसने अपना नाम अब संविधान सभा (Constituent Assembly) रख लिया था, मिलने लगी और उसका उत्साह बढ़ने लगा। उसका वातावरण भी बदल गया; समस्त सभा में सुधार की उमंग की बाढ़ आ गई। सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि इस प्रयत्न में कुलीनों ने नेतृत्व किया। सामन्तवाद की प्रथाओं से जनता को जो कष्ट था उसे उन्होंने स्वीकार किया और जो कर तथा नज़राने कृषक ज़मींदारों को देते थे उन्हें बन्द करने का प्रस्ताव किया। पादरियों ने भी अपने विशेषाधिकार छोड़ देने की घोषणा की। इसी प्रकार जिन-जिन लोगों के जो-जो विशेषाधिकार थे, उन-उन लोगों ने उन सबको त्याग देने की घोषणा की, हालांकि ऐसा करने में जो क्षति उनकी हो चुकी थी उसे उन्होंने अपनी ओर से त्याग का रूप दे दिया। उनके समस्त अधिकार छिन चुके थे। यदि वे उन्हें फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न करते तो भयंकर देशव्यापी गृह-कलह आरम्भ हो जाता जिसका परिणाम उनके लिये अधिक अनिष्टकारी होता। ४ अगस्त को कई प्रस्ताव स्वीकृत हुए जिनके फलस्वरूप सामन्तवाद के जितने अवशेष थे वे सब नष्ट हो गये। अर्ध-दास प्रथा, बेगार, जितने प्रकार की सेवा कृषक

लोग अपने भूमिपतियों की किया करते थे, जितने प्रकार के कर तथा नजराने वे दिया करते थे, भूमिपतियों का शिकार का एकाधिकार आदि जितनी भी कष्टप्रद बातें थीं, सब नष्ट हो गईं; चर्च को जो कर दिये जाते थे वे बन्द कर दिये गये; श्रेणियाँ (Guilds) बन्द कर दी गईं। क़ानून के सामने सब लोगों की समानता स्थापित हो गई। सरकारी पद योग्यता के आधार पर सबके लिये खुल गये और निःशुल्क न्याय सबके लिये सुलभ हो गया। इस प्रकार सामन्तवाद की अन्त्येष्टि हो गई, समस्त वर्ग-भेद नष्ट हो गये और समानता का सिद्धान्त राज्य तथा समाज का आधार बन गया।

आधारभूत अधिकारों की घोषणा—यह तो हुआ खण्डहरों को साफ़ करने का कार्य। संविधान-सभा को नव-निर्माण का कार्य भी करना था। सभा विनाश-कार्य में तो तेज़ थी किन्तु निर्माण-कार्य में उसकी गति धीमी थी। पुरानी व्यवस्था के स्थान पर नवीन व्यवस्था न होने से अराजकता अनिवार्य होती है, परन्तु यहीं सभा ने भूल की* और नवीन संविधान बनाने की जगह वह अपना समय व्यर्थ वाद-विवाद में नष्ट करती रही। उसने कई सप्ताह के वाद-विवाद के बाद २७ अगस्त को 'मनुष्य और नागरिक के आधारभूत अधिकारों' (Rights of Man and of the Citizen) की १७ धाराओं में घोषणा की। इन अधिकारों में स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, सुरक्षा तथा अत्याचार के विरोध का अधिकार, क़ानून के समक्ष समानता तथा क़ानून बनाने के कार्य में व्यक्ति को स्वयं या अपने प्रतिनिधि के द्वारा भाग लेने का अधिकार, ग़ैर-क़ानूनी गिरफ़्तारी से मुक्ति, धर्म, भाषण, लेखन तथा प्रकाशन की स्वतन्त्रता आदि मुख्य थे। इस प्रकार राष्ट्रीय सभा ने नवीन संविधान के आधारभूत सिद्धान्तों—स्वतन्त्रता, समानता तथा जनता के प्रभुत्व—की घोषणा की।†

नवीन संविधान—संविधान के निर्माण के लिये सभा ने ६ जुलाई को एक समिति नियुक्त की थी जिसने दो सिद्धान्तों—जनता की प्रभुता तथा शक्ति-पार्थक्य (कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका को पृथक् रखने का सिद्धान्त) के आधार पर नया संविधान तैयार किया। इस संविधान में मौंतेस्क्यू के विचारों का प्रभाव स्पष्ट था।

विधायिका—नये संविधान ने एक-भवनवाली विधयिका विधान-सभा की योजना की जिसमें दो वर्ष के लिये परोक्ष रूप से निर्वाचित ७४५ सदस्य रखे गये। निर्वाचन के लिये नागरिक दो भागों में विभक्त किये गये। जिन नागरिकों की अवस्था कम से कम २५ वर्ष की थी, जो कम से कम ३ दिन की आय कर के रूप में देते थे और जिनके नाम नगरपालिका के रजिस्टरों में तथा राष्ट्रीय रक्षक-दल में दर्ज थे वे 'सक्रिय'

---

* Stephens : Revolutionary Europe, p. 60.

† Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 24.

(Active) नागरिकों की कोटि में रखे गये, शेष 'निष्क्रिय' (Passive) नागरिक रहे। सक्रिय नागरिक प्रति सौ नागरिकों के लिये एक निर्वाचक चुनते थे और इन निर्वाचकों का 'निर्वाचक-मण्डल' प्रतिनिधि (Deputy) चुनता था। निर्वाचक के लिये यह आवश्यक था कि वह सम्पत्ति का स्वामी या आसामी हो और वर्ष में १० दिन की आय कर के रूप में देता हो। प्रतिनिधि कोई भी सक्रिय नागरिक चुना जा सकता था; उसके लिये भूमि का स्वामी होना और ५४ फ्रैंक कर के रूप में देना आवश्यक था।* परन्तु न्यायिक अथवा प्रशासनिक पद पर नियुक्त कोई भी व्यक्ति विधान-सभा का सदस्य नहीं हो सकता था।

इस विधान-सभा को क़ानून-निर्माण के पूर्ण अधिकार थे। उस पर एक-मात्र नियन्त्रण राजा के 'स्थगनकारी निषेध' (Suspensive Veto) का था। राजा किसी भी क़ानून को दो सत्रों (Sessions) के लिये स्वीकार करने से इन्कार कर सकता था,† परन्तु उसका यह अधिकार आर्थिक बातों में लागू नहीं होता था। शान्ति, व्यापार तथा मित्रता-सम्बन्धी सन्धियों के लिये विधान-सभा सभा की स्वीकृति आवश्यक रखी गई।

कार्यपालिका—राजा शासन का प्रमुख बना रहा। उसे अपने मन्त्रियों की नियुक्ति, सेना के नेतृत्व तथा परराष्ट्र-सम्बन्ध के संचालन के अधिकार मिले, परन्तु विधान-सभा पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा। वह विधान सभा सभा के अधिवेशन आमन्त्रित नहीं कर सकता था; न उसे भंग कर सकता था और न उसके सामने क़ानून के प्रस्ताव ही प्रस्तुत कर सकता था; उसे केवल स्थगनकारी निषेध का अधिकार मिला। न्यायालयों तथा न्यायाधीशों पर भी उसका कोई अधिकार नहीं रहा। उसके मन्त्री विधान-सभा के सदस्य नहीं हो सकते थे और इस तरह उन पर सभा का कोई नियन्त्रण नहीं था।

इस प्रकार राष्ट्रीय सभा ने इंगलैण्ड का अनुकरण करके सांविधानिक एकतन्त्र स्थापित किया, परन्तु इसके साथ मांतेस्क्यू के सिद्धान्त तथा अमेरिका के उदाहरण के अनुसार कार्यपालिका और विधायिका का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रखा।

स्थानीय शासन—सभा ने स्थानीय शासन का भी पुनः संगठन किया। वह पिछले जमाने की प्रत्येक बात को नष्ट करके नवीन निर्माण करना चाहती थी। अतः उसने पुरानी व्यवस्था तथा स्थानीय शासन-व्यवस्था नष्ट कर दी और उसके स्थान पर जनता के प्रभुत्व, एकरूपता तथा विकेन्द्रीयकरण के सिद्धान्तों के आधार पर नवीन

---

* Hazen : The French Revolution, Vol. I, p. 330.

† Thompson : The French Revolution, p. 90.

व्यवस्था की। समस्त देश ८३ प्रान्तों (Departments) में विभक्त किया गया जो ३७४ जिलों (Cantons) में बाँटे गये। इनके उपविभाग कम्यून थे जिनकी संख्या ४४,००० थी। इन विभागों एवं उपविभागों के लिये सर्वत्र स्थानीय तथा प्रान्तीय कौंसिलों की योजना की गई जिनमें सक्रिय नागरिकों के द्वारा निर्वाचित सदस्य रखे गये। इस प्रकार स्थानीय शासन की नयी व्यवस्था करके सभा ने स्थानीय शासन पर राजा को जो सीधा अधिकार प्राप्त था, उसे नष्ट कर दिया और सारे देश में समान शासन-व्यवस्था स्थापित करके एकरूपता ला दी।

न्याय-व्यवस्था – इसी प्रकार उसने पुरानी न्याय-व्यवस्था तोड़ कर नये केन्द्रीय तथा स्थानीय न्यायालयों का निर्माण किया जिनके न्यायाधीशों के लिये भी सक्रिय नागरिकों द्वारा निर्वाचन की व्यवस्था की गई। मुद्रायुक्त-पत्रों का चलन बन्द कर दिया गया और जूरी द्वारा मुक़द्दमे करने की व्यवस्था भी की गई।

चर्च की व्यवस्था—चर्च की भी नयी व्यवस्था की गई। प्रत्येक प्रान्त के लिये एक चर्च रखा गया जिसके विशप का अब जनता द्वारा चुनाव होने लगा। चर्च की सम्पत्ति छीन ली गई। विशप तथा चर्च के अन्य कर्मचारी राज्य के कर्मचारी हो गये और उनकी नियुक्ति के लिये पोप या राजा की स्वीकृति की आवश्यकता न रही।

सभा मुख्यत: आर्थिक स्थिति को सम्हालने के लिये आमन्त्रित की गई थी। उसने कोष को भरने के लिये ऋण लेने का प्रयत्न किया और अन्य उपाय भी किये परन्तु सभी प्रयत्न निष्फल हुए। तब उसने चर्च की समस्त भूमि ज़ब्त कर ली और उसे राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित कर दिया। यह सम्पत्ति कोई १५ करोड़ रुपये की थी। इस सम्पत्ति की ज़मानत पर पत्र-मुद्रा (Assignat) जारी की गई।

समीक्षा—इस प्रकार राष्ट्रीय सभा ने पुरानी व्यवस्था का विनाश कर नई व्यवस्था का निर्माण किया, परन्तु जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं, संविधान के निर्माता बुद्धिमान् एवं योग्य होते हुए भी राजनीतिक अनुभव से हीन कोरे सैद्धान्तिक थे। उन्होंने कुछ सिद्धान्त स्थिर करके उनके अनुसार संविधान बना डाला, परन्तु व्यवहार में उसमें क्या कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी, इस बात की ओर उनका ध्यान नहीं गया। सभा में मिराबो ही अकेला ऐसा व्यक्ति था जो इन बातों को खूब समझता था परन्तु उसकी सलाह किसी ने नहीं मानी।* पुरानी निरंकुश स्वेच्छाचारी व्यवस्था की जिन बातों से जनता को कष्ट थे, उन सब को नष्ट करना तथा उसके स्थान पर आदर्श व्यवस्था स्थापित करना उसका लक्ष्य था। इसमें उसने अनेक भूलें कीं।

सर्वप्रथम उसने नागरिक के आधारभूत अधिकारों की घोषणा करने में ही

---

* इस सभा के अधिकांश सदस्य आदर्शवादी होने के कारण कई लोग बड़े तिरस्कारपूर्वक इसे 'घृणित आध्यात्मिक सभा' कहा करते थे। Madelin : The Revolutionaries, p. 113.

बड़ी ग़लती की। मिराबो ने इसकी आलोचना करते हुए कहा था कि तत्कालीन स्थिति में जनता को उसके अधिकारों की जगह उसके नागरिक कर्त्तव्यों की याद दिलाना चाहिये था। उसमें कई त्रुटियाँ थीं और कई अधिकार बड़े अस्पष्ट थे। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यह घोषणामात्र थी। उसका आशय यह नहीं था कि नागरिकों को वे सब अधिकार तत्काल मिल जायेंगे।* वस्तुतः उसमें से बहुत से अधिकार फ्रान्स-वासियों को अभी तक नहीं मिले हैं। उसने जनता के सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया था परन्तु ऐसा करने में उसने जनता में ऐसी आशाएँ उत्पन्न कर दीं, जिनको संविधान में वह स्वयं पूरी नहीं कर सकी। उसे नागरिकों को सक्रिय तथा निष्क्रिय कोटि में विभाजित करना पड़ा और इस प्रकार जो अधिकार उसने समस्त जनता को दिये थे, वे प्रायः अधिकांश लोगों से तुरन्त ही छीन लिये गये क्योंकि निर्वाचक बनने के लिये सम्पत्ति का स्वामी होना आवश्यक था। इस शर्त के अनुसार कुल ४३,००० नागरिक निर्वाचक बन सकते थे। इस प्रकार न केवल नागरिकों से समानता का अधिकार छीन लिया गया, बरन् पुराने विशेषाधिकारों की जगह नये विशेषाधिकार स्थापित कर दिये गये। इसके फलस्वरूप जनता में एक असन्तुष्ट वर्ग उत्पन्न हो गया।

राजा की शक्ति कम करने के उत्साह में उसने केवल उसके अधिकार ही कम नहीं किये, उसका विधान-सभा से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखा। उसके मन्त्री विधान सभा के सदस्य नहीं हो सकते थे। इस प्रकार शासन की आवश्यकता बतलानेवाला तथा शासन के प्रति शंकाओं का निवारण करनेवाला कोई व्यक्ति विधान-सभा में नहीं हो सकता था। अतः दोनों में मतभेद की सम्भावना बनी रही। मतभेद के निराकरण के लिये विधान सभा को भंग कर मतभेद के मामले का निर्णय जनता पर छोड़ देने का अधिकार भी उसके हाथ में नहीं था। इस प्रकार दोनों में संघर्ष की सम्भावना रही, जिसका निर्णय केवल क्रान्ति द्वारा ही हो सकता था।

इसके साथ ही, इस भय से कि कहीं राजा अपने पुराने अधिकार फिर से प्राप्त न कर ले, उसने शासन का केन्द्रीयकरण करके उसे बिलकुल निर्बल कर दिया। स्थानीय कर्मचारी तथा न्यायाधीश सब चुने हुए होने लगे जिन्हें शासन का कोई अनुभव नहीं था। शासन अस्तव्यस्त हो गया और देश में अराजकता व्याप्त हो गई।

चर्च का नया संगठन (Civil Constitution of the Clergy) भी एक महान् भूल थी। इसमें केथोलिक पादरियों का चुनाव प्रोटेस्टेण्ट लोगों तथा नास्तिकों के द्वारा भी हो सकता था। इस बात से धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों की भावनाओं को बड़ी चोट पहुँची। पादरियों को निर्वाचन के बाद नये संविधान के समर्थन की शपथ लेनी पड़ती थी। अधिकांश पादरियों ने शपथ लेने से इन्कार कर दिया। उनमें वे

* Thompson : The French Revolution, p. 89.

छोटे पादरी भी थे जिन्होंने आरम्भ से ही सर्वसाधारण वर्ग तथा क्रान्ति का साथ दिया था। वे रुष्ट होकर अलग हो गये और क्रान्ति के विरोधी बन गये। देश की जनता अधिकांश में केथोलिक थी और पादरियों के प्रभाव में थी; इस प्रकार सारे राष्ट्र में फूट पड़ गई, क्रान्ति का पक्ष निर्बल हो गया और क्रान्ति-विरोधी दल की शक्ति एवं उसके हौसले बढ़े। राजा ने समय की गतिविधि देख कर किसी प्रकार क्रान्ति को स्वीकार कर लिया था, परन्तु वह पक्का केथोलिक था और इस व्यवस्था को सहन न कर सका। आगे चल कर उसने कुछ अंश तक इसी कारण से देश छोड़कर भागने का प्रयत्न किया जिससे क्रान्ति का रूप ही बदल गया।

हम आगे देखेंगे कि इन सब दोषों के कारण यह संविधान असफल रहा और उसमें कई बार परिवर्तन किये गये। परन्तु इतना हमें मानना पड़ेगा कि उसकी की हुई बहुत-सी बातें मूल्यवान् थीं और उसमें से कई आज तक विद्यमान हैं। उसने विशेषाधिकार तथा असमानता के सिद्धान्तों के आधार पर स्थिर सामाजिक व्यवस्था को नष्ट कर समानता के सिद्धान्त पर नये समाज की आंशिक सृष्टि की और फ़ान्स के पुराने प्रान्तीय विभागों को हटा कर नये प्रान्त बनाये जो अभी तक वैसे ही बने हुए हैं। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, यह संविधान पूर्ण समानता स्थापित नहीं कर सका। उसने राजा के अधिकारों पर मर्यादाएँ लगा कर मर्यादित (सांविधानिक) एकतन्त्र स्थापित किया परन्तु उसमें शक्ति जनता के हाथों में न होकर पूँजीपति मध्यम वर्ग के हाथों में रही। इस प्रकार यह संविधान मध्यम-वर्गीय संविधान था।

यह संविधान कई महीनों में बन पाया था परन्तु सुविधा की दृष्टि से हमने इसका पूरा विवरण एक साथ ही दे दिया है। इसका वर्णन करने में हम बहुत आगे निकल आये हैं। जिन दिनों संविधान बन रहा था, उन दिनों फ़ान्स में अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ घट रही थीं।

वार्साय पर स्त्रियों का आक्रमण—बास्तिल के पतन के बाद राजा और प्रजा में समझौता हो गया था और राष्ट्रीय सभा ने ४ अगस्त की बैठक के अन्त में लुई को फ़्रेंच स्वतन्त्रता का पुनःस्थापक घोषित किया था। परन्तु रानी मेरी आँत्वानेत तथा अनेक दरबारियों ने अपने षड्यन्त्र जारी रखे और वे राजा पर अपना अनिष्टकारी प्रभाव डालते रहे। ४ अगस्त को सभा ने जो आदेश (Decrees) सामन्तवाद की समाप्ति के लिये स्वीकार किये थे, उन पर राजा ने अभी हस्ताक्षर नहीं किये थे। इससे सभा के सदस्यों तथा जनता में शंका उत्पन्न हो रही थी। उधर अफ़वाह उड़ने लगी कि राजा वार्साय छोड़ कर मेत्स (Metz) के लिये प्रस्थान करनेवाला है और पेरिस में राजभक्त सेना एकत्रित करने का विचार कर रहा है। वार्साय में सेना को एक भोज भी दिया गया था जिससे शंका और भी बढ़ी। यह भी अफ़वाह उड़ी कि उस भोज में राष्ट्रीय तिरंगे झण्डे को सैनिकों ने पैरों तले कुचला था। इस पर क्रुद्ध होकर

५ अक्तूबर को एक बड़ी भीड़ जिसमें आगे-आगे रोटी के नारे लगाती हुई उत्तेजित स्त्रियों का एक झुण्ड था, वार्साय की ओर बढ़ी। उसने महल को घेर लिया। कुछ लोग महल में घुस गये। अन्त में कुछ समझदार लोगों के समझाने से राजा अपनी रानी तथा अपने पुत्र के साथ उस भीड़ के साथ पेरिस के लिये रवाना हो गया (६ अक्तूबर) और वहीं अपने परिवार के साथ वस्तुतः एक क़ैदी की तरह एक महल (Tuilleries) में रहने लगा। संविधान-सभा भी वार्साय से हट कर पेरिस चली आई और राजा तथा सभा दोनों एक प्रकार से पेरिस की जनता के वन्दी हो गये। इस समय से क्रान्ति की गतिविधि पर पेरिस की जनता का प्रभाव बढ़ने लगा। पेरिस की जनता, जिसमें नंगों-भूखों के अतिरिक्त गुण्डे और बदमाश बहुत बड़ी संख्या में थे, सदा सभा को घेरे रहती थी, शोर मचाती थी और उसके निर्णयों को प्रभावित करती थी। इस प्रकार राष्ट्रीय सभा, जो राष्ट्र की प्रतिनिधि थी, अकेले पेरिस नगर के प्रभाव में काम करने लगी।

सङ्कट के बादल—क्रान्ति के आरम्भ से ही शासन बिगड़ गया था और धीरे-धीरे देश में अराजकता बढ़ती जा रही थी। सब तरफ संकट और कठिनाइयाँ बढ़ रही थीं। देश के अन्दर असन्तोष बढ़ रहा था और बाहर से भी संकट के बादल उठते हुए दिखाई दे रहे थे। संविधान-सभा ने अनेक प्रकार के लोगों पर प्रहार किया था। जिन लोगों के विशेषाधिकार छीन लिये गये थे, वे सब असन्तुष्ट थे। चर्च नये संगठन के कारण विद्रोही हो रहा था, पत्र-मुद्रा से व्यापार में अनिश्चितता आ गई थी और नये क़ानूनों के कारण व्यापारिक वर्ग किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहा था; देश की आधी दूकानें तथा एक-तिहाई कारखाने बन्द थे, ग़रीबी तथा आर्थिक अव्यवस्था बढ़ रही थी। केन्द्रीय शासन के अव्यवस्थित हो जाने से शासन की प्रतिष्ठा जाती रही थी। स्थानीय शासन अनुभवहीन व्यक्तियों के हाथों में था। सेना और नौसेना में अनुशासन बिलकुल नहीं रहा था, वह विद्रोही हो रही थी और राष्ट्रीय रक्षक-दल के साथ खुले आम मिलती थी। राजा के लिये वह बिलकुल बेकार हो गई थी और साथ ही राष्ट्रीय सभा के लिये भी परेशानी पैदा कर रही थी। सारा देश राजनीति से ऊब उठा था और चाहता था कि पुनः शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित हो तथा लोग अपना नियमित जीवन बिता सकें। संविधान-सभा भी काम करते-करते थक गई थी और अप्रिय होती जा रही थी। उसके विरुद्ध सब तरफ़ से शिकायतें आ रही थीं, किसी की शिकायत थी कि वह सुधार करने की सीमा से बाहर निकलती जा रही है और कोई शिकायत करता था कि वह काफ़ी सुधार नहीं कर रही है। सभा स्वयं विभक्त होती जा रही थी; उसमें उग्र विचारवाले सदस्यों का ज़ोर बढ़ता जा रहा था। उन लोगों का सभा में तो बहुमत नहीं था परन्तु उनके पीछे पेरिस की जनता का तथा एक प्रख्यात क्लब (जकोबें क्लब) का, जिसके सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी थी और जिसकी देश भर में ४०० से अधिक

शाखाएँ थीं, समर्थन था। उनके सामने अपरिवर्तनवादी तथा नरम विचारवाले सदस्य पीछे हटते जाते थे और सभा के विचार-विमर्श में बहुत कम भाग लेते थे।

उधर देश में बाहर से भी आपत्ति की आशंका बढ़ रही थी। यों तो सभा विदेशी मामलों से अभी तक दूर रही थी परन्तु वह कुछ कार्य ऐसे कर चुकी थी जिनसे बाह्य हस्तक्षेप की आशंका बढ़ती जा रही थी। इनके विषय में आप आगे पढ़ेंगे।

मिराबो की मृत्यु ऐसे संकट की अवस्था में यदि कोई स्थिति सम्हाल सकता था तो वह था मिराबो। वह कुलीन वंश का था। उसमें अनेक अवगुण थे परन्तु फिर भी वह एक योग्य राजनीतिज्ञ था। समस्त राष्ट्रीय-सभा में वही अकेला व्यक्ति था जो समझता था कि शासन का निर्माण कोरे सैद्धान्तिकों एवं दार्शनिकों की कल्पनाओं के आधार पर नहीं, वरन् जनता की नैतिक एवं आर्थिक दशा तथा ऐतिहासिक परम्पराओं के आधार पर ही किया जा सकता है। वह निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन का घोर विरोधी था, परन्तु सांविधानिक एकतन्त्र का समर्थक था। वह चाहता था कि एकतन्त्र तो बना रहे परन्तु उसकी कमज़ोर नसों में सर्वसाधारण वर्ग के ताजा रक्त का संचार करके उसे राष्ट्रीय बना दिया जाय। यदि उसकी चलती तो वह समस्त विशेषाधिकारों का अन्त कर समस्त राष्ट्र को एक कर देता और जनता द्वारा निर्वाचित विधायिका के सहयोग से कार्य करने की शर्त पर राजा को भी अधिकार दे देता। वह शिथिल और निर्बल शासन की बुराइयाँ अच्छी प्रकार समझता था और इसी कारण उसने राष्ट्रीय सभा में शासन तथा विधायिका को बिलकुल अलग करने तथा शासन को निर्बल बनाने की योजनाओं का बड़ा विरोध किया था। वह जानता था कि शासन निर्बल हो जाने से देश में अराजकता फैल जायगी, परन्तु सभा ने उसकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। वह राजा को समझाना चाहता था कि बीती को बिसार कर आगे की सुध ले। क्रान्ति हो चुकी थी, पुरानी व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी और वह पुनः स्थापित नहीं की जा सकती थी। वह चाहता था कि राजा स्वयं आगे बढ़कर सांविधानिक मार्ग पर क्रान्ति का नेतृत्व करे और अनियन्त्रित क्रान्ति के भावी संकट से देश की रक्षा करे। सभा में विफल होकर उसने राजा को समझा कर एकतन्त्र को बचाना चाहा। उसकी योजना यह थी कि राजा ऐसे मन्त्रियों की सहायता से शासन करे जिनमें राजा तथा सभा के उग्र दल दोनों का विश्वास हो, परन्तु ऐसे व्यक्तियों का मिलना असम्भव था। ऐसी दशा में उसने राजा को पेरिस के दबाव से अपने आपको मुक्त कर समस्त देश से अपील करने की सलाह दी। परन्तु इस कार्य के लिये भी योग्य विश्वासपात्र आदमियों की कमी थी। मिराबो स्वयं यह काम कर सकता था। राजा स्वयं उस पर विश्वास कर भी लेता, परन्तु दुर्भाग्यवश रानी तथा दरबारी लोग उसे जनता का समर्थक समझ कर उसमें अविश्वास करते थे। उधर सभा में भी उसकी राय की कोई परवाह नहीं होती थी। इस प्रकार मिराबो, जो इस समय राष्ट्र का कर्णधार बन सकता

था, कुछ न कर सका। फिर भी उससे बहुत कुछ आशा की जा सकती थी। अपने जीवन के अन्तिम महीनों में वह अपने राजनीतिक उत्कर्ष पर पहुँच चुका था; दिसम्बर १७९० में वह जकोबें क्लब का सभापति बन गया था और जनवरी १७९१ में राष्ट्रीय सभा का सभापति बन गया था। किन्तु २ अप्रैल १७९१ को उसका देहान्त हो गया और उसके साथ फ्रेंच एकतन्त्र की रक्षा की जो कुछ आशा थी, वह भी जाती रही। 'यदि मिराबो जीवित रहता तो फ्रान्स का भाग्य बदल जाता।'* निस्सन्देह क्रान्ति ने जितने आदमी उत्पन्न किये, उनमें वह सबसे बड़ा था। यदि वह जीवित रहता तो एकतन्त्र की रक्षा कर लेता और क्रान्ति को सांविधानिक मार्ग पर आगे बढ़ाता।†

राजा के भागने के असफल प्रयत्न—मिराबो की मृत्यु से लुई को दुःख हुआ हो या न हुआ हो, किन्तु उसे अपनी स्थिति की असहायता प्रकट हो गई। संविधान क़रीब-क़रीब बन चुका था। उसमें उसकी जो केवल अलंकारिक स्थिति रखी गई थी वह उसे बिलकुल पसन्द नहीं थी। उस पर अपनी स्वीकृति देने के पहले ही वह फ्रान्स छोड़ कर भाग जाना चाहता था। १८ अप्रैल १७९१ को उसने पेरिस से हट कर सेंत क्लूद (St. Cloud) जाने का प्रयत्न किया, परन्तु भीड़ ने उसे रोक दिया। यह देख कर उसने बड़ी गुप्त रीति से तैयारी की और वह २० जून को अपने परिवार के साथ चुपके से मेत्स (Metz) के लिये रवाना हो गया। परन्तु रास्ते में वह पहचान लिया गया; लोग उसे पकड़ कर वापस पेरिस ले आये। अब उसके महल पर कड़ा पहरा रख दिया गया और वह वस्तुतः क़ैदी बन गया।‡

गणतन्त्रवाद का जन्म— राजा के भागने के प्रयत्न का तात्कालिक परिणाम तो यह हुआ कि जनता का उसमें से विश्वास उठ गया। वह यह समझने लगी कि फ्रेंच राष्ट्र के तथा राजा के हित एक नहीं हैं। इस प्रयत्न के फलस्वरूप फ्रान्स में गणतन्त्रीय दल (Republican Party) का उदय हुआ। अभी तक क्रान्तिकारियों में से कोई एकतन्त्र के विरुद्ध नहीं था। रोब्सपीयर (Robespierre), दांतों (Danton), मारा (Marat) जैसे उग्र क्रान्तिकारी नेता भी केवल राजा के अधिकारों

---

* Madelin : The Revolutionaries, p. 65.

† Ketelbey : A History of Modern Times, pp. 60-61.

‡ ऐसा प्रतीत होता है कि राजा का इरादा फ्रान्स छोड़ कर भागने का नहीं था। वह मोंमेदी (Montmedy) में शरण लेना चाहता था। इसके बाद जो संघर्ष होता वह गृह-कलह मात्र ही नहीं रहता। शायद योजना यह थी कि यदि उसका निकल भागने का प्रयत्न सफल हो जाता तो फ्रेंच सेना में जो जर्मन सैनिक थे वे तथा विदेशी सेनाएँ पेरिस पर आक्रमण करतीं और पुरानी व्यवस्था को पुनः प्रतिष्ठित कर देतीं। Belloc : The French Revolution, p. 107.

को सीमित कर देना चाहते थे। किन्तु अब वे एकतन्त्र को समाप्त कर फ्रान्स में गणतन्त्र स्थापित करने पर तुल गये।

इसके विपरीत राष्ट्रीय सभा के सदस्यों ने राजा के भागने के प्रयत्न से अपनी भूल का अनुभव किया। वे समझ गये कि राजा की सत्ता कम करने और उसे एक कठपुतलीमात्र बना देने में उन्होंने बहुत ज़्यादती की थी। उन्हें उसके साथ सहानुभूति हुई। यही अनुभूति देश भर में मध्य-वर्ग को भी हुई और उन्होने सभा का समर्थन किया। इस प्रकार मध्य-वर्ग में भी राजा के पक्ष में प्रतिक्रिया आरम्भ हुई।

राजा की मुअत्तिली—जब सभा में यह प्रश्न उपस्थित हुआ तो रोब्सपीयर तथा दांतों ने राजा को पदच्युत करने का प्रस्ताव किया परन्तु वह प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ और सभा ने राजा को केवल कुछ काल के लिये मुअत्तिल कर दिया। उग्रपन्थियों को सभा का यह निर्णय पसन्द नहीं आया और उन्होने १७ जुलाई को पेरिस में एक गणतन्त्रीय प्रदर्शन का आयोजन किया। शान्ति-भंग के डर से सभा ने पेरिस के मेयर बैली और राष्ट्रीय रक्षक-दल के संचालक लाफ़ाएत को शान्ति की रक्षा करने का आदेश दिया। भीड़ एक मैदान (Champ de Mars) में एकत्रित थी। उसने हटने से इन्कार कर दिया। इस पर रक्षक-दल के सैनिकों ने गोलियाँ चलाई जिससे १२ व्यक्ति मारे गये और कई घायल हो गये। भीड़ बिखर गई, शान्ति-भङ्ग भी नहीं हुई परन्तु पेरिस की जनता राष्ट्रीय सभा से बहुत असन्तुष्ट हो गई।

संविधान-सभा का विसर्जन—परन्तु अब सभा का कार्य समाप्त हो चुका था। २१ सितम्बर को राजा ने नये संविधान पर अपनी स्वीकृति दे दी और उसका पालन करने का वचन दिया। सभा ने उसको पुनः सिंहासन पर आसीन कर दिया। ३० सितम्बर १७९१ को सभा विसर्जित हो गई परन्तु विसर्जित होने के पहले वह एक क़ानून बना गई जिसके अनुसार उसका कोई भी सदस्य नई विधान-सभा का सदस्य नहीं हो सकता था। इसके साथ ही अपने कार्य को स्थायी बनाने की दृष्टि से उसने घोषणा की कि राष्ट्र को अपने संविधान में संशोधन करने का अधिकार है, परन्तु तीस वर्षों तक उस अधिकार का प्रयोग न करना ही उसके हित में होगा।*

संविधान-सभा के कार्य का सिंहावलोकन—यह क़ानून बना कर संविधान-सभा ने बड़ी भारी मूर्खता की क्योंकि इससे उसके बनाये हुए निर्बल संविधान का विनाश तो निश्चय ही हो गया, उसके साथ ही राज्य का नाश भी निश्चित हो गया।† इस सभा के सदस्य दो वर्षों से देश की समस्याओं का मुक़ाबला कर रहे थे और उन्हें बड़ा अमूल्य अनुभव प्राप्त हुआ था जिसकी सहायता से वे देश की सेवा कर सकते थे। ऐसा करने

---

* Lodge : A History of Modern Europe, pp. 515-16.

† Madelin : The Revolutionaries, p. 125.

में उन्होंने अपनी निःस्पृहता का तो परिचय दिया, परन्तु नये शासन को अपने अनुभव से वंचित कर दिया। नये संविधान को कार्यान्वित करने का काम बिलकुल अनुभव-हीन नये आदमियों के हाथों में पहुँचा जिनसे भूलें होना स्वाभाविक ही था।

राष्ट्रीय सभा ने अपनी दो वर्ष की अवधि में बहुत कार्य किया था। उसमे कई भूलें हुई थीं और उसने देश के लिये कई समस्याएँ छोड़ो थीं। उसने पुरानी शासन-व्यवस्था को समूल नष्ट कर दिया परन्तु उसकी जगह वह सुव्यवस्थित व सुदृढ़ शासन स्थापित न कर सकी। उसने शासन तथा विधायिका को अलग कर तथा शासन को निर्बल करके जनता की अनसमझ भीड़ के शासन के लिये मार्ग खोल दिया। उसने स्वतन्त्रता, समानता तथा जनता के प्रभुत्व जैसे सिद्धान्तों की घोषणा की थी जो उस अवस्था में बड़े खतरनाक सिद्ध हुए। उसने चर्च का नया संगठन कर उसमें फूट डाल दी। आविन्यों (Avignon) तथा अल्सास में जर्मन राजाओं की भूमि छीन कर अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का उसने उल्लंघन किया और अन्त में नई विधान-सभा को अपने अनुभव से वंचित करके देश को बड़ी हानि पहुँचाई। नई विधान-सभा के एक सदस्य थीयोदोर लामेथ ने इस त्रुटि की चर्चा करते हुए कहा था कि संविधान-सभा ने इतना शीघ्र अपना अन्त करके और अपने सदस्यों को पुनः निर्वाचन के अयोग्य घोषित करके क्रान्ति की अवधि लम्बी कर दी है।* यदि ऐसा नहीं किया जाता तो शायद क्रान्ति समाप्त हो जाती।

परन्तु पुरानी अत्याचारपूर्ण व्यवस्था का प्रथम विरोध करना कोई हँसी-खेल नहीं था। बड़ी निर्भीकता और अदम्य साहस के साथ उसने पुरानी व्यवस्था का विरोध किया और इतिहास की धारा ने कूड़े-करकट का जो पहाड़ इकट्ठा कर दिया था, उसे उसने साफ़ किया। शताब्दियों से दलित, पीड़ित तथा निराश जनता में उसने उत्साह फूँका और असमानता एवं विशेषाधिकार का नाश कर तथा क़ानून की सामान्य प्रणाली स्थापित करके और सबके लिये करों का भार बराबर करके उसने एक विभाजित राष्ट्र का एकीकरण किया। इस प्रकार उसने एक सामाजिक क्रान्ति की। साथ ही उसने पुरानी व्यवस्था को नष्ट कर उसके स्थान पर प्रजातन्त्रीय शासन स्थापित करके तथा जनता की इच्छा को राज्य की नीति की कसौटी बनाकर एक महान् राजनीतिक क्रान्ति की। सबसे अधिक महत्व का काम जो उसने किया, वह था समस्त संसार के लिये तथा सदा के लिये व्यक्ति के गौरव की युगान्तरकारी घोषणा।†

---

* Hazen : The French Revolution, Vol. I, p. 431.
† Ketelbey : A History of Modern Times, pp. 65-66.

अध्याय ६

सांविधानिक एकतन्त्र का परीक्षण

(विधान-सभा (१ अक्टूबर १७९१—२१ सितम्बर १७९२)

नये संविधान के निर्माण तथा उस पर राजा की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर बड़ा उत्सव मनाया गया। राजा के महल में तिरंगी पताकाएँ फहराई गईं, रोशनी की गई, आतिशबाज़ी हुई। उत्सव के बीच राजा घूम-घूम कर सबसे मिल रहा था और कह रहा था 'क्रान्ति समाप्त हो गई। राष्ट्र फिर पहले जैसा ही प्रसन्न बन जाय।' उपस्थित लोगों ने उस भावना का समर्थन किया। देश में सर्वत्र आनन्द छा गया। लोगों ने, विशेषकर मध्यम वर्ग ने, यह सोच कर सुख तथा सन्तोष की साँस ली कि क्रान्ति समाप्त हो गई, क्योंकि राजा ने नया संविधान स्वीकार कर लिया था और अब वे अपना काम शान्तिपूर्वक कर सकेंगे। परन्तु उनकी यह आशा शीघ्र ही टूट गई।

क्रान्ति का पहला दौर समाप्त हुआ। निरंकुश स्वेच्छाचारी एकतन्त्र के स्थान पर सांविधानिक एकतन्त्र की स्थापना हुई। नई विधान-सभा का प्रथम अधिवेशन १ अक्टूबर १७९१ को हुआ। उसमें कुल ७४५ सदस्य थे। वे मध्यम वर्ग के थे और उनमें वकीलों की संख्या अधिक थी। यह सभा भी राष्ट्रीय सभा के समान सांविधानिक एकतन्त्र की समर्थक थी। देश भी अभी तक राजा के शासन में विश्वास करता था। ऐसी दशा में भविष्य में प्रजातन्त्र के शान्तिपूर्वक विकास की आशा सहज ही हो सकती थी। परन्तु यह बात राजा के ऊपर निर्भर थी। यदि राजा ने नये संविधान को सचाई के साथ स्वीकार कर लिया होता और वह हृदय से उसे कार्यान्वित करने के लिये तैयार होता तो देश शान्तिपूर्वक आगे बढ़ सकता था, परन्तु यदि उसके आचरण से उसकी सचाई में शंका हुई तो नये संविधान के लिये खतरा अवश्य था क्योंकि ऐसी दशा में जनता के उसके विरुद्ध होने का डर था। यह खतरा काफ़ी गम्भीर था क्योंकि विधान-सभा के सदस्य नये एवं अनुभवहीन थे और उनमें से कई उग्र गणतन्त्रीय विचारों से प्रेरित थे। इन विचारों का प्रचार देश में बड़े ज़ोरों से हो रहा था।

विधान-सभा के दल - राष्ट्रीय सभा में दलबन्दी का कुछ-कुछ आरम्भ हो चुका था, परन्तु नई विधान-सभा में शीघ्र ही दलबन्दी हो गई। उसमें दो संगठित दल थे। दक्षिणपक्षीय (Right) दल संविधानवादियों का था। इस दल के सदस्य फ़ेइयाँ (Feuillants) के गिर्जे में एकत्रित हुआ करते थे। अतः वे इस नाम से भी पुकारे

जाते थे। वे नये संविधान के पक्ष में थे और सांविधानिक एकतन्त्र के समर्थक थे। उनकी संख्या सभा में काफ़ी अधिक थी और उन्हें मध्य-वर्ग का समर्थन प्राप्त था। लाफ़ाएत तथा राष्ट्रीय रक्षक-दल भी उनके समर्थक थे। नये संविधान का भविष्य राजा के इस दल के साथ सहयोग पर निर्भर था, परन्तु उसने भूल की और उनके साथ सहयोग नहीं किया।

वामपक्षीय (Left) दल में वे लोग थे जो समझते थे कि अभी क्रान्ति का काम पूरा नहीं हुआ है। वे राजसत्ता का अन्त कर गणतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। उनकी संख्या दक्षिणपक्षीय दल से कम थी। वे दो गुटों में विभक्त थे—ज़िरोंदीस्त दल तथा ज़कोवें दल। ज़कोवें दल छोटा था परन्तु उसे पेरिस तथा दो बड़े शक्तिशाली क्लबों—ज़कोवें (Jacobin) तथा कोर्देलिये (Cordelier)—का समर्थन प्राप्त था। ज़कोवें क्लब का आरम्भ क्रान्ति के आरम्भ काल में ही हो चुका था। आरम्भ में उसकी नीति नरम थी और उसमें सब प्रकार के सुधारवादी लोग एकत्रित होते थे। परन्तु धीरे-धीरे उसकी नीति उग्र होती गई और मिराबो, लाफ़ाएत जैसे नरम विचार-वाले सदस्य उससे अलग हो गये तथा क्लब का नेतृत्व रोब्सपियर जैसे उग्र विचारवाले लोगों के हाथों में पहुँच गया। इस क्लब का प्रधान स्थान पेरिस था। उसकी ४०० के लगभग शाखाएँ थीं जो सारे देश में फैली हुई थीं। धीरे-धीरे वह क्लब इतना शक्ति-शाली हो गया और उसका प्रभाव इतना बढ़ गया कि वह विधान-सभा का प्रतिद्वन्द्वी बन गया। कोर्देलिये क्लब की नीति आरम्भ से ही उग्र थी। उसके नेता मारा, दाँतों तथा केमिल देसमोलाँ (Camille Desmoulins) थे। इन क्लबों में राजनीतिक प्रश्नों पर गरमागरम बहस होती थी और उनका लोकमत पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। ज़कोवें दल के सदस्य येनकेनप्रकारेण राजसत्ता का अन्त कर गणतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। सभा में ये लोग ऊँचे स्थान पर बैठा करते थे; इसलिये वे 'पर्वत' (Mountain) के नाम से भी पुकारे जाते थे।

विधान-सभा में आरम्भ में ज़िरोंदीस्त दल की संख्या ज़कोवें दल से अधिक थी और उसका प्रभाव भी अधिक था। इस दल के नेता ज़िरोंद प्रान्त के थे; इसलिये इस दल का यह नाम पड़ा। उसके नेताओं में मुख्य वेरियों (Vergniaud), ब्रिसो (Brissot), कोन्दोर्से (Condorcet) तथा मादाम रोलाँ (Madame Roland) थे। उनमें से प्रथम तीन विधान-सभा के सदस्य थे। इस दल के सदस्य बड़े योग्य तथा उत्साही गणतन्त्रवादी थे परन्तु उनमें अनुभव नहीं था। उनका क्रान्ति में विश्वास था परन्तु उसको आगे बढ़ाने में वे पाशविक बल का प्रयोग अनुचित समझते थे। वे प्रत्येक क़दम सांविधानिक रीति से उठाना चाहते थे।

इन दोनों—दक्षिणपक्षीय तथा वामपक्षीय—दलों के बीच में 'केन्द्रीय' (Centre) दल था। उसके सदस्य संख्या में बहुत थे। वास्तव में उसे दल नहीं कह सकते;

उसका कोई संगठन नहीं था, उसकी कोई निश्चित नीति नहीं थी और प्रत्येक सदस्य स्वतन्त्र रूप से मत देता था। वे लोग राजसत्ता के समर्थक थे और उनकी सहानुभूति दक्षिणपक्षीय थी। परन्तु वे नये राजनीतिक सिद्धान्तों के भी समर्थक थे और इसी कारण दक्षिणपक्षीय दल उनकी उपेक्षा करता था। इस व्यवहार से वे धीरे-धीरे वामपक्षीय दल में शामिल होते गये।* उन लोगों को जकोबें दलवाले लोग प्रायः धमकाया भी करते थे और वे या तो उसका समर्थन करते थे या मत देते ही नहीं थे। इस दल का नाम 'मैदान' (Plain) भी था।

प्रारम्भिक कठिनाइयाँ—विधान-सभा को आरम्भ से ही कुछ कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ा। चर्च की व्यवस्था अनेक पादरियों को पसन्द नहीं थी और उन्होंने शपथ लेने से इन्कार कर दिया था। ऐसी दशा में संविधान के अनुसार वे अपने पद पर नहीं रह सकते थे; परन्तु वे बराबर काम कर रहे थे और लोगों को क्रान्ति के विरुद्ध भड़का रहे थे। उधर देश के अन्दर बहुत से कुलीन लोग भी, जो फ्रान्स को छोड़ कर बाहर चले गये थे, यही कार्य कर रहे थे। कुछ तो इंगलैण्ड चले गये थे परन्तु उनमें से अधिकतर जर्मनी में जा बसे थे। उनमें राजा के दो भाई भी थे - प्रॉविन्स का काउण्ट जो बाद में अठारहवें लुई के नाम से राजा बना और आर्तुआ का काउण्ट जो आगे चलकर दसवें चार्ल्स के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उन लोगों ने कोबलेन्स (Coblentz) में अपना अड्डा जमाया था। वे वहाँ अपना दरबार लगाते थे और उन्होंने एक सेना भी इकट्ठी कर ली थी। वे जर्मनी के तथा अन्य राजाओं से पत्र-व्यवहार कर रहे थे और उन्हें फ्रान्स पर आक्रमण कर सोलहवें लुई का उद्धार करने के लिये भड़का रहे थे।

शपथ न लेनेवाले पादरियों के विरुद्ध आवेश—इस स्थिति से जिरोंदीस्त दल ने लाभ उठाया। उसका प्रभाव विधान-सभा में अधिक था। वह क्रान्ति के लिये कुछ करना चाहता था। पुरानी व्यवस्था की सभी बातें नष्ट हो चुकी थीं, केवल राजा का पद बचा था। उसे भी वे नष्ट करना चाहते थे। इस कारण उन्होंने उकसाने वाली नीति से काम करना शुरू किया ताकि राजा कुछ ग़लती करे और वे उसे देश-द्रोही प्रमाणित कर उसे हटा सकें। अतः उन्होंने नवम्बर १७९१ में एक आदेश जारी करवाया कि जिन पादरियों ने शपथ नहीं ली थी, वे सब हटा दिये जायँ। परन्तु राजा ने इस आदेश को अपने विशेषाधिकार से रद्द कर दिया।

राजा का यह कार्य असांविधानिक नहीं था परन्तु इससे वह क्रान्ति के शत्रुओं का पक्षपाती प्रकट होता था। जिरोंदीस्त इस स्थिति से बहुत प्रसन्न थे। वे फ्रान्स को

---

* Madelin : The Revolutionaries, pp. 105 106.

दूसरे देशों के साथ युद्ध में उलझा देना चाहते थे, जिससे राजा स्पष्टतया देशद्रोही प्रमाणित हो सके और राजपद का अन्त किया जा सके।

युद्ध की सम्भावना—युद्ध अवश्यम्भावी नज़र भी आ रहा था। इसके कई कारण थे। फ़्रान्स के क्रान्तिकारी लोग अधिकाधिक प्रचारक बनते जा रहे थे। उन्होंने क्रान्ति को कभी एक सीमित राष्ट्रीय आन्दोलन नहीं समझा था। जिन सिद्धान्तों और मनुष्य के जिन आधारभूत अधिकारों की घोषणा राष्ट्रीय सभा ने की थी वे फ़्रान्स तक ही सीमित नहीं थे, वरन् मनुष्यमात्र के लिये थे। ऐसे विस्फोटक सिद्धान्त किसी भी राज्य की सीमा के अन्दर बन्द नहीं किये जा सकते।

इन सिद्धान्तों और क्रान्ति की भावना की बाढ़ को रोकने के लिये कोई मज़बूत रुकावटें भी नहीं थीं। हम ऊपर देख चुके हैं कि फ़्रान्स के पूर्व की ओर मध्य-योरोपीय देशों के शासन बड़े निर्बल थे। जर्मनी विभक्त था; उसके प्रमुख राज्य ऑस्ट्रिया और प्रशा एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे और इस समय रूस से मिल कर पोलैण्ड को हड़पने का षड्यन्त्र रच रहे थे। पवित्र रोमन साम्राज्य वोल्तेयर के इस व्यंग को सत्य प्रमाणित कर रहा था कि वह न पवित्र है, न रोमन और न साम्राज्य। जर्मनी के किसी भी राज्य में राष्ट्रीय भावना का नाम भी न था; शासक स्वेच्छाचारी थे और जनता असन्तुष्ट थी तथा नये विचारों का स्वागत करने के लिये तैयार थी। योरोप में सर्वत्र जनता ने क्रान्ति में बड़ी दिलचस्पी ली थी। जो लोग उदार विचार के थे उन्होंने फ़्रान्स में एस्टेट्स-जनरल के निमन्त्रण का सांविधानिक शासन तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्-भावना के युग के उदय के रूप में स्वागत किया था। उनका विश्वास था कि जहाँ फ़्रान्स में सामन्तवाद का पतन हुआ, वहाँ सारा योरोप उससे मुक्ति पा जायगा।

योरोप के स्वेच्छाचारी राजाओं का क्रान्ति के विचारों से भयभीत होना स्वाभाविक ही था। केवल इंगलैण्ड में उससे कोई भय उत्पन्न नहीं हुआ, उल्टे वहाँ के राजनीतिक बड़े प्रसन्न हुए। पिट ने उसे अपने देश की १६८८ की 'शानदार क्रान्ति' का अनुकरण मान कर गर्व की अनुभूति की। फ़ॉक्स तो क्रान्ति की प्रशंसा करते अघाता ही नहीं था। परन्तु ज्यों-ज्यों क्रान्ति उग्र रूप धारण करती गई, त्यों-त्यों उसके प्रति इंगलैण्ड की भावना बदलती गई और उसके साथ वहाँ जो सहानुभूति थी उसने घृणा का रूप ले लिया। इस भावना को बर्क ने अपनी 'फ़्रेंच क्रान्ति पर विचार' नामक पुस्तक में अभिव्यक्ति की।

क्रान्तिकारी विचार एवं प्रचार से तो योरोप के विभिन्न राजाओं को डर था ही, कई राजाओं को क्रान्ति के विरुद्ध कुछ विशिष्ट शिकायतें भी थीं। आप ऊपर पढ़ चुके हैं कि जर्मनी के कई राजाओं की फ़्रान्स के अलसास प्रान्त में जो भूमि थी वह छीन ली गई थी। पवित्र रोमन साम्राज्य की पार्लमेण्ट ने जब इसके मुआवज़े का सवाल उठाया तो फ़्रान्स ने उसकी माँग के अनुसार मुआवज़ा देने से इन्कार कर दिया। ऑस्ट्रिया के

सम्राट् द्वितीय लिओपोल्ड को तो क्रान्ति से अत्यधिक भय था। एक तो वह पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् था और दूसरे फ़्रान्स की उत्तर-पूर्वी सीमाओं पर ऑस्ट्रियन नेदरलैण्ड्स (बेल्जियम) उसका निजी प्रदेश था। इसके अतिरिक्त रानी मेरी आँत्वानेत उसकी बहन थी और वह उसकी सुरक्षा के लिये बहुत चिन्तित था।

पिलनित्स की घोषणा— फ़्रान्स के प्रवासी कुलीन सरदार सम्राट् तथा अन्य जर्मन राजाओं से लगातार सहायता के लिये अनुरोध कर रहे थे, परन्तु सम्राट् द्वितीय लिओपोल्ड बड़ा समझदार था। वह समझता था कि यदि फ़्रान्स में हस्तक्षेप किया गया तो जोश भड़केगा और स्थिति अधिक बिगड़ जायगी। अगस्त १७९१ में उसने प्रशा के राजा द्वितीय फ़्रेडरिक विलियम से पिलनित्स (Pilnitz) नामक स्थान पर भेंट कर प्रवासी कुलीनों की प्रार्थना अस्वीकार कर दी और जर्मनी की भूमि पर फ़्रान्स के विरुद्ध सशस्त्र तैयारी करने से उन्हें मना कर दिया। यहाँ तक तो उन्होंने बुद्धिमानी का कार्य किया, परन्तु इसके बाद उन्होंने एक बड़ी भयंकर भूल की। २७ अगस्त १७९१ को उन्होंने पिलनित्स से एक घोषणा प्रकाशित की कि फ़्रान्स के राजा का मामला योरोप के समस्त राजाओं का मामला है। सब राजाओं को परस्पर सहयोग करके उसका कठिनाइयों से उद्धार करना चाहिये। फ़्रान्स की सरकार को चाहिये कि जर्मन राजाओं के जो अधिकार उसने छीन लिये हैं उन्हें वह वापस कर दे। उसमें यह भी कहा गया कि यदि योरोप के अन्य राजा सहमत हुए तो जर्मन राजा अपने उद्देश्य की पूर्ति शस्त्रबल से करेंगे। सम्राट् समझता था कि इस धमकी से काम चल जायगा, परन्तु इसका प्रभाव उल्टा पड़ा।

इस घोषणा से सारे फ़्रान्स में सनसनी फैल गई। विधान-सभा ने दो आदेश जारी किये। प्रथम आदेश के द्वारा प्रॉविन्स के काउण्ट को दो मास के अन्दर स्वदेश लौट आने के लिये कहा गया और न आने पर उसे अपने सिंहासन के उत्तराधिकार से वंचित करने की धमकी दी गई। राजा ने इसे तो स्वीकार कर लिया परन्तु दूसरे आदेश को निषिद्ध ठहरा दिया जिसके द्वारा यह घोषणा की गई कि यदि प्रवासी कुलीन १ जनवरी १७९२ तक अपने शस्त्र नहीं डाल देंगे तो वे देशद्रोही ठहराये जायेंगे, उन्हें मृत्यु दण्ड दिया जायगा और उनकी सम्पत्ति ज़ब्त कर ली जायगी। इस आदेश को राजा ने रद्द तो कर दिया परन्तु उसने सभी प्रवासी कुलीनों से स्वदेश लौट आने का अनुरोध किया। राजा के इस कार्य से उसके प्रति शंका बढ़ी और जिरोंदीस्त दल का पक्ष अधिक मजबूत हो गया। लुई को उसी दल का अपना मन्त्रिमण्डल बनाना पड़ा (मार्च १७९२) और ऑस्ट्रिया से पूछा गया कि 'प्रवासी कुलीनों' से उसके सम्बन्ध का क्या अर्थ है? ऑस्ट्रिया ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया; उल्टे, उसे फ़्रान्स पर दूसरे राज्यों की शान्ति एवं सुरक्षा को खतरा पहुँचाने का दोषारोपण किया। इस पर १० अप्रैल १७९२ को ऑस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी गई। विधान-

सभा के सभी दल भिन्न-भिन्न कारणों से इस युद्ध का समर्थन कर रहे थे। केवल रोब्स-पियर तथा उसके कुछ साथी उसके विरुद्ध थे, क्योंकि उनके विचार में युद्ध से केवल धनियों तथा प्रभावशाली व्यक्तियों को ही लाभ हो सकता था; ग़रीबों को तो उससे हानि ही होनी थी। राजा के समर्थक समझते थे कि युद्ध से उसके हाथ में सेना की शक्ति आ जायगी और विजयी होने पर वह फिर लोकप्रिय होकर अपनी प्रतिष्ठा एवं सत्ता प्राप्त कर सकेगा। ज़िरोंदीस्त तथा ज़कोवें लोग समझते थे कि युद्ध से राजा की शत्रुओं से गुप्त सांठ-गांठ और उसका देशद्रोह प्रमाणित हो सकेगा। इस प्रकार उसे हटा कर गणतन्त्र स्थापित करना सरल हो जायगा।

युद्ध का दायित्व—इस प्रकार इस युद्ध के छिड़ने का दायित्व फ़ान्स पर ही था। योरोप के अन्य देशों में भी युद्ध के कारण तो विद्यमान थे परन्तु इस समय कोई भी युद्ध छेड़ने के लिये तैयार नहीं था। इङ्गलंण्ड, हॉलंण्ड तथा स्पेन शान्ति के इच्छुक थे। ऑस्ट्रिया तथा प्रशा ने पिलनित्स की घोषणा अवश्य निकाली थी परन्तु उनकी भी लड़ने की इच्छा नहीं थी। उस घोषणा में धौंस अधिक थी। ऑस्ट्रिया जानता था कि इङ्गलैण्ड कभी सहयोग नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त ऑस्ट्रिया तथा प्रशा का ध्यान फ़्रेंच क्रान्ति की अपेक्षा पोलैण्ड में जो क्रान्ति हो रही थी उसकी तरफ़ अधिक था। रूस की रानी द्वितीय केथरीन पोलैण्ड को हड़पने को तैयार बैठी थी और ये दोनों राज्य उसकी गतिविधि से चिन्तित थे। ऐसी दशा में वे फ़ान्स से युद्ध छेड़ना नहीं चाहते थे। साथ ही ऑस्ट्रिया के साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में बड़ा असन्तोष था। इस अवस्था में युद्ध छेड़ना ऑस्ट्रिया के हित में नहीं था।

यह युद्ध क्रान्ति के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण है। उसने उसकी दिशा ही बदल दी। उसके कई ऐसे परिणाम हुए जिनकी पहले कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। उसका फ़ान्सवासियों पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। जैसा हम आगे देखेंगे, उसके फलस्वरूप उनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता खटाई में पड़ गई और युद्ध समाप्त होने के पहले ही फ़ान्स में बूर्बों वंश के स्वेच्छाचारी शासन से भी अधिक कठोर एवं निपुण सैनिक निरंकुश शासन की स्थापना हो गई। योरोप के राज्यों से फ़ान्स का जो संघर्ष इस प्रकार आरम्भ हुआ, वह २५ वर्षों तक चलता रहा और क्रान्ति ने जो कुछ कार्य किया था उसका आधा उसने नष्ट कर दिया।*

युद्ध का आरम्भ – युद्ध आरम्भ हो गया। परन्तु फ़ान्स युद्ध के लिये तैयार नहीं था। सेना में अनुशासनहीनता और अव्यवस्था पहले से ही फैल रही थी। इसके अतिरिक्त सेना के सब अफ़सर, जो कुलीन लोग हुआ करते थे, देश छोड़ कर भाग

---

* Thompson : The French Revolution, p. 262.

चुके थे और नये अफ़सरों को कोई अनुभव नहीं था। इस कारण प्रारम्भ में फ़ान्स की सेनाओं को हार खानी पड़ी। जो सेना ऑस्ट्रियन नेदरलैण्ड्स पर आक्रमण करने भेजी गई थी, वह हार कर लौट पड़ी और उसने अपने ही अफ़सरों की हत्या कर डाली। इस प्रारम्भिक हार का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि जनता राजा से चिढ़ गई। उसे शंका होने लगी कि वह ऑस्ट्रिया के सम्राट् से मिला हुआ है। वास्तव में फ़ान्स की युद्ध-योजना रानी ने ऑस्ट्रिया को बतला दी थी।*

उधर तो फ़्रेंच सेनाएं पीछे हट रही थीं, इधर देश के अन्दर धर्म की फूट के कारण गृह-कलह का भय बढ़ रहा था। इस पर विधान-सभा ने दो आदेश निकाले। एक के अनुसार जिन पादरियों ने शपथ नहीं ली थी, उन्हें देश से निकालने का आदेश दिया गया और दूसरे के द्वारा पेरिस की रक्षा के लिये २०,००० प्रान्तीय स्वयंसेवक सैनिक नियुक्त करने की योजना की गई। राजा ने इन दोनो आदेशों को रद्द कर दिया।

राजमहल पर भीड़ का आक्रमण—अब पेरिस की भीड़ काबू से बाहर हो गई थी और गणतन्त्रीय दल ने उसे और भी भड़काया। उसने राजमहल को घेर लिया, कुछ गुण्डे महल में घुस गये और उन्होंने राजा तथा रानी का बड़ा अपमान किया। परन्तु इसके आगे भीड़ ने कुछ नहीं किया। राजा ने भी क्रान्तिकारियों की लाल टोपी, जो भीड़ में से किसी ने उसे दी थी, पहन ली और उसका दिया हुआ मदिरा का प्याला पी लिया। इस पर जोश ठण्डा पड़ गया और भीड़ लौट गई।

ब्रुन्स्विक की घोषणा—राजा के इस अपमान से देश को बड़ा क्षोभ हुआ और राजा के पक्ष में एक क्षणिक प्रतिक्रिया भी हुई, जिससे शायद उसे लाभ होता, परन्तु इसी बीच में एक घटना हुई जिससे उसकी स्थिति और भी खराब हो गई। २५ जुलाई को प्रशा ने युद्ध की घोषणा कर दी। उसका सेनापति ब्रुन्स्विक अपनी तथा ऑस्ट्रिया की सम्मिलित सेना के साथ आगे बढ़ा और फ़ान्स की सीमा पार कर उसने घोषणा की कि फ़ान्सवासी अपने राजा को स्वतन्त्र कर दें तथा उसकी आज्ञा मानें। यदि ऑस्ट्रिया और प्रशा की सेना का विरोध किया गया तो समस्त फ़ेञ्च राष्ट्र उसके लिये उत्तरदायी होगा और यदि राजपरिवार का अपमान किया गया तो पेरिस को उसका दण्ड भुगतना पड़ेगा।

पेरिस के प्राधान्य का प्रारम्भ—ब्रुन्स्विक की इस मूर्खतापूर्ण घोषणा से

---

* जब युद्ध अनिवार्य प्रतीत होने लगा तो रानी ने फ़ान्स की युद्ध-योजना अन्य राज्यों की सरकारों को प्रकट कर दी थी। आगे चलकर ब्रुन्स्विक ने जो घोषणा की वह भी रानी की प्रेरणा से की गई थी। H. Belloc : The French Revolution; pp. 40- 7.

पेरिस की भीड़ अत्यन्त उत्तेजित हो गई। अब उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि राजा शत्रुओं से मिला हुआ है।* जकोबें नेताओं ने पेरिस के लिये नई क्रान्तिकारी कम्यून (नगरपालिका) स्थापित की और नगर भर में विद्रोह का ढिंढोरा पीट दिया। भीड़ ने राज-महल पर हमला बोल दिया तथा उसके स्विस रक्षकों को मार डाला और राजा को अपने परिवारसहित विधान-सभा भवन में जाकर शरण लेनी पड़ी (१० अगस्त)।

सांविधानिक एकतन्त्र का अन्त—यह सब काम पेरिस की नई क्रान्तिकारी कम्यून का था और इसका स्पष्ट उद्देश्य लुई का विनाश था। यहीं से पेरिस का प्राधान्य शुरू होता है। वह रहा तो थोड़े ही महीनों के लिये, परन्तु था बहुत भयंकर। अब विधान-सभा दब गई। नई कम्यून के दबाव में आकर उसने राजा को मुअत्तिल कर दिया। राजा के न होने से संविधान भंग हो गया और नया संविधान बनाने के लिये उसने प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर एक संविधान-परिषद् के निर्वाचन का निर्णय किया।

इस प्रकार सांविधानिक एकतन्त्र का अन्त हुआ। संविधान-परिषद् की बैठक होने तक के लिये एक अस्थायी शासन-समिति बनाई गई जो जिरोंदीस्त दल की थी और जिसका प्रमुख १० अगस्त की घटनाओं का सूत्रधार दांतों था। विधान-सभा ने तो राजा को केवल मुअत्तिल ही किया था, कम्यून ने उसे क़ैद कर लिया और कई पुरुषों को, जिन पर उसे सन्देह था, गिरफ़्तार कर लिया। अब वास्तविक शासन कम्यून के हाथों में ही आ गया। कम्यून में जकोबें दल के तथा निम्न वर्ग के प्रतिनिधि थे। वे सभी बड़े उग्र विचार के थे और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्हें कुछ भी करने में कोई संकोच नहीं था। इस प्रकार मध्यम वर्ग का प्राधान्य लुप्त हो गया। उसके प्रतिनिधि लाफ़ायेत ने सेना में राजा के पक्ष में विद्रोह भड़काने का प्रयत्न किया परन्तु सेना उसके लिये तैयार नहीं हुई। अतः वह अपने आप को संकट में घिरा हुआ देख कर देश छोड़ कर भाग गया।

---

* राजा और रानी ने निराश होकर ऑस्ट्रिया और प्रशा के राजाओं से जकोबें लोगों के विरुद्ध घोषणा करने के लिये प्रार्थना की थी, परन्तु इसके साथ ही यह भी आग्रह किया था कि प्रवासी रईसों का समर्थन न किया जाय और यह स्पष्ट कर दिया जाय कि उनके हस्तक्षेप का प्रयोजन पुरानी व्यवस्था की स्थापना नहीं था। परन्तु घोषणा लिखने का कार्य एक प्रवासी रईस ने किया जिसने उसे उत्तेजक रूप दे दिया। ब्रुन्स्विक ने उसे बिना पढ़े ही उस पर हस्ताक्षर कर दिये थे। Leo Gershoy : The French Revolution and Napoleon, pp. 213-14.

सितम्बर का हत्याकाण्ड—युद्ध चल रहा था। शत्रु आगे बढ़ा आ रहा था और २ सितम्बर को उसने वर्दां (Verdun) ले लिया। इस समाचार से पेरिस में बड़ी सनसनी फैली। वर्दां के पतन के पहले ही कम्यून ने राजा के सैकड़ों समर्थकों को गिरफ्तार कर लिया था। शत्रु के आगे बढ़ने पर वे कहीं उत्पात न मचायें, इस डर से और राजा के समर्थकों में आतंक जमाने के लिये कम्यून ने २ सितम्बर से ६ सितम्बर तक हजारों व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया। इस वीभत्स हत्याकाण्ड का मुख्य उत्तेजक मारा था। उसने प्रान्तों को भी ऐसा करने की सलाह दी।*

युद्ध का आरम्भ एकतन्त्र के विनाश का कारण बना था; सितम्बर का यह हत्याकाण्ड क्रान्ति की बदनामी का कारण बना। पुरानी व्यवस्था के विरुद्ध जो संघर्ष चल रहा था उसने अराजकता का रूप धारण कर लिया। पेरिस की भीड़ के लिये सुधार का अर्थ था अराजकता और स्वतन्त्रता का अर्थ था अनियन्त्रण। अब फ्रान्स के भाग्य में इस भीड़ का शासन बदा था जिसके बड़े भयंकर परिणाम उसे भुगतने पड़े।

विजय—इधर तो पेरिस की कम्यून इस प्रकार क्रान्ति के अन्दरूनी शत्रुओं का नाश कर रही थी, उधर दांतों बाहरी शत्रुओं से देश की रक्षा का प्रबन्ध कर रहा था। लाफायेत के भाग जाने के बाद द्युमोरिए (Dumoriez) के हाथ में सेना की कमाण्ड दी गई। वाल्मी (Valmy) के स्थान पर प्रशा की सेना हारी (२० सितम्बर, १७६२) और राजधानी की रक्षा हो गई। इस युद्ध से केवल राजधानी की ही रक्षा नहीं हुई; वह संसार के इतिहास के निर्णायक युद्धों में से एक था; उसने क्रान्ति को बचा लिया।† द्युमोरिए ने ऑस्ट्रिया की सेनाओं को हरा कर नवम्बर में बेल्जियम जीत लिया। इस प्रकार राइन नदी पर भी फ्रेंच सेनाएँ विजयी रहीं और दक्षिण की ओर सेवॉय तथा नीस भी फ्रेंच सेनाओं के अधिकार में आ गये। इस प्रकार १७६२-६३ की शीतऋतु के अन्त तक सभी मोर्चों पर फ्रेंच सेनाएँ विजयी हो चुकी थीं। इतनी शक्तियों को अकेले फ्रान्स ने पराजित कर दिया, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, क्योंकि एक स्वतन्त्र, उच्च आदर्शों से प्रेरित, दुर्जेय राष्ट्र के सामने दुर्बल-क्षीण सरकारें, जिनके साथ जनता की लेशमात्र भी सहानुभूति नहीं थी, कहाँ तक टिक सकती थीं?‡

युद्ध की चर्चा करते हुए हम आगे बढ़ आये हैं। इसी बीच में राष्ट्रीय संविधान-परिषद् का निर्वाचन हो चुका था और उसने बड़े क्रान्तिकारी निर्णय कर लिये थे।

— — — —

---

* Hazen : The French Revolution, Vol. II, p. 548.

† H. G. Wells : The Outline of History, p. 903.

‡ Hearnshaw : Main Currents of European History, p. 69.

अध्याय ७

गणतन्त्र की स्थापना

राष्ट्रीय संविधान-परिषद् (National Convention)

(२१ सितम्बर १७९२ — २६ अक्टूबर १७९५)

गणतन्त्र की स्थापना—राष्ट्रीय संविधान-परिषद् का प्रथम अधिवेशन २१ सितम्बर १७९२ को हुआ। उसका सबसे पहला काम राजसत्ता (Royalty) के अन्त की घोषणा करके गणतन्त्र की स्थापना करना था। उसी दिन से गणतन्त्र का संवत् चलाया गया और नये संवत् का प्रथम वर्ष आरम्भ हुआ। उसने प्रवासी कुलीनों को सदा के लिये देश से निर्वासित करने का आदेश निकाला और राजा के ऊपर अभियोग चलाने का प्रस्ताव स्वीकार किया। इसके साथ ही नवीन संविधान बनाने के लिये एक समिति भी नियुक्त की गई।

राजा को मृत्यु-दण्ड—राजा के अभियोग के विषय में संविधान-परिषद् में प्रारम्भ से ही ज़िरोंदीस्त तथा जकोबें लोगों में संघर्ष छिड़ गया। दोनों दलों के विचार भिन्न थे। जकोबें लोगों की इच्छा थी कि राजा को उस पर अभियोग चलाये बिना ही मृत्यु-दण्ड दिया जाय, परन्तु ज़िरोंदीस्त दल राजा के प्रश्न को समस्त जनता के निर्णय पर छोड़ना चाहता था। अन्त में ज़िरोंदीस्त दल की विजय हुई; जकोबें दल ने उस पर मुक़द्दमा चलाना स्वीकार कर लिया। एक महीने तक मुक़द्दमा संविधान-परिषद् के सामने चलता रहा और अन्त में सर्वसम्मति से वह देशद्रोह का दोषी ठहराया गया। उसे दण्ड क्या दिया जाय, इस प्रश्न पर सब सदस्यों के मत लिये गये। ७२१ मत में से ३८७ मत मृत्यु-दण्ड के पक्ष में प्राप्त हुए। २१ जनवरी १७९३ को उसके पेरिस के राजमहल (Tuilleries) के सामने उसका सिर धड़ से अलग कर दिया गया।

सोलहवें लुई को इस प्रकार एक अभियोग का नाटक रच कर मृत्यु-दण्ड देना उचित नहीं कहा जा सकता। इङ्गलैण्ड के राजनीतिज्ञ फ़ॉक्स के शब्दों में यह कार्य नृशंस तथा अन्यायपूर्ण था। इतना तो अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि वह क्रान्ति का द्रोही था। उसने प्रवासी कुलीनों को प्रोत्साहित किया था और फ़ान्स के शत्रुओं की योजनाओं में भी वह शामिल था। उसके महल में एक गुप्त लोहे की सन्दूक मिली थी

जिसमें ऐसे पत्र विद्यमान थे जिनसे उसका देशद्रोह पूर्णतया प्रमाणित होता था।* परन्तु उस पर मुक़द्दमा चलाने के लिये कोई सांविधानिक आधार नहीं था। संविधान के अनुसार वह सिंहासन से अलग किया जा सकता था और वह दण्ड उसे मिल चुका था। इसके पहले भी उसका वार-वार अपमान करके उसे मृत्यु-दण्ड से अधिक कष्टमय दण्ड दिया जा चुका था। वह बुरा व्यक्ति नहीं था। फ़ान्स के समस्त राजाओं में वह सबसे दयालु, निःस्वार्थ तथा सदाशय था। परन्तु दुर्भाग्यवश वह जितना सज्जन था उतना ही दुर्बल भी था। उसमें अपनी रानी तथा अपने स्वार्थी, सुधार के शत्रु दरबारियों के प्रभाव से बचने की शक्ति नहीं थी। इसके अतिरिक्त जिस स्थिति में वह पड़ा हुआ था वह अत्यन्त जटिल थी, जिसमें उससे अधिक बुद्धिमान व्यक्ति भी बौखला सकता था। उसके साथ दया का वर्त्ताव किया जा सकता था परन्तु जकोंबें लोग दया करना जानते ही नहीं थे। उनके लिये तो समस्त आपत्तियों का कारण वही था। रोब्सपियर का कथन था कि देश के जीवित रहने के लिये लुई को अवश्य मरना चाहिये। उसका तर्क बाद के कुछ वर्षों की घटनाओं ने असत्य प्रमाणित कर दिया। राजा को प्राण-दण्ड देना एक अपराध था और साथ ही एक भयंकर भूल।† यह हत्या क्रान्ति की सफलता के लिये की गई थी परन्तु यह उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ। देश में ऐसे लोगों की संख्या बहुत बड़ी थी जो गणतन्त्र से असन्तुष्ट थे। वे उसे चर्च का शत्रु समझते थे और अब उसने राजा की हत्या भी कर डाली थी। अतः प्रान्तों में गणतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह खड़ा हो गया और गणतन्त्र के लिये देश के अन्दर ही एक भयंकर स्थिति पैदा हो गई। देश के बाहर राजा की हत्या से फ़ान्स के शत्रुओं की संख्या बढ़ गई। आॅस्ट्रिया तथा प्रशा से तो युद्ध चल ही रहा था, अब इङ्गलैण्ड, रूस, स्पेन हॉलैण्ड तथा जर्मनी और इटली के राज्य भी अर्थात् समस्त योरोप फ़ान्स के विरुद्ध हो गया। इस प्रकार देश के अन्दर और बाहर गणतन्त्र के सामने जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया। ऐसी कठिन परिस्थिति में संविधान-परिषद् को देश के अन्दर आतंक-राज्य स्थापित करना पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप गणतन्त्र का अन्त हो गया और फ़ान्स पर एक कठोर सैनिक शासन स्थापित हो गया।

संविधान-परिषद् में दलीय संघर्ष—संविधान-परिषद् ने राजा से तो मुक्ति पा ली, परन्तु उसका मुख्य कार्य—नवीन संविधान का निर्माण—ज़िरोंदीस्त तथा जकोंबें दलों

---

* Thompson : The French Revolution, pp. 327-28. इन पत्रों का संक्षिप्त विवरण इन पृष्ठों पर दिया हुआ है।

हेजन का मत है कि उन पत्रों में जितनी बातें हैं वे सब राजा के मन्त्रियों द्वारा सांविधानिक रीति से की गई थीं और उन पत्रों से राजा का देशद्रोह प्रमाणित नहीं होता। Hazen : The French Revolution, Vol. II, p 584.

† Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 39.

के झगड़ों के कारण बहुत दिनों तक स्थगित रहा। दोनों ही दल गणतन्त्रीय थे परन्तु दोनों के आदर्श भिन्न थे। ज़िरोंदीस्त दल वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समर्थक था और समग्र देश की जनता के समान अधिकार एवं प्रभाव की प्रतिष्ठा करना चाहता था। वह पेरिस के राजनीतिक प्राधान्य का विरोधी था और फ़ान्स को एक संघीय गणतन्त्र बनाना चाहता था। वह रक्तपातयुक्त अत्याचारों का अन्त करके व्यवस्थित शासन स्थापित करना चाहता था। सितम्बर के हत्यारों को दण्ड देना चाहता था और पेरिस की भीड़ तथा उसके क्रान्तिकारी कम्यून के प्रभाव से शासन को मुक्त कर संविधान-परिषद् के प्राधान्य को पुनः स्थापित करना चाहता था। उसके विपरीत ज़कोबे दल देश की अविच्छिन्न एकता चाहता था और उसे स्थापित करने के लिये पेरिस का राजनीतिक प्राधान्य बनाये रखना चाहता था। वह पेरिस के कम्यून को, जिसमें उसका प्राधान्य था, फ़ान्स के शासन में प्रमुख स्थान देना चाहता था। उसका एकमात्र उद्देश्य क्रान्ति को पूर्ण करना था और इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये सब प्रकार के हिंसात्मक उपायों को वह काम में लाना चाहता था। संविधान-परिषद् में आरम्भ में तो ज़िरोंदीस्त दल का प्राधान्य था; परन्तु शीघ्र ही ज़कोबें दल ने उससे प्रधानता छीन ली और संविधान-परिषद् पेरिस के कम्यून के सामने असहाय हो गई।

क्रान्तिकारी प्रचार—इधर तो ये दोनों दल प्राधान्य के लिये झगड़ रहे थे, उधर योरोप में सोलहवें लुई की हत्या के परिणामस्वरूप बड़ा क्षोभ और रोष फैल रहा था। केवल यही घटना बाह्य हस्तक्षेप का समुचित कारण नहीं बन सकती थी, परन्तु क्रान्ति का रूप धीरे-धीरे बदल रहा था और अब वह आक्रामक होती जा रही थी। १५ दिसम्बर १७९२ को संविधान-परिषद् ने दो घोषणाएँ प्रकाशित की थीं जिनके द्वारा उसने योरोप के समस्त राष्ट्रों को अपने राजाओं के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये आदेश दिया और इस कार्य में सशस्त्र सहायता देने का वचन दिया। इसके साथ ही उसने यह भी घोषणा की कि जो राष्ट्र स्वतन्त्रता तथा समानता का त्याग कर अपने राजाओं और विशेषाधिकारयुक्त वर्गों को क़ायम रखेंगे उन्हें फ़्रेञ्च राष्ट्र अपना शत्रु समझेगा। इस प्रकार फ़ान्स ने योरोप के समस्त एकतन्त्र राष्ट्रों को चुनौती दी थी। ऐसी दशा में उनके लिये चुप बैठना असम्भव था।

क्रान्तिकारी फ़ान्स का योरोप के साथ संघर्ष

प्रथम गुट (First Coalition)—ऑस्ट्रिया तथा प्रशा के साथ तो फ़ान्स का युद्ध चल ही रहा था। इस चुनौती पर राजा की हत्या से इङ्गलैण्ड में भी उत्तेजना पैदा हुई। फ़ान्स ने बेल्जियम को लेकर तथा हॉलैण्ड की शेल्ट नदी को, जिसमें वेस्टफेलिया की सन्धि के अनुसार डच जहाज़ों को छोड़ अन्य किसी राष्ट्र के जहाज़ नहीं आ-जा सकते थे, सब राष्ट्रों के लिये खोलकर इङ्गलैण्ड के हितों को काफ़ी चोट पहुँचाई

थी। तिस पर भी इङ्गलैण्ड चुप बैठा था, परन्तु सोलहवें लुई की हत्या का समाचार पा कर उसने फ्रेञ्च राजदूत को वापस लौटा दिया। इस पर १ फरवरी १७९३ को संविधान-परिषद् ने इङ्गलैण्ड के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। फ्रान्स अपनी सीमा पूर्व की ओर राइन नदी तथा आल्प्स पर्वत तक और दक्षिण में पिरेनीज पर्वत तक ले जाना चाहता था। राइन नदी हॉलैण्ड के बीच से बहती है; अतः हॉलैण्ड के विरुद्ध भी युद्ध की घोषणा की गई और मार्च में स्पेन के साथ भी युद्ध छेड़ दिया गया। इन सब राष्ट्रों— ऑस्ट्रिया, प्रशा, इङ्गलैण्ड तथा स्पेन—ने फ्रान्स के विरुद्ध पहला गुट (First Coalition) बना लिया। सेवॉय प्रान्त की रक्षा के लिये सार्डिनिया का राज्य भी इस गुट में शामिल हो गया और इस प्रकार फ्रान्स ने प्रायः समस्त योरोप से लड़ाई मोल ले ली।

फ्रान्स की प्रारम्भिक पराजय—युद्ध शुरू हो गया। फ्रान्स पर सब ओर से आक्रमण हुआ और सभी मोर्चों पर उसकी पराजय हुई। फ्रान्स की सेनाओं ने हॉलैण्ड पर आक्रमण किया, परन्तु द्यूमोरिए नीयरविंडन (Neerwinden) के स्थान पर ऑस्ट्रियन सेना से हारा (१८ मार्च)। फ्रेञ्च सेना को बेल्जियम भी खाली करना पड़ा और द्यूमोरिए शत्रु से जा मिला। ऑस्ट्रियन सेना फ्रान्स में घुस गई और पेरिस की ओर बढ़ने लगी। एक दूसरी ऑस्ट्रियन सेना अलसास प्रान्त में घुस गई। मध्य-राइन के क्षेत्र में प्रशा की सेना ने फ्रेञ्च सेना को खदेड़ भगाया, उत्तर में अंग्रेजी सेना ने डनकर्क का घेरा डाला और दक्षिण में अंग्रेजी सेना तूलों (Toulon) के बन्दरगाह में घुस गई। स्पेन की सेना ने भी पिरेनीज पर्वत को पार कर रोसिलों (Roussillon) प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार युद्ध के पहले छः महीनों में फ्रान्स की सर्वत्र पराजय हुई।

फ्रान्स में गृह-कलह—उधर तो संविधान-परिषद् को बाहरी शत्रु का मुक़ाबला करना पड़ रहा था, इधर देश के अन्दर भी गृह-कलह शुरू हो गया था। पश्चिम की ओर ब्रिटेन तथा ला वांदे (La Vendee) के प्रान्त अन्य प्रान्तों से भिन्न थे। वहाँ की जनता पर कैथोलिक चर्च तथा पुराने भूमिपतियों का काफ़ी प्रभाव था। उन प्रान्तों के लोगों में राजा के लिये भी आदर था। जब फरवरी (१७९३) में वहाँ सेना के लिये ज़बरदस्ती भरती होने लगी तो उन्होंने विद्रोह कर दिया। प्रारम्भ में तो विद्रोह दबा दिया गया, परन्तु वह धीरे-धीरे बढ़ता गया और बड़ा भयंकर हो गया। इस प्रकार संविधान-परिषद् के सामने देश के अन्दर और बाहर संकटों का पहाड़ खड़ा था। परन्तु इन संकटों के सामने क्रान्ति के नेताओं ने हिम्मत नहीं हारी, उल्टे वे दूने उत्साह से संकटों का सामना करने को तैयार हो गये। परन्तु ऐसे समय में क्रान्तिकारियों की आपस की फूट खतरनाक थी। जिरोंदीस्त तथा जकोबें दलों का संघर्ष बढ़ रहा था। पेरिस की कम्यून की सहायता से जकोबें दल ने संविधान-परिषद् को दबाकर २९ प्रमुख

जिरोंदीस्त नेता गिर.फ्तार करवा लिये (२ जून)। अब जकोबें दल संविधान-परिषद् में सर्वेसर्वा हो गया और उसने संकटों का मुक़ाबला करने की तैयारी की।

आतङ्क का राज्य (Reign of Terror)

जून १७९३—जुलाई १७९४

सेना के संगठन का कार्य कार्नो (Carnot) को सौंपा गया जिसने बड़ी लगन के साथ कार्य करके कुछ ही महीनों में ७,५०,००० सैनिकों की एक सुसंगठित सेना तैयार कर ली। देश के अन्दर संकट का सामना करने के लिये एक अस्थायी सरकार क़ायम की गई जिसमें संविधान-परिषद् द्वारा नियुक्त दो समितियाँ थीं—सार्वजनिक व्यवस्था समिति (Committee of Public Safety) तथा सामान्य सुरक्षा समिति (Committee of General Security)।

सार्वजनिक व्यवस्था समिति—सार्वजनिक व्यवस्था समिति की नियुक्ति अप्रेल में हो चुकी थी। आरम्भ में उसमें ९ सदस्य थे, परन्तु बाद में बढ़ा कर १२ सदस्य कर दिये गये थे। इस समिति के अपरिमित अधिकार थे और वह गणतन्त्र के शत्रुओं को नष्ट करने के लिये अपनी इच्छानुसार कोई भी कार्य कर सकती थी। इस समिति में आरम्भ में दांतों प्रमुख व्यक्ति था, परन्तु जिरोंदीस्त दल के पतन के बाद वह हटा दिया गया था और रोब्सपियर, सेंत ज्यूस्त तथा कार्नो मुख्य कर्ताधर्ता बन गये थे।

सामान्य सुरक्षा समिति—सामान्य सुरक्षा समिति का कार्य पुलिस का था—समस्त देश में व्यवस्था क़ायम रखना और जिन लोगों पर राजा के समर्थक होने या गणतन्त्र के विरुद्ध होने की ज़रा भी शंका हो उन्हें गिर.फ्तार करके जेल भेज देना। इस प्रकार की गिर.फ्तारियों को वैध बनाने के लिये क़ानून (Law of Suspects) बना दिया गया था जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति शंका पर ही गिर.फ्तार किया जा सकता था।

प्रान्तीय प्रतिनिधि—इसके अतिरिक्त संविधान-परिषद् प्रत्येक प्रान्त को अपने दो-दो प्रतिनिधि असीमित अधिकार के साथ भेजती थी। वे किसी को गिर.फ्तार तो नहीं कर सकते थे, परन्तु उनका एक शब्द भी किसी को क्रान्तिकारी न्यायालय के सामने भेज देने के लिये काफ़ी था।

क्रान्तिकारी न्यायालय—जो लोग इस प्रकार शंका के कारण जेल भेज दिये जाते थे उनका न्याय करने के लिये एक क्रान्तिकारी न्यायालय (Revolutionary Tribunal) था जिसमें आरम्भ में तो कुछ न्याय होता भी था परन्तु बाद में केवल न्याय का ढोंग रह गया था और मृत्युदण्ड दे दिया जाता था।

जिन लोगों को मृत्युदण्ड दिया जाता था वे 'क्रान्ति चौक' (Square of

the Revolution) ले जाये जाते थे, वहाँ गिलोटिन (Guillotine) नाम की सैकड़ों टिकटियाँ खड़ी रहती थीं। उन पर उनका सर धड़ से अलग कर दिया जाता था।

क्रान्तिकारी न्यायालय ने हजारों को इस प्रकार मृत्यु के घाट उतार दिया। अनुमान किया जाता है कि अकेले पेरिस में ही कोई ५,००० व्यक्ति इस प्रकार मारे गये जिनमें रानी मेरी आँत्वानेत (१६ अक्टूबर १७९३), ओर्लिएँ (Orleans) का ड्यूक, मादाम रोलाँ तथा ज़िरोंदीस्त दल के कई प्रमुख नेता भी थे। जैसा पेरिस में हो रहा था वैसा ही देश के अन्य नगरों में भी हो रहा था। जकोबें दल की दृष्टि में जो क्रान्ति के शत्रु थे, वे इस प्रकार नष्ट किये जा रहे थे, परन्तु इसी हत्याकाण्ड के बीच एक नॉर्मन कन्या शालोत कोर्दे (Charlotte Corday) ने सितम्बर के हत्याकाण्ड के सूत्रधार मारा की भी हत्या कर दी।

गृह-कलह का दमन—इस तरह देश में राजसत्ता के समर्थकों तथा गणतन्त्र के शत्रुओं को निर्मूल किया जा रहा था, उधर देश के अन्दर प्रान्तों में जो विरोध फैल रहा था उसका भी दमन किया जा रहा था। ला वांदे तथा ब्रिटेनी के विद्रोह की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। पेरिस के कम्यून की प्रधानता तथा ज़िरोंदीस्त दल के साथ किये गये अत्याचार के विरुद्ध लियों (Lyons), मार्सेइय, बोर्दो (Bordeaux) आदि अनेक नगर भी विद्रोह कर बैठे थे। इन विद्रोहों का बड़ी निर्दयता के साथ दमन कर दिया गया।

शत्रुओं की पराजय—इसके साथ ही शत्रुओं के साथ युद्ध चल रहा था। देश-भक्ति के जोश में तथा कार्नो के कुशल सङ्गठन के फलस्वरूप फ्रेञ्च सेना धीरे-धीरे सभी मोर्चों पर शत्रुओं को परास्त करने लगी। अंग्रेज़ लोग हारे और उन्होंने डंकर्क का घेरा उठा लिया (सितम्बर)। बेल्जियन और ऑस्ट्रियन सेना हारी और बेल्जियम ऑस्ट्रिया से छीन लिया गया। हॉलैण्ड पर फ्रेञ्च सेना का अधिकार हो गया और उसका शासन बदल कर गणतन्त्रीय कर दिया गया। उसका नाम बेटावियन गणतन्त्र (Patavian Republic) रखा गया और उसके साथ मैत्री कर ली गई। अल्सास प्रान्त शत्रु से खाली हो गया और शत्रु की जितनी सेनाएं राइन नदी को पार कर आई थीं वे सब खदेड़ दी गईं। दक्षिण की ओर अंग्रेजों से तूलों भी छिन लिया गया।

बासिल की सन्धि—इस प्रकार फ्रान्स ने 'प्रथम गुट' को तोड़ कर परास्त कर दिया। हॉलैण्ड मित्र बन ही चुका था। प्रशा तथा स्पेन ने बासिल (Basle) की सन्धि के द्वारा फ्रान्स से सन्धि कर ली (४ अप्रेल, १७९५)। केवल इङ्गलैण्ड, ऑस्ट्रिया तथा सार्डिनिया बचे रहे। उन्होंने सन्धि तो नहीं की परन्तु वे भी मैदान से हट गये। वास्तव में फ्रान्स के विरुद्ध गुट तो बड़ा शक्तिशाली बन गया था परन्तु धीरे-धीरे उसके सदस्यों में फूट पड़ गई थी। इङ्गलैण्ड के प्रधान मन्त्री पिट की युद्ध-नीति तथा योरोप के

राज्यों को धन से सहायता देने की थी। आरम्भ में तो वह सहायता करता रहा, परन्तु जब उसने देखा कि प्रशा का ध्यान युद्ध की अपेक्षा पोलेण्ड के बँटवारे की ओर अधिक है तो उसने सहायता बन्द करने की धमकी दी। ऑस्ट्रिया तथा स्पेन दोनों युद्ध करते-करते थक गये थे। प्रशा को यह शंका थी कि ऑस्ट्रिया पूरा-पूरा साथ नहीं दे रहा है। ऐसी अवस्था में युद्ध पूरी शक्ति से जारी रखना असम्भव था। उधर इस बीच में फ्रान्स में भी बड़े-बड़े परिवर्तन हो गये थे और क्रान्तिकारी प्रचार बन्द हो गया था।*

क्रान्तिकारियों में मतभेद—इस प्रकार दो वर्षों के युद्ध के बाद फ्रान्स को बाहरी संकट से मुक्ति मिली। परन्तु युद्ध के दिनों में ही फ्रान्स के अन्दर बड़े भारी परिवर्तन हो गये थे। ज्यों-ज्यों शत्रु की हार हो रही थी त्यों-त्यों क्रान्तिकारियों में ही आतंक के राज्य के सम्बन्ध में मतभेद होता जा रहा था। आतंक का राज्य केवल फ्रान्स की रक्षा के लिये था। उसकी स्थापना सामान्य शासन-प्रणाली की तरह नहीं की गई थी, वह तो केवल आपत्तिकालीन व्यवस्था थी। कई लोगों को अब उसकी आवश्यकता नहीं मालूम होती थी और वे उसे बन्द करना चाहते थे। इस प्रश्न पर तथा अन्य बातों पर जकोबें दल में ही फूट पड़ गई।

एर्बातिस्त दल की हत्या—जकोबें लोगों में एक 'एर्बातिस्त' (Hebertist) दल था जिसके सदस्य नास्तिक एबर्त के अनुयायी थे। यह दल बहुत ही उग्र विचार-वाला था और सभी पुरानी बातों को नष्ट करना चाहता था। उसने वर्ष के महीनों के नाम बदलकर मौसमों के प्राकृतिक परिवर्तनों के आधार पर कर दिये, उदाहरणार्थ जुलाई का नाम थर्मिदोर (Thermidor) अर्थात् गर्मी का महीना, अप्रैल का नाम जर्मिनल (Germinal) अर्थात् कोपलें निकलने का समय रखा गया था। उनका प्रधान बल पेरिस का कम्यून था जिसका प्राधान्य सार्वजनिक व्यवस्था समिति की स्थापना के बाद से घट गया था और जो इस कारण अत्यन्त असन्तुष्ट था। वे लोग नास्तिक थे। उन्होने ईश्वर की उपासना के स्थान पर बुद्धि (Reason) की उपासना आरम्भ की और और सारे केथोलिक चर्च बन्द करवा दिये थे। उनके विचार साम्यवादी और निजी सम्पत्ति के विरोधी थे। जकोबें दल में रोब्सपियर अब भी प्रमुख था। वह गणतन्त्रीय विचारों का होते हुए भी निजी सम्पत्ति का समर्थक था और ईश्वर को मानता था। एर्बातिस्त दल के ऐसे विचारों से वह चौंका और उसने सार्वजनिक व्यवस्था समिति के द्वारा सभी नास्तिकों को मृत्युदण्ड दिलवा दिया (४ जर्मिनल—२४ मार्च, १७६४)।

दाँतों की हत्या—एबर्त तथा उसके अनुयायियों के बाद दाँतों और उसके अनुयायियों की बारी आई। दाँतों को अब आतंक के राज्य की कोई आवश्यकता नहीं

---

* १३ अप्रैल १७९६ को संविधान-परिषद् ने दूसरे राज्यों के शासन में हस्तक्षेप बन्द कर देने की घोषणा की थी। Thompson : The French Revolution, pp. 417-18.

दिखाई देती थी और वह उसे बन्द करना चाहता था। परन्तु रोब्सपियर के लिये दया का अर्थ था देशद्रोह। उसने दांतों और उसके साथियों को भी मौत के घाट उतार दिया (१६ जर्मिनल—५ अप्रैल, १७९४)। दांतों जकोबें दल का सबसे योग्य और समझदार राजनीतिज्ञ था। एक समय वह क्रान्तिकारियों में सबसे अधिक उग्र था, परन्तु वह सदा परिस्थिति के परिवर्तन के साथ अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिये तैयार रहता था। उसकी दृष्टि में देशहित सर्वोपरि था। वह समझता था कि जकोबें दल ही क्रान्ति की रक्षा कर सकता था; इसी कारण वह अपने दल में फूट नहीं देखना चाहता था। वह जिरोंदीस्त तथा जकोबें लोगों में समझौता कराता रहता था और सदा निष्पक्ष रहता था। मिराबो के बाद दांतों ही ऐसा राजनीतिज्ञ था जो परिस्थिति को ठीक-ठीक समझता था।

रोब्सपियर की हत्या—अब रोब्सपीयर फ्रान्स का सर्वेसर्वा हो गया। पेरिस की क्रान्तिकारी कम्यून, संविधान-परिषद्, सार्वजनिक व्यवस्था समिति तथा जकोबें दल सब उसकी मुट्ठी में थे। ७ मई १७९४ को उसने संविधान-परिषद् से एक आदेश जारी करवाया जिसके द्वारा ईश्वर का अस्तित्व तथा आत्मा का अमरत्व स्वीकार किये गये। १० जून को संविधान-परिषद् को एक नया क़ानून बनाना पड़ा जिसके द्वारा क्रान्तिकारी न्यायालय को अपराध के लिये किसी प्रमाण के मांगने की आवश्यकता नहीं रही। इस नादिरशाही क़ानून के अनुसार न्यायालय ने डेढ़ महीने के अन्दर १,३५६ असहाय व्यक्तियों को यमराज के सुपुर्द कर दिया। परन्तु अब आतंक और अत्याचार की अति हो चुकी थी और पाप का घड़ा भर चुका था। निदान उसी के साथी उसके विरुद्ध हो गये और वह तथा उसके साथी २७ जुलाई को पकड़ लिये गये। पेरिस की कम्यून ने अब भी उसका साथ दिया परन्तु संविधान-परिषद् ने साहस करके अपने अधिकार का प्रयोग किया और वह तथा उसके साथी गिलोटिन की भेंट कर दिये गये। इस प्रकार रोब्सपियर का अन्त हुआ। मिराबो जानता था कि यह सब कुछ होगा मरने के कुछ दिन पहले उसने भविष्यवाणी की थी कि शनि देवता के समान क्रान्ति अपनी ही सन्तान का भक्षण कर लेगी।* उसकी भविष्यवाणी सत्य निकली।

आतंक के राज्य की जिम्मेदारी रोब्सपियर पर थी, परन्तु वह स्वभाव से रक्त-पिपासु नहीं था। वह ईमानदार व्यक्ति था और समझता था कि वह जो कुछ कर रहा था अपने देश के कल्याण के लिये कर रहा था। वह बड़ा लोकप्रिय नेता था परन्तु उसमें व्यावहारिक योग्यता बिलकुल नहीं थी, नहीं तो उसका प्राधान्य बहुत दिनों तक बना रहता। उसकी मृत्यु के साथ क्रान्ति की दिशा पलटती है, आतंक का राज्य समाप्त होता है और प्रतिक्रिया आरम्भ होती है। रोब्सपियर की मृत्यु की घटना इतिहास

---

* Schevill : A History of Europe, p. 414.

में 'थर्मिदोर (जुलाई) की क्रान्ति' कहलाती है और उसके बाद जो प्रतिक्रिया आरम्भ होती है वह 'थर्मिदोरियन प्रतिक्रिया' (Thermdorian Reaction) के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रतिक्रिया—अब प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। संविधान-परिषद् में भयभीत मध्यम वर्ग में फिर साहस का संचार हुआ और उसने थर्मिदोरियन प्रतिक्रिया वालों के साथ सहयोग करना आरम्भ किया। धीरे-धीरे आतंक के राज्य के समय की व्यवस्था तोड़ी जाने लगी। पेरिस की क्रान्तिकारी कम्यून भंग कर दी गई, जकोबें क्लब बन्द कर दिया गया, क्रान्तिकारी न्यायालय स्थगित कर दिया गया और सार्वजनिक व्यवस्था समिति के कामों में कमी कर दी गई। जो लोग शंका के कारण अब भी कारागारों में बन्द थे और जो भाग्य से बच गये थे, वे मुक्त कर दिये गये। जिरोंदीस्त दल के जो लोग संविधान-परिषद् से निकाल दिये गये थे वे वापस बुला लिये गये। राष्ट्रीय रक्षक दल का पुनः संगठन किया गया और जनता निःशस्त्र कर दी गई। जिस परिस्थिति में यह व्यवस्था की गई थी वह नहीं रही थी, देश के अन्दर शान्ति स्थापित हो चुकी थी और जिन लोगों से क्रान्ति को भय हो सकता था उनका दमन किया जा चुका था। देश के बाहर भी शत्रु हार रहा था और फ्रान्स के ऊपर से संकट टल चुका था।

अब संविधान-परिषद् ने मध्यम वर्ग की सहायता से और उसकी सम्मति के अनुसार शासन करना आरम्भ किया। यही वर्ग क्रान्ति का मुख्य निर्माता था और उसी को इससे मुख्य लाभ हुआ था। शासन-कार्य तो संविधान-परिषद् पर परिस्थिति ने लाद दिया था। उसका मुख्य कार्य था नवीन संविधान का निर्माण जो अब आरम्भ हुआ और एक वर्ष के अन्दर नवीन संविधान तैयार हो गया (१७९५ अथवा गणतन्त्रीय सम्वत् का तृतीय वर्ष)।

१७९३ में संविधान-परिषद् ने प्रान्तीय जनता की पेरिस के प्रति जो शङ्का थी उसे दूर करने, उसे सन्तुष्ट करने और गृह-कलह की आशंका को मिटाने के लिये एक संविधान बनाया था जिसके अनुसार सार्वभौम मताधिकार, विधान-सभा के वार्षिक चुनाव, समस्त क़ानूनों के लिये जनता की स्वीकृति तथा विधायिका द्वारा चुने हुए २४ व्यक्तियों की एक कार्यपालिका की व्यवस्था की गई थी, परन्तु उस समय की परिस्थिति में उसे कार्यान्वित करना असम्भव था और वह स्थगित कर दिया गया था। पेरिस के उग्रपन्थियों ने उसे अब कार्यान्वित करने की माँग की परन्तु संविधान-परिषद् ने उस संविधान को 'अराजकतापूर्ण' बतलाकर माँग ठुकरा दी और बिलकुल नया संविधान बनाया।

नये संविधान का निर्माण करने में संविधान-परिषद् ने पिछले संविधान के अनुभवों से लाभ उठाया। पिछले संविधान में कार्यपालिका बड़ी निर्बल थी, उसका विधायिका से कोई सम्बन्ध नहीं था और विधायिका एक-सदनीय होने के कारण

निरंकुश थी। नये संविधान में इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया गया।

नया संविधान (Constitution of the Year III)—नये संविधान के अनुसार एक द्वि-सदनी विधायिका सभा की व्यवस्था की गई। एक सदन तो वृद्धों (Council of Elders) का सदन था जिसमें कम से कम ४० वर्ष की अवस्था वाले २५० सदस्य रखे गये। दूसरे सदन (Council of the Five Hundred) में ५०० सदस्य रखे गये जिनकी अवस्था कम से कम ३० वर्ष की निश्चित की गई। क़ानून के प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार इसी सदन को दिया गया परन्तु उसे कार्यान्वित हो सकने के लिये वृद्धों के सदन की अनुमति आवश्यक रही। दोनों सदनों के दो-तिहाई सदस्य प्रथम बार संविधान-परिषद् के सदस्यों में से चुनना आवश्यक रखा गया और भविष्य के लिये प्रतिवर्ष एक-तिहाई सदस्यों के अवकाश ग्रहण करने और उनके रिक्त स्थानों की निर्वाचन द्वारा पूर्ति की व्यवस्था की गई। इन सदनों के सदस्यों के निर्वाचन के लिये मत देने का अधिकार उन्हीं लोगों को मिला जिनके पास सम्पत्ति थी और जो राज्य को कर देते थे।

कार्यपालिका सत्ता पाँच व्यक्तियों (डाइरेक्टरों) की एक समिति (Directory) को सौंपी गई, जिनकी नियुक्ति 'पाँच सौ के सदन' द्वारा प्रस्तावित १० व्यक्तियों में से वृद्धों का सदन करता था। उनमें से एक के लिये प्रतिवर्ष अलग हो जाना आवश्यक था। वे न विधायिका सभा के सम्मुख ही उत्तरदायी थे और न जनता के। यह समिति अपने मन्त्रियों को स्वयं ही नियुक्ति करती थी।

समीक्षा—इस प्रकार नये संविधान के अनुसार फ़्रान्स में गणतन्त्र की स्थापना हुई। पिछले दिनों फ़्रान्स में जो रक्त की नदियाँ बही थीं वे १७८९ के आदर्शवाद को बहा ले गई थीं। जो लोग उस आतंक-राज्य में से बच रहे थे वे आदर्शवादी नहीं वरन् भ्रष्ट, स्वार्थी, षड्यन्त्रकारी थे।* उन्होंने गणतन्त्र तो स्थापित किया परन्तु वह प्रजातन्त्रीय नहीं था। १७९२ के संविधान के अनुसार मध्यवर्गीय (Bourgeois) एकतन्त्र की स्थापना हुई थी; इस संविधान ने मध्यम वर्गीय गणतन्त्र की स्थापना की। इसके अनुसार मताधिकार सम्पत्तिवालों को मिला और इस प्रकार गणतन्त्र मध्यम वर्गवालों के हाथों में ही रहा, सर्वसाधारण जनता के लिये उसमें कोई स्थान नहीं था।

इसके अतिरिक्त इस संविधान में अन्य दोष भी थे। सबसे मुख्य दोष तो यह था कि कार्यपालिका तथा विधायिका के मतभेद को दूर करने का उसमें कोई उपाय नहीं था।† कार्यपालिका के सदस्य अर्थात् डाइरेक्टर विधायिका सभा या जनता किसी के सम्मुख उत्तरदायी नहीं थे। केवल महाभियोग (Impeachment) को

---

* Muir : A Snort History of theBritish Commonwealth, Vol. II, p 159.

† Lodge : A History of Modern Europe, p. 560.

छोड़ उन्हें अलग करने का कोई उपाय नहीं था और ऐसा कोई उपाय नहीं था जिसके द्वारा जनता की इच्छा का उन पर दबाव पड़ सकता ।

नये संविधान के अनुसार दोनों सदनों के प्रथम निर्वाचन के लिये पुरानी संविधान-परिषद् में से दो-तिहाई सदस्य लेने की शर्त रखने का एक उद्देश्य तो १७६१ में संविधान-सभा (राष्ट्रीय सभा) ने जो भूल की थी उससे बचना था, परन्तु इसके साथ ही दूसरा उद्देश्य नई विधायिका सभा से राजसत्ता के समर्थकों को दूर रखना था, क्योंकि उस समय आतङ्क के राज्य की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उनकी संख्या और हिम्मत बढ़ रही थी और संविधान-निर्माताओं को यह शङ्का थी कि कहीं नई विधायिका में वे अधिक संख्या में आकर आरम्भ में ही गणतन्त्र का नाश न कर दे ।

विद्रोह—यह शर्त न केवल राजसत्ता के समर्थकों को, वरन् मध्यम वर्ग को भी पसन्द न आई और उन्होंने मिलकर ५ अक्टूबर १७६५ (13th Vendemiare) को संविधान-परिषद् के विरुद्ध विद्रोह कर दिया । संविधान-परिषद् ने विद्रोह के दमन का कार्य अपने एक सदस्य बारा (Barras) को सौंपा । बारा सैनिक नहीं था; उसने अपने एक मित्र, सेना के छोटे अफ़सर, नेपोलियन बोनापार्ट से इस कार्य में सहायता ली । नेपोलियन १७६३ में अंग्रेजों से तूलों वापस लेने में अपनी योग्यता तथा साहस का परिचय दे चुका था । उसने गोलियों की तेज़ बौछार से विद्रोहियों को तितर-बितर कर दिया । इस प्रकार संविधान-परिषद् ने अपने समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त की और नवीन गणतन्त्र की उसके जन्म के पूर्व ही उस पर आनेवाले संकट से रक्षा की । अब संविधान-परिषद् का कार्य समाप्त हो गया था और २६ अक्टूबर १७६५ को वह विसर्जित हो गई । अपने विसर्जन के पहले वह गणतन्त्र की घोषणा के बाद से जितने भी लोग राजनीतिक अपराधों के लिये क़ैद किये गये थे, उनकी मुक्ति की घोषणा भी कर गई ।*

डायरेक्टरी की स्थापना के साथ विशुद्ध क्रान्ति का अन्त हो गया । डायरेक्टरी के भ्रष्ट, बेईमान राजनीतिज्ञों के शासन में फ़्रान्स १७६१ के प्रजातन्त्र से काफ़ी दूर हट गया । १७८६ में फ़्रान्सवासियों की जो आशाएँ थीं, उनकी डाइरेक्टरी के अत्याचारयुक्त शासन में पूर्ति होनी थी । इसकी स्थापना से राजनीतिक प्रतिक्रिया की दिशा में फ़ान्स ने पहला क़दम उठाया जिसकी पराकाष्ठा पाँच वर्ष बाद नेपोलियन के सैनिक शासन में हुई ।

इतिहासकार मादलें ने लिखा है कि जिस संविधान-परिषद् ने सोलहवें लुई, दाँतों तथा रोब्सपियर को गिलोटीन की भेंट चढ़ा दिया था, उसी ने उस भावी तानशाह का

---

* Stephens : Revolutionary Europe, p. 166.

पैर रक़ाब में रख दिया जो काठी पर मजबूती से बैठना अच्छी तरह जानता था।*

संविधान-परिषद् का कार्य—शायद इतिहास में किसी भी विधायिका सभा को इतनी पेचीदा समस्याओं को हल नहीं करना पड़ा जितनी राष्ट्रीय संविधान-परिषद् (National Convention) के सामने उसके उद्घाटन के समय ही आ उपस्थित हुई। उसे सिंहासनच्युत राजा के भाग्य का निर्णय करना था, बाह्य आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा करना था, देश के अन्दर विद्रोह का दमन करना था तथा उसके लिये एक सुदृढ़ शासन की व्यवस्था करना था, क्रान्ति के आरम्भ में प्राप्त किये हुए सामाजिक सुधारों को पूर्ण एवं परिपक्व बनाना था और एक नया संविधान बना कर स्थायी गणतन्त्रीय संस्थाओं की व्यवस्था करना था। यह कोई मामूली कार्य नहीं था परन्तु उसने इन सब समस्याओं का बड़े अध्यवसाय और धैर्य के साथ मुक़ाबला किया और उसमें काफ़ी सफलता भी प्राप्त की।† इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इन समस्याओं को हल करने में उसने बड़ा अत्याचार किया और सहस्रों व्यक्तियों के प्राण लिये परन्तु हमें इस बात का भी स्मरण रखना चाहिये कि जिस परिस्थिति में ये अत्याचार हुए, वह अत्यन्त कठिन थी और शायद उस समय नरम नीति से काम नहीं चलता। इसके साथ ही इन अत्याचारों का दायित्व संविधान-परिषद् पर नहीं वरन् जकोबें दल के अत्यन्त उग्र सदस्यों तथा पेरिस की भीड़ पर था। वास्तव में इस अत्याचार का कारण राजसत्ता के समर्थकों का अविरत देशद्रोह था, जिनको देख कर उग्रवादियों का रक्त खौलता था और नरम विचारवाले गणतन्त्रियों में उनकी रक्षा के लिये हस्तक्षेप करने की इच्छा नहीं होती थी। इस पर भी जितने लोग इसमें मारे गये वे कुछ हज़ार ही थे और उनमें अधिकतर लोग भीषण देशद्रोही थे। इन हत्याओं का ख़ूब बढ़ा कर वर्णन किया जाता है क्योंकि जिन लोगों की हत्याएँ हुई वे कुलीन एवं उच्च वर्ग के लोग थे। यदि हम उसी समय फ़्रान्स के बाहर दूसरे देशों के कारागारों में जो कुछ हो रहा था, उस पर ध्यान दें तो उसके सामने यह हत्याकाण्ड बिलकुल साधारण रह जायगा। ब्रिटेन और अमेरिका में सम्पत्ति-सम्बन्धी तुच्छ अपराधों के लिये फ़्रान्स में देशद्रोह के लिये मारे गये आदमियों से भी अधिक व्यक्ति मौत के घाट उतारे जा रहे थे। १७८९ में मेसेचुसेट्स में एक लड़की को केवल इसी कारण प्राणदण्ड मिला था कि उसने सड़क पर एक दूसरी लड़की की टोपी और जूते छीन लिये थे। १७७३ में इङ्गलैण्ड की जेलों में अनेक व्यक्ति जिन पर मुक़द्दमा चलाया गया था और जो निरपराध घोषित कर दिये गये थे, केवल इसलिये असह्य यातनाएँ भोग रहे

* Hazen : The French Revolution, Vol. II, p. 936.

† Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. I, p. 629.

थे कि उनके पास जेलर की फ़ीस देने को रुपया नहीं था।* पुराने ज़माने के निरंकुश शासकों के अत्याचार के सामने तो ये अत्याचार कुछ भी नहीं थे। पांचवें चार्ल्स ने नेदरलण्ड में विद्रोह के अपराध में कोई ५०,००० व्यक्ति जीवित अग्नि में होम दिये थे। फ़ान्स में २४ अगस्त १५७४ को एक दिन (St. Bartholomew Day) में कोई दो हज़ार व्यक्तियों की केवल इसलिये हत्या कर दी गई थी कि वे प्रोटेस्टेण्ट थे। क्रान्तिकारियों ने देशद्रोहियों को छोड़ अन्य किसी के प्राण जानबूझ कर नहीं लिये। साधारण जनता इस आतङ्क राज्य के समय में भी क्रान्ति के पहले से कहीं अधिक स्वतन्त्र, सुखी एवं सम्पन्न थी।†

परन्तु जहाँ इस अत्याचार से संविधान-परिषद् की इतनी बदनामी हुई और वर्षों तक जनता गणतन्त्र के नाम से घृणा करती रही, वहाँ इस अत्याचार ने स्वयं भावी गणतन्त्र को भी सैकड़ों ऐसे चरित्रवान्, बुद्धिमान्, साहसी एवं प्रतिभाशाली व्यक्तियों को प्राणदण्ड देकर, जो भविष्य में उसके स्वाभाविक एवं अनुभवी मार्गदर्शक तथा संरक्षक बनते, निर्बल कर दिया।‡ जब वह व्यक्ति मञ्च पर आया जो उसका अन्त करना चाहता था तो उसका कार्य सरल हो गया क्योंकि उसका विरोध करने वाले कोई योग्य व्यक्ति नहीं रहे थे। इस प्रकार भावी सैनिक स्वेच्छाचारी शासन का बीज स्वयं संविधान-परिषद् ने ही बो दिया था जो तीन-चार वर्षों में ही अंकुरित हो गया।

संविधान-परिषद् के इन निन्द्य कामों का वर्णन करते समय उसके किये हुए अनेक अच्छे कामों का ध्यान नहीं रहता। यह उसके प्रति अन्याय है। जितनी समस्याएं उसके सामने आईं उनको तो उसने हल किया ही, उसके साथ-साथ वह अनेक दिशाओं में शान्तिपूर्ण विकास के मार्ग पर आगे बढ़ रही थी। तोलने तथा नापने की दाशमिक पद्धति (Metric System) के जो मानदण्ड आज प्रायः समस्त संसार में काम में आते हैं, उनको चलाने का श्रेय उसी को है। उसने फ़ान्स के सार्वजनिक जीवन को समानता के सिद्धान्त के आधार पर लाने के लिये नये क़ानूनों के निर्माण का काम आरम्भ किया जिसका श्रेय आगे चलकर नेपोलियन को मिला। उसने प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा की एक राष्ट्रीय योजना तैयार की परन्तु धनाभाव के कारण उस पर कार्य आरम्भ नहीं हो सका। उस योजना पर तो काम नहीं हो सका परन्तु उसने कुछ विशिष्ट विद्यालयों की उन्नति की ओर बहुत ध्यान दिया। नॉर्मल स्कूल, पॉलीटेकनिक (Polytechnic) स्कूल, पेरिस का लॉ तथा मेडिकल स्कूल, आर्टस् और क्राफ्ट की कंज़र्वेटरी,

---

* H. G. Wells : The Outline of History, p. 910.

† Ibid., p. 910.

‡ Bradby : A Short History of the French Revolution, p. 354.

नेशनल आर्काइव्ज, लूवर (Louvre) का म्यूजियम, नेशनल लायब्रेरी और इन्स्टीट्यूट आदि संस्थाएँ संविधान-परिषद् के नाम को अमर बनाये रखेंगी। इनमें कई संस्थाएँ पुरानी थीं परन्तु उसने उन सबका इस प्रकार पुनः संगठन किया कि वे सब बिलकुल नई संस्थाएँ बन गईं।* निश्चय ही एक रक्तपिपासु पिशाचों का गिरोह ऐसी उच्च कोटि की संस्थाओं की संस्थापना नहीं कर सकता था।

---

* Hazen : Modern European History, pp. 149-50.

अध्याय ८

प्रतिक्रिया का आरम्भ

डायरेक्टरी (Directory)

२७ अक्टूबर १७९५—१९ नवम्बर १७९९

अब फ्रान्स में विधिपूर्वक गणतन्त्र शासन का आरम्भ हुआ। पहले डायरेक्टरों में बारा और कार्नो थे परन्तु इस समय पेरिस के राजनीतिक मंच पर एक बलशाली व्यक्ति के आगमन के साथ क्रान्ति के नाटक में एक नये अंक का आरम्भ होता है। उसकी सहायता से संविधान-परिषद् विजयी हुई थी; डायरेक्टरी को भी उसी की बलिष्ठ बाहु का सहारा लेना था और क्रान्ति को भी उसी में अपनी पूर्णता और अपना प्रतिवाद देखना था, क्योंकि नेपोलियन एक ही साथ क्रान्ति के सिद्धान्तों का मूर्त रूप और उनके विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया का प्रतिनिधि था।*

नेपोलियन मंच पर—नेपोलियन का जन्म कार्सिका द्वीप के अयाचियो (Ajaccio) नगर में १७६९ में हुआ था।† यह द्वीप पहले जिनोआ के अधिकार में था परन्तु नेपोलियन के जन्म के कुछ ही पहले जिनोआ ने उसे फ्रान्स को बेच दिया था। उसका वंश इटली का था। इस प्रकार वंश से वह इटली का, जन्म से कार्सिका का तथा राष्ट्रीयता की दृष्टि से फ्रेञ्च था। वह अपने पिता का द्वितीय पुत्र था।‡ उसकी शिक्षा फ्रान्स में ब्रियें (Brienne) तथा पेरिस के सैनिक स्कूलों में हुई थी। १६ वर्ष की अवस्था में उसने स्कूल छोड़ दिया और उसे तोपखाने में द्वितीय लेफ्टिनेण्ट का पद मिल गया। उसे फ्रान्स से घृणा थी और वह प्रायः लम्बी छुट्टी लेकर कार्सिका में ही रहा

---

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, pp. 56-57.

† नेपोलियन के जन्म के सात वर्ष पहले रूसो ने कार्सिका के विषय में लिखा था—'एक दिन यह छोटा-सा द्वीप समस्त योरोप को चकित कर देगा।' नेपोलियन ने इस भविष्यवाणी को सही प्रमाणित कर दिया।

‡ यह वास्तव में चतुर्थ पुत्र था। चार्ल्स बोनापार्ट की प्रथम दो सन्तान शैशव काल में ही मर चुकी थीं। Holland Rose in his Introduction in Lockhart : The History of Napoleon Buonaparte, p. vii.

करता था । इसी में उसे अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा । वह कभी-कभी कॉर्सिका को स्वतन्त्र करने के स्वप्न देखा करता था परन्तु फ्रेञ्च क्रान्ति के आरम्भ होने से उसे अपने उत्साह तथा अपनी उच्च आकांक्षाओं के लिये एक विशाल क्षेत्र मिल गया और १७९२ में वह पेरिस लौट गया । वह जकोबें दल में सम्मिलित हो गया और उसे उसका पद फिर मिल गया । १७९३ में उसने तूलों को अंग्रेजों से छीनने में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया । अगले वर्ष वह इटली के लिये तैयार की हुई सेना के तोपखाने का जनरल बना दिया गया । रोब्सपियर की मृत्यु के बाद उसकी स्थिति संकटमय हो गई और वह मुअत्तिल कर दिया गया । परन्तु उसकी प्रतिभा ने सब को प्रभावित कर रखा था । वह बहुत दिनों तक अलग नहीं रखा जा सका और उसे शीघ्र ही युद्ध-सचिवालय में इटली पर आक्रमण करने की योजना बनाने के लिये एक पद मिल गया । हम अभी देख चुके हैं कि यहीं उसे संविधान-परिषद् की रक्षा करके अपनी भावी उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करने का मौक़ा मिला । कार्नो उसकी प्रतिभा को अच्छी तरह समझता था और उसने उसे इटली पर आक्रमण करनेवाली सेना का सेनानायक बना दिया । इसके दो दिन बाद ही नेपोलियन ने एक अभिजात वर्गीय विधवा जोजेफ़ाइन (Josephine Beauharnais) से विवाह कर लिया और अपनी पत्नी को पेरिस में ही छोड़ कर इटली की ओर अपनी सेना के साथ रवाना हो गया । यहीं से नेपोलियन के राजनीतिक जीवन का आरम्भ होता है और क्रान्ति का इतिहास नेपोलियन का इतिहास बन जाता है ।

ऑस्ट्रिया से युद्ध की तैयारी— हम देख चुके हैं कि अप्रैल १७९५ में प्रशा, स्पेन तथा हालैण्ड फ़ान्स से सन्धि कर चुके थे । परन्तु ऑस्ट्रिया, इङ्गलैण्ड तथा सार्डिनिया ने सन्धि नहीं की थी । फ़ान्स ने ऑस्ट्रियन नेदरलैण्ड्स छीनकर अपनी भूमि में शामिल कर लिया था । परन्तु ऑस्ट्रिया से इसकी स्वीकृति लेने के लिये उसे हराना आवश्यक था; अतः डाइरेक्टरी को इन देशों के विरुद्ध युद्ध की तैयारी करनी पड़ी । इङ्गलैण्ड पर तो एक अच्छे बेड़े के बिना आक्रमण असम्भव था, इस कारण डायरेक्टरी ने अपना सारा ध्यान ऑस्ट्रिया पर केन्द्रित कर दिया । कार्नो ने ऑस्ट्रिया पर दो तरफ से—जर्मनी तथा इटली में होकर—आक्रमण करने की योजना बनाई । जर्मनी में होकर आक्रमण करने के लिये जूर्दां (Jourdan) तथा मोरो (Moreau) की कमाण्ड में दो सेनाएँ भेजी गईं । इटली की सेना की कमाण्ड नेपोलियन को मिली ।

युद्ध— जूर्दां तथा मोरो को ऑस्ट्रिया के प्रख्यात कमाण्डर आर्चड्यूक चार्ल्स का मुक़ाबला करना पड़ा । दोनों ही उसके सामने कुछ न कर सके और परास्त होकर लौट पड़े । परन्तु इटली में नेपोलियन के नेतृत्व में योजना पूर्ण रीति से सफल हुई ।

इटली में नेपोलियन की सफलता—नेपोलियन ने बड़ी कुशलता के साथ युद्ध का संचालन किया । सर्वप्रथम उसने ऑस्ट्रिया और सार्डिनिया की सेनाओं को

अलग कर दिया। इसके बाद अचानक सार्डिनिया पर आक्रमण करके वह ट्यूरिन जा पहुँचा। पन्द्रह दिन के अन्दर ही सार्डिनिया के राजा को सन्धि करनी पड़ी और सेवॉय तथा नीस के प्रदेश फ़ान्स के सुपुर्द करने पड़े (१५ मई १७९६)। इसके बाद वह ऑस्ट्रियन सेना की ओर मुड़ा। उसने अपनी जान हथेली पर रख कर भयंकर गोला-बारी का मुक़ाबला करते हुए लोडी का पुल पार किया और मिलान में प्रवेश किया (१६ मई)। ऑस्ट्रियन सेनाएँ लोम्बार्डी के मैदान से खदेड़ दी गईं और सारा लोम्बार्डी नेपोलियन के हाथ में आ गया। केवल माण्टुआ में ऑस्ट्रियन सेना बनी रही और नेपोलियन ने उसका घेरा डाल दिया। ऑस्ट्रिया ने माण्टुआ को लेने के बहुत प्रयत्न किये परन्तु आठ महीने के निरन्तर प्रयत्न करने पर भी उसे सफलता नहीं मिली और २ फरवरी १७९७ को नेपोलियन ने उस पर अधिकार कर लिया। अब नेपोलियन के लिये ऑस्ट्रिया की राजधानी वियना की ओर बढ़ने का मार्ग खुल गया। यह देखकर ऑस्ट्रिया के सम्राट् द्वितीय फ़ान्सिस ने सन्धि की प्रार्थना की (अप्रैल) और ऑस्ट्रिया से युद्ध बन्द हो गया।

इटली का संगठन—इसी बीच में नेपोलियन की विजय पर विजय होती हुई देखकर मई में पार्मा तथा मोडीना के ड्यूकों ने तथा जून में नेपिल्स के राजा और पोप ने उससे सन्धि कर ली। पोप ने आविन्यों (Avignon) पर अपने समस्त अधिकार भी त्याग दिये और बोलोन्या तथा फ़ेरारा फ़ान्स को दे दिये। इन सन्धियों के बाद उसने उत्तरी इटली का नये सिरे से संगठन किया। लोम्बार्डी का जो भाग ऑस्ट्रिया के अधिकार में था उसे उसने एक गणतन्त्र—ट्रान्सपेडेन रिपब्लिक (Transpadane Republic)—बना दिया और बोलोन्या, फ़ेरारा, मोडीना तथा रेगियो (Reggio) को मिलाकर एक नया गणतन्त्र—सिस्पेडेन रिपब्लिक (Cispadane Republic)—बनाया।

ऑस्ट्रिया से युद्ध बन्द होने पर वह पूर्व की ओर बढ़ा और वेनिस के गणतन्त्र से झगड़ा करके उसने उसे भी जीत लिया। इस विजय के बाद जून १७९७ में उसने इटली का पुनः संगठन किया। ट्रान्सपेडेन तथा सिस्पेडेन रिपब्लिकों, रोमान्या, लीगेशन्स (The Legations) और वेनिस के गणतन्त्र के पश्चिमी भाग, तथा कुछ अन्य प्रदेशों को मिलाकर उसने एक नया गणतन्त्र—सिसएल्पाइन रिपब्लिक (Cisalpine Republic) बना दिया और जिनोआ को भी गणतन्त्र—लिगरियन रिपब्लिक (Ligurian Republic)—बनाकर फ़ान्स के आधीन कर लिया।

ऑस्ट्रिया से सन्धि – इन दिनों ऑस्ट्रिया से सन्धि की बातें हो रही थीं। १७ अक्टूबर १७९७ को फ़ान्स और ऑस्ट्रिया के बीच केम्पोफ़ॉर्मियो (Campo Formio) के स्थान पर सन्धि हुई जिसके अनुसार (१) ऑस्ट्रिया ने ऑस्ट्रियन नेदरलैण्ड्स फ़ान्स को सौंप दिया और राइन नदी के बायें किनारे का समस्त प्रदेश

भी दे दिया। वह प्रदेश जर्मन राजाओं का था परन्तु उसने इस परिवर्तन के लिये जर्मन राजाओं की एक सभा करके उनसे स्वीकृति ले लेने का वचन दिया। (२) ऑस्ट्रिया को लोम्बार्डी पर से भी अपना अधिकार उठा लेना पड़ा और नेपोलियन द्वारा निर्मित सिसएल्पाइन तथा लिगरियन रिपब्लिकों को स्वीकार करना पड़ा। (३) इसके बदले में फ़ान्स ने वेनिस के गणतन्त्र के टुकड़े करके उसका अदिगे नदी के पूर्व का भाग — इस्ट्रिया तथा डेल्मेशिया—ऑस्ट्रिया को सौंप दिये। वेनिस का पश्चिमी भाग सिसएल्पाइन रिपब्लिक में सम्मिलित हो चुका था। उसके राज्य का बचा हुआ भाग— आयोनियन द्वीप — फ़ान्स के पास आ गया।

समीक्षा—इस प्रकार केम्पोफ़ॉर्मियो की सन्धि से योरोप के मानचित्र को बदलने का वह सिलसिला शुरू हुआ जो भविष्य में कई वर्ष तक जारी रहा।* किन्तु इस सन्धि के द्वारा जो परिवर्तन हुए वे फ़्रेंच क्रान्ति के सिद्धान्तों के प्रतिकूल थे। नेपोलियन ने नये राज्यों का निर्माण किया, उसके लिये शासन की नई व्यवस्था की परन्तु वहाँ की जनता से इस सम्बन्ध में उसने कोई परामर्श नहीं लिया। इस प्रकार अपनी विदेशी नीति में फ़ान्स ने उन्हीं सिद्धान्तों की अवहेलना की जिनकी वह अपने यहाँ स्थापना कर रहा था। यह नीति सारतः वही थी जो पुराने निरंकुश एकतन्त्र की थी। सेवॉय, नीस और बेल्जियम की विजय तथा राइन नदी तक फ़ान्स की सीमा को आगे बढ़ाये जाने में भी हमें रिशल्यू तथा चौदहवें लुई की 'प्राकृतिक सीमा' वाली नीति की पूर्ति दिखाई देती है। इस सन्धि के अनुसार इस तरह फ़ान्स की सीमा केवल पूर्व में प्राकृतिक सीमाओं तक ही नहीं पहुँच गई, इटली पर भी फ़ान्स का प्राधान्य स्थापित हो गया और आयोनियन द्वीपों पर फ़ान्स का अधिकार हो गया। इन द्वीपों पर अधिकार करने में नेपोलियन की दूरदर्शिता और उसकी उच्च आकांक्षाओं के क्रमिक विकास की झलक मिलती है। वह अभी से आगे के लिये योजना बना रहा था। इटली में उसका रहन-सहन और व्यवहार बिलकुल स्वतन्त्र राजा की तरह था। डाइरेक्टरी से बिना पूछे ही और कभी-कभी तो उसकी इच्छा के विरुद्ध वह युद्ध छेड़ देता था, सन्धियाँ कर लेता था और नये राज्यों का निर्माण कर रहा था।† वह समझता था कि उसे इंगलैण्ड को परास्त करना था, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये इजिप्ट पर अधिकार आवश्यक था और इजिप्ट की ओर बढ़ने के लिये आयोनियन द्वीपों की स्थिति बड़ी अनुकूल थी। इस प्रकार यह सन्धि फ़ान्स के लिये बड़ी लाभदायक थी। ऑस्ट्रिया को भी इससे कोई विशेष हानि नहीं हुई। इटली में एक प्रदेश की जगह उसे दूसरा प्रदेश मिल गया। बेल्जियम पहले से ही विद्रोही होरहा था और उस

---

* Hazen : Modern European History, p. 165.

† Fisher : A History of Europe, p. 823.

पर अधिक दिनों तक अधिकार बनाये रखना उसके लिये असम्भव था। उसके निकल जाने से ऑस्ट्रिया को कोई विशेष दुःख नहीं हुआ।

इस प्रकार नेपोलियन विजयी हुआ। 'प्रथम गुट' के तीन सदस्य पहले ही सन्धि कर चुके थे; आस्ट्रिया तथा सार्डिनिया ने भी अब सन्धि कर ली और केवल इङ्गलैण्ड बच रहा।

समुद्र पर युद्ध—स्पेन, प्रशा तथा हॉलैण्ड से १७९५ में सन्धि हो जाने के बाद इङ्गलैण्ड ने अपना पूरा ध्यान समुद्री लड़ाई में लगा दिया था। जब हॉलैण्ड फ्रान्स का मित्र बन गया तो इङ्गलैण्ड ने हॉलैण्ड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी (१७९५), समुद्र पार कर उसने साम्राज्य के विभिन्न भागों पर आक्रमण कर दिया और उसी वर्ष दक्षिण अफ्रीका में केप कॉलोनी, भारत महासागर में लंका, पूर्वीद्वीप-समूह में मलक्का और पश्चिमी द्वीप-समूह में हॉलैण्ड के कई द्वीप छीन लिये। स्पेन ने फ्रान्स से मिलकर इङ्गलैण्ड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी। उसे भी हानि उठानी पड़ी। इङ्गलैण्ड के बेड़े ने दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी तट के निकट उससे ट्रीनिडाड द्वीप छीन लिया और सेंट विसेंन्ट अन्तरीप के युद्ध में उसका बेड़ा नष्ट कर दिया (फरवरी १७९७)। उसी वर्ष अक्टूबर में केम्परडाउन के युद्ध में हालैण्ड के बेड़े की भी यही दशा हुई। इस प्रकार इङ्गलैण्ड समुद्र पर सर्वत्र विजयी हो रहा था परन्तु उसके सामने अनेक संकट उपस्थित थे। आयरलैण्ड विद्रोही हो रहा था और सितम्बर १७९६ में फ्रान्स ने विद्रोहियों को सहायता देने का एक निष्फल प्रयत्न भी किया था। बेड़े में अत्यन्त कठोर अनुशासन, बुरे भोजन तथा वेतन न मिलने के कारण विद्रोह हो रहा था और देश में आर्थिक संकट उपस्थित था। फ्रान्स से लड़ते-लड़ते वह अकेला ही रह गया था। पिट शान्ति चाहता था; १७९६ तथा १७९७ में उसने सन्धि के प्रस्ताव भी किये परन्तु डाइरेक्टरी ने योरोप में प्राप्त होनेवाली विजय के मद में उन पर ध्यान नहीं दिया और सन्धि न हो सकी।*

नवजात गणतन्त्र संकट में—परन्तु फ्रान्स में नवजात गणतन्त्र पर संकट के बादल घिर रहे थे। संविधान-परिषद् को राजसत्ता के समर्थकों की ओर से जो डर था वह सत्य था। विधायिका सभा के दोनों भवनों में नये चुनावों के फलस्वरूप राजसत्ता के कई समर्थक आ गये थे। उन्हीं में से एक पाँच सौ के भवन का सभापति बन गया था। डाइरेक्टरी में एक सदस्य बार्थेलेमी (Barthelemy) राजसत्ता का समर्थक आ गया था। ऐसी दशा में बारा तथा अन्य गणतन्त्रीय डाइरेक्टरों ने नेपोलियन को बुलाया। परन्तु नेपोलियन समझता था कि अभी अवसर नहीं आया है। उसने अपने एक विश्वासपात्र अफसर ओजरो (Augereau) को भेज दिया जिसने ४ सितम्बर

---

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, pp. 63-64.

१७९७ (18th Fructidor) को विधायिका सभा के ५२ सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया। वे देश से निकाल दिये गये। बार्थेलेमी तथा कार्नो भी बच कर निकल भागे और गणतन्त्र की रक्षा हो गई। इस प्रकार फ्रान्स का गणतन्त्र नेपोलियन के बाहुबल का आश्रित था। नेपोलियन इटली से उसे धन की भी सहायता कर रहा था। जिन राजाओं को उसने परास्त किया था उनसे उसने बहुत-सा धन वसूल किया और फ्रान्स भेज दिया। इतना ही नहीं, उसने बड़ी निर्लज्जतापूर्वक इटली के बहुत से सुन्दर चित्र तथा मूर्तियाँ फ्रान्स के म्यूजियम को सजाने के लिये भेजीं। यह सरासर लूट थी।*

योरोप - १७९८

नेपोलियन का फ्रान्स को लौटना—आस्ट्रिया से सन्धि करने के बाद नेपोलियन फ्रान्स लौट गया (५ दिसम्बर १७९७)। जनता ने उसका बड़े उत्साह से स्वागत किया। परन्तु डाइरेक्टरों को उससे बड़ा भय मालूम हुआ; वे उसे दूर ही रखना चाहते थे। नेपोलियन भी देख रहा था कि अभी उपयुक्त अवसर नहीं आया है। उसे इङ्गलैण्ड पर आक्रमण करने का आदेश दिया गया। इङ्गलैण्ड पर सीधा आक्रमण करना असम्भव देख कर उसने डाइरेक्टरों को इजिप्ट पर आक्रमण करने की सलाह दी और बतलाया कि इजिप्ट विजय हो जाने पर भारतवर्ष में अंग्रेज़ों के राज्य पर आक्रमण करना तथा उनका व्यापार नष्ट करना सरल होगा और व्यापार नष्ट होने पर इङ्गलैण्ड

* Fisher : A History of Europe, p. 824.

घुटनों के बल आ जायगा। इजिप्ट तुर्की के साम्राज्य में था परन्तु नेपोलियन तुर्की की निर्बलता से परिचित था। इजिप्ट को विजय कर लेने पर कई बातें सम्भव थीं। वहां से भारतवर्ष पर आक्रमण हो सकता था या यदि वह योरोप पर पीछे की तरफ से आक्रमण करना चाहता तो इजिप्ट से तुर्की विजय करके इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती थी, या यदि उसे महान् सिकन्दर के समान एक पूर्वी साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा हुई तो इजिप्ट उसके लिये बड़ा अच्छा आधार था। वास्तव में नेपोलियन विश्व-साम्राज्य के स्वप्न देखने लगा था। वह कहता भी था कि योरोप मेरे लिये काफी नहीं है। इस प्रस्ताव को डाइरेक्टरों ने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

नेपोलियन इजिप्ट की ओर— इजिप्ट के आक्रमण के लिये बड़ी गुप्त रीति से और फ़ुर्ती से तैयारी की गई और नेपोलियन १९ मई १७९८ को तूलों के बन्दरगाह से कोई ३८,००० सैनिकों के साथ रवाना हो गया और रास्ते में माल्टा लेता हुआ १ जुलाई को इजिप्ट पहुँच गया। दूसरे दिन ही उसने एलेक्ज़ेण्ड्रिया विजय कर लिया और काहिरा की ओर बढ़ा। २१ जुलाई को पिरामिडों के पास इजिप्ट की सेना को उसने फिर परास्त किया और २२ जुलाई को काहिरा में प्रवेश किया। इस प्रकार इजिप्ट पर उसका अधिकार हो गया।

परन्तु भूमध्यसागर में उन दिनों नेलसन की अधीनता में एक अंग्रेज़ी बेड़ा घूम रहा था। नेलसन को नेपोलियन की यात्रा का पता चल गया। उसने शीघ्र ही उसका पीछा किया और १ अगस्त को नील नदी की लड़ाई में फ़्रेञ्च बेड़े को नष्ट कर दिया। अब नेपोलियन का सम्बन्ध फ़ान्स से टूट गया और वह ऐसे देश में बन्द हो गया जहाँ की जनता उसकी शत्रु थी और जलवायु अत्यन्त कष्टप्रद। परन्तु नेपोलियन हिम्मत हारनेवाला जीव नहीं था। वह वहीं जमा रहा और फ़ान्स से समाचारों की प्रतीक्षा करता रहा। इसी बीच में नेलसन की विजय से प्रोत्साहित होकर योरोप के राजाओं ने फ़ान्स के विरुद्ध 'तृतीय गुट' बना लिया था और उसमें तुर्की भी सम्मिलित हो गया था। जब नेपोलियन को यह समाचार मिला और उसे मालूम हुआ कि तुर्की इजिप्ट को पुनः विजय करने के लिये सीरिया में होकर सेना भेज रहा है तो उसने सीरिया पर आक्रमण किया। उसने गाज़ा तथा जाफ़ा ले लिया और आगे बढ़ कर एकर का घेरा डाला (मार्च १७९९), परन्तु दो महीने के घेरे के बाद भी उसे न ले सका क्योंकि उसे समुद्र की ओर से अंग्रेज़ी बेड़ा सहायता दे रहा था। इसी बीच में उसने १६ अप्रैल को माउण्ट टेबॉर के पास एक तुर्की सेना को और हराया परन्तु जब वह एकर न ले सका तो इजिप्ट लौट गया। रास्ते में उसकी सेना को बड़े कष्ट उठाने पड़े। उसके वापस लौटने के कुछ ही सप्ताह बाद अबूकिर में एक तुर्की सेना उतरी। परन्तु नेपोलियन ने उसे बुरी तरह परास्त कर दिया (२५ जुलाई) और इजिप्ट पर फिर अपना प्राधान्य स्थापित कर लिया।

नेपोलियन के लिये उपयुक्त अवसर—परन्तु अब नेपोलियन जिस अवसर की प्रतीक्षा में था वह आ गया था। डाइरेक्टरी की स्थिति आरम्भ से ही बड़ी कठिन थी; डाइरेक्टरों में परस्पर तथा डाइरेक्टरी और विधायिका सभा में निरन्तर संघर्ष

होता रहता था और षड्यन्त्र होते रहते थे। इसके फलस्वरूप डाईरेक्टरी का जनता पर प्रभाव घटता जा रहा था। उसकी गृह-नीति से भी सभी वर्ग असन्तुष्ट थे। पूंजीपतियों को उसने ज़बरदस्ती ऋण लेकर नाराज़ कर दिया था। इन्हीं दिनों बाबूफ (Baboeuf) के नेतृत्व में मज़दूरों ने एक साम्यवादी साज़िश की थी जिसका बड़ी कठोरता से दमन किया गया था जिससे मज़दूर वर्ग असन्तुष्ट हो गया था।* केथोलिक मत के दमन के परिणामस्वरूप जनता की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुँच रही थी। इसके साथ ही उसके शासन में क्षमता बिलकुल नहीं थी। उसके अयोग्य, भ्रष्टाचारपूर्ण एवं अकुशल शासन से देश में कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गई थीं। वस्तुओं के मूल्य बहुत बढ़ गये थे, बेकारी बढ़ रही थी, मुद्रा का अभाव था, व्यापार ठप हो रहा था और चोरी-डकैती मामूली बात हो गई थी। वह बिलकुल निकम्मी साबित हो चुकी थी और अप्रिय होती चली जा रही थी। उसकी विदेशी नीति उतनी ही सिद्धान्तहीन एवं आक्रामक थी जितनी उसकी गृह-नीति निर्बल और अप्रिय थी। वह शान्ति नहीं चाहती थी। उसकी नीति यह थी कि युद्ध चलता रहे, सेना तथा उसके योग्य सेनापति, जिनसे उसे सदा भय लगा रहता था, बाहर बने रहें और विजित प्रदेशों से लूट की धनराशि आती रहे जिससे शासन का काम चलता रहे। अतः उसने पड़ौसी देशों में हस्तक्षेप जारी रखा था। इटली से नेपोलियन के लौटने के बाद फ्रेञ्च सेनाओं ने स्विट्ज़रलैण्ड पर आक्रमण करके उसे जीत लिया था और फ्रान्स की अधीनता में

---

* कई लोगों ने, जिनमें अनेक जकोबे लोग भी शामिल थे, डाइरेक्टरी के संविधान का, जिसमें धनिकों को ही सत्ता प्राप्त हुई थी, विरोध करने के लिये एक सभा (Society of the Pantheon) स्थापित की थी। इसका पता चलने पर डाइरेक्टरी ने नेपोलियन को भेजकर सभा भंग करवा दी थी। इस पर कुछ उग्रवादी सदस्यों ने जिनका एक नेता बाबूफ था, एक गुप्त क्रान्तिकारी समिति (Secret Directory) का निर्माण करके विद्रोह की तैयारी की। ये लोग १७९३ के संविधान को पुनर्जीवित करके एक 'समानों का गणतन्त्र' (Republic of Equals) स्थापित करना चाहते थे जिसके द्वारा समाज का साम्यवादी आधार पर पुनः संगठन करके धनिकों और ग़रीबों के भेद का निराकरण किया जा सके। विद्रोह के लिये काफ़ी तैयारी कर ली गई थी परन्तु पुलिस के जासूसों ने भण्डाफोड़ कर दिया और षड्यन्त्र बड़ी कठोरता के साथ दबा दिया गया। बाबूफ को प्राणदण्ड मिला और वह शहीद बन गया। उसका षड्यन्त्र क्रान्तिकारियों के लिये एक प्रकार से आदर्श बन गया और अनेक लोग उसके संगठन एवं उसकी कार्य-विधि का अध्ययन एवं अनुकरण करने लगे। Thomson : Europe since Napoleon, pp. 25-26.

वहाँ गणतन्त्र (Helvetic Republic) स्थापित कर दिया था। रोम पर फ्रेञ्च सेनाओं ने वहाँ की कुछ गड़बड़ से लाभ उठाकर आक्रमण कर दिया था और पोप को निकालकर गणतन्त्र (Tiberine Repblic) की स्थापना कर दी थी। जिनोआ फ़ान्स में सम्मिलित कर लिया गया था और पायडमाण्ट (Pi dmont) पर फ़्रेञ्च सेना ने अधिकार जमा लिया था। हॉलण्ड में भी हस्तक्षेप करके उसका संविधान बदलकर फ़ान्स के संविधान के अनुसार कर दिया गया था।

डाइरेक्टरी की इन ज़्यादतियों को देखकर और नेलसन की विजय से प्रोत्साहित होकर इङ्गलैण्ड ने ऑस्ट्रिया और रूस के साथ मिल कर फ़ान्स के विरुद्ध एक दूसरा गुट तैयार कर लिया था और तुर्की, नेपिल्स तथा पुर्तगाल उसमें शामिल हो गये थे। इटली से फ़ान्स की सेनाएँ खदेड़ कर निकाल दी गई थीं और स्वयं फ़ान्स पर आक्रमण का डर था।

नेपोलियन वापस फ़ान्स में – यह अवसर उसके लिये उपयुक्त था। वह एक पत्र द्वारा सेना की कमाण्ड क्लेबर के हाथ में सौंप कर चुपके से फ़ान्स के लिये रवाना हो गया और अंग्रेजी बेड़े की निगाह बचाता हुआ ९ अक्टूबर को फ़ान्स के किनारे जा लगा। फ़्रेञ्च जनता ने सर्वत्र उसका बड़ा स्वागत किया। १६ अक्टूबर को वह पेरिस जा पहुँचा। उसके आगमन का समाचार सुनकर डाइरेक्टरों में बड़ा आतङ्क सा छा गया।

डाइरेक्टरी का अन्त —नेपोलियन ने पेरिस पहुँचते ही षड्यन्त्र रचना शुरू कर दिया। दो डाइरेक्टर भी, जिनमें एक एबे सेयेज़ था, उसके साथ शामिल हो गये। नेपोलियन ने जो योजना बनाई थी वह तो विफल हो गई परन्तु एन मौक़े पर उसके सैनिकों ने उसका साथ दिया। तीन डाइरेक्टरों ने त्यागपत्र दे दिया और शेष दो गिरफ़्तार कर लिये गये। विधायिका सभा के जिन लोगों ने विरोध किया वे पकड़ लिये गये। शेष सदस्यों ने डाइरेक्टरी के अन्त की घोषणा की और उसके स्थान पर तीन कॉन्सल (Consul) नियुक्त किये जिनमें एक स्वयं नेपोलियन था। उन्हें नया संविधान बनाने का भी आदेश मिला। इस प्रकार १० नवम्बर १७९९ (19 Brumaire) को डाइरेक्टरी का अन्त हो गया और नेपोलियन की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये मार्ग साफ़ हो गया।

क्रान्ति के अचिन्तित परिणाम—यदि हम क्रान्ति के इन ग्यारह वर्षों के इतिहास का सिंहावलोकन करें तो हमें मालूम होगा कि क्रान्ति के परिणाम जो कुछ उसके नेता करना चाहते थे उससे बहुत भिन्न निकले। वे एकतन्त्र का सुधार चाहते थे परन्तु उन्होंने उसका नाश करके उसके स्थान पर गणतन्त्र स्थापित किया; वे आर्थिक व्यवस्था करना चाहते थे, परन्तु उन्होंने देश को दिवालिया बना कर छोड़ा; वे चर्च का संगठन सुधारना चाहते थे, परन्तु उसे उन्होंने अस्त-व्यस्त कर दिया; वे स्वयंसेवक सेना को

बनाये रखना चाहते थे परन्तु अन्त में उन्होंने सैनिक सेवा को अनिवार्य बना दिया। वे फ्रान्स में स्थानीय स्वशासन तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता स्थापित करना चाहते थे परन्तु उन्होंने एक केन्द्रित सर्वसत्तावान् शासन के लिये रास्ता तैयार कर दिया। वे युद्ध और विजय का त्याग चाहते थे परन्तु उन्होंने फ्रान्स को अखिल-योरोपीय युद्ध में झोंक दिया और बड़ी-बड़ी विजयें कीं। वे ऐसा शासन स्थापित करना चाहते थे जो दूसरों के लिये आदर्श होता परन्तु जो शासन उन्होंने स्थापित किया उससे अन्य राष्ट्र घृणा करने लगे।* क्रान्ति का परिणाम कभी निश्चित नहीं होता।

---

* Seignobos : The Rise of European Civilisation, pp. 331-32 quoted in Strong : Dynamic Europe, p. 225.

नेपोलियन

उत्कर्ष और पतन

(१७९९-१८१५)

अध्याय ६

कॉन्सल-शासन (Consulate)

नेपोलियन--प्रथम कॉन्सल

(१७९९—१८०४)

क्रान्ति तथा युद्ध के दस वर्ष के अन्त में फ्रान्स केवल शान्ति एवं व्यवस्थित शासन को छोड़ और कुछ नहीं चाहता था। देश अव्यवस्था तथा अराजकता से ऊब उठा था। मरम्मत के अभाव में सड़कें बेकार हो गई थीं, सर्वत्र लूटमार फैली हुई थी, स्कूलों में अध्यापक नहीं थे, अस्पतालों में नर्सें नहीं थीं, और चौदह प्रान्तों का जीवन राजसत्ता के समर्थकों के विद्रोह के कारण असम्भव हो गया था। पेरिस के राजनीतिज्ञों में भी इस समय ऐसे व्यक्ति थे जो समझते थे कि इस अव्यवस्था का अन्त और सुशासन एवं सुव्यवस्थित स्वतन्त्रता की स्थापना एक सैनिक की तलवार के द्वारा ही हो सकती थी।* ऐसा सैनिक अब मंच पर आ गया था और उसने शीघ्र ही फ्रान्स की इच्छा को पूर्ण भी कर दिया।

नया संविधान शीघ्र ही तैयार हो गया। क्रान्ति के आरम्भ के बाद बने हुए संविधानों में यह चौथा संविधान था। इसका निर्माता एबे सेयेज़ था। नेपोलियन को वह पसन्द नहीं आया; उसने उसमें परिवर्तन करके जनता के सामने रखा और जनता ने विशाल बहुमत से उसे स्वीकार कर लिया।†

नया संविधान—नये संविधान के अनुसार कार्यपालिका सत्ता सीनेट द्वारा १० वर्षों के लिये निर्वाचित तीन कॉन्सलों की एक समिति (Consulate) के हाथों में सौंपी गई। प्रथम तीन कॉन्सलों के नामों का उल्लेख संविधान में ही कर दिया गया। प्रथम कॉन्सल नेपोलियन स्वयं था जिसके हाथों में प्रायः समस्त सत्ता केन्द्रित थी। मन्त्रियों, राजदूतों, सेना के अफ़सरों, न्यायाधीशों तथा शासन के असंख्य कर्मचारियों को नियुक्त करने का तथा विधायिका सभा की स्वीकृति के साथ युद्ध एवं सन्धि करने का अधिकार प्रथम कॉन्सल के हाथों में ही था।

---

* Fisher : A History of Europe, p. 828.

† इस संविधान के पक्ष में ३०,१२,००० मत और विपक्ष में केवल १,५६२ मत आये थे। Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 75.

क़ानून बनाने के लिये तीन सदनों की एक विधायिका सभा का निर्माण किया गया—(१) राज्य-परिषद् (Council of State) जिसका कार्य क़ानून के मसौदे बनाना था, (२) सौ सदस्यों की ट्रिब्यूनेट (Tribunate) जो केवल उस मसौदे पर बहस कर सकती थी और (३) तीन सौ सदस्यों की विधान-सभा (Corps Legislatif) जिसका काम उसके समक्ष प्रस्तुत मसौदे पर बिना बहस किये हुए केवल मत देना था। क़ानून के मसौदे प्रथम कॉन्सल के आदेश से तैयार किये जाते थे और उसी की अन्तिम स्वीकृति से ही क़ानून बन सकते थे।

इन तीन सभाओं के अतिरिक्त ६० सदस्यों की एक सभा सीनेट और थी जिसका काम यह निर्णय करना था कि कोई क़ानून संविधान के अनुकूल है या प्रतिकूल। इसके अतिरिक्त कॉन्सलों के निर्वाचन तथा ट्रिब्यूनेट और विधान-सभा के सदस्यों के निर्वाचन का भी अधिकार इसी सभा को था। इस सीनेट के सदस्यों का निर्वाचन देश के विभिन्न प्रान्तों से जनता द्वारा एक विशेष पद्धति के अनुसार निर्वाचित २,००० व्यक्तियों की एक राष्ट्रीय सूची में से कॉन्स्युलेट द्वारा होता था। इस प्रकार इस सभा की नियुक्ति वस्तुतः प्रथम कॉन्सल के हाथों में थी। राज्य-परिषद् के सदस्यों को भी प्रथम कॉन्सल मनोनीत करता था।

संविधान द्वारा राज्य की समस्त सत्ता अपने हाथ में लेकर उसने एक क़ानून पास करवाया जिसके द्वारा समस्त स्थानीय शासन के कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार भी उसे मिल गया। इस प्रकार फ़्रान्स का समस्त राष्ट्रीय तथा स्थानीय शासन इतने प्रभावकारी ढङ्ग से नेपोलियन के हाथों में केन्द्रित हो गया जितना बूर्बों राजाओं के हाथों में भी नहीं था।* कॉन्सल शासन में गणतन्त्र का दिखावा तो अवश्य रखा गया था परन्तु वास्तव में वह उतना ही स्वेच्छाचारी एकतन्त्र था जितना कि बूर्बों राजाओं का शासन था, अन्तर इतना ही था कि बूर्बों राजाओं का एकतन्त्र तो निर्बल एवं अप्रिय था और विशेषाधिकार के सिद्धान्त पर आधारित था, परन्तु यह एकतन्त्र अत्यन्त शक्तिशाली एवं निपुण था, समता के सिद्धान्त पर आधारित था और उसे जनता का समर्थन प्राप्त था।

'द्वितीय गुट' से युद्ध—इस प्रकार अपनी स्थिति को मजबूत करके नेपोलियन ने द्वितीय गुट की ओर ध्यान दिया। आप ऊपर देख चुके हैं कि द्वितीय गुट में इङ्गलैण्ड, रूस, ऑस्ट्रिया, तुर्की, नेपिल्स तथा पुर्तगाल शामिल थे। इस गुट से युद्ध उन्हीं दिनों में आरम्भ हो गया था जिन दिनों नेपोलियन इजिप्ट में था। युद्ध का आरम्भ इटली में हुआ था, जहाँ नेपिल्स के राजा फ़र्डिनेण्ड ने रोमन रिपब्लिक पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में कर लिया था और पोप को वापस बुलाकर उसे सौंप दिया

* Hazen : Modern European History, p. 182.

था। परन्तु डाइरेक्टरी ने सेना भेज कर फर्डिनेण्ड को परास्त कर दिया था और रोमन रिपब्लिक को पुनः स्थापित करके नेपिल्स के राज्य को भी एक गणतन्त्र—पार्थीनोपियन रिपब्लिक (Parthenopean Republic)—बना दिया था। उसने सार्डिनिया के राजा चार्ल्स इमेन्युएल को भी ट्यूरिन से निकाल कर सार्डिनिया द्वीप को भगा दिया था। जनवरी १७९९ तक फ्रान्स की सेनाएं इतनी सफलता प्राप्त कर चुकी थीं, परन्तु इसके आगे उनकी पराजय होने लगी।

शत्रुओं की योजना फ्रान्स पर दो तरफ से—राइन नदी के मार्ग से तथा उत्तरी इटली में होकर—आक्रमण करने की थी। दोनों ओर के आक्रमण सफल रहे। राइन नदी के मोर्चे पर आर्चड्यूक चार्ल्स ने जूर्दा के नेतृत्व में फ्रेन्च सेना को स्तोकाख (Stockach) के स्थान पर हराया (मार्च १७९९) और फ्रेंच जनरल मसेना को,जो स्विट्ज़रलेण्ड से उसके विरुद्ध बढ़ रहा था हरा कर मेनहीम ले लिया (सितम्बर)।

उत्तरी इटली में ऑस्ट्रिया तथा रूस की सेनाएं लड़ रही थीं जिन्होंने तीन महीनों के अन्दर सारा उत्तरी इटली फ्रेंच सेनाओं से मुक्त कर लिया; केवल जिनोआ फ्रान्स के हाथ में बना रहा। सिसएल्पाइन, रोमन तथा पार्थीनोपियन गणतन्त्र भी भंग कर दिये गये। परन्तु शत्रुओं की यह विजय स्थायी न रह सकी। दोनों सेनाओं में मनमुटाव हो गया; रूसी जनरल सुवेरॉफ़ लौट गया और फ्रेंच जनरल मसेना ने एक दूसरे रूसी जनरल कॉर्सकॉफ को ज़ूरिख में परास्त करके हटा दिया। रूस युद्ध से अलग हो गया और उसने जो कुछ किया था सब नष्ट हो गया। उधर उत्तर में इङ्गलैण्ड तथा रूस ने मिल कर हॉलैण्ड में सेना उतारी परन्तु यॉर्क के ड्यूक को, जो उस सेना का कमाण्डर था, हथियार डाल देने पड़े और सेना को हटा लेना पड़ा (सितम्बर १७९९)।

अब फ्रान्स का शासन-सूत्र नेपोलियन के हाथों में आ गया था। उसने डेन्यूब नदी की राह से मोरो की कमाण्ड में एक सेना ऑस्ट्रिया भेजी और वह स्वयं एक सेना लेकर इटली की ओर चल पड़ा। उसने सेंट बर्नार्ड के दर्रे में होकर इटली में प्रवेश किया और अचानक ऑस्ट्रिया की सेना पर आक्रमण करके उसे मेरेन्गो (Marengo) के युद्ध में परास्त कर दिया (जून १८००)। इस युद्ध में नेपोलियन ने अपनी सेना को विभक्त करके बड़ी गलती की थी और वह हार ही चुका था, परन्तु ऐन मौक़े पर उसका एक अफ़सर अपनी सेना सहित आ पहुँचा और पराजय विजय में परिवर्तित हो गई। उधर मोरो ने भी ऑस्ट्रियन सेना को होहेनलिडन के युद्ध में परास्त किया (दिसम्बर १८००) जिससे उसके लिये वियना का रास्ता खुल गया। इस प्रकार परास्त होने पर ऑस्ट्रिया के सम्राट् द्वितीय फ्रान्सिस को ल्यूनविल (Luneville) के स्थान पर सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार उसे केम्पोफॉर्मियो की सन्धि की पुनः पुष्टि करनी पड़ी (फ़रवरी १८०१)। नेपिल्स से भी सन्धि हो गई और फर्डिनेण्ड को

अपने बन्दरगाहों में अंग्रेज़ी तथा तुर्की जहाज़ों को न आने देने का वचन देना पड़ा। स्पेन ने भी सन्धि करके उत्तरी अमेरिका में लुइसाना का प्रदेश फ़ान्स को दे दिया।

अब इङ्गलैण्ड अकेला बच रहा था। इजिप्ट में फ़ेंच सेनाओं को एलेक्जेंड्रिया में राफ़ एवरक्रॉम्बी ने परास्त करके उससे हथियार डलवा लिये थे (मार्च १८०१)।

उधर योरोप में ऑस्ट्रिया तथा रूस में मनमुटाव हो गया था और रूस का ज़ार पॉल नेपोलियन के साथ सहयोग करने के लिये तैयार था। नेपोलियन के कहने से उसने प्रशा, स्वीडन तथा डेनमार्क से मिल कर 'सशस्त्र तटस्थता' (Armed Neutrality) की योजना को जो अमेरिका के स्वातन्त्र्य-युद्ध के समय में बनाई गई थी, पुनर्जीवित किया जिसके अनुसार युद्ध के समय में तटस्थ राज्यों के जहाज़ों की तलाशी लेने के इङ्गलैण्ड के अधिकार का विरोध किया जाने लगा। इङ्गलैण्ड को इस संघ से उत्तरी सागर में भय उत्पन्न हो गया परन्तु नेल्सन ने कोपनहेगन पर आक्रमण करके डेनमार्क के बेड़े को नष्ट कर दिया और संघ को तोड़ दिया (अप्रैल १८०१)।

आमियाँ की सन्धि—युद्ध का अन्त—युद्ध का अन्त कहीं दिखाई नहीं देता था। समुद्र पर इङ्गलैण्ड को परास्त करना नेपोलियन के लिये असम्भव था। महाद्वीप पर इङ्गलैण्ड फ़ान्स का कुछ नहीं बिगाड़ सका था। लड़ते-लड़ते दोनों थक गये थे। इङ्गलैण्ड में पिट हट गया था और उसका उत्तराधिकारी एँडिंग्टन युद्ध जारी रखना नहीं चाहता था। नेपोलियन भी बड़ी-बड़ी योजनाएँ बना रहा था जिनको ठीक करने के लिये अवकाश चाहिये था। अतः दोनों पक्ष सन्धि के लिये तैयार हो गये और २७ मार्च १८०२ को आमियाँ (Amiens) की सन्धि से युद्ध बन्द हो गया। यह सन्धि एक ओर इङ्गलैण्ड तथा दूसरी ओर फ़ान्स, स्पेन और हॉलैण्ड के बीच हुई। फ़ान्स ने नेपिल्स तथा पोप का राज्य खाली करना, इजिप्ट तुर्की को वापस लौटा देना तथा उसके मित्रों से जो प्रदेश छीन लिये थे वे, लङ्का तथा ट्रिनिडाड को छोड़कर, सब वापस कर देने का वचन दिया। उसने माल्टा का द्वीप भी उसके असली स्वामियों (Knights of St. John) को वापस लौटा देना स्वीकार कर लिया। इस सन्धि में नेपोलियन ने योरोप में जो अन्य परिवर्तन किये थे और जिन्हें ऑस्ट्रिया ने ल्यूनविल की सन्धि से स्वीकार कर लिये थे, उनकी कोई चर्चा नहीं की गई जिसका स्पष्ट अर्थ यह था कि इङ्गलैण्ड ने भी उन्हें स्वीकार कर लिया। इङ्गलैण्ड बेल्जियम तथा हॉलैण्ड से फ़ान्स को निकालने के लिये युद्ध में सम्मिलित हुआ था परन्तु इस सन्धि के अनुसार उसने इन प्रदेशों पर फ़ान्स का अधिकार स्वीकार कर लिया। इस सन्धि से इङ्गलैण्ड में सब प्रसन्न थे परन्तु उस पर किसी को अभिमान नहीं था। यह बात सत्य ही थी क्योंकि इस सन्धि से फ़ान्स को ही अधिक लाभ हुआ था। जिस काम को चौदहवाँ लुई पूरा नहीं कर पाया था उसे नेपोलियन ने पूरा कर दिया था।

आन्तरिक व्यवस्था—दस वर्ष के बाद योरोप को शान्ति मिली। परन्तु जैसा हम आगे देखेंगे, वह शान्ति अस्थायी रही। नेपोलियन ने सन्धि के पहले ही फ़्रान्स की आन्तरिक दशा को सुधारने का कार्य आरम्भ कर दिया था। जो अवकाश अब उसे मिला उसमें उसने वह काम जारी रखा और अपनी स्थिति को ख़ूब मजबूत कर लिया। नेपोलियन बड़ा बुद्धिमान् था। वह फ़्रान्सवालों को अच्छी तरह समझता था। फ़्रान्स के लिये गणतन्त्र का विचार उसके लिये उपहासजनक था। १७९७ में इटली में अपने निवास-स्थान के बग़ीचे में टहलते हुए उसने कहा था—"तीन करोड़ आदमियों का गणतन्त्र! कितना हास्यजनक विचार है! यह बात कैसे सम्भव है? फ़्रेंच राष्ट्र को तो एक गौरवशाली यशस्वी स्वामी की आवश्यकता है, शासन के सिद्धान्तों और अन्य ऐसे ही ढकोसलों की नहीं, जिन्हें वह समझता ही नहीं है।"

नेपोलियन की नीति—एक बार उसने कहा था 'मैं ही क्रान्ति हूँ'। किसी अन्य अवसर पर उसने यह भी कहा था कि 'मैंने क्रान्ति को नष्ट कर दिया है'। इन दोनों ही उक्तियों में कुछ सत्यांश है जैसा कि उसके कार्यों से मालूम होगा। वह फ़्रान्स-वालों की आवश्यकताओं को अच्छी प्रकार समझता था। पिछले दस वर्षों की अराजकता से जनता त्रस्त थी और शान्ति एवं सुशासन चाहती थी। इसके साथ ही वह क्रान्ति के लाभों को भी छोड़ना नहीं चाहती थी। अतः नेपोलियन ने अपना मुख्य उद्देश्य सुव्यवस्थित शासन एवं समाज की स्थापना स्थिर किया, जिससे जनता पूर्ण सुरक्षा का अनुभव करते हुए अपना दैनिक जीवन शान्ति से बिता सके। इसके साथ ही वह चाहता था कि जनता क्रान्ति के मुख्य लाभों—पूर्ण समता और विशेषाधिकार के नाश—का उपभोग करती रहे। अपने उद्देश्यों के सम्बन्ध में जनता की शंकाओं का निवारण करने के लिये उसने घोषणा की कि मेरा मुख्य कार्य क्रान्ति को समाप्त कर उसके परिणामों में स्थिरता लाना है। सुव्यवस्थित शासन एवं जनता के लिये क्रान्ति के लाभों को सुरक्षित रखने के साथ-साथ उसका उद्देश्य क्रान्ति-काल में जनता के सामाजिक जीवन को जो अनेक क्षतियाँ पहुँची थीं, उन्हें ठीक करना भी था।*

नवीन व्यवस्था—इन उद्देश्यों को अपने सामने रख कर नेपोलियन ने फ़्रान्स की संस्थाओं का नवीन संगठन और सामाजिक जीवन का पुनर्निर्माण आरम्भ किया। इस कार्य में नेपोलियन एक साथ ही क्रान्ति के उत्तराधिकारी तथा उसके विरुद्ध होने-वाली प्रतिक्रिया की सन्तान के रूप में प्रकट हुआ।†

---

* मादलें ने नेपोलियन की समस्त नीति को समझौते की नीति (Policy of Concordats) बतलाया है। विभिन्न विरोधी एवं असन्तुष्ट लोगों को सन्तुष्ट करना और इस प्रकार सामाजिक जीवन के घावों को भरकर उसे स्वस्थ करना उसका उद्देश्य था। Madelin : The Consulate and the Empire, Vol I, p. 6.

† Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 74.

शासन में परिवर्तन—वह स्वतन्त्रता का शत्रु था। वह देख चुका था कि स्वतन्त्रता के नाम में ही फ्रान्स में इतने अत्याचार हुए थे। वह कहा करता था कि फ्रान्स समता चाहता है, स्वतन्त्रता नहीं। उसने जनता को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं दी और तब तक उसे जो कुछ राजनीतिक स्वतन्त्रता—भाषण, प्रकाशन आदि की स्वतन्त्रता--प्राप्त थी, सब छीन ली। जैसा आप देख चुके हैं,उसने केन्द्रीय तथा स्थानीय शासन को पूर्णतया केन्द्रित करके जनता को राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर दिया। केन्द्र में समस्त सत्ता उसके हाथों में थी। प्रान्तों, ज़िलों आदि की निर्वाचित कौंसिलों को निर्बल करके उसने अपने द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नियुक्त अधिकारियों के हाथ में स्थानीय शासन की सत्ता सौंप दी। ये कर्मचारी नेपोलियन के उसी प्रकार आज्ञाकारी सेवक थे जैसे पुरातन व्यवस्था में इण्टेण्डेण्ट लोग राजाओं के होते थे। इस प्रकार से शासन में निपुणता तथा दृढ़ता तो आ गई परन्तु जनता स्वशासन के अधिकार से वंचित हो गई।

इस नई व्यवस्था से स्थानीय शासन में पुरातन व्यवस्था पुनः प्रतिष्ठित हो गई और राष्ट्रीय सभा का किया हुआ एक महत्वपूर्ण सुधार रद्द हो गया। परन्तु उसने अन्य सुधारों को नहीं छोड़ा। उसने विशेषाधिकारों को पुनर्जीवित नहीं किया, व्यापारिक श्रेणियों (Trade Guilds) की पुनः स्थापना नहीं की और राष्ट्रीय सभा ने भूमि का जो वितरण किया था उसे वैसा ही रहने दिया।

उसने बेकारी की समस्या की ओर भी ध्यान दिया। बेकारों को यथाशक्ति काम दिया गया और कुछ इसी उद्देश्य से पेरिस के नव-निर्माण की योजनाओं पर कार्य आरम्भ किया। इस नव-निर्माण का एक उद्देश्य यह भी था कि पेरिस योरोप की कलाओं का केन्द्र बन जाय ताकि फ्रान्सवालों की सौन्दर्य एवं अहङ्कार की भावनाएं सन्तुष्ट हो सकें। इसी दृष्टि से वह इटली से अनेक सुन्दर चित्र तथा मूर्तियां लाया था। इसी उद्देश्य से उसने कला तथा साहित्य को भी प्रोत्साहन देना आरम्भ किया।

लीजियन ऑफ ऑनर (Legion of Honour)—वह फ्रान्स के लोगों की एक कमजोरी खूब समझता था। वह कहा करता था कि फ्रान्सवालों में एक ही भावना—सम्मान की भावना— प्रधान है। इस भावना से लाभ उठा कर उसने अपने समर्थकों के एक वर्ग—एक नये कुलीन वर्ग—का निर्माण किया। उसने सैनिक ढङ्ग पर संगठित लीजियन ऑफ ऑनर नामक एक संस्था को जन्म दिया। इसके सदस्य वे लोग होते थे जिन्हें राज्य की नागरिक तथा सैनिक सेवा के उपलक्ष्य में ग्राण्ड कमाण्डर, कमाण्डर, नाइट आदि उपाधियां प्रदान की जाती थीं। इन पदाधिकारियों को कुछ नाममात्र की वृत्तियां भी मिलती थीं।

आर्थिक व्यवस्था—राष्ट्र की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये उसने कर-

पद्धति में परिवर्तन किया। कर वसूल करने का कार्य स्थानीय संस्थाओं के हाथ से ले कर केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त कर्मचारियों को दे दिया गया जिससे करदाता तथा राज्य-कोष दोनों को ही लाभ हुआ। अब करदाता को कम देना पड़ता था परन्तु साथ ही राज्य-कोष में धन अधिक पहुँचता था। इस व्यवस्था से राष्ट्र की आर्थिक दशा बहुत कुछ सुधर गई। उसने बैंक ऑफ फ्रान्स भी स्थापित किया जिससे आर्थिक क्षेत्र में विश्वास उत्पन्न हुआ।

सामाजिक जीवन की कटुता का निवारण—सामाजिक जीवन में भी उसने विश्वास उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। वह देश के सभी लोगों को आश्वासन देना चाहता था और क्रान्ति के दिनों में जो वैमनस्य तथा सन्देह उत्पन्न हो गये थे उन्हें दूर करना चाहता था। उसकी दृष्टि में फ्रान्स में सबके लिये जगह थी परन्तु इस शर्त पर कि वे नेपोलियन को और तत्कालीन संस्थाओं को स्वीकार करें। सरकारी पद योग्यता के आधार पर सबके लिये समान रूप से खुले हुए थे, चाहे वे पुराने राजसत्ता के समर्थक हों, जकोबें हों या जिरोंदीस्त; उनसे केवल शासन के प्रति भक्ति ही अपेक्षित थी। प्रवासी कुलीनों तथा शपथ न लेनेवाले पादरियों के विरुद्ध जितने क़ानून थे वे सब रद्द कर दिये गये थे। केवल जो लोग बूर्बों वंश के अब भी अनन्य भक्त थे उनके साथ कोई रियायत नहीं की गई।

पोप से समझौता—क्रान्ति का समाज को विभक्त करनेवाला सबसे बड़ा कार्य चर्च का नया संगठन था। इससे न केवल पादरी, बल्कि जनता का एक बहुत बड़ा भाग असन्तुष्ट था। उसने उन्हें सन्तुष्ट करने के लिये रोमन केथोलिक चर्च को पुनः स्थापित कर दिया और १८०१ में पोप से एक समझौता (Concordat) कर लिया जिसके द्वारा केथोलिक धर्म फ्रेंच जनता के अधिकांश का धर्म स्वीकार कर लिया गया। क्रान्ति के दिनों में चर्च की भूमि का जो विक्रय हुआ था पोप ने उसे स्वीकार कर लिया। यह निश्चय हुआ कि बिशपों की नियुक्ति प्रथम कॉन्सल द्वारा होगी परन्तु वे अपने पद पर पोप द्वारा दीक्षित किये जायँगे। छोटे पादरियों की नियुक्ति शासन की स्वीकृति से बिशप लोगों के हाथों में रही। बिशपों के लिये राज्य के प्रमुख के प्रति भक्ति की शपथ लेना आवश्यक रहा। इस प्रकार बिशप तथा पादरी राज्य के कर्मचारी हो गये और राज्य से वेतन पाने लगे।

इस समझौते से जनता को बड़ा सन्तोष हुआ। अब लोग स्वतन्त्रतापूर्वक अपने धर्म का पालन कर सकते थे। इसके साथ ही जिन लोगों ने चर्च की भूमि खरीदी थी, वह उनके पास ही बनी रही। नेपोलियन को जनता का समर्थन प्राप्त हो गया। उसको सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि पादरी लोग, जो बूर्बों वंश के सबसे जबरदस्त समर्थक थे, उससे सन्तुष्ट हो गये और उसके समर्थक बन गये। इस प्रकार उसने धर्म का राजनीतिक उपयोग किया। वास्तव में वह धार्मिक व्यक्ति नहीं था परन्तु वह जानता था कि इस

के ज़ार अथवा तुर्की के सुलतान जैसे निरंकुश शासक को धार्मिक शक्तियों के नियन्त्रण से अपार बल प्राप्त हुआ था। वह यह भी जानता था कि धार्मिक भावना बड़ी गहरी तथा अविनाशी होती है और इसी कारण वह उससे अधिकतम लाभ उठाना चाहता था। वह कहा करता था कि लोगों के लिये एक धर्म होना चाहिये परन्तु वह धर्म सरकार के हाथों में होना चाहिये।*

परन्तु यह समझौता अन्त में एक बड़ी भूल प्रमाणित हुआ। क्रान्ति ने राज्य और चर्च को अलग करके देश में सहिष्णुता एवं धार्मिक स्वतन्त्रता के लिये रास्ता साफ़ कर दिया था परन्तु नेपोलियन ने दोनों में फिर से सम्बन्ध स्थापित करके आगे के लिये बड़ी कठिन समस्या खड़ी कर दी। पोप के साथ उसका सम्बन्ध भी अधिक दिनों तक अच्छा नहीं रहा और दोनों में शीघ्र ही खटक गई। फिर भी इस समझौते के तात्कालिक परिणाम अच्छे हुए। इससे चर्च की फूट मिट गई और और क्रान्ति ने भूमि की जो व्यवस्था की थी उसे पोप का आवश्यक अनुमोदन प्राप्त हो गया। चर्च और राज्य का सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गया और चर्च राज्य का एक अंग बन कर नेपोलियन के पंजे में आ गया। इसके साथ ही जनता भी सन्तुष्ट हो गई।†

नेपोलियन-विधि-संहिता—नेपोलियन का सबसे महत्वपूर्ण काम फ़ान्स के लिये विधि-संहिता (Civil Code) का निर्माण था। राष्ट्रीय संविधान-परिषद् ने १७६२ में फ़ान्स के लिये क़ानूनों की एक संहिता तैयार करने के लिये विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की थी। वह समिति काम कर रही थी। नेपोलियन ने इस कार्य के लिये एक कमिशन नियुक्त किया और स्वयं उसके कार्य में भाग लेकर उसको शीघ्र ही समाप्त कर लिया (१८०४)। क्रान्ति के पहले फ़ान्स में अनेक प्रकार के क़ानून थे। क्रान्ति के दिनों में भी असंख्य नये क़ानून बने थे। अब उन विभिन्न क़ानूनों के स्थान पर समस्त देश के लिये समान, सरल, सुबोध, स्पष्ट क़ानून बन गया। इस संहिता में कोई बात नवीन नहीं थीं। उसमें राजाओं के बनाये हुए तथा क्रान्तिकाल में निर्मित क़ानूनों का मिश्रण था।‡ वह सिद्धान्त पर नहीं, बल्कि व्यावहारिक बुद्धि एवं अनुभव पर आधारित थी। उससे पुरातन व्यवस्था के अनेक दोष दूर हो गये और क्रान्ति के समय में जनता को जो सामाजिक लाभ प्राप्त हुए थे वे क़ायम रहे। इस विधि-संहिता का आधार सामाजिक समता थी। इसमें किसी प्रकार का राजनीतिक अथवा धार्मिक पक्षपात नहीं किया गया और धार्मिक सहिष्णुता एवं न्याय की गारण्टी प्रदान की गई। यह संहिता नेपोलियन-संहिता (Code Napoleon) के नाम से प्रसिद्ध है। फ़ान्स

---

* Fisher : Bonapartism, pp. 45, 53.

† Fisher : Bonapartism, p. 54.

‡ Cambridge Modern History, Vol. IX, p. 179.

में शीघ्र ही यह नई विधि-संहिता लागू हो गई और बाद में जिन देशों को फ़ान्स ने विजय कर लिया था उनमें भी वह लागू कर दी गई। आज भी वह फ़ान्स की विधि-संहिता है और योरोपीय देशों के क़ानूनों का मुख्य आधार है।*

शिक्षा—राज्य की स्थिरता के लिये शिक्षा के महत्व को नेपोलियन ख़ूब समझता था। उसने शिक्षा का पुनः संगठन किया। सारे देश के लिये एक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया जिसके समस्त कर्मचारी नेपोलियन द्वारा नियुक्त थे। देश की समस्त प्रकार की शिक्षा—प्रारम्भिक, माध्यमिक, उच्च, व्यावसायिक आदि—का नियमन एवं नियन्त्रण इसी विश्वविद्यालय को सौंपा गया।

इन सुधारों के अतिरिक्त उसने अन्य सुधार भी किये। देश के व्यवसाय तथा व्यापार की उन्नति की ओर भी उसने ध्यान दिया, सड़कों का निर्माण हुआ, नहरें बनवाई गईं, बन्दरगाह साफ़ किये गये और उनका विस्तार किया गया। इन सुधारों के फलस्वरूप देश की आर्थिक उन्नति बड़ी शीघ्रता से होने लगी।

पुरातन व्यवस्था तथा क्रान्ति का सम्मिश्रण—नेपोलियन के सुधारों में हमें पुरातन व्यवस्था तथा क्रान्ति का सम्मिश्रण दिखलाई देता है और उसकी उक्तियों—'मैं ही क्रान्ति हूँ' और 'मैंने क्रान्ति का नाश कर दिया है'—की आंशिक यथार्थता प्रकट होती है। उसने जो सुधार किये थे उन सबका आधार अनुभव था, कोरे सिद्धान्त नहीं। राजनीतिक क्षेत्र में उसने कई बातों में पुरातन व्यवस्था को पुनः प्रतिष्ठित कर दिया। उसने समस्त शासन-सूत्रों को अपने हाथों में लेकर एक अत्यन्त केन्द्रित शासन स्थापित किया और स्थानीय शासन का पुराने ढङ्ग पर फिर से संगठन करके जनता की राजनीतिक स्वतन्त्रता छीन ली। जनता को उसने अन्य प्रकार की सभी स्वतन्त्रताओं से भी वंचित कर दिया क्योंकि वह स्वतन्त्रता को खतरनाक समझता था। स्वतन्त्रता के समान उसने राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की भी उपेक्षा की और अन्य देशों के साथ व्यवहार करने में उसने अपने आपको राष्ट्रीयता का शत्रु प्रमाणित किया। इस प्रकार गृह-नीति की कई बातों में तथा विदेश-नीति में उसने बूर्बों एकतन्त्र का ही रवैया जारी

---

* नेपोलियन विधि-संहिता में ६ भिन्न-भिन्न संग्रह थे। उनमें से केवल सिविल कोड कॉन्स्युलेट के समय में बना था और इसी कारण वह अन्य संग्रहों की अपेक्षा क्रान्ति-युग की क़ानून की भावना के अधिक निकट है। इसमें पुरातन व्यवस्था के समय के क़ानूनों तथा क्रान्ति-युग के क़ानूनों का बड़ा अच्छा समन्वय है। अन्य संग्रह साम्राज्य के समय में बने थे और वे अधिकांश में कुछ संशोधन के साथ राजाओं के पुराने आदेशों की पुनरावृत्ति मात्र हैं। (Fisher : Bonapartsim, p. 64.) हमने यहाँ सुविधा की दृष्टि से नेपोलियन के समस्त सुधारों का एक साथ विवरण दे दिया है; वे सभी कॉन्स्युलेट के समय के नहीं हैं।

रखा। पुराने राजाओं के समान उसने भी साहित्य, कला आदि को प्रोत्साहन दिया और नई उपाधियों से सुसज्जित एक नवीन कुलीन वर्ग का निर्माण किया। उनके समान फ्रेन्च साम्राज्य को भी उसने पुनः स्थापित करना चाहा। उसने स्पेन से लुइसाना ले लिया और हेटी द्वीप के विद्रोह का दमन करने के लिये सेना भेजी। परन्तु विद्रोह न दबा और १८०३ में इङ्गलेण्ड से युद्ध छिड़ने से पहले उसने लुइसाना भी अमेरिका के संयुक्त राज्य को बेच दिया। परन्तु सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में उसने क्रान्ति के परिणामों को सुरक्षित रख कर तथा धार्मिक क्षेत्र में क्रान्ति के कारण जो दुर्बलता उत्पन्न हो गई थी उसे दूर कर क्रान्ति को मजबूत भी किया। उसने क़ानून के समक्ष तथा सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में समानता के सिद्धान्त को क़ायम रखा, सामन्तवाद, विशेषाधिकार आदि पुरातन व्यवस्था के दूषणों को पुनर्जीवित नहीं किया और जो भूमि लोगों को चर्च तथा कुलीनों से प्राप्त हुई थी उससे उनको वंचित नहीं किया।

इस प्रकार नेपोलियन एक साथ क्रान्ति का मित्र तथा उसका शत्रु दोनों ही था। इस कार्य में वह जनता की इच्छाओं का सच्चा प्रतिनिधि था। अपनी विदेश-नीति के फलस्वरूप उसने फ्रान्स का गौरव बढ़ाया और देश के अन्दर व्यवस्था एवं शान्ति स्थापित की। जनता ये ही दोनों बातें चाहती थी। यही कारण है कि उसने राजनीतिक स्वतन्त्रता छीनने का, जिसे वास्तव में वह नहीं चाहती थी, उसका अपराध क्षमा कर दिया और वह फ्रान्स का हृदय-सम्राट् बन गया। इतना भारी काम इतनी जल्दी इतिहास में कभी नहीं हुआ। उसने शासन के प्रत्येक विभाग में व्यवस्था स्थापित की। उसकी संस्थाओं का अधिकांश आज तक विद्यमान है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि नेपोलियन ही वर्तमान फ्रान्स का निर्माता था।*

नेपोलियन की हत्या के प्रयत्न—वह फ्रान्स का हृदय-सम्राट् तो बन गया था परन्तु उसके उत्कर्ष से जिन लोगों के हितों को क्षति पहुँची थी वे उसके शत्रु बन गये थे। दो बार शत्रुओं ने उसकी हत्या करने का प्रयास किया। १८०० में उसके ऊपर एक बम फेंका गया जिससे बीस व्यक्ति मारे गये परन्तु वह बाल-बाल बच गया। यह प्रयास बूर्बों वंश के समर्थकों का था† परन्तु वह उनकी अपेक्षा जकोबें लोगों से अधिक डरता था। अतः उसने बूर्बों वंश के समर्थकों को छोड़कर जकोबें लोगों को दण्ड दिया और कई को देश से निर्वासित कर दिया।

इससे भी अधिक भयंकर षड्यन्त्र इसके विरुद्ध लन्दन में आर्तुआ के

* Cambridge Modern History, Vol. IX, p. 33.

† बूर्बों वंश के समर्थकों का इरादा नेपोलियन की हत्या के बाद वाँदे प्रान्त में विद्रोह भड़काने तथा फ्रान्स में उस राजवंश को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये आन्दोलन करने का था। Gottschalk and Lach : Europe and the Modern World, Vol. I, p. 705.

काउण्ट द्वारा रचा जा रहा था।* उसमें मुख्य व्यक्ति जॉर्ज कदूदाल (Cadoudal) और पिश्रू (Pichegru) थे। वे मोरो को भी उसमें शामिल करना चाहते थे, परन्तु वह इसके लिये तैयार नहीं था। नेपोलियन को पुलिस के द्वारा इसका पता लग गया था परन्तु इस आशा में कि इस प्रकार आर्तुआ का काउण्ट पंजे में फँस जायगा, उसने साजिश बढ़ने दी। किन्तु जब काउण्ट फ्रान्स नहीं आया तो मोरो सहित कदूदाल और पिश्रू तथा उनके अन्य साथी पकड़ लिये गये। पिश्रू को जेल में ही किसी ने गला घोंट कर मार डाला। मोरो दो वर्ष के कारावास के बाद निर्वासित कर दिया गया और कदूदाल तथा उसके अन्य साथियों को मृत्यु-दण्ड मिला। जब आर्तुआ का काउण्ट किसी प्रकार नहीं फँसा तो उसने बूर्बों वंश के एक निरपराध व्यक्ति आंगियाँ के ड्यूक (Duke d' Enghien) को, जो जर्मनी में रह रहा था, धोखे से पकड़वा मँगाया और उस पर मुक़द्दमा चलाने का ढोंग रच कर उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया (मार्च १८०४)। ड्यूक बिलकुल निरपराध था। नेपोलियन ने भी इस बात को बाद में स्वीकार किया था परन्तु बूर्बों वंश के समर्थकों को शिक्षा देने के लिये उसने जान-बूझकर यह जघन्य अत्याचार किया।† उसका उद्देश्य भी सिद्ध हो गया क्योंकि इसके बाद उन्होंने उसके विरुद्ध कोई षड्यन्त्र नहीं किया। किन्तु चाहे यह हत्या राज-परिवार को शिक्षा देने के लिये की गई हो अथवा आतंक पैदा करने के लिये की गई हो या चाहे, जैसा कभी-कभी कहा जाता है, तेलीराँ की प्रेरणा पर की गई हो जो नेपोलियन के पतन की इच्छा करता था, यह हत्या एक जघन्य अपराध और एक महान् राजनीतिक ग़लती थी; इसका उस पर विपरीत प्रभाव पड़ा। रूस के राज-दरबार में मातम मनाया गया और प्रशा का राजा रूस की ओर झुकने लगा। आस्ट्रिया को भी बुरा लगा और इङ्गलैण्ड ने इस हत्या से उत्पन्न त्रास का फ्रान्स के विरुद्ध नया गुट बनाने में लाभ उठाया।‡

---

* षड्यन्त्रकारी लोग बूर्बों-वंशीय सरदारों की नौकरी में थे और उन्हें इङ्गलैण्ड की सरकार से आर्थिक सहायता मिल रही थी। Madelin : The Consulate and the Empire, Vol. I, p. 203.

† ड्यूक को बचाने के लिये अनेक प्रयत्न किये गये थे। स्वयं जोज़ेफ़ाइन ने नेपोलियन के पैरों पर गिर कर ड्यूक को क्षमा कर देने का अनुरोध किया था और उसकी बहिन केरोलिन म्यूरा ने भी दया की प्रार्थना की थी। शायद नेपोलियन उसे क्षमा कर देना चाहता था परन्तु उसके एक कर्मचारी सेवेरी ने शीघ्रता की और कोर्ट मार्शल के निर्णय के बाद तुरन्त ही उसे गोली से उड़वा दिया। नेपोलियन ने इस पर कुछ नहीं कहा। Madelin : The Consulate and the Empire, Vol. I, pp. 208-209.

‡ Stephens : Revolutionary Europe, pp. 235-236.

नेपोलियन—फ्रान्स का सम्राट्—इस प्रकार उसने बूर्बों वंश के समर्थकों तथा जकोबें लोगों का दमन कर दिया। गणतन्त्रीय विचारों के लोग अभी मौजूद थे परन्तु उनकी उसे बिलकुल परवाह नहीं थी। अतः अब निःशंक होकर अपनी महत्वकांक्षा की पूर्ति की ओर उसने एक महत्वपूर्ण क़दम उठाया। १८०२ में उसने अपने प्रथम कॉन्सल के पद की अवधि दस-वर्षीय से बढ़ा कर आजीवन करवाली थी और अपने उत्तराधिकारी को नियुक्त करने का अधिकार भी उसे मिल गया था। अब वह वस्तुतः सम्राट् था परन्तु संविधान तो अभी कहने को गणतन्त्रीय ही था। उसने यह गणतन्त्रीय आवरण भी शीघ्र ही उतार कर फेंक दिया। १८०४ में उसकी प्रेरणा से सीनेट ने उसे सम्राट् घोषित कर दिया और देश के विशाल जनमत ने भी उसका समर्थन किया। २ सितम्बर १८०४ को उसका राज्याभिषेक हुआ; गणतन्त्र का अन्त हो गया, क्रान्ति की विधिवत् अन्त्येष्टि हो गई और फ्रान्स में सम्राट् नेपोलियन का स्वेच्छाचारी एकतन्त्र आरम्भ हुआ।

क्रान्ति की देन—नेपोलियन के उदय के साथ क्रान्ति का अन्त हो गया परन्तु जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, वह स्वयं 'क्रान्ति का पुत्र' था और उसने क्रान्ति के कुछ सिद्धान्तों की उपेक्षा करते हुए भी उसके एक सिद्धान्त—समता—का आदर किया था क्योंकि वह स्वयं इसी के आधार पर आगे बढ़ा था। उसने स्वतन्त्रता, जनता के प्रभुत्व आदि सिद्धान्तों को कुचल डाला। परन्तु क्या वास्तव में ये सिद्धान्त कुचले जा सके या कुचले जा सकते थे ?

क्रान्ति का नारा था—'स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व'। क्रान्तिकारियों का चरम लक्ष्य था समाज में इनकी स्थापना करना। इन तीनों शब्दों की सही-सही व्याख्या करना कठिन है। ज्यों-ज्यों क्रान्ति आगे बढ़ती गई त्यों-त्यों इनके अर्थ में भी व्यापकता आती गई और अब भी यह क्रम चल रहा है। आरम्भ में स्वतन्त्रता का अर्थ फ्रान्स-वासियों के लिये राज्य के कामों से व्यक्ति की सुरक्षा था; समानता का अर्थ वे समझते थे क़ानून के सामने अधिकारों की समानता तथा विशेषाधिकार का अभाव; बन्धुत्व का अर्थ कुछ-कुछ भाई-चारे जैसा था, जैसा क्रान्ति के आरम्भ में कुलीन और किसानों के परस्पर मिलने-जुलने में प्रकट होता था।

ये तीनों सिद्धान्त क्रान्ति की अमर देन हैं। अब भी संसार के लिये ये आदर्श बने हुए हैं। स्वतन्त्रता में कुछ राजनीतिक आदर्श उपलक्षित हैं—शासन दैवी अधिकार से स्वेच्छापूर्वक नहीं परन्तु प्रजा की सार्वभौम इच्छा से संविधान के अनुकूल होना चाहिये। व्यक्ति राजा के हाथ में कठपुतली की तरह नहीं होना चाहिये; उसकी कुछ व्यक्तिगत स्वतन्त्रताएँ सुनिश्चित होनी चाहिये जिनमें राज्य कोई कमी नहीं कर सकता, जैसे धर्म, भाषण, लेखन, प्रकाशन, सम्पत्ति आदि की स्वतन्त्रता।

इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत जनता के प्रभुत्व का सिद्धान्त भी सम्मिलित है जिसका अर्थ है कि शासन शासक की इच्छा के अनुकूल तथा उसके हित में नहीं वरन् जनता के हित में, उसकी इच्छा के अनुकूल होना चाहिये। शासक की सत्ता तथा उसके अधिकार उसे जनता से प्राप्त हैं।

समानता से तात्पर्य क्रान्ति के सामाजिक सिद्धान्तों—सामन्तवाद, अर्धदास-पद्धति तथा विशेषाधिकार के अन्त—से और क़ानून के सामने सबके साथ एक-सा व्यवहार से था। क़ानून के सामने अधिकारों की समानता के साथ ही इसका अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति के जीवन तथा सुख की वृद्धि के लिये समान सुयोग तथा पक्षपात का अभाव।

बन्धुत्व का अर्थ है मनुष्य मात्र में बन्धुत्व की भावना, जातीय भेद, रागद्वेष आदि का अभाव और समस्त संसार के कल्याण की कामना। क्रान्ति के समय यह भावना राष्ट्रीयता तथा राष्ट्र-भक्ति के रूप में प्रस्फुटित हुई और उसने फ्रान्स के निवासियों को अपने राष्ट्र की रक्षा तथा उसके गौरव के लिये अपने प्राण अर्पण करने के लिये प्रोत्साहित किया।

क्रान्ति के दिनों में तथा आगे नेपोलियन के समय में समस्त योरोप में इन आदर्शों का प्रसार हुआ। आगे चलकर इनके दमन के भी बड़े प्रयत्न हुए किन्तु अन्त में इनको दमन करने के सभी प्रयत्न विफल हुए। राजनीतिक स्वतन्त्रता, सामाजिक समानता तथा राष्ट्रभक्ति के आदर्श फ्रेञ्च क्रान्ति की ऐसी देन हैं जिनकी आज भी संसार पूजा करता है और जिनसे प्रेरणा प्राप्त करता है।*

---

* Hayes : A Political and Cultural History of Europe, Vol. I, pp 615-616.

अध्याय १०

सम्राट् नेपोलियन

उत्कर्ष (१८०४—१८०७)

सन्धि-काल में नेपोलियन के कार्य—जिस समय नेपोलियन सम्राट् बना उसके पहले ही (मई १८०३) इङ्गलेण्ड से युद्ध छिड़ गया था। आमियां की सन्धि केवल १५ महीनों तक रही। सन्धि करने में नेपोलियन का उद्देश्य ही अपनी योजनाओं को पूर्ण करने के लिये अवकाश प्राप्त करना था। सन्धि हो जाने के बाद तुरन्त ही उसने देश के अन्दर अपनी सत्ता बढ़ाने और देश के बाहर फ़ान्स का साम्राज्य बढ़ाने का कार्य शुरू कर दिया था। देश के अन्दर उसने अपनी सत्ता का विस्तार किस प्रकार किया हम देख चुके हैं। फ़ान्स के बाहर उसने बड़ी शीघ्रता से अपने अधिकार का विस्तार किया। सन्धि के पहले ही उसने बेटावियन रिपब्लिक का संविधान बदल दिया था और उसके क़िलों में फ़्रेञ्च सेनाएँ रख कर उस पर वस्तुतः अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। उधर उत्तरी इटली में सिसएल्पाइन रिपब्लिक का नाम इटालियन रिपब्लिक कर दिया गया था और नेपोलियन स्वयं वहाँ का प्रेसीडेण्ट बन गया था। सन्धि के बाद इटली में उसने बड़े परिवर्तन कर दिये थे; जिनोआ का भी संविधान बदल कर वह स्वयं उसका प्रमुख बन गया था और पायडमॉण्ट तथा पार्मा फ़ान्स में सम्मिलित कर लिये थे। स्विट्ज़रलेण्ड के गृह-कलह से लाभ उठा कर वह ज़बरदस्ती मध्यस्थ बन कर वहाँ का भी सर्वेसर्वा बन गया था।

इंगलेंड से तनातनी—इन सब बातों से इङ्गलेण्ड सशङ्क हो रहा था। उनमें से जो बात उसे सबसे अधिक अखरती थी वह थी हॉलेण्ड तथा बेल्जियम पर उसका अधिकार। इसके साथ ही नेपोलियन अपने बेड़े की उन्नति कर रहा था और फ़्रेञ्च साम्राज्य क़ायम करने का प्रयत्न कर रहा था। उसने पूर्व की तरफ़ भी अपना ध्यान दिया और दो मिशन रवाना किये। एक मिशन तो टीपू से मिलकर भारतवर्ष में गड़बड़ करने के उद्देश्य से भेजा गया और दूसरा पूर्वीय भूमध्यसागर को गया जिसके नेता कर्नल सिबेस्टियानी ने इजिप्ट, सीरिया, आयोनियन द्वीपों आदि का दौरा करके अपनी रिपोर्ट पेश की और इजिप्ट को पुनः विजय करने की सलाह दी। ये सब बातें इङ्गलेण्ड के लिये असह्य थीं। उसने भावी युद्ध की आवश्यकताओं की दृष्टि से माल्टा खाली करने से इन्कार कर

दिया। इस पर नेपोलियन ने इङ्गलेण्ड पर सन्धि भंग करने का दोष लगाया। इङ्गलेण्ड ने भारतवर्ष में स्थित फ्रेञ्च बस्तियाँ भी नहीं लौटाई थीं। इसके साथ ही नेपोलियन की शिकायत थी कि इङ्गलेण्ड बूर्बो वंश के लोगों तथा अन्य प्रवासी कुलीनों को शरण दिये हुए था और वहाँ के समाचार-पत्रों में नेपोलियन की निन्दा की जाती थी।

इङ्गलेण्ड को भी कई शिकायतें थीं। उसने नेपोलियन पर आयरलेण्ड में असन्तोष भड़काने, ब्रिटिश बन्दरगाहों में फ्रेञ्च जासूसों की उपस्थिति, फ्रेञ्च समाचार-पत्रों में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों पर निन्दात्मक आक्रमण; फ्रान्स, स्पेन, हॉलेण्ड तथा इटली में अंग्रेजी व्यापार पर रुकावट तथा इङ्गलेण्ड से व्यापारिक सन्धि करने से इन्कार करने आदि के अनेक दोष लगाये। उसको यह भी शिकायत थी कि सन्धि हो जाने पर भी नेपोलियन की नीति में परिवर्तन नहीं हुआ था और साम्राज्य-विस्तार के उसके प्रयत्न अब भी वैसे ही चल रहे थे जैसे युद्ध-काल में।

युद्ध का प्रारम्भ—इङ्गलेण्ड ने नेपोलियन को हॉलेण्ड तथा स्विट्ज़रलेण्ड खाली करने और पायडमॉण्ट को फ्रान्स में सम्मिलित करने के बदले में सार्डिनिया के राजा को हर्जाना देने के लिये कहा तथा यह आग्रह किया कि माल्टा दस वर्षों तक इङ्गलेण्ड के पास ही बना रहे और ट्यूनिस के तट के निकट लेम्पेड्यूसा के द्वीप पर इङ्गलेण्ड को अधिकार कर लेने दिया जाय। नेपोलियन ने इन माँगों को स्वीकार नहीं किया और इङ्गलेण्ड ने १८ मई १८०३ को फ्रान्स के विरुद्ध घोषणा कर दी।* हालेण्ड रोज़ ने इस युद्ध के आरम्भ को 'शताब्दी की सबसे महान् घटना' कहा है।† इससे न केवल नेपोलियन योरोप के साथ एक ऐसे संघर्ष में फंस गया जिसका अन्त उसकी पराजय के साथ हुआ, वरन् अमेरिका, अफ्रिका, भारत और आस्ट्रेलिया के इतिहास की गतिविधि पर भी इसका बड़ा प्रभाव पड़ा।

इंगलैण्ड की युद्ध नीति—इङ्गलेण्ड ने युद्ध की घोषणा तो कर दी परन्तु वह अकेला था। प्रथम और द्वितीय गुट के उसके साथियों में से कोई उसका साथ देने को तैयार नहीं था; प्रशा बासिल की सन्धि के बाद से ही तटस्थ था; ऑस्ट्रिया थका हुआ था; रूस का ज़ार नेपोलियन का मित्र था; स्पेन दबा हुआ था और हॉलेण्ड में फ्रान्स की सेना पड़ी हुई थी। अतः इङ्गलेण्ड ने अपना लक्ष्य अपनी रक्षा, फ्रान्स के उपनिवेशों की विजय तथा फ्रेञ्च बन्दरगाहों की नाकाबन्दी तक ही सीमित रखा। युद्ध छेड़ते ही उसने पश्चिमी इण्डीज़ पर आक्रमण करके टोबेगो, सेण्ट लूसिया तथा गायना ले लिये। भारतवर्ष में लॉर्ड वेलेज़ली ने फ्रान्स के हस्तक्षेप को रोकने का प्रयत्न किया।

---

*नेपोलियन युद्ध छेड़ना नहीं चाहता था और वह अन्त तक युद्ध रोकने का प्रयत्न करता रहा, परन्तु इङ्गलेण्ड ने उसके प्रस्तावों पर ध्यान नहीं दिया और युद्ध छेड़ दिया।। Madelin : The Consulate and the Empire, Vol. I, pp. 182-186.

† Rose : Napoleon, Vol. I, p. 429.

नेपोलियन ने बासिल की सन्धि को भंग करके हैनोवर के राज्य पर अधिकार कर लिया, जिस पर इङ्गलैण्ड के राजा का अधिकार था और उसके बन्दरगाह इंगलैण्ड के व्यापार के लिये बन्द कर दिये। इससे प्रशा को बहुत बुरा मालूम हुआ परन्तु फिर भी उसने उसका विरोध नहीं किया। नेपोलियन ने नेपिल्स में भी फ्रेञ्च सेना रख दी।

अभी तक रूस और ऑस्ट्रिया चुप थे परन्तु नेपोलियन के अनेक कार्यों से उन्हें परेशानी हो रही थी। नेपोलियन ने ऑगियाँ के ड्यूक की हत्या करवाई थी, सम्राट् की पदवी धारण कर ली थी, इटालियन रिपब्लिक का संविधान बदल कर उसे इटली का राज्य बना दिया था और स्वयं उसका राजा बन गया था। इन सब बातों से वे नाराज़ हो रहे थे। उधर इङ्गलैण्ड में पिट फिर प्रधान मन्त्री बन गया था। उसने इन दोनों राज्यों के असन्तोष से लाभ उठाकर फ्रान्स के विरुद्ध तृतीय गुट बनाया जिसमें स्वीडन भी सम्मिलित हो गया।

इङ्गलैण्ड पर आक्रमण की योजना—ट्रैफलगर—उधर नेपोलियन इङ्गलैण्ड पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। उसने बोलोन में एक सेना एकत्रित की और उस पर आक्रमण करने के लिये एक योजना बनाई। इङ्गलैण्ड पर आक्रमण करने के लिये एक अच्छे बेड़े की आवश्यकता थी जो इंगलिश चैनल को पार करनेवाली फ्रेञ्च सेना की रक्षा कर सकता। फ्रेञ्च बेड़ा तीन स्थानों—ब्रेस्ट, रोशफोर तथा तूलों—में विभक्त था। वह चाहता था कि इन तीनों स्थानों से बेड़ा स्पेनिश बेड़े को अपने साथ लेकर एक साथ इंगलिश चैनल में पहुँच जाय और अपनी रक्षा में फ्रेञ्च सेनाओं को इङ्गलैण्ड में उतार दे। परन्तु अंग्रेजी बेड़ा सतर्क था और उसने तीनों बन्दरगाहों की चौकसी का प्रबन्ध कर रखा था। कुछ दूर तक तो नेपोलियन की योजना सफल हुई परन्तु नेल्सन ने २१ अक्टूबर १८०५ को ट्रैफलगर के युद्ध में फ्रान्स तथा स्पेन के सम्मिलित बेड़े को परास्त करके उसे विफल कर दिया। नेल्सन इस युद्ध में मारा गया परन्तु वह इंगलैण्ड की रक्षा कर गया। इस युद्ध में फ्रान्स और स्पेन के बेड़े नष्ट हो गये और उसके फलस्वरूप समुद्र पर इङ्गलैण्ड का मुक़ाबला करनेवाला कोई नहीं रहा। नेपोलियन को विश्वास हो गया कि इङ्गलैण्ड पर सीधा आक्रमण नहीं हो सकता।

ऑस्ट्रिया की पराजय—इस युद्ध के पहले ही तृतीय गुट के निर्माण की सूचना पाकर नेपोलियन ने अपनी योजना बदल दी थी और बोलोन की विशाल सेना लेकर ऑस्ट्रिया के विरुद्ध कूच कर दिया था। वह अचानक डेन्यूब नदी के निकट पहुँच गया और उसने ऑस्ट्रिया की सेना को उल्म (Ulm) नामक स्थान पर घेर लिया। ऑस्ट्रिया के कमाण्डर मेक (Mack) को हथियार डाल देने पड़े (२० अक्टूबर)। वियना का

रास्ता साफ़ हो गया और १३ नवम्बर को म्यूरा के नेतृत्व में फ्रेन्च सेना वियना में घुस गई। उधर नेपोलियन ने आगे बढ़कर मोरेविया के मैदान में ऑस्टरलित्स (Austerlitz) के स्थान पर सम्राट् फ्रान्सिस और रूस के ज़ार एलेक्जेंडर को परास्त कर दिया (२ दिसम्बर १८०५)। यह लड़ाई तीन सम्राटों की लड़ाई भी कहलाती है।

प्रशा से सन्धि—प्रशा अभी तक चुपचाप बैठा था परन्तु जर्मनी में आगे बढ़ने में नेपोलियन अपनी सेनाओं को उसके राज्य में से होकर ले गया था। प्रशा का राजा तृतीय फ्रेडरिक विलियम फिर भी कुछ नहीं करना चाहता था किन्तु उसकी रानी, विदेश मन्त्री हार्डेनबर्ग तथा सेना का अफ़सर ब्लूखर इस अपमान को सहन नहीं कर सके। उन्होंने उस पर ज़ोर डाला। ज़ार एलेक्ज़ेण्डर भी बर्लिन पहुँचा। अन्त में उसने युद्ध की धमकी दी परन्तु इसके पहले ही ऑस्टर्लित्स की लड़ाई समाप्त हो चुकी थी। फ्रेडरिक विलियम ने डर कर शॉनब्रुन (Schonbrun) के स्थान पर सन्धि कर ली (१५ दिसम्बर) जिसके अनुसार नेपोलियन ने उसे हेनोवर दे दिया और उसने अपने बन्दरगाहों को इंगलैण्ड के जहाज़ों के लिये बन्द करने का वचन दिया। प्रशा ने इंगलैण्ड को हेनोवर की स्वतन्त्रता बनाये रखने का वचन दिया था परन्तु वह अपने राज्य के विस्तार के लोभ का संवरण नहीं कर सका। नेपोलियन बड़ा चतुर था। उसने इस प्रकार प्रशा के देशभक्त दल को सन्तुष्ट कर दिया और साथ ही उसे इंगलैण्ड का कट्टर शत्रु बना दिया।

ऑस्ट्रिया के साथ प्रेसबुर्ग की सन्धि—ऑस्ट्रिया के साथ २६ दिसम्बर १८०६ को प्रेसबुर्ग की सन्धि हुई। अभी तक नेपोलियन ने ऑस्ट्रिया के साथ नरमी का व्यवहार किया था परन्तु वह देख रहा था कि उसके विरुद्ध जितने भी गुट बने उनका केन्द्र ऑस्ट्रिया ही बनता था, अतः उसने इस बार उसे कुचलने का निश्चय किया। ऑस्ट्रिया को वेनेशिया, इस्ट्रिया तथा डेलमेशिया 'इटली के राज्य' के सुपुर्द कर देने पड़े और नेपोलियन को उसका राजा स्वीकार करना पड़ा। बेवेरिया तथा वुर्टेमबुर्ग इस युद्ध में नेपोलियन के साथ शामिल हो गये थे। इसके बदले में नेपोलियन ने बेवेरिया के शासक की पदवी में उन्नति करके उसे बेवेरिया का राजा बना दिया और ऑस्ट्रिया से उसको टिरोल का प्रान्त दिलवाया। वुर्टेमबुर्ग भी एक राज्य बना दिया गया और उसे तथा बादेन को ऑस्ट्रिया से उसके राज्य के पश्चिमी भाग मिले। इस सन्धि से ऑस्ट्रिया की बड़ी हानि हुई, उसके राज्य का बहुत बड़ा भाग निकल गया, वह इटली, स्विट्ज़रलेण्ड तथा राइन से दूर पड़ गया और उसका महत्व बहुत कम हो गया।

जर्मनी का पुनर्निर्माण—नेपोलियन ने इस अवसर का उपयोग केवल ऑस्ट्रिया को कुचलने में ही नहीं किया, उसने बूर्बों राजाओं की महत्वाकांक्षा को भी, जिसे

रिशल्यू, मजारें तथा चौदहवाँ लुई भी पूरा नहीं कर सके थे, पूरा किया और जर्मनी का पुनः संगठन करके पवित्र रोमन साम्राज्य का नाश कर दिया। इस दिशा में नेपोलियन ने बहुत पहले से कार्य आरम्भ कर दिया था। केम्पोफार्मियो तथा ल्यूनविल की सन्धि के अनुसार राइन नदी के पश्चिम की ओर के जो प्रदेश फ्रान्स को मिले थे उनके बदले में उनके शासकों को राइन के पूर्व की ओर के अनेक छोटे-छोटे राजाओं के राज्य दे दिये गये थे और इस व्यवस्था के फलस्वरूप अनेक छोटे-छोटे राजाओं का अस्तित्व मिट चुका था। १७९२ में पवित्र रोमन साम्राज्य में ३६० राज्य थे परन्तु १८०५ तक उनमें से केवल ८२ राज्य रह गये थे।*

राइन का राज्य-संघ—अब नेपोलियन ने इस कार्य को पूरा कर दिया। बवेरिया तथा वुर्टमबुर्ग डची (ड्यूक द्वारा शासित प्रदेश) से राज्य बना दिये गये। उन्होंने साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद करके १४ अन्य राज्यों के साथ मिलाकर 'राइन का राज्य-संघ' (Confederation of the Rhine) बना लिया और नेपोलियन को अपना संरक्षक मान कर अपनी विदेशी नीति उसके हाथों में सौंप दी तथा युद्ध के समय उसे सेना से सहायता देने का वचन दिया (१२ जुलाई १८०६)। इसके साथ ही इन सोलह राज्यों में और भी कई छोटे राज्य शामिल कर दिये गये।

पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त – नेपोलियन ने ६ अगस्त १८०६ को 'पवित्र रोमन सम्राट्' का पद भी तोड़ दिया और जर्मन सम्राट् अब केवल ऑस्ट्रिया का सम्राट् रह गया। इस पुनर्गठन से नेपोलियन ने जर्मनी के एकीकरण की राजनीतिक समस्याओं को अनजाने ही बहुत कुछ सुलझा दिया। इसके साथ ही उसने ऑस्ट्रिया, प्रशा तथा रूस के मुकाबले में फ्रान्स के संरक्षण में एक बड़ा राज्य खड़ा कर दिया।

नये राज्य—इस प्रकार पूर्व की ओर जर्मनी में नेपोलियन ने एक अधीन राज्य स्थापित कर दिया। उत्तर की ओर हॉलैण्ड के गणतन्त्रीय संविधान को समाप्त कर उसे एक राज्य बना दिया और उसके सिंहासन पर अपने भाई लुई बोनापार्ट को बिठा दिया। इसी प्रकार उसने नेपिल्स के बूर्बो-वंशीय राजा को हटा कर अपने एक दूसरे भाई जोजेफ बोनापार्ट को नेपिल्स का राजा बना दिया। सिसएल्पाइन रिपब्लिक को उसने पहले ही एक राज्य बना दिया था और वह स्वयं उसका राजा बन गया था। इस प्रकार उसने फ्रान्स की सीमा पर अनेक अधीन राज्य खड़े कर लिये। वह वास्तव में इस समय दूसरा शार्लमेन बन गया था। समस्त पश्चिमी योरोप उसके अधीन था।

प्रशा की पराजय—ऑस्टर्लिट्स की लड़ाई ने ट्रेफलगर का बदला चुका लिया और तृतीय गुट की रीढ़ तोड़ दी। ऑस्ट्रिया युद्ध से अलग हट गया परन्तु युद्ध बन्द

---

* Hazen : Modern European History, p. 206.

नहीं हुआ। रूस मैदान से हट गया था परन्तु वह लड़ाई की तैयारी कर रहा था। ऑस्टर्लित्स की लड़ाई के धक्के से पिट का देहान्त हो गया। उसके बाद फॉक्स इंगलैण्ड का प्रधान मन्त्री बना। उसने फ्रान्स से सन्धि की चर्चा आरम्भ की और नेपोलियन ने हेनोवर लौटा देने का वचन दिया। परन्तु इससे प्रशा का राजा तृतीय फ्रेडरिक विलियम बड़ा रुष्ट हुआ। क्रोध में आकर उसने रूस से सन्धि कर ली और आगा-पीछा सोचे बिना नेपोलियन से युद्ध की घोषणा कर दी।* रूस अभी तैयार नहीं था, ऑस्ट्रिया परास्त हो चुका था और इंगलैण्ड से भी सहायता नहीं मिल सकती थी। ऐसी दशा में अकेले युद्ध छेड़ देना बड़ी भूल थी; उसका फल भी तत्काल मिल गया। १४ अक्टूबर १८०६ को येना (Jena) तथा आवेरस्टाट (Auerstatd) की लड़ाइयों में प्रशा की सेनाएँ बुरी तरह परास्त हुईं। प्रशा के क़िले एक-एक करके नेपोलियन के हाथों में चले गये और २५ अक्टूबर को नेपोलियन ने बर्लिन में प्रवेश किया।

रूस की पराजय—प्रशा का भाग्य-निर्णय करने के पहले वह रूस को समाप्त कर देना चाहता था। वह वार्सा गया और पोलैण्डवालों को अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये उत्तेजित करने लगा। हज़ारों पोल लोग उसकी सेना में भरती हो गये। रूसी सेना बड़ी वीरता से लड़ी और आईलाऊ (Eylau) की लड़ाई में नेपोलियन हारते-हारते बचा (८ फ़रवरी, १८०७)। विजय किसी पक्ष की भी नहीं हुई परन्तु चार महीने बाद नेपोलियन ने फ्रीडलैण्ड (Friedland) के निकट रूसी सेना को परास्त कर दिया (१४ जून) और ज़ार को सन्धि की प्रार्थना करनी पड़ी।

टिलसिट की सन्धि—टिलसिट में नेपोलियन तथा ज़ार परस्पर मिले; प्रशा के राजा-रानी भी वहीं आ गये और सन्धि की बातचीत होने लगी। नेपोलियन ने ज़ार पर मोहनी डाल दी और वह प्रत्येक बात में उससे सहमत हो गया। टिलसिट की सन्धि (७ जुलाई, १८०७) से दोनों में सन्धि हो गई और नेपोलियन जो नये राज्य स्थापित कर रहा था उन्हें ज़ार ने स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त दोनों में एक गुप्त सन्धि हुई जिसके द्वारा यह निर्णय हुआ कि इङ्गलैण्ड से सन्धि करने तथा समुद्र पर अपनी प्रधानता के दावे को त्यागने के लिये कहा जाय और यदि वह न माने तो ज़ार फ्रान्स के साथ सहयोग करे और दोनों मिल कर डेनमार्क, स्वीडेन तथा पुर्तगाल पर इंगलैण्ड से व्यापार बन्द करने तथा उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ने के लिये दबाव डालें। इस सहायता के बदले में नेपोलियन ने रूस को स्वीडेन से फ़िनलैण्ड तथा तुर्की के राज्य का एक बड़ा भाग दिलवाने का वचन दिया। ज़ार कॉन्स्टेण्टिनोपल पर अधिकार करना चाहता था परन्तु नेपोलियन ने यह बात स्वीकार नहीं की।

---

* कुछ इतिहासकार प्रशा और रूस की इस सन्धि को फ्रान्स के विरुद्ध चतुर्थ गुट की संज्ञा देते हैं और १८१३ के गुट को पंचम गुट की। Leo Gershoy : The French Revolution and Napoleon, p. 409.

प्रशा से सन्धि—प्रशा के साथ जो सन्धि हुई उसकी शर्तों की भी घोषणा टिलसिट की सन्धि में की गई थी। उसके अनुसार प्रशा से एल्ब नदी के पश्चिम के सब प्रदेश ले लिये गये। उनका एक नया राज्य—वेस्ट्फेलिया का राज्य—बनाया गया और नेपोलियन का एक भाई जेरोम उसका राजा बनाया गया। पोलैण्ड का जितना भाग प्रशा के पास था वह ले लिया गया और उसमें ऑस्ट्रियन गेलिशिया का प्रदेश शामिल करके एक नया राज्य—वार्सा की डची—बनाया गया। यह राज्य सेक्सनी के ड्यूक को दे दिया गया। वेस्ट्फेलिया, सेक्सनी तथा वार्सा की डची राइन के परि-संघ में शामिल कर दिये गये। नेपोलियन ने पोलैण्डवालों को स्वतन्त्रता की आशा दिलाई थी पर उसने अपना वचन पूरा नहीं किया। प्रशा से युद्ध का भारी हर्जाना लिया गया और उसे अपने बन्दरगाह इंगलैण्ड के व्यापार के लिये बन्द करने का वचन देना पड़ा। नेपोलियन ने जिन नये राज्यों का निर्माण किया था उन्हें भी उसे स्वीकार करना पड़ा। इस सन्धि के परिणामस्वरूप प्रशा का राज्य आधा रह गया।

टिलसिट की सन्धि ने नेपोलियन को उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँचा दिया।* हम आगे देखेंगे कि इससे भी आगे पाँच वर्षों तक नेपोलियन नये-नये प्रदेशों पर अधिकार जमाता रहा परन्तु उससे उसकी शक्ति में कोई वृद्धि नहीं हुई। इस समय वह फ्रान्स का सम्राट्, इटली के राज्य का राजा, राइन के परि-संघ का संरक्षक तथा स्विट्ज़रलैण्ड के गणतन्त्र (Helveticc Republic) का मध्यस्थ था। हॉलैण्ड, वेस्ट्फेलिया तथा नेपिल्स के राज्यों में उसके भाई राजा थे, रूस मित्र था, ऑस्ट्रिया तथा प्रशा कुचले जा चुके थे।

इंगलैण्ड से व्यापारिक युद्ध—महाद्वीपीय अवरोध—अब बड़ी शक्तियों में केवल इंगलैण्ड ही बचा था। नेपोलियन देख चुका था कि इङ्गलैण्ड पर सीधा आक्रमण नहीं हो सकता था। यदि उसे इस प्रकार की कोई आशा कभी थी भी तो ट्रेफ़लगर के युद्ध में नेल्सन ने उसे डुबो दिया था। अतः उसने उसे परास्त करने का एक परोक्ष उपाय निकाला जो इतिहास में 'महाद्वीपीय व्यवस्था' (Continental System) अथवा 'महाद्वीपीय अवरोध' (Continental Blockade) के नाम से प्रख्यात है। इसके द्वारा वह योरोप में इङ्गलैण्ड का व्यापार बन्द कर देना चाहता था।† उसे

---

* Schevill : A History of Europe, p. 434.

† महाद्वीपीय व्यवस्था इंगलैण्ड के निर्यात-व्यापार को नष्ट करने के उपाय के अतिरिक्त कुछ और भी थी; वह फ्रान्स को केन्द्र बनाकर महाद्वीपीय योरोप (इंगलैण्ड को छोड़कर) की अर्थ-व्यवस्था को विकसित करने की एक महान् योजना भी थी। इंगलैण्ड की वस्तुओं के बिना ही अपना काम चलाने के अभ्यस्त होने पर योरोपीय लोग आर्थिक दृष्टि से अधिक सफल एवं स्वतन्त्र हो सकते थे। Palmer : A History of the Modern World, p. 398.

निश्चय था कि यदि इङ्गलैण्ड का व्यापार नष्ट हो जाय तो वह अवश्य सन्धि करने को विवश होगा। यह नीति वास्तव में राष्ट्रीय संविधान-परिषद् (National Convention) तथा डाइरेक्टरी के समय में निर्धारित हो चुकी थी। नेपोलियन ने उसको परिपक्व करके बड़े ज़बरदस्त पैमाने पर उसका प्रयोग किया।* प्रशा को पराम्त करने के बाद जब उसने बर्लिन में कुछ दिनों निवास किया था तभी इस योजना पर उसने 'बर्लिन के आदेश' (२१ नवम्बर, १८०६) द्वारा कार्य आरम्भ कर दिया था। इस आदेश के द्वारा उसने समस्त ब्रिटिश द्वीपों के अवरोध की घोषणा की और उनके साथ समस्त व्यापार का निषेध किया। फ़ान्स में या उसके मित्र-देशों में जो अंग्रेज़ मिलें उन्हें क़ैद करने तथा उनके माल को ज़ब्त करने का आदेश दिया गया और फ़ान्स तथा मित्र-राज्यों के बन्दरगाहों में इंगलैण्ड अथवा उसके उपनिवेशों से आने वाले जहाज़ों का प्रवेश निषिद्ध घोषित किया गया। इस प्रकार उसने इंगलैण्ड के व्यापार के बहिष्कार का प्रयत्न शुरू किया।

इसके उत्तर में इंगलैण्ड ने आर्डर्स-इन-कौंसिल (Orders-in-Council) में फ़ान्स तथा उसके मित्र-राज्यों के बन्दरगाहों के अवरोध की घोषणा की और समस्त तटस्थ देशों को उनके साथ व्यापार करने से मना कर दिया तथा इस आदेश को न माननेवाले जहाज़ों को पकड़ लेने की धमकी दी।

इस योजना को सफल बनाने के लिये बर्लिन के आदेश के अतिरिक्त उसने वार्सा (२५ जनवरी, १८०७), मिलान (१७ दिसम्बर, १८०७) और फ़ांतेब्लो (Fontainebleau) १८ अक्टूबर, १८१०) से भी आदेश जारी किये। यह योजना बड़ी अच्छी थी परन्तु उसको सफल बनाने के लिये उसे कई ऐसे काम करने पड़े जिसके परिणाम बड़े शोचनीय हुए। हम देखेंगे कि इसके कारण रूस की मैत्री भंग हुई, इसी कारण उसे पोप से झगड़ा मोल लेना पड़ा और इसी कारण उसे पुर्तगाल पर आक्रमण करना पड़ा जो उसे स्पेन के गर्त्त में खींच ले गया, जहाँ उसके पतन का सूत्रपात हुआ।† इंगलैण्ड से यह नवीन प्रकार का युद्ध १८०७ से १८१४ तक चलता रहा। इस अवधि में अनेक घटनाएँ हुईं परन्तु वे सब उसी एक सूत्र में गुँथी हुई थीं।

महाद्वीपीय योजना को सफल बनाने का प्रयत्न—इस योजना की सफलता के लिये यह आवश्यक था कि महाद्वीप के किसी भाग से इंगलैण्ड व्यापार न कर सके। यदि किसी एक जगह से भी इंगलैण्ड व्यापार कर सकता तो सारी योजना व्यर्थ थी। अभी योरोप में कई ऐसे देश थे जो नेपोलियन के प्रभाव में नहीं थे। ऐसे देश थे स्वीडन, डेनमार्क, स्पेन, पुर्तगाल, पोप का राज्य, तुर्की और रूस। टिलसिट की सन्धि

* Hazen : Modern European History, p. 215.
† Madelin : The Consulate and the Empire, Vol. I, p. 378.

के अनुसार रूस ने इस योजना में नेपोलियन का साथ देने का वचन दिया था और इसी उद्देश्य से नेपोलियन ने भी फ़िनलैण्ड तथा तुर्की का बहुत-सा प्रदेश रूस को दिलवाने का वचन दिया था। इसके साथ ही उन्होंने स्वीडन, डेनमार्क तथा पुर्तगाल पर इस योजना में सम्मिलित होने के लिये दबाव डालने का निश्चय किया था।

डेनमार्क—परन्तु इंगलैण्ड सतर्क था। उसे टिलसिट की सन्धि की खबर मिल गई और उसके विदेश-मन्त्री कैनिंग ने बड़ी फ़ुर्ती से एक अँग्रेज़ी वेड़ा कोपेनहेगन भेज कर डेनमार्क की सरकार से अपने वेड़े को इंगलैण्ड के हवाले करने के लिये कहा, क्यों कि उसके फ़्रान्स के हाथों में पहुँच जाने का डर था। जब डेनमार्क की सरकार ने इन्कार कर दिया तो ब्रिटिश वेड़ा डेनमार्क के समस्त बेड़े को छीन कर इंगलैण्ड ले गया (सितम्बर, १८०७)।

पोप—नेपोलियन ने पोप को भी १८०६ में अपने बन्दरगाहों में अँग्रेज़ी जहाज़ों को न आने देने के लिये कहा था परन्तु उसने तटस्थता का बहाना लेकर इन्कार कर दिया था। पर नेपोलियन अपनी माँग पर अड़ा रहा और पोप के न मानने पर अप्रैल १८०८ में फ़्रेञ्च सेनाओं ने पोप के राज्य पर अधिकार कर लिया तथा एक वर्ष बाद वह फ़्रेञ्च साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। नेपोलियन ने जितनी भूले कीं उनमें से ऐसी कोई भूल नहीं थी जिसने इटली ही में क्या, समस्त केथोलिक संसार में उसकी सत्ता को इतना तीव्र धक्का पहुँचाया हो जितना पोप के अपमान की भूल ने।*

पुर्तगाल—पोप से झगड़ा बढ़ने से पहले ही उसने इंगलैण्ड को डेनमार्क का उत्तर पुर्तगाल में देने का प्रयत्न किया। १८०४ में नेपोलियन ने पुर्तगाल की प्रार्थना पर उसकी तटस्थता स्वीकार कर ली थी परन्तु अब पुर्तगाल की तटस्थता उसकी योजना के लिये घातक थी। अतः उसने पुर्तगाल से महाद्वीपीय योजना में सम्मिलित हो जाने को कहा और स्पेन से एक गुप्त सन्धि (अक्टूबर, १८०७) करके उसका आपस में विभाजन करने तथा उसका वेड़ा छीन लेने का निश्चय किया। जब पुर्तगाल ने इस माँग को स्वीकार करने में कुछ आनाकानी की तो ज़ूनो (Junot) के नेतृत्व में एक फ़्रेञ्च सेना, जो स्पेन की सीमा पर पहले से ही मौजूद थी, स्पेन की सेना के साथ पुर्तगाल में घुस गई और उसने उस पर अधिकार कर लिया। परन्तु अँग्रेज़ सर्वत्र सतर्क थे। उनके बेड़े का एक भाग पास ही था। पुर्तगाल का राजा अपने परिवार सहित अपना बेड़ा साथ लेकर अँग्रेज़ी बेड़े के संरक्षण में निकल भागा और ब्रेज़िल पहुँच गया। किन्तु पुर्तगाल फ़्रान्स के अधिकार में बना रहा।

एक महत्वपूर्ण घटना—पुर्तगाल पर जो आक्रमण हुआ उसका स्वयं तो कोई विशेष महत्व नहीं था, परन्तु उसके साथ 'योरोपीय इतिहास का एक अत्यन्त महत्व

* Fisher : A History of Europe, pp, 847-48.

पूर्ण अध्याय' खुला। पुर्तगाल का आक्रमण स्पेन पर होनेवाले आक्रमण की भूमिका मात्र था। परन्तु स्पेन पर आक्रमण होने के साथ ही नेपोलियन को एक ऐसी शक्ति का मुक़ाबला करना पड़ा जिसके सामने उसे परास्त होना पड़ा। अभी तक नेपोलियन राजाओं एवं शासकों से लड़ रहा था जो निर्बल थे; परन्तु अब उसे जनता—राष्ट्रीयता की शक्ति—से युद्ध करना था। तिलसिट की सन्धि साधारणतया नेपोलियन के चरमोत्कर्ष की परिचायक समझी जाती है परन्तु वास्तव में उससे उसके पतन का श्रीगणेश होता है। ऊपर से देखने में उसकी सत्ता कभी उससे ज़्यादा नहीं थी परन्तु पतन के बीज बोये जा चुके थे और फ़सल निश्चित थी।

———

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 89.

अध्याय ११

राष्ट्रीय प्रतिक्रिया

पतन की ओर—स्पेन

स्पेन पर दांत—पुर्तगाल की विजय के बाद स्पेन की बारी आई। बासिल की सन्धि (१७९५) के साथ स्पेन गुट से अलग हो गया था और तभी से वह एक अधीन राज्य के समान फ़ान्स के आदेशों का पालन कर रहा था। ट्रेफ़लगर के युद्ध में फ़ान्स के बेड़े की सहायता स्पेन का बेड़ा भी कर रहा था। परन्तु नेपोलियन सन्तुष्ट नहीं था। स्पेन का राजा चतुर्थ चार्ल्स बूर्बों वंश का था। फ़ान्स में बूर्बों वंश नष्ट किया जा चुका था। नेपोलियन ने नेपिल्स से भी उस वंश को निकाल दिया था। अब वह स्पेन से भी इस कांटे को निकाल देना चाहता था।

पुर्तगाल में ज़ूनो की सहायता भेजने के बहाने से उसने स्पेन में अपनी सेना भेजना शुरू किया। वहां चतुर्थ चार्ल्स तथा उसके पुत्र फ़र्डिनेण्ड में कुछ झगड़ा चल रहा था। नेपोलियन ने उन दोनों को दक्षिणी फ़ान्स में बेयोन (Bayonne) पहुंचने का निमन्त्रण दिया और वहां दोनों को धमका कर उनसे राजगद्दी से त्यागपत्र लिखवा लिया। इसके बाद उसने स्पेन की राजगद्दी अपने भाई नेपिल्स के राजा जोज़फ़ को दे दी (जुलाई, १८०८)। नेपिल्स का राज्य नेपोलियन ने अपने बहनोई म्यूरा को दे दिया।

महान् भूल—यह नेपोलियन की बड़ी ज़बरदस्त भूल थी, बाद में उसने भी इस बात को स्वीकार किया था। स्पेन की जनता नेपोलियन के इस अत्याचार को न सह सकी। अभी तक स्पेन के लोग बड़े विभक्त थे परन्तु इस अत्याचार ने उन्हें एक कर दिया और सारा राष्ट्र नेपोलियन के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। स्थान-स्थान पर लोगों ने प्रबन्ध-समितियां स्थापित करना और सेना एकत्रित करना आरम्भ कर दिया। केथोलिक पादरियों ने भी पोप के शत्रु के विनाश का अच्छा अवसर देख कर जनता को उत्तेजित करना शुरू किया। स्पेनिश राष्ट्र का नेपोलियन की सेनाओं से युद्ध आरम्भ हो गया।

प्रायद्वीपीय युद्ध का आरम्भ—आरम्भ में ही फ़ेञ्च सेनाओं की पराजय होने लगी। फ़ेञ्च सेनाओं को बड़ी विपरीत परिस्थिति में लड़ना पड़ रहा था। देश

ग़रीब था, सड़कें ख़राब थीं और पहाड़ियाँ तथा नदियाँ उनके रास्ते के आरपार फैली हुई महान् रुकावट बनी हुई थीं। ऐसी भूमि में बड़ी-बड़ी सेनाओं के लिये इधर-उधर कूच करना असम्भव था। वह भूमि छोटी-छोटी टुकड़ियों के लुकछिप कर शत्रु पर आक्रमण करने तथा बचाव के लिये बड़ी अनुकूल थी। इसके अतिरिक्त अब सेना को राष्ट्रीय जोश से भरी हुई जनता से लड़ना था। १६ जुलाई, १८०८ को बेलन (Baylen) के स्थान पर फ्रेंच जनरल द्युपोंत (Dupont) की पराजय हुई जिसमें न केवल स्पेनियों का उत्साह बढ़ा वरन् समस्त योरोप में सनसनी फैल गई। महाद्वीप में यह नेपोलियन की पहली पराजय थी; फ्रेंच सेना की अजेयता का दावा नष्ट हो चुका था।* मध्य योरोप में भी लोगों का उत्साह बढ़ा और राष्ट्रीय प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई। १ अगस्त को जोज़ेफ़ मेड्रिड छोड़ कर भाग गया।

प्रान्तीय समितियों ने इङ्गलैण्ड से सहायता की प्रार्थना की और इङ्गलैण्ड के विदेश-मन्त्री कैनिंग ने नेपोलियन पर पीछे से आक्रमण करने का उपयुक्त अवसर पा कर सहायता भेजी। जिस दिन जोज़ेफ़ मेड्रिड छोड़ कर भागा, उसी दिन आर्थर वेलेज़ली अंग्रेज़ी सेना के साथ पुर्तगाल के तट पर उतरा। वह लिस्बन की ओर बढ़ा, रास्ते में उसने विमियरो (Vimiero) नामक स्थान पर फ्रेंच सेना को हराया (२१ अगस्त) और ज़ूनो सिंट्रा (Cintra) के समझौते के अनुसार पुर्तगाल खाली कर गया (३० अगस्त)। अंग्रेज़ी सेना पुर्तगाल में जम गई।

इस समाचार से नेपोलियन को बड़ा क्रोध आया। वह स्थिति की गम्भीरता को समझ गया। वह देख रहा था कि ऑस्ट्रिया में भी राष्ट्रीयता का रोग शुरू हो रहा था। उसने एर्फ़ुर्ट नामक स्थान पर ज़ार एलेक्ज़ेण्डर से भेंट की और एक नई सन्धि करके उससे मित्रता दृढ़ की। इस प्रकार अपनी स्थिति को मध्य-योरोप में मज़बूत करके उसने एक बड़ी सेना के साथ स्पेन में प्रवेश किया। बर्गोस (Burgos) के निकट स्पेनी सेनाओं को परास्त करके (१० नवम्बर, १८०८) वह मेड्रिड की ओर बढ़ा और उसने मेड्रिड लेकर जोज़ेफ़ को पुनः सिंहासन पर बिठला दिया।

इस बीच में आर्थर वेलेज़ली वापस चला गया था और उसके स्थान पर सर जॉन मूर आ गया था। नेपोलियन अब दक्षिणी स्पेन की ओर बढ़ना चाहता था। यह देख कर मूर उत्तर में नेपोलियन का रास्ता काटने का डर दिखा कर उसे मेड्रिड से हटाने के लिये उत्तरी स्पेन की ओर बढ़ा। नेपोलियन भी तुरन्त उत्तर की ओर चल पड़ा और मूर उत्तर-पश्चिम में कॉरुना (Corunna) की तरफ़ पीछे हटने लगा।

---

* "योरोप के विरुद्ध फ्रेंच क्रान्ति के युद्ध में जो स्थान वामी का था, वही स्थान नेपोलियन के विरुद्ध योरोप के युद्ध में बेलन का रहा।" Ketelbey : A History of Modern Times, p. 126.

इसी बीच में नेपोलियन को ऑस्ट्रिया में विद्रोह हो जाने के समाचार मिले। वह सेना की बागडोर मार्शल सूल (Soult) के हाथों में छोड़कर तुरन्त फ़ान्स लौट गया। मूर कॉरुना पहुँच गया, उसकी सेना तो निकल गई परन्तु वह स्वयं मारा गया। किन्तु उसका उद्देश्य पूरा हो चुका था; नेपोलियन दक्षिण की ओर न बढ़ सका, उसकी योजना विफल हो गई और दक्षिणी स्पेन को मुक़ाबिले की तैयारी का अवकाश मिल गया।

स्पेन तथा पोर्तुगाल
प्रायद्वीपीय युद्ध

उधर वेलेज़ली वापस आ गया था। वह पुर्तगाल से फ़्रेंच सेनाओं को निकाल कर स्पेन में घुस गया और स्पेन की सेना के साथ मिलकर मेड्रिड की ओर बढ़ा। तेलावारा के स्थान पर उसने फ़्रेंच सेनाओं को परास्त किया (१७-१८ जुलाई, १८१०), परन्तु मार्शल सूल ने उसे आगे नहीं बढ़ने दिया और उसे वापस पुर्तगाल लौट जाना पड़ा।

इसके पहले ही नेपोलियन ऑस्ट्रिया को परास्त कर चुका था। अब उसने अपना ध्यान स्पेन की ओर दिया और सेना भेजना आरम्भ किया। १८१० के मध्य तक स्पेन में ३,७०,००० फ़्रेंच सैनिक एकत्रित हो गये थे और नेपोलियन का अत्यन्त सुयोग्य जनरल मसेना भी वहाँ पहुँच गया था। मसेना पुर्तगाल की तरफ़ बढ़ा। इसी बीच में वेलिंगटन* ने टेगस नदी से समुद्र तक एक के पीछे दूसरी ऐसी तीन रक्षा-

* आर्थर वेलेज़ली को तेलावारा की विजय के उपलक्ष्य में वेलिंग्टन के ड्यूक की पदवी मिली थी।

पंक्तियाँ (Lines of Torres Vedras) तैयार करके अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध कर लिया था। उसने मसेना को बुसाको (Busaco) के निकट परास्त तो कर दिया परन्तु उसे हट कर रक्षा-पंक्तियों के पीछे चले जाना पड़ा। पंक्तियों के बाहर का सारा प्रदेश उसने रौंद डाला था और उसमें अन्न का एक दाना भी नहीं छोड़ा था। मसेना रक्षा-पंक्तियों को बहुत प्रयत्न करने पर भी न तोड़ सका और भूख तथा रोग से व्याकुल अपनी सेना के साथ पुर्तगाल से हट कर स्पेन में चला गया (मार्च, १८११)। उसके ३०,००० सैनिक नष्ट हो गये थे।

इस समय तक वेलिंग्टन के पास इङ्गलैण्ड से और सेना आ गई थी। उसने अब आक्रमण किया; उसे कुछ विजय भी प्राप्त हुई परन्तु वह फ्रेंच सेनाओं की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं कर सका। १८१२ का वर्ष अँग्रेजों के अनुकूल रहा। नेपोलियन रूस के आक्रमण की तैयारी कर रहा था और उसे जितने भी सैनिक मिल सकते थे उनकी आवश्यकता थी। इस कारण वह स्पेन के लिये सहायता का प्रबन्ध न कर सका वरन् उसे वहाँ से बहुत सी सेना भी वापस मँगानी पड़ी। उसने सारा भार अपने मार्शलों पर छोड़ दिया जिनमें पारस्परिक ईर्ष्यावश सहयोग की भावना का अभाव था। वेलिंग्टन आगे बढ़ा। जुलाई में सेलेमेंका (Salamanca) के निकट फ्रेंच सेना को परास्त कर उसने मेड्रिड में प्रवेश किया (अगस्त) और जोजेफ भाग कर एब्रो की तरफ चला गया। फ्रेंच सेनाओं को दक्षिणी स्पेन खाली करना पड़ा। परन्तु वेलिंग्टन मेड्रिड पर अधिक दिनों तक अधिकार न रख सका। नवम्बर में फ्रेंच सेना ने उस पर फिर अधिकार कर लिया और वेलिंग्टन को पुर्तगाल वापस लौट जाना पड़ा। इस प्रकार उसकी विजय व्यर्थ रही, परन्तु उसने दक्षिणी स्पेन को मुक्त कर लिया था और अपनी सेनाएँ बचा ली थीं जिनकी सहायता से उसने स्पेनिश सेनाओं से मिलकर १८१३ में विजय शुरू की। इस वर्ष नेपोलियन ने सूल को अपनी सेना के चुने हुए सैनिकों के साथ जर्मनी बुला लिया और स्पेन में फ्रेंच सेना कमजोर पड़ गई। अब वेलिंग्टन मेड्रिड से फ्रान्स जानेवाले मार्ग को काटने के लिये उत्तर की ओर बढ़ा। फ्रेंच सेनाओं ने जल्दी से मेड्रिड खाली कर दिया और पिरेनीज पर्वत की ओर प्रस्थान किया परन्तु वेलिंग्टन ने आगे बढ़ कर उन्हें विटोरिया के स्थान पर बुरी तरह से परास्त कर दिया। नेपोलियन ने जल्दी से सूल को वापस स्पेन के लिये रवाना किया परन्तु वह कुछ न कर सका। उसकी सेना बड़ी दृढ़ता से लड़ी किन्तु वेलिंग्टन ने उसे खदेड़ कर पिरेनीज़ पर्वत के पार भगा दिया। अब वह फ्रेंच सेनाओं का पीछा करता हुआ फ्रान्स में घुस गया और तूलूस (Toulouse) तक बढ़ता चला गया। १२ अप्रैल को तूलूस उसके हाथ में आ गया परन्तु इसके पहले ही नेपोलियन स्वयं परास्त हो चुका था। इस प्रकार यह लम्बा युद्ध, जो इतिहास में प्रायद्वीपीय युद्ध (Peninsular War) कहलाता है, समाप्त हुआ।

नेपोलियन की पराजय के कारण— स्पेन पर आक्रमण करना नेपोलियन की जबरदस्त भूल थी। उसके पतन का यह भी एक मुख्य कारण था। बिना आगा-पीछा सोचे हुए उसने स्पेन पर आक्रमण कर दिया और जब उसका विरोध हुआ तो वह उसकी शक्ति का सही अनुमान नहीं लगा सका। जब एक बार फँस गया तो पराजय स्वीकार किये बिना उसका हटना असम्भव था। उसने हटना सीखा ही नहीं था परन्तु उसने सफलता प्राप्त करने की ओर न तो अपनी प्रतिभा का और न अपनी सारी शक्ति का ही प्रयोग किया। वह स्पेन गया परन्तु अपनी विजय को पूरा करने के पहले ही १८०९ में लौट गया। १८१० में उसने मसेना को पूरी सहायता नहीं दी। १८१२ में सूल को वापस बुला लिया और १८१३ में जब सब कुछ हाथ से निकल चुका था तो उसे पुनः प्राप्त करने के लिये असंख्य सैनिक कटवा दिये। एक ही समय अनेक काम अपने हाथ में लेने की जगह यदि उसने अपना पूरा ध्यान और पूरी शक्ति का स्पेन के विरुद्ध प्रयोग किया होता तो शायद वह सफल हो जाता। उसने तो भूलें की थीं परन्तु यदि जोज़ेफ़ योग्य होता और उसके जनरल परस्पर सहयोग करते तो भी कुछ हो सकता था। परन्तु जोज़ेफ़ अयोग्य निकला; उसके जनरल आपस में ही झगड़ते रहे और नेपोलियन के हाथ स्पेन के राष्ट्र की घृणा और तीन लाख फ्रेंच सैनिकों के विनाश के अतिरिक्त कुछ नहीं लगा। यह सेना मध्य-योरोप में अधिक काम आती। स्पेन की भूमि भी ऐसी थी जहाँ नेपोलियन की बड़ी सेनाएँ कुछ नहीं कर सकती थीं। वह ऐसा देश है जहाँ बड़ी सेनाओं को भोजन नहीं मिल सकता और छोटी सेनाएँ सरलता से परास्त की जा सकती हैं। वह भूमि रक्षात्मक युद्ध के लिये बड़ी अनुकूल है और स्पेनवासियों ने इससे ख़ूब लाभ उठाया। स्पेन की सेनाएँ भी अब राजा की दुर्बल वेतनभोगी सेनाएँ नहीं थीं। वे राष्ट्रीयता के जोश से ओत-प्रोत अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये प्राण होम देनेवाली जनता की सेनाएँ थीं जिन्हें संसार की कोई शक्ति परास्त नहीं कर सकती थी। ऐसी सेनाओं की सहायता के लिये इङ्गलैण्ड पहुँच गया था जो नेपोलियन का सबसे कट्टर शत्रु था। उसे ऐसी भूमि मिल गई थी जहाँ उसकी सेना स्पेनियों की हिम्मत बढ़ाने, उन्हें सहायता देने तथा लड़ने में बड़े प्रभावकारी ढंग से काम कर सकती थी; और ऐसी सेना का नेतृत्व था वेलिंग्टन के हाथ में जो बड़ा दृढ़ाग्रही और युद्ध-कला में निपुण था। इन सब कारणों से नेपोलियन इस युद्ध में परास्त हुआ जिसे वह तिरस्कारपूर्वक 'पादरियों और फ़कीरों का युद्ध' कहा करता था। बाद में उसने स्वीकार किया था कि स्पेन उसके लिये एक 'रिसने हुए फोड़े' के समान था जिसने उसकी प्राणशक्ति को खींच लिया।

अध्याय १२

पतन की ओर

मध्य-योरोप में राष्ट्रीय प्रतिक्रिया—रूस पर आक्रमण

ऑस्ट्रिया द्वारा युद्ध की घोषणा—प्रायद्वीपीय युद्ध का वर्णन करने में हमने मध्य योरोप की अनेक घटनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। आप देख चुके हैं कि ऑस्ट्रिया के विद्रोह के कारण नेपोलियन को स्पेन से हटना पड़ा था। प्रेसबुर्ग का अपमान ऑस्ट्रिया को शूल की तरह चुभ रहा था और वह उसका प्रतिरोध करने की तैयारी कर रहा था। स्पेन में नेपोलियन के विरुद्ध राष्ट्रीय विरोध तथा फ्रेंच सेनाओं की पराजय से प्रोत्साहित होकर ऑस्ट्रिया ने १५ अप्रैल १८०९ को फ्रान्स के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अवसर भी उपयुक्त था; नेपोलियन के तीन लाख सैनिक स्पेन में उलझे हुए थे; ज़ार एलेक्ज़ेण्डर नेपोलियन को ऑस्ट्रिया के विरुद्ध सहायता देने का वचन दे चुका था परन्तु वह भी परेशान था; उत्तरी जर्मनी विद्रोह के लिये तैयार था और इङ्गलैण्ड भी सहायता के लिये प्रस्तुत था। इसके साथ ही उसने स्वयं अपनी सेना की अच्छी तैयारी कर ली थी।

ऑस्ट्रिया ने तीन दिशाओं में आक्रमण करके युद्ध का प्रारम्भ किया। आर्च-ड्यूक चार्ल्स ने बवेरिया में एक विशाल सेना के साथ प्रवेश किया; आर्चड्यूक जान ने दूसरी सेना के साथ टिरोल में विद्रोह खड़ा किया और तीसरी सेना आर्चड्यूक फर्डि-नेण्ड के नेतृत्व में वार्सा की ओर बढ़ी।

ऑस्ट्रिया की पुनः पराजय—परन्तु नेपोलियन स्पेन से चल कर तुरन्त ही चार्ल्स के मुक़ाबले में जा पहुँचा और चार्ल्स हट कर वियना की ओर भागा। नेपोलियन भी पीछा करता हुआ वियना में जा पहुँचा (मई, १८०९)। परन्तु इसके आगे नेपोलियन की स्थिति बड़ी संकटमय हो गई। वह वियना से कुछ दूर एस्पर्न नामक स्थान पर हारा और उसके २७,००० सैनिक काम आये। इस पराजय के समाचार से समस्त योरोप में सनसनी फैल गई। प्रशा के राजा फ्रेडरिक विलियम ने कहा कि यदि ऐसी ही एक और विजय हुई तो मैं भी युद्ध में शामिल हो जाऊँगा। समस्त उत्तरी जर्मनी

विद्रोह के लिये तैयार हो गया और इङ्गलैण्ड ने भी एक बेड़ा उत्तरी जर्मनी के लिये रवाना किया। परन्तु नेपोलियन के भाग्य में अभी हार नहीं बदी थी। उसने ऑस्ट्रिया को वेग्रम (Wagram) के स्थान पर ऐसी बुरी तरह से परास्त किया (५-६ जुलाई) के लिये उसे सन्धि की प्रार्थना करनी पड़ी। सब तरफ़ जोश ठण्डा पड़ गया। इंगलैण्ड के बेड़े से भी कुछ न बन पड़ा और वह लौट गया।

वियना की सन्धि—ऑस्ट्रिया को बड़ी कड़ी शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं। वियना (अथवा शॉनब्रुन) की सन्धि (२० अक्टूबर, १८०६) के अनुसार ऑस्ट्रिया को पश्चिमी गेलिशिया का प्रदेश वार्सा की डची को, पूर्वी गेलिशिया रूस को, ट्रीस्ट, क्रोटिया तथा इलिरियन प्रान्त नेपोलियन को और टिरोल, उत्तरी ऑस्ट्रिया का कुछ भाग तथा अन्य छोटे-छोटे प्रदेश बेवेरिया को देने पड़े। उसे ३४,००,००० पौण्ड युद्ध का हर्जाना भी

देना पड़ा, अपनी सेना घटा कर डेढ़ लाख करनी पड़ी और महाद्वीपीय व्यवस्था में सम्मिलित होना पड़ा। सम्राट् को जो शर्त सबसे अधिक अपमानजनक मालूम पड़ी वह थी अपनी कन्या मेरिया लुइसा का विवाह नेपोलियन के साथ करने की। उसे वह शर्त भी मंज़ूर करनी पड़ी।*

---

* नेपोलियन के कोई उत्तराधिकारी नहीं था। १८०६ के अन्त में उसने जोज़ेफाइन को तलाक़ दे दिया और १ अप्रैल १८१० को लुइसा से विवाह कर लिया। यह राजकुमारी मेरी आँत्वानेत की भतीजी थी। एक वर्ष बाद उसके पुत्र उत्पन्न हुआ जिसे नेपोलियन ने रोम के राजा की उपाधि से विभूषित किया।

साम्राज्य-विस्तार—अब नेपोलियन ने महाद्वीपीय व्यवस्था को और भी कड़ी करने का निश्चय किया। आप ऊपर देख चुके हैं कि इस व्यवस्था में सहयोग न देने के अपराध में नेपोलियन ने पोप का राज्य छीन लिया था। वास्तव में इस व्यवस्था से योरोप की समस्त जनता बड़ी दुःखी थी, यहाँ तक कि उसके भाई लुई बोनापार्ट को भी वह असह्य हो गई और उसने हॉलैण्ड का राज्य छोड़ दिया (१ जुलाई १८१०)। नेपोलियन ने इस पर हॉलैण्ड को फ़ान्स में शामिल कर लिया। वह समुद्रतट का कोई भी भाग ऐसा नहीं छोड़ना चाहता था जहाँ उसका प्रभाव न हो और जहाँ से इङ्गलैण्ड का व्यापार हो सके। इस दृष्टि से उसने हेम्बर्ग, ओल्डनबर्ग की डची, आधा वेस्ट फ़ेलिया, बर्ग की ग्राण्ड-डची का एक भाग तथा कई नगर भी इसी प्रकार फ़्रान्स में शामिल कर लिये।*

१८११ में नेपोलियन का साम्राज्य—इस प्रकार १८११ के आरम्भ में नेपोलियन का साम्राज्य चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। स्वयं फ़्रेञ्च साम्राज्य बड़ा विस्तृत था। उत्तर-पूर्व की ओर उसमें बेल्जियम, हॉलैण्ड तथा डेनमार्क की पूर्वी सीमा तक का समस्त प्रदेश सम्मिलित था और दक्षिण-पूर्व में इटली में पायडमॉण्ट, जिनोआ, टुस्कनी तथा पोप के राज्य भी उसमें शामिल थे। इस साम्राज्य के पूर्व में उत्तर से लेकर दक्षिण तक राइन का राज्य-संघ, स्विट्ज़रलैण्ड, इटली का राज्य तथा नेपिल्स का राज्य थे जो उसके अधीन थे। एड्रियाटिक सागर के पूर्वी तट पर इलिरियन प्रान्त आदि भी फ़्रेञ्च साम्राज्य में थे। इनके आगे पूर्व की ओर प्रशा तथा ऑस्ट्रिया, वार्सा की डची और रूस थे। प्रशा अब भी उससे दबा हुआ था, ऑस्ट्रिया कुचला जा चुका था, रूस मित्र था और इन सबके ऊपर सन्तरी की तरह निगाह रखनेवाला वार्सा का राज्य था जो नेपोलियन के ही आधीन था। दक्षिण-पश्चिम में स्पेन भी नाम मात्र को उसके भाई जोजेफ़ के अधीन था। इस प्रकार देखने में इस समय नेपोलियन का प्रभाव सारे योरोप पर था परन्तु, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, यह सारा ढाँचा भीतर

---

* इस व्यवस्था से स्वयं नेपोलियन को भी बड़ी असुविधा थी और उसका सफल होना असम्भव था। फ़्रान्स को सूती और ऊनी कपड़ा, शकर तथा तम्बाकू इङ्गलैण्ड से ही प्राप्त होते थे; उसके बिना काम चलना असम्भव था। इस कारण नेपोलियन को स्वयं अपने नियमों को भंग कर कुछ अपवाद करने पड़े और कुछ वस्तुओं में इङ्गलैण्ड से व्यापार करने के लिये लाइसेन्स देने पड़े। रूस पर आक्रमण करनेवाली नेपोलियन की सेना के सिपाहियों के वस्त्र अधिकांश में यॉर्कशायर (इङ्गलैण्ड) में बने ऊनी कपड़े के थे। नेपोलियन की इस नीति के कारण उसके मित्र-देशों में काफ़ी असन्तोष था और उन्हें नेपोलियन की व्यवस्था को भंग करने का बहाना मिलता था। Madelin : The Consulate and the Empire, Vol. II pp. 78 80. Muir: British History, p. 495.

से खोखला था और उसे मिटाने के लिये केवल एक ज़ोर के धक्के की आवश्यकता थी जो स्वयं उसी की ग़लती से शीघ्र ही लगनेवाला था।

एलेक्जेण्डर की नाराज़ी—नेपोलियन ने यह ग़लती रूस पर आक्रमण करके की। टिलसिट की सन्धि से ज़ार एलेक्जेण्डर और नेपोलियन में मित्रता हो गई थी। दोनों संसार को आपस में बाँट लेने का स्वप्न देखने लगे थे और नेपोलियन ने उसे अपने राज्य के विस्तार में सहायता देने का भी वचन दिया था। १८०८ में एर्फुर्ट की सन्धि से यह मैत्री और भी पुष्ट हो गई थी, परन्तु १८१० तक नेपोलियन ने अपना वचन पूरा नहीं किया था और ज़ार को एक इञ्च भी नई भूमि नहीं मिली थी। इसके अतिरिक्त अन्य कारणों से भी ज़ार नेपोलियन की ओर से खिंच रहा था। नेपोलियन निरन्तर अपना साम्राज्य बढ़ा रहा था जिससे उसे शंका उत्पन्न हो रही थी। हाल ही में उसने ओल्डनबर्ग का राज्य फ़्रान्स में सम्मिलित कर लिया था। ओल्डनबर्ग का ड्यूक उसका बहनोई था। ज़ार को यह बात बहुत बुरी मालूम हुई। उसकी सीमा पर नेपोलियन ने अपने विश्वासपात्र सेक्सनी के ड्यूक की अधीनता में वार्सा के राज्य का निर्माण किया था और अभी हाल ही में ऑस्ट्रिया के कुछ प्रदेश उसमें सम्मिलित करके उसकी शक्ति बढ़ा दी थी। नेपोलियन ने आरम्भ में पोल लोगों की राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया था। ज़ार को शंका हो रही थी कि नेपोलियन इस प्रकार पोलों की राष्ट्रीयता को उभाड़ रहा था और स्वतन्त्र पोलैण्ड का पुनः निर्माण करने की तैयारी कर रहा था। उसने नेपोलियन से पोलैण्ड के राज्य को पुनर्जीवित न करने का वचन माँगा परन्तु नेपोलियन ने इन्कार कर दिया। इधर नेपोलियन की मित्रता से उसे काफ़ी परेशानी उठानी पड़ रही थी। उसे महाद्वीपीय व्यवस्था में सहयोग करना पड़ रहा था जिससे उसकी प्रजा को बड़े कष्ट उठाने पड़ रहे थे और राज्य को भी आर्थिक क्षति उठानी पड़ रही थी। धीरे-धीरे उसका सहयोग शिथिल पड़ रहा था। अक्टूबर, १८१० में नेपोलियन ने उससे रूसी बन्दरगाहों में समस्त तटस्थ देशों के जहाज़ों का निषेध करने के लिये कहा। एलेक्जेण्डर ने इस माँग को स्वीकार नहीं किया और दिसम्बर में एक आदेश द्वारा तटस्थ जहाज़ों के लिये रूसी बन्दरगाहों में सुविधाएँ कर दीं।

रूस के विरुद्ध तैयारी—नेपोलियन जानता था कि रूस से युद्ध होगा। उसने इंगलैण्ड, तुर्की और स्वीडेन से सन्धि करना चाहा ताकि रूस को कहीं से सहायता न मिल सके परन्तु इंगलैण्ड ने इन्कार कर दिया और स्वीडेन तथा तुर्की ने रूस से सन्धि कर ली (अप्रैल, १८१२)। रूस ने शान्ति-स्थापन के बाद इस सहयोग के बदले में स्वीडेन को नॉर्वे दिलवाने का वचन दिया। स्वीडेन ने इंगलैण्ड से भी जुलाई में सन्धि करके अपने बन्दरगाह अँग्रेज़ी व्यापार के लिये खोल दिये।

परन्तु ऑस्ट्रिया और प्रशा ने नेपोलियन से सन्धि करली थी और उसे सैनिक

सहायता का वचन भी दिया था। उधर साथ-ही-साथ-उसने ६,८०,०००* सैनिकों की एक विशाल सेना भी तैयार कर ली जिसमें से आधे तो फ्रेंच थे और शेष में समस्त योरोप के सैनिक थे। उसने एलेक्ज़ण्डर से अपने वचन का पूर्णतया पालन करने तथा ब्रिटिशव्यापार का बहिष्कार करने के लिये कहा और उसके इन्कार करने पर अप्रैल, १८१२ को समस्त फ्रान्स के विरोध तथा अपने अर्थ-मन्त्री की आर्थिक कठिनाई सम्बन्धीचेतावनी की भी परवाह न करके रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

मॉस्को पर धावा—पराजय—२४ जून को नेपोलियन की विशाल सेना ने नीमन नदी को पार करके रूस की सीमा में प्रवेश किया। नेपोलियन आशा करता था कि जब किसी स्थान पर जम कर युद्ध होगा तो वह रूसियों को नष्ट कर देगा, परन्तु रूसी सेनाओं ने अपने ही देश को उजाड़ने और पीछे हटते जाने की नीति का अवलम्बन किया।† नेपोलियन उनका पीछा करता रहा। ७ सितम्बर को रूसी सेना रुकी और बोरोडिनो के निकट एक घमासान युद्ध हुआ। रूसी सेना हारी और फिर पीछे हटने लगी। एक सप्ताह बाद नेपोलियन मॉस्को पहुँचा परन्तु रूसी लोग मॉस्को में आग लगा कर उसे जलता हुआ छोड़ और भी पीछे हट गये थे। नेपोलियन दो महीनों तक वहाँ इस आशा में रुका रहा कि ज़ार आत्मसमर्पण कर देगा परन्तु उसकी आशा पूरी न हुई। अक्टूबर का मध्य आ गया था और कड़ाके का जाड़ा शुरू होने-वाला था। अन्न की कमी थी और सेना में रोग फैल रहे थे। निदान निराश होकर नेपोलियन ने अपनी सेना को वापस कूच करने की आज्ञा दी और बेचारे बीमार, भूखे, फटे हाल सैनिक वापस लौट पड़े। मार्ग में रूसी लोगों ने उन्हें बड़ा परेशान किया।

---

*Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 110.

† उस समय नेपोलियन के विरुद्ध रूस की दो सेनाएँ तैयार थीं। उसकी योजना कावनो पहुँच कर और लिथुएनिया में घुस कर उन दोनों सेनाओं को अलग कर बारी-बारी से परास्त करने, शीतकाल स्मोलेस्क में व्यतीत करने लिथुनिया को जीत कर वारसा के साथ शामिल करके पराजित ज़ार से सन्धि करने की थी। यदि ज़ार ने सन्धि का प्रस्ताव नहीं किया तो १८१३ की बसन्त ऋतु में मॉस्को की ओर आगे बढ़ने का निश्चय था। नेपोलियन की समस्त योजना दो सम्भवानओं पर आधारित थी। उसे आशा थी कि वह रूसी सेनाओं को १८१२ में लिथुएनिया में परास्त कर सकेगा और लिथुएनिया के पोल लोग अपने सम्राट् के विरुद्ध उसकी ओर शामिल हो जायंगे। परन्तु इन दोनों में से एक बात भी नहीं हुई। रूसी लोग पीछे हटने गये और नेपोलियन की सेनाओं की लूट खसोट से लिथुएनिया की पोल कृषक जनता नाराज हो गई तथा उसके राष्ट्रभक्त नेता भी, जो पोल लोगों की स्वतन्त्रता की घोषणा की आकांक्षा करते थे, नेपोलियन की टालमटोल से असन्तुष्ट हो गये और उनका उत्साह ठंडा पड़ गया। Leo Gershoy the French Revolution and Napoleon, p. 496.

इन्हीं दिनों नेपोलियन को सूचना प्राप्त हुई कि पेरिस में उसके शासन का अन्त करने के लिये षड्यन्त्र रचा जा रहा था।* यह सुनकर वह ५ दिसम्बर को सेना को छोड़ छिप कर पेरिस के लिये रवाना हो गया। १३ दिसम्बर को उसकी विशाल सेना के कंकाल ने नीमन नदी को पार किया और लाइपज़िग की ओर प्रस्थान किया; सेना में केवल एक लाख आदमी बचे थे।

इस पराजय से नेपोलियन की सैनिक शक्ति की बड़ी भारी क्षति हुई परन्तु फिर भी उसने हिम्मत नहीं हारी। फ़ान्स की जनता अब भी उसके साथ थी। पेरिस लौटने पर उसने कहा कि बसन्त तक मैं फिर नीमन नदी के तट पर दिखाई दूंगा। तेरह दिन के अन्दर उसने एक नई सेना तैयार कर ली† परन्तु वह अपना वचन पूरा नहीं कर सका। उसकी यह नई सेना अप्रशिक्षित एवं अस्थिर थी और, जैसा हम आगे देखेंगे, वह लाइपज़िग के युद्ध में नष्ट हो गई। परन्तु ऊपर से देखने में योरोप की स्थिति में नेपोलियन के लिये कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता था; राइन के राज्य-संघ में विश्वासघात के कोई लक्षण नहीं दिखाई दे रहे थे; ऑस्ट्रिया भी शत्रु के साथ मिलने के लिये तैयार नहीं दिखाई देता था; प्रशा का राजा तृतीय फ़ेडरिक विलियम भी उससे अलग होने में झिझक रहा था और ज़ार एलेक्ज़ेण्डर भी आगे बढ़ने का निश्चय नहीं कर पा रहा था।

× × × ×

* Gottchalk and Lach : Europe and the Modern world, Vol. I, p. 737.

† Palmer : A History of the Modern World, p. 410.

अध्याय १३

पतन

प्रशा में जाग्रति—राजनीतिक सुधार—ऊपर से देखने में तो योरोप में नेपोलियन की स्थिति सुदृढ़ दिखाई देती थी, परन्तु जर्मनी में उसकी स्थिति बड़ी कमज़ोर हो रही थी। प्रशा का सबसे अधिक अपमान टिलसिट में हुआ था जो प्रशा की जनता में, विशेषकर वहाँ के देशभक्त दल में, शूल की तरह चुभ रहा था। देशभक्त दल इस अपमान का अन्त करके अपने देश को नेपोलियन की दासता से मुक्त करना चाहता था। इस दल का सबसे बड़ा जबरदस्त व्यक्ति बेरन फ़ॉन स्टाइन (Baron Von Stein) था जिसके कुशल हाथों में फ़्रेडरिक विलियम ने टिलसिट की सन्धि के तीन महीने के बाद ही प्रशा की बागडोर दे दी थी। उसने एक वर्ष के अन्दर ही प्रशा का कायाकल्प कर दिया था और एक मृत राष्ट्र में नवजीवन फूँक दिया था। उसने व्यक्तिगत अर्ध-दासता की पद्धति भंग कर दी और कृषकों को भी, कुछ भूमि जमींदारों को दिला कर, शेष भूमि का स्वामी बना कर मुक्त और सन्तुष्ट कर दिया। समस्त विशेषाधिकार सहित कठोर वर्ग-भेद को मिटा कर उसने राजकीय पदों का द्वार योग्यता के आधार पर समस्त जनता के लिये खोल दिया। उसने केन्द्रीय शासन में उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल की स्थापना की; वह पार्लामेण्टरी शासनपद्धति भी स्थापित कर देता परन्तु नेपोलियन के आदेश से वह दिसम्बर १८०८ में पदच्युत कर दिया गया। इसके पहिले ही वह नगरों में केन्द्रीय सरकार अथवा सामन्तों का नियन्त्रण हटा कर निर्वाचित कौंसिलों की व्यवस्था करके स्थानीय स्वशासन भी स्थापित कर चुका था।

सेना का सुधार—इस प्रकार स्टाइन शासन का सुधार कर रहा था, उधर उसके सहयोगी शार्नहोर्स्त (Scharnhorst) तथा न्याज़ेनाउ (Gneisenau) सेना का सुधार कर रहे थे। सेना पुरानी वर्ग-पद्धति पर संगठित होने के कारण निर्बल थी और नेपोलियन के सामने वह व्यर्थ प्रमाणित हो चुकी थी। अतः वर्ग-पद्धति को तोड़कर सेना का नये ढंग से संगठन किया गया। नेपोलियन ने प्रशा को निर्बल बनाये रखने के लिये सेना की सीमा ४०,००० नियत कर दी थी, परन्तु उस सीमा को बनाये रखते हुए बड़ी चतुराई के साथ समस्त नागरिकों को अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षण दिया गया और दो प्रकार की सेनाएँ तैयार की गईं— एक तो देश की बाहरी शत्रु से रक्षा करने के लिये और दूसरी देश के अन्दर शत्रु से लुकछिप कर युद्ध करने के लिये।

शिक्षा का सुधार—इन सुधारों के साथ जर्मनी के दार्शनिक, विचारक, शिक्षक, कवि, लेखक आदि राष्ट्र के युवकों में अनन्य देशभक्ति की भावना जाग्रत करने में लगे हुए थे। इसी समय हुमबोल्ट के निर्देशन में शिक्षा की व्यवस्था में भी सुधार किया गया; १८०६ में बर्लिन विश्वविद्यालय की स्थापना हुई; वह तथा अन्य विश्वविद्यालय देशभक्ति के केन्द्र बन गये और समस्त शिक्षालयों तथा जनता में देशभक्ति का समुद्र हिलोरें मारने लगा।

नेपोलियन के विरुद्ध रूस से सन्धि—इस प्रकार टिलसिट के अपमान के पाँच वर्षों के अन्दर ही प्रशा बिलकुल बदल कर नये जोश से अनुप्राणित स्वतन्त्रता का प्रेमी राष्ट्र बन गया। इसी समय रूस से नेपोलियन की महान् असफलता का समाचार आया। सारे देश में इससे जोश फैल गया जिसने भीरु फ्रेडरिक विलियम को नेपोलियन के प्रभाव से मुक्त कर उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने के लिये विवश कर दिया। स्टाइन पदच्युति के बाद रूस चला गया था और एलेक्ज़ेण्डर को परामर्श देता रहता था। इधर प्रशा की सेना यॉर्क (Yorck) की कमाण्ड में थी। ३० दिसम्बर १८१२ को यॉर्क ने अपने ही अधिकार से रूस से सन्धि कर अपनी सेना की तटस्थता स्वीकार कर ली। फ्रेडरिक विलियम ने सन्धि को अस्वीकार करके यॉर्क को गिरफ़्तार करने का आदेश दिया परन्तु स्टाइन और यॉर्क के सामने उसकी कुछ न चली। उसे रूस से कालिश (Kalisch) की सन्धि (फ़रवरी १८१३) के अनुसार मित्रता करनी पड़ी और एलेक्ज़ेण्डर ने प्रशा को येना के युद्ध के पहले उसके पास जितनी भूमि थी उसके बराबर भूमि न मिलने तक युद्ध बन्द न करने का वचन दिया। परन्तु पोलैण्ड के जो प्रदेश छीन लिये गये थे उन्हें वापस दिलाने का वचन उसने नहीं दिया क्योंकि उन्हें वह स्वयं चाहता था। उसने उनके बदले में जर्मनी में अन्यत्र कुछ प्रदेश दिला कर उसकी क्षति की पूर्ति का वचन दिया। दोनों राजाओं ने नेपोलियन से अलग सन्धि न करने का भी वायदा किया।

जर्मनी की मुक्ति का युद्ध—तृतीय फ्रेडरिक विलियम ने १७ मार्च १८१३ को नेपोलियन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की और जर्मनी की मुक्ति का युद्ध आरम्भ हुआ। नेपोलियन को अब एक दृढ़प्रतिज्ञ राष्ट्र के विरोध का मुक़ाबला करना पड़ा। वह अभी तक तैयार नहीं था; जैसे-तैसे वह दो लाख सैनिकों की सेना तैयार कर सका था जिनमें से अधिकांश फ़्रान्स के नौसिखिये नवयुवक थे। उनकी घुड़सवार सेना भी कमज़ोर थी। अतः आरम्भ में नेपोलियन की हार होने लगी। रूसी क़ज्ज़ाक सेना की सहायता से प्रशा की सेना ने ड्रेस्डन ले लिया परन्तु अब नेपोलियन मैदान में आ पहुँचा। उसने प्रशा और रूस की सेनाओं को खदेड़ कर एल्ब नदी के पार भगा दिया और ड्रेस्डन वापस ले लिया (१४ मई)। एक सप्ताह बाद उसने शत्रुओं को लुत्सेन

(Lutzen) तथा बॉत्सेन (Bautzen) के युद्धों में परास्त कर दिया और वे साइलेशिया के प्रान्त में हट गये; परन्तु उनकी शक्ति भंग नहीं हुई और नेपोलियन भी काफी घुड़सवार सेना के अभाव में आगे नहीं बढ़ सका। वह और सेनाएँ मैदान में लाना चाहता था, इसलिये उसने ४ जून को प्लारिवत्स के स्थान पर सात सप्ताह के लिये युद्ध स्थगित करने का प्रस्ताव किया।

चौथे गुट का निर्माण– नेपोलियन ने यह प्रस्ताव करके बड़ी गलती की। उसने स्वयं भी बाद में अपनी यह भूल स्वीकार की थी।* इस अवधि में जो कूटनीतिक चालें चली गईं उनका परिणाम नेपोलियन के विपरीत हुआ। ऑस्ट्रिया का सम्राट् फ्रान्सिस फ्रान्स को निर्बल करना और प्रशा तथा रूस की शक्ति को बढ़ने देना नहीं चाहता था। उसने २७ जून को रूस तथा प्रशा से राइशेनबाख़ (Reichenbach) के स्थान पर सन्धि की और नेपोलियन को सन्धि की शर्तें देकर उनको स्वीकार करवाने तथा उसके इन्कार करने पर उसके विरुद्ध युद्ध में शामिल हो जाने का वचन दिया। नेपोलियन से इलिरियन प्रदेश ऑस्ट्रिया को सौंप देने, वार्सा की डची को भंग करने और टिलसिट की सन्धि के अनुसार जितने प्रदेश प्रशा से छीन लिये गये थे उन्हें तथा १८१० में उत्तरी जर्मनी के जो प्रदेश उसने ले लिये थे उन सब को वापस करने के लिये कहा गया। इनके बदले में राइन के राज्य-संघ की अध्यक्षता उसी के हाथों में छोड़ने का वचन दिया गया। नेपोलियन ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया और ऑस्ट्रिया भी उसके विरुद्ध युद्ध में शामिल हो गया। स्वीडेन भी उनके साथ सम्मिलित हो गया। इङ्गलैण्ड ने भी धन से सहायता देने का वचन दिया और इस प्रकार नेपोलियन के विरुद्ध 'चौथा गुट' तैयार हो गया।

अब युद्ध का रूप बदल गया। अभी तक यह युद्ध स्टाइन के सिद्धान्तों के अनुसार जर्मन जनता का जर्मनी की मुक्ति के लिये एक जन-युद्ध था। इसके नेता स्टाइन और यॉर्क थे। अब यह युद्ध प्रतिक्रियावादी तो नहीं, वंशीय युद्ध हो गया जिसका संचालन ऑस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री मेटरनिख के हाथों में पहुँच गया।†

इस समय नेपोलियन कोई साढ़े चार लाख सैनिकों के साथ ड्रेस्डन में था और उसके विरुद्ध उतनी ही सेना तीन भागों में बँटी हुई उस पर आक्रमण करने के लिये तैयार थी। एक ऑस्ट्रियन सेना बोहीमिया में श्वार्ज़नबर्ग के नेतृत्व में थी; दूसरी रूस और प्रशा की सम्मिलित सेना ब्लूखर के नेतृत्व में साइलेशिया में थी और तीसरी रूस, स्वीडेन तथा प्रशा की सम्मिलित सेना उत्तरी जर्मनी में स्वीडेन के राजकुमार

---

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p, 113.

† Ibid, p. 113.

बर्नादोते की अधीनता में थी। उधर वेलिंग्टन स्पेन में होकर फ़्रान्स में घुसने का प्रयत्न कर रहा था।

राष्ट्रों का युद्ध—नेपोलियन ने बारी-बारी से तीनों सेनाओं को नष्ट करने की योजना बनाई परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। ऑस्ट्रिया की सेना को तो उसने ड्रेस्डन में परास्त कर दिया (२६, २७ अगस्त) परन्तु साइलेशिया में ब्लूखर ने फ़्रेंच सेना को परास्त कर दिया और उत्तरी जर्मनी में भी उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। अब सब ओर से सेनाएं उसकी ओर बढ़ने लगीं और लाइपजिग के निकट तीन दिन के 'राष्ट्रों के युद्ध' (Battle of the Nations)* में नेपोलियन की बड़ी भारी पराजय हुई जिसमें उसकी सैनिक शक्ति नष्ट हो गई (१६-१८ अक्टूबर)। वह लौट पड़ा और अपनी बची-खुची सेना के साथ २ नवम्बर को राइन नदी पार कर फ़्रान्स की ओर चला गया।

जर्मनी में नेपोलियन की राज्य-व्यवस्था का भंग होना—इस पराजय के साथ जर्मनी में जो राज्य-व्यवस्था उसने स्थापित कर रखी थी वह तुरन्त भंग हो गई। राइन का राज्य-संघ भंग हो गया और सेक्सनी को छोड़ कर उसके सब राज्य गुट में शामिल हो गये। जेरोम वेस्टफेलिया से भाग गया और वह राज्य भी भंग हो गया। हॉलैण्ड फ़्रान्स के अधिकार से निकल गया और ऑरेञ्ज का विलियम वापस बुला लिया गया। बेवेरिया ने भी उसका साथ छोड़ कर गुट से सन्धि कर ली।

नेपोलियन से सन्धि का प्रस्ताव—शत्रुओं की सेनाएँ उसका पीछा करती हुई राइन नदी की ओर बढ़ीं। गुट के सदस्यों में से किसी का भी उद्देश्य उससे सिंहासन छीनने का नहीं था। ब्लूखर तो चाहता था कि राइन पार करके सेनाएँ फ़्रान्स में घुस जायं परन्तु नवम्बर १८१३ में नेपोलियन से इस शर्त पर सन्धि करने का प्रस्ताव किया गया कि वह फ़्रान्स की प्राकृतिक सीमाओं से सन्तुष्ट हो कर उनके बाहर के समस्त प्रदेश छोड़ दे। इस शर्त के अनुसार बेल्जियम, राइन के प्रान्त तथा सेवॉय फ़्रान्स के राज्य में बने रहते। नेपोलियन ने जब इस शर्त को स्वीकार नहीं किया तो १ दिसम्बर को प्रस्ताव वापस ले लिया गया और सेनाएं फ़्रान्स की ओर बढ़ने लगीं ब्लूखर सीधा पेरिस की ओर बढ़ा, ब्यूलो हॉलैण्ड के रास्ते से घुसा और ऑस्ट्रिया की सेना बेल्फ़ोर के दर्रे में होकर घुसी।

पराजय और पुनः सन्धि का प्रस्ताव—नेपोलियन बड़ी कठिन स्थिति में था परन्तु कुछ तो अपने अद्वितीय युद्ध कला-कौशल से, कुछ नदियों से और कुछ ऑस्ट्रिया की सुस्ती और बेदिली से लाभ उठा कर वह शत्रुओं को दो महीनों से अधिक समय

---

* इस युद्ध में तुर्की को छोड़ कर योरोप के समस्त राष्ट्रों के सैनिक लड़ रहे थे।

तक रोके रहा । १ फ़रवरी को ब्लूखर ने उसे ला राँदिये (La Rothiere) पर परास्त किया । इस पराजय के बाद शातिलों (Chattilon) में एक सभा की गई जिसमें १७९१ की सीमा की शर्त पर फिर उससे सन्धि का प्रस्ताव किया गया । परन्तु इसके अनुसार बेल्जियम, राइन के प्रान्त तथा सेवॉय की हानि होती थी, इस लिये उसके प्रतिनिधि ने उसे स्वीकार नहीं किया । अब की बार नेपोलियन ने शत्रुओं को कई मोर्चों पर हराया और ऑस्ट्रिया के सम्राट् फ़्रान्सिस से गुप्त बातचीत करके नवम्बर में दी हुई शर्त पर सन्धि करने का प्रयत्न किया । मित्रराष्ट्रों में फूट डालने का उसका यह प्रयत्न देखकर इंग्लैण्ड, रूस, प्रशा तथा ऑस्ट्रिया ने शामो (Chaumont) नामक स्थान पर १ मार्च को २० वर्ष की मित्रता की सन्धि की और नेपोलियन से पृथक् सन्धि न करने का वचन दिया । इंग्लैण्ड ने ५० लाख पौण्ड सहायता देने का वचन दिया और शेष राष्ट्रों ने अलग-अलग डेढ़ लाख सैनिक युद्ध में लगाने का वायदा किया ।

पराजय और पतन—अब शत्रुओं की सेनाएँ बढ़ीं । ब्लूखर ने लाओं (Laon) के स्थान पर नेपोलियन को फिर हराया और सेनाएँ ३१ मार्च १८१४ को पेरिस में घुस गईं । सीनेट ने २ अप्रैल को एक प्रस्ताव पास करके नेपोलियन को सिंहासनच्युत कर दिया और तेलीरां (Talleyrand) की अध्यक्षता में एक अस्थायी सरकार स्थापित की गई । स्वयं नेपोलियन से फ़ांतेब्लो (Fontainebleau) नामक स्थान पर सन्धि हुई जिसके अनुसार उसे अपनी तथा अपने परिवार की ओर से फ़्रान्स पर अपने समस्त अधिकारों का त्याग करना पड़ा । इसके बदले में उसे एल्बा का द्वीप देकर वहाँ का स्वतन्त्र राजा बना दिया गया और २० लाख फ़्रैंक की पेन्शन दी गई; उसके परिवार के लिये २५ लाख फ़्रैंक की पेन्शन की व्यवस्था की गई और मेरी लुईसा को इटली में तीन छोटे-छोटे राज्य (डचियाँ) दिये गये ।

पेरिस की प्रथम सन्धि—पेरिस में सभी राष्ट्रों की सभा हुई जिसमें फ़्रान्स का भाग्य-निर्णय हुआ । विभिन्न प्रस्तावों पर विचार करने के बाद तेलीरां की सम्मति पर पुराने बूर्बों वंश का फ़्रान्स पर फिर से राज्य स्थापित किया गया और अठारहवाँ लुई* सिंहासन पर बिठलाया गया । फ़्रान्स की सीमाएँ वही रहीं जो १७९२ में थीं । उसमें सेवॉय का कुछ भाग तथा पूर्वी सीमा पर कुछ प्रदेश और जोड़ दिये गये ।

---

* सोलहवें लुई का पुत्र दस वर्ष की अवस्था में ही १७९५ में मर चुका था । इस लुई ने अपना नाम अठारहवाँ लुई रख कर अपने भतीजे सत्रहवें लुई के राज्य को स्वीकार किया, यद्यपि उसने कभी राज्य नहीं किया था । अठारहवें लुई ने क्रान्ति को केवल एक विद्रोह समझा और नेपोलियन को केवल एक उचक्का जिसने बलपूर्वक राज्य पर अधिकार कर लिया था । इसी कारण वह १८१४ को अपने राज्य का उन्नीसवाँ वर्ष कहता था ।

मॉरीशस, टोवेगो तथा संत लूशिया को छोड़ उसके समस्त उपनिवेश वापस कर दिये गये और उससे युद्ध का कोई हर्जाना नहीं लिया गया।

३ मई को अठारहवें लुई ने पेरिस में प्रवेश किया। वह समझता था कि अब पुरानी परिस्थिति वापस नहीं लौट सकती। उसने क्रान्ति को स्वीकार कर लिया और ४ जून को अपनी ओर से फ्रान्स को एक संविधान दिया जिसके अनुसार दो भवनों की विधायिका सभा, उत्तरदायी मन्त्रि-मण्डल तथा काफ़ी विस्तृत मताधिकार की व्यवस्था की गई; राज्य के पद सभी वर्गों के लिये खोलने की घोषणा की गई और समाचार-पत्रों को भी स्वतन्त्रता दे दी गई।

वियना कांग्रेस—पेरिस की प्रथम सन्धि से फ्रान्स के भाग्य का निर्णय करके विजयी राष्ट्रों ने अन्य प्रश्नों के निर्णय के लिये वियना में एक सभा करने का निश्चय किया जिसका प्रथम अधिवेशन १ नवम्बर १८१४ को हुआ। यह एक बड़ा भव्य सम्मेलन था और योरोप के इतिहास में अद्वितीय था। तुर्की को छोड़ इसमें प्रायः सभी देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। रूस, प्रशा तथा ऑस्ट्रिया के राजा स्वयं इसमें सम्मिलित थे, फ्रान्स की ओर से तेलीरां शामिल हुआ था। ग्रेट ब्रिटेन का प्रतिनिधित्व कैसलरी तथा वेलिङ्गटन का ड्यूक कर रहे थे। सम्मेलन का समस्त प्रबन्ध ऑस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री मेटरनिख (Metternich) कर रहा था जो सम्मेलन का सभापति भी था।

कांग्रेस में मतभेद—किन्तु इस विशाल सम्मेलन में मतैक्य नहीं था; प्रत्येक राजा लड़ाई की लूट में से अधिक से अधिक लेना चाहता था। चारों बड़े राज्यों में मुख्य मतभेद पोलैण्ड तथा सेक्सनी के सम्बन्ध में था। तेलीरां ने इस मतभेद से खूब लाभ उठाया। १८१३ में एलेक्ज़ेण्डर ने ऑस्ट्रिया तथा प्रशा को उनके पोलिश प्रदेश जो १७९५ में उनके पास थे वापस देने का वचन दिया था, परन्तु बाद में वह पोलैण्ड के राज्य का अपनी अधीनता में फिर से निर्माण करने की इच्छा करने लगा था। अतः उसने प्रस्ताव किया कि प्रशा अपने पोलिश प्रदेशों के बदले सेक्सनी ले ले। प्रशा इसके लिये राज़ी हो गया। परन्तु ऑस्ट्रिया इसे स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था, क्योंकि इससे जर्मनी में प्रशा का राज्य बहुत शक्तिशाली हो जाता और रूस की शक्ति में भी वृद्धि हो जाती। इङ्गलैण्ड भी योरोप में रूस के प्रभाव में वृद्धि सहन नहीं कर सकता था। अतः ऑस्ट्रिया तथा इंगलैण्ड ने इसका विरोध किया। इस पर तनाव यहाँ तक बढ़ा कि ३ जनवरी १८१५ को इङ्गलैण्ड और ऑस्ट्रिया ने, जिस फ्रान्स से वे इतने वर्षों से युद्ध कर रहे थे, उससे मिल कर रूस तथा प्रशा के विरोध के लिये एक रक्षात्मक सन्धि कर डाली। इस पर एलेक्ज़ेण्डर दब गया और प्रशा को सेक्सनी का कुछ भाग तथा पोलैण्ड का कुछ भाग देना स्वीकार करना पड़ा।

सौ दिवस (Hundred Days)

नेपोलियन पुनः फ्रान्स में—नेपोलियन को इस मतभेद की सूचना मिल रही थी। उधर अठारहवें लुई के प्रति भी फ्रेञ्च जनता में असन्तोष बढ़ रहा था। उसने जनता को जो चार्टर दिया था उससे फ्रान्स में सांविधानिक शासन स्थापित होने की काफ़ी गुञ्जायश थी, परन्तु दुर्भाग्यवश उसने राज्य का समस्त प्रबन्ध अपने भाई आर्त्वा के ड्यूक पर छोड़ दिया जो घोर प्रतिक्रियावादी था। उसको पुराने पादरी तथा प्रवासी कुलीन लोग घेरे रहते थे जो पिछले २५ वर्षों के कामों का चिह्न तक नहीं छोड़ना चाहते थे। जनता अपने अधिकारों को छोड़ना नहीं चाहती थी, वह उनका विरोध करने लगी। उसने नेपोलियन के समय के सेना के हज़ारों अफ़सरों को हटा कर सेना को भी नाराज़ कर लिया। इस प्रकार वह बड़ा अप्रिय हो रहा था। इन बातों से प्रोत्साहित होकर नेपोलियन ने फिर एक बार अपने भाग्य की परीक्षा करने की ठानी। वह एल्बा से चुपके से निकल कर १ मार्च १८१५ को केने (Cannes) के निकट फ़ान्स में जा उतरा; जनता ने एक बार फिर उसका स्वागत किया और स्थान-स्थान पर अपने स्वागत का आनन्द लेता हुआ वह ३० मार्च को पेरिस जा पहुँचा। अठारहवाँ लुई भाग खड़ा हुआ और नेपोलियन फिर से फ्रान्स का सम्राट् बन गया।

वाटरलू का युद्ध और अन्तिम पतन जब नेपोलियन के फ्रान्स में वापस लौट आने की सूचना वियना पहुँची तो सभी राष्ट्र अपने मतभेदों को भुलाकर उसका सामना करने को तैयार हो गये। नेपोलियन ने आते ही घोषणा की थी कि मैं अब युद्ध के मार्ग का नहीं वरन् शान्ति एवं स्वतन्त्रता के मार्ग का पथिक हूँ और युद्ध करना मेरा ध्येय नहीं है; क्रान्ति से जनता को जो लाभ प्राप्त हुए थे, वे संकट में हैं और मैं उनकी रक्षा के लिये आया हूँ। फ्रान्स की जनता तो उस पर विश्वास करती थी परन्तु उसके विरोधी राष्ट्रों को उसका बिलकुल विश्वास नहीं था। उन्होंने शामों की सन्धि को दुहरा कर अपनी सेनाएँ फ्रान्स की ओर भेजीं। उनमें से एक लाख से कुछ अधिक की एक मिश्रित सेना वेलिंग्टन के नेतृत्व में ब्रसेल्ज़ में थी जिसका मोर्चा घेण्ट से लेकर मॉन्स तक था; दूसरी सेना ब्लूखर की अधीनता में नामूर में थी जिसका मोर्चा शार्लीराय से लीज तक था और जिसमें १,१७,००० प्रशा के सैनिक थे। नेपोलियन की सेना में कुल दो लाख सैनिक थे परन्तु उसे अपने रणकौशल में भरोसा था। उसकी योजना शत्रुओं को अलग करके उन्हें बारी-बारी से परास्त करने की। युद्ध बेल्जियम में हुआ। नेपोलियन ने पहले लिग्नी के निकट ब्लूखर पर आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया और वेलिंग्टन के विरुद्ध मार्शल को भेज कर उसे केत्रेब्रा के निकट रोक दिया ताकि वह ब्लूखर से न मिल सके। ब्लूखर की पीछे हटती हुई सेना का पीछा करने का काम ग्राउची को सौंप कर वह वेलिंग्टन की सेना की ओर बढ़ा। वेलिंग्टन

इस समय तक वाटरलू पहुँच गया था। वाटरलू के मैदान में दोनों सेनाओं में सात घण्टों तक घमासान युद्ध हुआ। अन्त में ब्लूखर की सेना आ मिली और नेपोलियन दो सेनाओं के बीच में फँस गया। उसकी पराजय हुई और फ्रेंच सेना भाग निकली। नेपोलियन भी भागा। पेरिस पहुँच कर उसने अपने पुत्र के लिये राज्य छोड़ने की घोषणा की और फ्रान्स से निकल भागने के इरादे से रोशफ़ोर की तरफ़ गया परन्तु अँग्रेज़ी बेड़ा फ्रान्स के सभी बन्दरगाहों की चौकसी कर रहा था। भागना असम्भव देखकर उसने एक अंग्रेज़ी जहाज़ बेलेरॉफ़ॉन के अफ़सर मेटलैण्ड को आत्मसमर्पण कर दिया (१५ जुलाई)। वह जहाज़ में इङ्गलैण्ड लाया गया और वहाँ से क़ैदी बना कर एटलांटिक महासागर के मध्य में स्थित सेंट हेलेना द्वीप को भेज दिया गया, जहाँ पेट के केन्सर ने उसके ६ वर्ष के कारावास एवं असह्य अपमान का अन्त कर दिया और उसकी जीवन लीला समाप्त कर दी (५ मई १८२१)। उस समय उसकी अवस्था केवल ५२ वर्ष की थी। वह वहीं एक बिना नाम के तथा बिना तिथि के पत्थर के नीचे दफ़ना दिया गया। २० वर्ष बाद फ्रान्स के कृतज्ञ राष्ट्र ने उसके अवशेषों को फ्रान्स लाकर पेरिस में बड़े सम्मान के साथ दफ़नाया। सेंट हेलेना में उसने अपना समय अपना जीवन-चरित्र लिखवाने में बिताया जिसमें उसने अपने आप को क्रान्ति का सच्चा पुत्र, दलित राष्ट्रों का सच्चा मित्र एवं शान्ति का पुजारी प्रकट किया जिसे अँग्रेजों की चालाकियों तथा योरोप के अन्य निरंकुश राजाओं ने अपना ध्येय पूरा न करने दिया था और युद्ध के लिये विवश किया था। उसके जीवन-चरित्र में 'नेपोलियन परम्परा' (Napoleonic Legend) की उत्पत्ति हुई जिसके फलस्वरूप आगे चलकर फ्रान्स में एक दूसरे नेपोलियन का साम्राज्य स्थापित हुआ।

मूल्यांकन—नेपोलियन जैसे व्यक्ति का सही-सही मूल्य आंकना कठिन है। अपने समय में वह एक पहेली था और अब भी कुछ-कुछ पहेली बना हुआ है। उसके प्रशंसक अब भी उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते और उसे अनुपम महापुरुष कह कर इतिहास में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान देते हैं। उसके शत्रु उसे संसार की शान्ति और व्यवस्था को भंग करने के लिये अवतरित नरपिशाच कहते थे। परन्तु ये दोनों वर्णन अतिशयोक्ति-पूर्ण हैं और सत्य इनके बीच में है।

उसमें अनेक गुण थे। उसका मस्तिष्क आश्चर्यजनक था; वह बड़ी तेजी के साथ सोच सकता था और प्रत्येक बात को साफ़-साफ़ समझ लेता था। उसकी स्मृति अनुपम थी; किसी बात को भूलना वह जानता ही नहीं था। वह कहा करता था कि मेरा मस्तिष्क कई खानोंवाली अलमारी की तरह है; भिन्न-भिन्न बातें भिन्न-भिन्न खानों में रखी रहती हैं, मैं जिस बात पर विचार करना चाहता हूँ उसके खाने को खोल लेता हूँ और दूसरों को बन्द कर देता हूँ, मेरे दिमाग़ में उन बातों का झमेला कभी नहीं

होता। जब मुझे नींद आती है तो मैं दिमाग के सब खाने बन्द कर देता हूँ और निश्चिन्त गहरी निद्रा में मग्न हो जाता हूँ। उसकी कल्पनाशक्ति बड़ी ज़बरदस्त थी। वह दो वर्ष आगे की योजनाएँ पहले से ही बना लेता था और उनकी पूर्ति के उपाय सोच रखता था। उच्च कोटि की कल्पना-शक्ति के साथ ही उसकी इच्छा-शक्ति बड़ी प्रबल थी जिसके सामने कोई भी बाधा नहीं ठहरती थी। इसके साथ ही उसकी कर्तृत्व शक्ति अलौकिक थी; वह कार्य करने में कभी नहीं थकता था। वह कभी-कभी तो लगातार कई दिनों तक दिन में बीस-बीस घण्टे काम कर सकता था। वह जब चाहता सो जाता था; लड़ाई के मैदान में जबकि सब ओर से गोले बरसते रहते थे, वह बड़े आराम से जितनी देर चाहता सो लेता था; कभी-कभी तो वह घोड़े पर ही सो लेता था। उसकी कार्य करने की शक्ति का प्रमाण इसी बात में मिलता है कि उसका जितना पत्र-व्यवहार प्रकाशित हो चुका है वह ३२ जिल्दों में है और उसमें २२,००० पत्र हैं। इसके अतिरिक्त उसके लिखवाये हुए ५०,००० पत्र अभी तक अप्रकाशित हैं।* उसके समान परिश्रम करनेवाले संसार के इतिहास में विरले ही हुए हैं।

इतिहास में वह एक महान् विजेता समझा जाता है और उसका नाम हैनिबाल, सिकन्दर, सीज़र, शार्लमेन आदि के साथ लिया जाता है। वह एक अत्यन्त प्रतिभाशाली सैनिक था और रणकौशल में अद्वितीय था। यह बात उसकी अनेकानेक चकित कर देनेवाली विजयों से प्रमाणित होती है। अपनी प्रतिभा तथा अपने अदम्य साहस के कारण वह अपनी सेना का लाड़ला बना हुआ था और उसके सैनिक उसके साथ कहीं भी जाने को और कुछ भी करने को तैयार रहते थे। वह मुर्दों में भी जान फूँक देता था। उसका युद्ध करने का ढङ्ग बिलकुल नया था। उसकी समस्त युद्ध-कला फुर्ती में थी; अचानक फुर्ती के साथ शत्रु पर आक्रमण करना और जिस स्थान पर शत्रु के मोर्चे में निर्बलता होती थी उस पर अधिकाधिक सेना के साथ टूट पड़ना उसका विशिष्ट ढङ्ग था। अपने रण-कौशल से ही कई बार वह अपनी पराजय को विजय में बदल देता था। उसकी सेना के पीछे कोई आधार-स्थल नहीं रहता था, जहाँ से आगे बढ़ती हुई सेना को रसद पहुँचाई जा सकती। सेना को आगे बढ़ते समय अपना प्रबन्ध स्वयं करना पड़ता था और जहाँ वह पहुँचती थी वहीं से उसे अपने भोजन की व्यवस्था करनी पड़ती थी। ज्यों-ज्यों नेपोलियन पूर्व की ओर बढ़ता गया त्यों-त्यों इस व्यवस्था की निर्बलता प्रकट होती गई। रूस में उसकी पराजय कुछ इसी कारण हुई।

वह बड़ा कुशल राजनीतिज्ञ था। वह फ्रान्स की आवश्यकताओं को तथा फ्रेंच जनता की इच्छाओं को भली प्रकार समझता था और जानता था कि जनता किस प्रकार सन्तुष्ट रखी जा सकती है। अपने सुधारों के द्वारा उसने फ्रान्स में शान्ति एवं

* Hazen : Modern European History, p. 198.

व्यवस्था स्थापित की और जनता की स्वतन्त्रता छीन कर भी उसे सन्तुष्ट रखा। जनता को क्रान्ति के जो लाभ सबसे अधिक प्रिय थे उन्हें उसने क़ायम रखा; फ्रेंच जनता समानता तथा क्रान्ति के सामाजिक एवं आर्थिक लाभों का उपभोग करती रही। उसने फ्रेंच जनता की गौरव-भावना की कमज़ोरी का खूब फ़ायदा उठाया और उसके द्वारा अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति की। जनता अनेक कष्ट सहती रही परन्तु उसका साथ उसने अन्त तक नहीं छोड़ा। वह एक जादूगर की भाँति फ्रेंच राष्ट्र को अपने वश में किये रहा।

उसकी विधि-संहिता, पोप के साथ किये हुए उसके धार्मिक समझौते तथा शिक्षा-व्यवस्था में उसकी उच्च कोटि की राजनीतिज्ञता प्रकटहोती है। विधि-संहिता के विषय में उसने स्वयं कहा था कि मेरा वास्तविक गौरव मेरे चालीस युद्धों में विजय प्राप्त करने में नहीं है वरन् मेरे उस काम में है जो सदा अमिट रहेगा, अर्थात् विधि-संहिता में। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, नेपोलियन की धर्म की ओर प्रवृत्ति नहीं थी। क्रान्ति ने चर्च का दमन कर दिया था परन्तु धर्म का नेपोलियन की राजनीति में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। उसने कहा था कि यदि रोमन केथोलिक चर्च नहीं होता तो मुझे उसकी सृष्टि करनी पड़ती। केथोलिक धर्म राजसत्ता के प्रति भक्ति को बड़ा महत्व देता है और नेपोलियन के लिये यह बात बड़ी आवश्यक थी। अतः उसने पोप से समझौता कर लिया और रोमन केथोलिक चर्च की पुनः स्थापना की; परन्तु उसने अन्य धर्मावलम्बियों को पूर्ण स्वतन्त्रता दी और इस प्रकार राज्य की ओर से धार्मिक सहिष्णुता की ओर एक महत्वपूर्ण क़दम उठाया।

जिस प्रकार धर्म का उपयोग उसने अपनी राजनीति की सफलता के लिये किया उसी प्रकार शिक्षा का भी उपयोग किया। वह फ्रेंच जनता के मन और मस्तिष्क को एक विशिष्ट ढाँचे में ढालना चाहता था। वह जानता था कि जनता को अपने अनुकूल ढंग पर लाने का सबसे सरल मार्ग शिक्षा का है। अतः उसने शिक्षा की नवीन व्यवस्था की और उसे राज्य के पूर्ण नियन्त्रण में कर लिया। उसका कथन था कि मेरी व्यवस्था नैतिक ही नहीं है, राजनीतिक भी है। उसका उद्देश्य नई और पुरानी दोनों पीढ़ियों को शासन के अनुकूल बनाना था—वृद्धों को बालकों के द्वारा और बालकों को उनके माता-पिता द्वारा। उसने पेरिस में जो राजकीय विश्वविद्यालय खोला था वह आजकल के विश्वविद्यालयों के समान नहीं था; वह नीचे से लेकर ऊपर तक समस्त शिक्षा की व्यवस्था करता था। समस्त शिक्षा का मूल ध्येय नेपोलियन के प्रति भक्ति उत्पन्न करना था। बालकों के लिये इसी उद्देश्य से एक प्रश्नोत्तरी तैयार की गई थी जिसे प्रत्येक बालक को याद करना पड़ता था।* शिक्षा का प्रयोजन इस प्रकार राजनीतिक लक्ष्यों

---

* प्रश्नोत्तरी में कुछ प्रश्नोत्तर इस प्रकार थे— (अगले पृष्ठ पर देखिये)

की पूर्ति था, मस्तिष्क का विकास तथा स्वतन्त्र चिन्तन नहीं। स्वतन्त्र चिन्तन एवं स्वतन्त्र भाषण का तो वह कट्टर शत्रु था; उसने समाचार-पत्रों पर कड़ा नियन्त्रण लगाया और कई समाचारपत्र बन्द कर दिये। १८०० में पेरिस में ७० समाचार-पत्र निकलते थे परन्तु १८१० में केवल ४ रह गये थे।

नेपोलियन शासक भी उच्च कोटि का था। शासन में उसका आदर्श एक सदाशय निरंकुश शासन का था। वह अपनी सत्ता पर किसी प्रकार का अंकुश सहन नहीं कर सकता था, परन्तु उसे अपनी प्रजा के हित का पूरा ध्यान था। उसने अनेक प्रकार के सुधार करके प्रजा के जीवन को सुखी एवं समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया। वह उतना ही निरंकुश स्वेच्छाचारी शासक था जितना चौदहवाँ या सोलहवाँ लुई, परन्तु उसकी स्थिति में यह विशेषता थी कि उसने जब-जब आगे क़दम बढ़ाया, तभी तब उसे सदा जनता का समर्थन प्राप्त हुआ था। वह जनता की सम्मति से सम्राट् था। वह राजसी ठाट-बाट का पूरा शौक़ीन था और उसकी शानशौक़त चौदहवें लुई की शानशौक़त से किसी प्रकार कम न थी। उसने जिस ढंग से शासन किया उससे बड़े महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन हुए। उसने 'पुरानी व्यवस्था' के स्थान पर 'नयी व्यवस्था' स्थापित की और आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों के मूल तत्वों को शासन में प्रतिष्ठित किया अर्थात् जनता के प्रभुत्व के सिद्धान्त पर आधारित, राष्ट्रीय सेना एवं राष्ट्रीय शिक्षा द्वारा समर्थित तथा राष्ट्रभक्ति की भावना द्वारा प्रेरित केन्द्रित शासन, वर्गों के स्थान पर सर्वसाधारण जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली विधायिका सभा, निष्पक्षता एवं योग्यता के आधार पर सरकारी पदों की उपलब्धि, विशेषाधिकारहीन

प्रश्न—ईसाइयों का अपने राजा के प्रति क्या धर्म है?

उत्तर—ईसाइयों का अपने राजाओं के प्रति और विशेषकर अपने सम्राट् के प्रति प्रेम, आदर, आज्ञाकारिता, भक्ति, सैनिक सेवा तथा साम्राज्य की रक्षा के लिये समर्पण करना हमारा धर्म है।

प्रश्न—सम्राट् के प्रति हमारे ये धर्म क्यों हैं?

उत्तर - क्योंकि ईश्वर ने उसे हमारा सम्राट् तथा पृथ्वी पर अपनी प्रतिमूर्ति और अपनी सत्ता का प्रयोग करनेवाला नियुक्त किया है।

प्रश्न—जो सम्राट् के प्रति अपने कर्त्तव्य नहीं करते उनके मस्तिष्क में क्या विचार होने चाहिये?

उत्तर—सेंट पाल के पत्रों के अनुसार वे सम्राट् के प्रति अपने कर्त्तव्यों का उल्लंघन करने में ईश्वरीय व्यवस्था को भंग करते हैं और अपने लिये सदा के लिये नर्कवास की तैयारी करते हैं। (Swain : A History of World Civilization, p. 499.)

वैयक्तिक समाज तथा धार्मिक सहिष्णुता ।* इन सिद्धान्तों पर पूर्णतया व्यवहार नहीं हुआ परन्तु वे उसकी शासन-व्यवस्था के मौलिक सिद्धान्त थे । यही आधुनिक राष्ट्रीय राज्य के मौलिक तत्व हैं ।

परन्तु नेपोलियन का महत्व उसकी सैनिक सफलताओं में नहीं था। क्योंकि वे सब क्षणिक थीं, न फ्रान्स की समृद्धि के लिये अथवा सुशासन के लिये विश्वविद्यालय फ्रान्स के बैंक की स्थापना या विधि-संहिता के निर्माण आदि जो प्रयत्न उसने किये उन्हीं में उसका महत्व था । उसका महत्व वास्तव में इस बात में था कि उसने क्रान्ति के ऐतिहासिक उद्देश्यों की पूर्ति की क्योंकि अपनी विजयों के फलस्वरूप उसने फ्रान्स के बाहर पुरानी व्यवस्था की जड़ें नष्ट कर दीं । उसके बाद योरोप का नवनिर्माण और राजनीतिक सत्ता का नववितरण हुआ जिसके फलस्वरूप योरोप का पुराना नक़शा बदल गया । इतना ही नहीं, ज्यों-ज्यों उसकी सत्ता फ्रान्स के बाहर बढ़ती गई त्यों-त्यों वह जनता में क्रान्ति के बीज बोता गया और चाहे अनजाने ही, उसने राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत की, जिसने उसी के विश्व-साम्राज्य के स्वप्न को भङ्ग कर दिया और उसके पतन के उपरान्त विजयी सत्ताओं ने योरोप की पुरानी व्यवस्था की शृंखलाओं में फिर जकड़ने के जो प्रयत्न किये उन्हें विफल कर दिया ।† नेपोलियन ने क्रान्ति को, जो प्रारम्भ में फ्रेञ्च थी, योरोपीय बना दिया। फ्रेञ्च क्रान्ति के विचारों एवं आदर्शों का नेपोलियन की कृतियों के फलस्वरूप कई प्रकार से योरोप में प्रसार हुआ। नीदरलैण्ड, राइन प्रदेश तथा इटली का अधिकांश फ्रेञ्च शासन तथा नेपोलियन विधि-संहिता की अधीनता में थे और उन प्रदेशों के निवासी केन्द्रीयकृत शासन, वैयक्तिक समाज तथा समानता के अभ्यस्त हो गये थे । मध्य तथा दक्षिणी जर्मनी के राज्य, नेपिल्स, स्पेन आदि अधीन राज्यों में भी सामन्तवाद तथा अर्ध-दास प्रथा नष्ट कर दी गई, लोगों को धार्मिक-सहिष्णुता प्राप्त हुई और प्रजातन्त्रीय शासन तथा सामाजिक समानता के सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुए । नेपोलियन के उत्कर्ष से उसके शत्रु भी प्रभावित हुए और उसका अनुकरण करने लगे । प्रशा में, और कुछ अंश तक आस्ट्रिया में, जो सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार किये गये थे, वे मध्य योरोप के दैवी अधिकारयुक्त राजाओं के उन सुधारों द्वारा जनता का समर्थन प्राप्त करने के प्रयत्न थे जिनका आरम्भ फ्रेञ्च क्रान्तिकारियों ने और जिनका संगठन एवं प्रसार नेपोलियन ने किया था। परन्तु योरोप को जो सबसे बड़ी वस्तु नेपोलियन से मिली वह थी राष्ट्रीयता की भावना ।‡

---

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. I, p. 697.

† Strong : Dynamic Europe, p. 226.

‡ Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. I, pp. 697-698.

उसने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों रीतियों से राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया। जर्मनी तथा इटली में राजनीतिक परिवर्तन करके उसने उसकी भावी राजनीतिक एवं राष्ट्रीय एकता का मार्ग साफ कर दिया, पोलेण्ड में उसने वार्सा की ग्राण्ड डची स्थापित करके पोलिश राष्ट्रीयता को उभाड़ा और उसकी ज़्यादतियों के विरोध में स्पेन तथा जर्मनी में राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ।

वह कई अर्थों में क्रान्ति-पुत्र था। क्रान्ति के पूर्व जो आलोचनात्मक एवं विद्रोह भावना से परिपूर्ण साहित्य फ़ान्स में प्रसारित हो रहा था उसका उसके मस्तिष्क पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। अन्य अनेकानेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों के समान क्रान्ति के कारण ही उसका उत्कर्ष सम्भव हो सका। क्रान्ति ने फ़ान्स में विषमता एवं विशेषाधिकारों का नाश कर समानता की प्रतिष्ठा की थी और इसी सिद्धान्त के आधार पर सर्वसाधारण वर्ग के लोग, जिनमें नेपोलियन भी था, आगे बढ़कर राष्ट्र में सर्वोच्च स्थानों पर पहुँच सके थे, जिन पर पुरानी व्यवस्था में केवल कुलीन लोग ही पहुँच पाते थे। उसको जो अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई वह भी उस असाधारण एवं अद्भुत शक्ति के कारण प्राप्त हुई जिसे क्रान्ति ने जन्म दिया था। फ़्रेंच जनता को क्रान्ति ने शताब्दियों के बन्धन से मुक्त कर राष्ट्रीयता एवं स्वतन्त्रता के नवीन जोश से ओतप्रोत कर दिया था। उसी जोश से भरी फ़्रेंच सेना के बल पर नेपोलियन अपनी विजयों से संसार को चकित कर सका था। किन्तु, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, उसने क्रान्ति को केवल आंशिक रूप में ही अपनाया।

नेपोलियन वास्तव में अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति था। एक छोटे से द्वीप के एक छोटेसे गाँव में एक साधारण परिवार में उत्पन्न होते हुए भी वह अपनी प्रतिभा के बल पर ही सम्राट् बना और अपना नाम इतिहास में अमर कर गया। परन्तु वह एक धूमकेतु के समान था जो योरोप के आकाश में उदय हुआ और संसार को अपने प्रकाश से चकित करता हुआ अनन्त में विलीन हो गया। उसकी सफलता क्षणिक रही और अन्त में उसका पतन हो गया। इसके कई कारण थे।

पतन के कारण—उसने बड़ी शीघ्रता से मंज़िल पर मंज़िल चढ़ा कर साम्राज्य का विशाल भवन खड़ा कर लिया था परन्तु उसकी नींव बड़ी निर्बल थी। जो धक्के उसे लगते रहे उनके सामने वह टिक न सका और धराशायी हो गया। इतने बड़े साम्राज्य को उसने अकेले ही खड़ा किया था और वह केवल उसी पर निर्भर था। उसकी कमज़ोरियाँ साम्राज्य की कमज़ोरियाँ थीं, उसका जीवन ही साम्राज्य की अवधि था। इतने बड़े साम्राज्य की साल-सम्हाल एक व्यक्ति के, चाहे वह कितना ही प्रभावशाली क्यों न हो, बूते के बाहर थी। उसका निर्माण युद्ध और विजय के आधार पर हुआ था, उसका आधार बल था और बल पर ही वह टिका रह सकता

था। उसने फ्रेंच जनता को अपनी विजयों से चकित कर रखा था और उसे उस पर गौरव था, परन्तु जनता की यह भावना बहुत दिनों तक न रह सकी। उसका शासन निरंकुश था और निरंकुश शासन के प्रति जनता में डर ही हो सकता है, सद्भावना एवं भक्ति नहीं। जिस शासन के प्रति जनता में निष्ठा न हो वह अधिक टिक नहीं सकता। जब तक नेपोलियन का बल अक्षुण्ण रहा तब तक साम्राज्य भी दृढ़ रहा, परन्तु उसने कई शत्रु खड़े कर लिये थे। उसकी ज़्यादतियों ने विजित देशों में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत की। धीरे-धीरे उसके विरुद्ध काम करने वाली शक्तियाँ बल पकड़ती गईं और उसकी शक्ति क्षीण होती गई। जिन शक्तियों—राष्ट्रीयता एवं सैन्यबल—के आधार पर उसने विजय प्राप्त की थी, वे ही शक्तियाँ उसके विनाश का कारण बन गईं। उसने योरोप को युद्ध-कला की शिक्षा दी; पराजित राष्ट्र उससे बारम्बार लड़ कर उसके युद्ध करने के ढंग सीख गये और उन्हीं ढङ्गों का उसके विरुद्ध प्रयोग कर उन्होंने उसे नष्ट कर दिया।

नेपोलियन बड़ा महत्वाकांक्षी था और वह समस्त योरोप पर शासन करना चाहता था, परन्तु इस प्रकार के स्वप्न संसार में कभी सत्य नहीं हुए। अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति करने में उसने सम्भव-असम्भव का विचार नहीं किया और न अपने विरुद्ध काम करनेवाली शक्तियों का ठीक-ठीक अनुमान ही किया। वह कहा करता था कि असम्भव शब्द मूर्खों के ही कोष में मिलता है।

उसने अनेक गलतियाँ कीं जो अन्त में उसके पतन के कारण बनीं। सबसे बड़ी ग़लती उसने 'महाद्वीपीय व्यवस्था' स्थापित करके की। उससे फ्रांस तथा उस व्यवस्था में सम्मिलित देशों की जनता को बड़े कष्ट उठाने पड़े और जनता सर्वत्र उससे घृणा करने लगी। उसे अपने सबसे बड़े शत्रु इङ्गलैण्ड को परास्त करना था। वही शत्रु ऐसा था जिसे वह परास्त नहीं कर सका था और जिसके लगातार प्रयत्नों ने अन्त में उसके पतन में बड़ी सहायता की। उसे परास्त करने का यही एक उपाय था। वह इस व्यवस्था को सफल बनाना चाहता था और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसे कई जगह ज़्यादतियाँ करनी पड़ीं जिसके फलस्वरूप उसके शत्रुओं की संख्या बढ़ी। इसी कारण उसने पुर्तगाल पर अधिकार करना चाहा और इसी सिलसिले में उसने स्पेन के सिंहासन पर अपने भाई को बिठा कर उस पर अधिकार करने का प्रयत्न कर बड़ी भारी ग़लती की। हम देख चुके हैं कि इस प्रयत्न के फलस्वरूप स्पेन में राष्ट्रीयता की भावना उदय हुई जो छूत की बीमारी की तरह सारे योरोप में फैल गई। इसी व्यवस्था की सफलता के लिये उसने पोप को क़ैद करके उसका राज्य छीन लिया और समस्त योरोप की केथोलिक जनता को अपने विरुद्ध कर लिया। इसी कारण उसे रूस से भी युद्ध छेड़ना पड़ा जिसमें उसकी सैन्य शक्ति क्षीण हो गई, दलित राष्ट्र उसके

विरुद्ध उठ खड़े होने को प्रोत्साहित हुए और अन्त में उसका नाश करने में सफल हुए।*

हमने ऊपर नेपोलियन की धूम्रकेतु से तुलना की है परन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, उसकी सफलता क्षणिक होते हुए भी परिणाम में स्थायी थी; उसने क्रान्ति को योरोपीय बना दिया था। योरोप का नवनिर्माण उसकी कृतियों के फलस्वरूप ही सम्भव हो सका। उसका तो पतन हो गया था परन्तु जिन शक्तियों के बल पर उसका उत्कर्ष हुआ था वे उसके पतन के बाद भी नष्ट नहीं हुईं। क्रान्ति अपना कार्य कर चुकी थी और योरोप में पुरानी व्यवस्था वापस नहीं आ सकती थी। अब नेपोलियन का काम समाप्त हो चुका था और जनता का काम शुरू हुआ था। 'पुरातन' और 'नवीन' अब आमने-सामने थे और एक ओर स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीयता तथा दूसरी ओर प्रतिक्रिया की शक्तियों के बीच संघर्ष होना था जिसमें से एक नये योरोप का निर्माण होना था।

---

* "मास्को का अभियान नेपोलियन की पतन की ट्रेजेडी में पहला एक्ट था।"
Ketelbey : A History of Modern Times, p. 135.

अध्याय १४

वियना-कॉंग्रेस और योरोप का पुनर्निर्माण

वियना-कांग्रेस—नेपोलियन को अन्तिम विदा देकर वियना-कांग्रेस ने अपना कार्य पुनः हाथ में लिया। उसके सामने कई विचारणीय प्रश्न थे—ऐसी व्यवस्था करना कि भविष्य में फ़ान्स योरोप की शान्ति को भंग न कर सके और इस दृष्टि से फ़ान्स की सीमा पर सुदृढ़ राज्यों की स्थापना करना, मृत पवित्र रोमन साम्राज्य के स्थान पर जर्मनी की नवीन व्यवस्था करना, वार्सा की ग्राण्ड डची, नेपोलियन के पक्के मित्र सेक्सनी तथा फिनलैंड के भाग्य का निर्णय करना, इटली की नयी व्यवस्था करना तथा डेनमार्क को मित्र-राष्ट्रों के विरोध का दण्ड देना और स्वीडेन को उसकी सहायता का पुरस्कार देना।* संक्षेप में उसका कार्य नेपोलियन के काम को नष्ट करके योरोप का पुनर्निर्माण करना था।

कांग्रेस का प्रमुख नेता आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री मेटरनिख था जो घोर प्रतिक्रियावादी था। उसे क्रान्ति एक भयानक विभीषिका मालूम पड़ती थी और वह योरोप को यथासम्भव १७८९ की स्थिति में वापस पहुंचा देना चाहता था। इस कार्य में उसे फ़ान्स के चतुर प्रतिनिधि तेलीरां का सहयोग प्राप्त था जिसके प्रस्ताव पर उसने 'न्याय्यता' (Legitimacy) को पुनर्निर्माण के कार्य का आधारभूत सिद्धान्त स्थिर किया। इसका अर्थ था कि जो राजा ज़बरदस्ती पदच्युत कर दिये गये थे उन्हें न्याय के अनुसार उनके राज्य वापिस मिलने चाहिये। किन्तु व्यवहार में इस सिद्धान्त में दो कारणों से परिवर्तन करना पड़ा—बड़े राज्यों की क्षति-पूर्ति के लिये कुछ प्रदेश देने की आवश्यकता और फ़ान्स को भविष्य में अधिक शक्तिशाली बनकर योरोप के शक्ति-सन्तुलन को भंग करने से रोकने की आवश्यकता। इस प्रकार योरोप का पुनर्निर्माण इन तीन सिद्धान्तों के आधार पर किया गया—न्याय्यता, विजयी राज्यों की क्षति-पूर्ति तथा फ़ान्स के प्रति शत्रुतापूर्ण शंका।

मुख्य निर्णय – इन सिद्धान्तों के आधार पर निम्नलिखित परिवर्तन किये गये।

---

* Hearnshaw : Main Currents of European History, pp. 95-96.

† Schevill : A History of Europe, pp. 448-449.

फ्रान्स— फ्रान्स ने क्रान्ति-काल तथा नेपोलियन-युग में जितने प्रदेश अपने राज्य में सम्मिलित कर लिये थे वे सब छीन लिये गये और उसकी सीमा प्रायः वह कर दी गई जो क्रान्ति के पूर्व थी। प्रशा और ऑस्ट्रिया तो फ्रान्स के कुछ प्रदेश भी उससे छीन लेना चाहते थे परन्तु इंगलैण्ड तथा रूस के विरोध के कारण ऐसा न हो सका।* भविष्य में वह अधिक शक्तिशाली बन कर फिर योरोप की शान्ति को भंग न कर सके, इस दृष्टि से उसकी सीमा पर निम्नलिखित सुदृढ़ राज्य स्थापित किये गये।

हॉलैण्ड—हॉलैण्ड में पुनः आरेञ्ज वंश की स्थापना की गई और उसे सुदृढ़ बनाने के लिये बेल्जियम का प्रदेश उसमें सम्मिलित कर दिया गया।

प्रशा—राइन नदी के तट पर फ्रान्स का मुक़ाबला करने के लिये प्रशा को उस नदी के दोनों तटों पर कुछ प्रदेश दे दिये गये और स्वीडिश पोमरेनिया, सेक्सनी का उत्तरार्ध और थोर्न तथा डेञ्जिग सहित पोसेन की डची उसमें सम्मिलित करके उसकी सीमा का विस्तार किया गया और उसे मजबूत राज्य बनाया गया। प्रशा अल्सास तथा लोरेन के प्रदेश भी चाहता था परन्तु वेलिंग्टन ने उसका विरोध किया और वे प्रदेश फ्रान्स के पास ही बने रहे।

सार्डिनिया—सार्डिनिया को पायडमॉण्ट तथा सेवॉय प्रदेश वापस मिल गये और उसे जिनोआ का राज्य भी दे दिया गया। इस प्रकार फ्रान्स की पूर्वी सीमा पर हॉलैण्ड, प्रशा तथा सार्डिनिया के मजबूत राज्य स्थापित किये गये।

ऑस्ट्रिया—बेल्जियम ऑस्ट्रिया के अधीन था परन्तु वह हॉलैण्ड में सम्मिलित कर दिया गया था। इस क्षति की पूर्ति के लिये उसे इटली में लोम्बार्डी, वेनीशिया और इलिरियन प्रान्त दिये गये तथा रूस से पूर्वी गेलेशिया और बेवेरिया से टिरोल का प्रदेश लेकर उसको दिये गये।

जर्मनी का पुनः संगठन—जर्मनी के नवनिर्माण का प्रश्न बड़ा कठिन था क्योंकि उसमें ऑस्ट्रिया और प्रशा की प्रतिस्पर्धा तथा छोटे राज्यों की नेपोलियन द्वारा प्रदत्त सार्वभौम अधिकारों को छोड़ने की अनिच्छा बड़ी बाधक थी। यदि जर्मनी के सम्बन्ध में न्याय्यता का सिद्धान्त लागू किया जाता तो पुराने ३०० से अधिक राज्यों सहित पवित्र रोमन साम्राज्य की पुनः स्थापना करनी पड़ती परन्तु यह बात असम्भव थी। उधर जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना बड़ी प्रबल थी जो समस्त जर्मनी की राष्ट्रीय एकता की इच्छुक थी। परन्तु मेटरनिख राष्ट्रीयता के नाम से ही चौंकता था। अतः पवित्र रोमन साम्राज्य के स्थान पर एक परिसंघ (Confederation)

---

* Leo Gershoy : The French Revolution and Napoleon, p. 534.

स्थापित किया गया। अब जर्मनी में छोटे-छोटे ३९ राज्य बचे थे। उनका 'जर्मनिक-परिसंघ' (Germanic Bund) बनाया गया जिसके लिये परिसंघ के विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों (जनता के नहीं) की एक संघीय संविधान सभा (Federal Diet) का निर्माण किया गया। ऑस्ट्रिया उसका अध्यक्ष रहा। सभी राज्यों ने एक दूसरे की सीमाओं की गारण्टी दी और समस्त जर्मनी की तथा एक दूसरे की रक्षा का वचन दिया। प्रत्येक राज्य में प्रतिनिधि-सभाओं की स्थापना का भी निश्चय हुआ। परन्तु परिसंघ को सुदृढ़ बनाने के लिये कुछ नहीं किया गया, विभिन्न राज्यों का पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा शिथिल रहा।

इटली—इटली की समस्या भी कुछ-कुछ जर्मनी की समस्या के समान ही थी। वहाँ भी नेपोलियन के कार्य को नष्ट करके पुराने राज्यों को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया गया; नेपिल्स फिर बूर्बों राजा सप्तम फर्डिनेण्ड को दे दिया गया; पोप को पुनः अपना राज्य मिल गया; सार्डिनिया को पायडमॉण्ट तथा सेवॉय वापस मिले; ऑस्ट्रिया को लोम्बार्डी का प्रदेश मिल गया; टुस्कनी तथा मोडीना के राज्य पुनः पुराने ऑस्ट्रियन-वंशीय राजाओं को दे दिये गये और पार्मा का राज्य नेपोलियन की पत्नी भूतपूर्व साम्राज्ञी मेरी लुईसा को मिला। परन्तु जिनोआ और वेनिस के गणतन्त्र पुनः स्थापित नहीं हुए; जिनोआ सार्डिनिया को तथा वेनिस ऑस्ट्रिया को मिला। इस प्रकार

इटली में पुरानी व्यवस्था पुनः प्रतिष्ठित की गई और ऑस्ट्रिया का प्राधान्य स्थापित किया गया।*

स्विट्ज़रलैण्ड में तीन केण्टन और जोड़ दिये गये और उसकी स्वतन्त्रता तथा तटस्थ स्थिति सब राज्यों ने स्वीकार कर ली। स्पेन तथा पुर्तगाल में वहाँ के पुराने राजवंश पुनः स्थापित हो गये।

रूस—रूस को पोसेन तथा थोर्न को छोड़ वार्सा की समस्त डची मिली। इसके अतिरिक्त स्वीडेन से उसे फ़िनलैण्ड भी मिला।

स्वीडेन—स्वीडेन का पोमरेनिया प्रदेश भी प्रशा को दे दिया गया था। अतः इस क्षति-पूर्ति के लिये उसे डेनमार्क से छीन कर नॉर्वे दिया गया।

ग्रेट ब्रिटेन—ग्रेट ब्रिटेन को योरोप में हेलिगोलेण्ड तथा माल्टा के द्वीप मिले और आयोनियन द्वीपों की संरक्षकता भी प्राप्त हुई, परन्तु योरोप के बाहर उसे बहुत लाभ हुआ। उसे स्पेन से ट्रिनिडाड, फ़ान्स से मॉरिशस, टोबेगो तथा सेंटलूसिया, तथा हॉलैण्ड से लंका के द्वीप मिले। हॉलैण्ड से उसे दक्षिण अफ़्रीका में केप ऑफ़ गुड होप का प्रदेश भी प्राप्त हुआ।

सम्मेलन के समक्ष और भी कई समस्याएँ प्रस्तुत की गई थीं, जैसे स्पेन के अमेरिकन उपनिवेशों का प्रश्न जो ट्रेफ़लगर के युद्ध के बाद से विद्रोही हो रहे थे, दास-व्यापार का प्रश्न जिसका इङ्गलैण्ड दमन करना चाहता था तथा तुर्की का प्रश्न ('पूर्वीय प्रश्न') जिसके कुशासन की ग्रीस ने शिकायत की थी, परन्तु ये प्रश्न बड़े जटिल थे और उनको भविष्य के लिये छोड़ दिया गया। केवल दास-व्यापार की प्रथा के विरुद्ध उसे अनैतिक एवं अमानुषिक उद्घोषित करके एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया और यह आशा प्रकट की गई कि प्रत्येक राज्य इसका अन्त करने का प्रयत्न करेगा। इसके अतिरिक्त योरोप की अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में जहाज़ों के आने-जाने, तथा विभिन्न राज्यों के पारस्परिक व्यवहार आदि के सम्बन्ध में भी नियम बनाकर सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की ओर क़दम उठाया।

यह समस्त कार्य दो संधियों द्वारा सम्पन्न हुआ जिन पर २० नवम्बर १८१५ को पेरिस में हस्ताक्षर हुए। उनमें से एक सन्धि 'पेरिस की दूसरी सन्धि' थी जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। दूसरी सन्धि इङ्गलैण्ड, ऑस्ट्रिया, प्रशा तथा रूस के बीच की हुई 'चतुर्मुख सन्धि' (Quadruple Alliance) थी जिसके द्वारा चारों राज्यों

---

* मेटरनिख इटली के राज्यों का भी जर्मन परिसंघ के समान एक परिसंघ बनाना चाहता था परन्तु सार्डिनिया और पोप के दृढ़ विरोध के कारण उसका उद्देश्य पूर्ण न हो सका। Thomson : Europe Since Napoleon, p. 112.

ने शामों, वियना तथा पेरिस में जो व्यवस्थाएं की थीं उनकी २० वर्ष तक रक्षा करने का वचन दिया। इसी सन्धि की एक धारा के अनुसार उन्होंने सामान्य हितों पर विचार करने के लिये निश्चित अवधि के बाद समय-समय पर सभा करने का निर्णय भी किया और इस प्रकार भावी अन्तर्राष्ट्रीय शासन का बीज बोया।*

इस प्रकार योरोप का नवनिर्माण हुआ। इस व्यवस्था की कुछ बातें स्थायी रहीं परन्तु बहुत सी बिलकुल अस्थायी प्रमाणित हुईं। हॉलैण्ड तथा बेल्जियम का संयोग केवल १५ वर्ष रहा; इटली तथा जर्मनी की व्यवस्था १८७० तक चली; नॉर्वे का स्वीडेन के साथ संयोग १९०५ में भङ्ग हो गया और पोलैण्ड की व्यवस्था एक शताब्दी के लगभग रही।

समीक्षा।—वियना-कांग्रेस का उद्घाटन ऊँचे आदर्शों एवं उद्देश्यों की बड़ी-बड़ी आकर्षक घोषणाओं के साथ हुआ था परन्तु कांग्रेस में लूट का बाज़ार गर्म रहा।† उसमें ऐसे लोग एकत्रित हुए थे जिन्हें प्रजातन्त्र तथा राष्ट्रीयता की भावनाओं से घृणा थी। उन्होंने राष्ट्रीयता तथा जनता की इच्छा की अवहेलना करते हुए योरोप के नक्शे में अपनी इच्छानुसार परिवर्तन किये और जनता को बालक के समान अबोध समझ कर उससे परामर्श लेने की कोई आवश्यकता न समझी। वे 'शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त' में उलझे रहे और उन्होंने नवनिर्माण इस प्रकार करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जिससे जनता की आकांक्षाएं सन्तुष्ट हो सकतीं और चिरस्थायी शान्ति स्थापित हो सकती। वास्तव में नई व्यवस्था को स्थायी बनानेवाली बातों की उपेक्षा करने से कोई

---

* "Viewing the international scene in Europe after Waterloo, Matternich reached the conclusion that the restored monarchs must hang together if they were not to hang separately." Thomson: Europe Since Napoleon, p. 114.

† वियना-कांग्रेस के मुख्य सचिव जेण्ट्ज ने कांग्रेस के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था—"सामाजिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण, योरोप की राजनीतिक शासन-प्रणालियों का पुनर्जन्म अथवा योरोप में उचित शक्ति-सन्तुलन के आधार पर शान्ति स्थापित करना—ये पवित्र उद्देश्य अवश्य हैं किन्तु इन दिखावटी शब्दों का केवल यही उद्देश्य है कि सर्वसाधारण की उत्तेजनाओं को शान्त किया जाय और कुछ राज्यों में कुछ प्रदेशों के पुनर्मिलन को शान और बढ़ावे के साथ दिखाया जाय। वियना-कांग्रेस का वास्तविक उद्देश्य तो यह है कि विजित प्रदेशों की लूट-खसोट को विजेता देशों में बाँट लिया जाय।" Ketelbey: A History of Modern Times, p. 150.

हेज़न ने कहा है—"इस व्यवस्था के आधार में किसी उदात्त सिद्धान्त को खोज निकालना असम्भव है। इस सौदेबाज़ी के झमेले को समझने की एकमात्र कुञ्जी स्वार्थ थी।" Hazen: Europe Since 1815, p. 8.

व्यवस्था स्थायी हो ही नहीं सकती थी। १८१५ से आज तक का योरोपीय इतिहास वियना-कांग्रेस की इसी महान् भूल को सुधारने के प्रयत्नों का इतिहास है।*

यह सत्य है कि वियना-कांग्रेस में भाग लेनेवाले राजनीतिज्ञ प्रतिक्रियावादी थे और उन्होंने राष्ट्रीयता तथा प्रजातन्त्र की भावनाओं की अवहेलना की जिनका उन्नीसवीं शताब्दी में प्राबल्य रहा और अठारहवीं शताब्दी के पुराने विचारों — शक्ति-सन्तुलन तथा वंशीय हितों के प्राधान्य— को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने बेल्जियम को हॉलैण्ड के साथ और नार्वे को स्वीडेन के साथ धर्म, जाति अथवा ऐतिहासिक सम्बन्धों का विचार किये बिना शामिल कर दिया और जर्मनी, इटली तथा पोलैण्ड की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की निर्दयता के साथ उपेक्षा की। जिस 'न्याय्यता' के सिद्धान्त को लेकर वे चले थे उसका भी पूरी तरह से पालन नहीं किया गया। वेनिस तथा जिनोआ के गणतन्त्रों का इतिहास कई राजतन्त्रों के इतिहास से बहुत प्राचीन था परन्तु वियना के राजनीतिज्ञों को गणतन्त्र के नाम से ही घृणा थी; उनकी स्थापना फिर से नहीं की गई और उत्तरी इटली को आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिये उनका बलिदान कर दिया गया।

इस व्यवस्था के विरुद्ध ये सब आक्षेप सत्य हैं। परन्तु हमको इस बात का हमेशा ध्यान रखना चाहिये कि जिस परिस्थिति में इस सम्मेलन को काम करना पड़ा और जिन समस्याओं का समाधान उसे करना पड़ा वे बड़ी जटिल थीं। युद्ध-काल में विभिन्न शक्तियों के बीच कई सन्धियाँ हो चुकी थीं जिनका पालन आवश्यक था। १८१२ में जब स्वीडेन ने रूस की सहायता करना स्वीकार किया था, तब उसने रूस से नार्वे दिलवाने का वचन ले लिया था। चतुर्थ गुट्ट में शामिल होते समय प्रशा ने टिलसिट की सन्धि से उसे जो क्षति हुई थी उसकी पूर्ति का वचन ले लिया था। इसी प्रकार हॉलैण्ड के राजा विलियम को बेल्जियम का और सार्डिनिया के राजा को जिनोआ तथा नीस का लोभ दिया गया था। इन सब बन्धनों के होते हुए किसी एक सिद्धान्त के अनुसार व्यवस्था करना असम्भव था। यह भी सत्य है कि उन्हें प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता आदि की भावनाओं से घृणा थी, परन्तु वे देख चुके थे कि इन्हीं भावनाओं के कारण योरोप में बीस वर्षों से अधिक अशान्ति मची रही और लाखों प्राणियों का बलिदान हुआ। ऐसी अवस्था में उनकी घृणा निराधार नहीं थी। यदि इस सम्बन्ध में उन्होंने जनता की आकांक्षाओं की उपेक्षा की तो कम से कम जनता की एक आकांक्षा का वे बड़ी अच्छी तरह से प्रतिनिधित्व कर रहे थे। वह थी शान्ति की सर्वोपरि इच्छा। जनता शान्ति चाहती थी और उन्होंने अपनी बुद्धि एवं अनुभव की सहायता से योरोप में शान्ति स्थापित करने का ही प्रयत्न किया। हम यह नहीं कह सकते कि इस उद्देश्य की पूर्ति में उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। स्थान-स्थान पर राष्ट्रीय आन्दोलनों के होते

---

* Hazen : Modern European History, p. 255.

हुए भी हमें यह मानना पड़ेगा कि इस व्यवस्था से अगले ४० वर्षों तक योरोप में शान्ति बनी रही। यह कुछ कम सफलता नहीं थी।*

वियना-कांग्रेस के काम में हमें दो महत्वपूर्ण बातें दिखाई देती हैं। प्रथम बात तो यह है कि कांग्रेस बिलकुल ही प्रतिक्रियावादी नहीं थी। पिछले बीस वर्षों में जो राजनीतिक परिवर्तन हो चुके थे उन्हें उसने स्वीकार किया। रूस एक महान् शक्ति के रूप में स्वीकार कर लिया गया और पश्चिमी योरोप के कामों में उसने जो हस्तक्षेप किया था वह भी स्वीकृत हुआ। जर्मनी में नेपोलियन ने जो परिवर्तन किये थे वे भी मोटी तौर से मान लिये गये। पवित्र रोमन साम्राज्य का पुनरुत्थान न हुआ और पुराने छोटे-छोटे असंख्य राज्यों को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। स्वीडेन का धीरे-धीरे ह्रास हो रहा था; बाल्टिक सागर के दक्षिणी तट पर जो उसके प्रदेश थे उन्हें उससे लेकर कांग्रेस ने उसके ह्रास पर अपनी मोहर लगा दी। दूसरी बात यह है कि इस व्यवस्था में भावी घटनाओं के बीज विद्यमान थे। प्रशा की शक्ति बढ़ी और राइन नदी तक पहुँच जाने से फ्रांस से जर्मनी की रक्षा का भार, जो अभी तक ऑस्ट्रिया पर था, उस पर चला गया। वह जर्मनी में एक शक्तिशाली राज्य बन गया और भविष्य में जर्मनी का नेतृत्व अपने हाथ में ले लेने में भी उसे सुविधा हो गई। इसके साथ ही ऑस्ट्रिया के पश्चिमी प्रदेश छिन गये और उनके बदले उसे इटली में नये प्रदेश मिले। इसका परिणाम यह हुआ कि उसका अधिकांश राज्य जर्मनी के बाहर पहुँच गया और उसका ध्यान जर्मनी के बाहर रहने लगा। इस प्रकार ऑस्ट्रिया को जर्मनी से निकाल कर प्रशा की अधीनता में जर्मनी के एकीकरण के लिये मार्ग खोल दिया गया। इसी प्रकार सार्डिनिया की उन्नति से उसके नेतृत्व में इटली के राजनीतिक एकीकरण का रास्ता तैयार हो गया। कांग्रेस ने स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीयता की क्रान्तिजनित भावनाओं को दबा कर अठारहवीं शताब्दी के सिद्धान्त पर जो व्यवस्था कायम करने का प्रयत्न किया वह मुर्दे को जिलाने के प्रयत्न के समान था। पुरानी व्यवस्था समाप्त हो चुकी थी और पुनर्जीवित नहीं की जा सकती थी; नई भावनाओं की बाढ़ को रोकना असम्भव था। वियना-कांग्रेस के साथ पुराने युग का अन्त हुआ और नये युग का आरम्भ हुआ।† उसके बाद का योरोपीय इतिहास प्रतिक्रिया तथा राष्ट्रीयता एवं स्वतन्त्रता के संघर्ष और परिणाम में इन नवीन भावनाओं की विजय का इतिहास है।

* आधुनिक योरोप के इतिहास में शान्ति की इतनी लम्बी अवधि बहुत कम में देखने आती है। १८१५ से १८५४ तक ४० वर्षों की अवधि में कोई बड़ा युद्ध नहीं हुआ। १८५४ के बाद के २४ वर्षों में बड़े-बड़े राज्यों के बीच युद्ध हुए—क्रीमिया का युद्ध (१०५४-५६), फ्रांस और सार्डिनया का ऑस्ट्रिया से युद्ध (१८५९), प्रशा और ऑस्ट्रिया का डेनमार्क से युद्ध (१८६४), प्रशा और ऑस्ट्रिया का युद्ध (१८६६), फ्रांस और प्रशा का युद्ध (१८७०) और रूस-टर्की का युद्ध (१८७७)।

† Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 131.

प्रतिक्रिया

(१८१५—१८५०)

अध्याय १५

नये युग के लक्षण

राष्ट्रीयता एवं उदारवाद की नवीन शक्तियां—वियना की कांग्रेस ने उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहास की दिशा निर्धारित कर दी थी। योरोप के राजनीतिज्ञ वियना में पिछले २५ वर्षों के निरन्तर युद्ध से जर्जर और नष्टप्राय योरोप का पुर्ननिर्माण तथा भविष्य में शान्ति को स्थायी एवं सुनिश्चित करने के उद्देश्य से एकत्रित हुए थे और उन्होंने अपनी समझ एवं अपने अनुभव के अनुसार योरोप का पुर्ननिर्माण किया था जिसकी रूपरेखा हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। फ्रेंच क्रान्ति तथा नेपोलियन-युग के युद्धों के समय में योरोप के विभिन्न लोगों में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हो चुकी थी और उसने काफी जोर पकड़ लिया था। जर्मनी तथा पोलैण्ड में राष्ट्रीय जागृति के सक्रिय चिह्न दिखाई दे रहे थे। इटली, हंगरी तथा बाल्कन प्रायद्वीप में भी राष्ट्रीयता की आग भीतर ही भीतर सुलग रही थी। इसके साथ ही साथ क्रान्ति ने उदारवाद (Liberalism) के आदर्श का योरोप में सर्वत्र बीज बो दिया था जो बड़ी तेजी से अंकुरित हो रहा था। जनता के हृदय में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की इच्छा उदय हो रही थी और लोग स्वशासन के लिये उत्सुक हो रहे थे। इस प्रकार राष्ट्रीयता एवं उदारवाद की बलवती शक्तियाँ वियना में एकत्रित राजनीतिज्ञों को चुनौती दे रही थीं और योरोप का भविष्य इस बात पर निर्भर था कि इन शक्तियों का किस प्रकार प्रयोग किया जायगा।

वियना-कांग्रेस द्वारा उनकी उपेक्षा—वियना में एकत्रित शक्तियों में रूस, ऑस्ट्रिया, प्रशा तथा ग्रेट ब्रिटेन ही मुख्य थे। वे इन भावनाओं का महत्व समझते थे, परन्तु इन भावनाओं के साथ क्या किया जाय इस महान् प्रश्न पर उनमें मतभेद था। रूस का जार प्रथम एलेक्जेण्डर (१८००-१८२५) निरंकुश शासक था परन्तु उसे क्रान्ति की भावनाओं के साथ सहानुभूति थी। बहुत पहले ही (१८०४ में) उसने ग्रेट ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री से एक नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था स्थापित करने के लिये अनुरोध किया था और लिखा था कि जब तक राष्ट्रीय भावनाओं का आदर नहीं किया जायगा और शासन जनता की स्वतन्त्रता के आधार पर स्थिर नहीं होंगे तथा उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं बन जायेंगे तब तक योरोप में स्थायी शान्ति नहीं हो सकेगी।*

---

* Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p 214.

सन्धि होते ही उसने वार्सा की डची को स्वतन्त्र करने की घोषणा कर दी थी। उसका प्रभाव सामान्यतया उदारवाद के पक्ष में ही रहा। परन्तु वियना-कांग्रेस का मुख्य सूत्र-धार, ऑस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री, मेटरनिख उदारवाद एवं राष्ट्रीयता को उसी क्रान्ति की भावना की अभिव्यक्ति समझता था जिसके कारण योरोप को पिछले वर्षों में रण-चण्डी का वीभत्स ताण्डव देखना पड़ा था और जनता को इतने कष्ट सहने पड़े थे। उसे इन भावनाओं से तीव्र घृणा थी और वह उनका सब प्रकार से दमन करना चाहता था। ऑस्ट्रिया का सम्राट् प्रथम फ्रान्सिस भी प्रगति का विरोधी था और अपने प्रधान मन्त्री से पूर्ण रूप से सहमत था। प्रशा का राजा तृतीय फ्रेडरिक विलियम ज़ार एलेक्ज़ेण्डर का विनम्र अनुयायी था। ग्रेट ब्रिटेन, जिसका प्रतिनिधि केस्लरी था, मर्यादित उदारवाद का विरोधी तो नहीं था परन्तु उन दिनों वह अन्य सब बातों से अधिक शान्ति का इच्छुक था और रूस तथा प्रशा की उदारवादी योजनाओं को सशंक दृष्टि से देखता था। अतः उसने अधिकतर ऑस्ट्रिया का साथ दिया। इस प्रकार रूस तथा प्रशा उदारवादी मनोवृत्ति के थे, ऑस्ट्रिया प्रतिक्रियावादी था और ग्रेट ब्रिटेन उदारवाद के विरुद्ध न होते हुए भी ऑस्ट्रिया के साथ था। परन्तु ज़ार एलेक्ज़ेण्डर स्थिरचित्त नहीं था और उसके उदारवाद में भी गहराई अधिक नहीं थी। उसके विपरीत मेटरनिख बड़ा दृढ़ाग्रही था। अतः कांग्रेस में ऑस्ट्रिया का ही प्रभाव मुख्य रहा और, जैसा हम पहले देख चुके हैं, कांग्रेस ने योरोप का जो पुनर्निर्माण किया उसमें राष्ट्रीयता एवं उदारवाद की भावनाओं को कोई स्थान नहीं मिला और सर्वत्र उनकी उपेक्षा की गई। इतना ही नहीं, कांग्रेस ने योरोप में फिर से 'पुरातन व्यवस्था' को बहुत कुछ प्रतिष्ठित कर दिया, मानो उसकी दृष्टि में फ्रेंच क्रान्ति हुई ही नहीं थी और एक दुःस्वप्न से अधिक कुछ नहीं थी।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का प्रयत्न—पुरातन व्यवस्था को पुनः प्रतिष्ठित कर देना ही पर्याप्त नहीं था। चारों राज्यों ने मिल कर सम्भावित क्रान्तिकारी संकटों से उसकी रक्षा करने का भी आयोजन किया। सभी राज्यों ने वियना में की हुई व्यवस्था की रक्षा करने का वचन दिया और पिछले वर्षों में नेपोलियन के विरुद्ध जो सहयोग विभिन्न राज्यों में स्थापित था उसे बनाये रखने और उसे व्यवस्थित रूप देने का भारी प्रयत्न किया।

पवित्र संघ—ज़ार प्रथम एलेक्ज़ेण्डर ने जिसके केवल विचार ही उदारवादी नहीं थे, वरन् जिसकी प्रवृत्ति भी धार्मिक थी, योरोप के समस्त राजाओं के सामने बाइबिल में प्रतिपादित भ्रातृत्व की भावनाओं के अनुकूल शासन करने तथा प्रजा में धर्म, न्याय एवं शान्ति की स्थापना करने का प्रस्ताव एक घोषणा के रूप में रखा और सबसे उस पर हस्ताक्षर करने का अनुरोध किया। केवल टर्की (जिसका सुल्तान

मुसलमान था और जिसे इसी कारण निमन्त्रण नहीं दिया गया था), पोप तथा ग्रेट ब्रिटेन के राजप्रतिनिधि (Prince Regent) को छोड़ कर योरोप के समस्त राजाओं ने उस घोषणा पर हस्ताक्षर किये और इस प्रकार 'पवित्र संघ' (Holy Alliance) का निर्माण हुआ (२६ सितम्बर, १८१५)। ग्रेट ब्रिटेन ने सांविधानिक अड़चन का बहाना लेकर उस घोषणा पर हस्ताक्षर करने से तो इन्कार कर दिया परन्तु इसके साथ ही उसने उसके पवित्र सिद्धान्तों के साथ अपनी सहमति प्रकट की। यह सन्धि नहीं, वरन् पवित्र उद्देश्यों की घोषणामात्र थी जिनमें अधिकांश राजाओं एवं राजनीतिज्ञों का विश्वास बहुत कम था। अधिकांश राजाओं ने तो केवल ज़ार के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये ही हस्ताक्षर कर दिये थे।* मेटरनिख उसको केवल 'शब्दाडम्बर' कह कर उसका उपहास करता था। केस्लरी की दृष्टि में वह निरर्थक था। साधारण जनता उसे वियना में की हुई अनुचित व्यवस्था को बनाये रखने तथा उसके अधिकारों को कुचलने के लिये एक महान् कुचक्र समझती थी। वास्तव में इस प्रकार की शङ्का मिथ्या थी। यह योजना ज़ार प्रथम एलेक्ज़ेण्डर की थी जो उस समय अपने देश में तथा दूसरे देशों में उदारवाद का समर्थन कर रहा था और समझता था कि इस घोषणा के आधार पर अपनी प्रजा को अधिकार देना प्रत्येक राजा का कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त जनवादी आन्दोलनों को कुचलने के लिये १८१८ तक राजाओं का कोई गुट भी नहीं बना था। पवित्र संघ के सिद्धान्त पर अथवा उसकी भावनाओं के अनुकूल कार्य बिलकुल नहीं हुआ और उसके तीन प्रमुख सदस्यों ने एक दूसरी संस्था द्वारा जनवादी आन्दोलनों को कुचलने का जो प्रयत्न किया उसके फलस्वरूप यह अकारण ही बहुत बदनाम रहा। यह संघ जो वास्तव में शब्दाडम्बर ही प्रमाणित हुआ अधिक दिनों तक क़ायम न रह सका और १८२५ में प्रथम एलेक्ज़ेण्डर की मृत्यु के साथ ही उसका नाममात्र का अस्तित्व भी मिट गया।

चतुर्मुख सन्धि—जिस दूसरी संस्था का उल्लेख ऊपर किया गया है वह थी 'चतुर्मुख सन्धि' (Quadruple Alliance) जिसका निर्माण नवम्बर १८१५ ई० में शामों की सन्धि के आधार पर रूस, प्रशा, आँस्ट्रिया तथा ग्रेट ब्रिटेन ने फ्रान्स के साथ की हुई सन्धियों के पालन तथा 'संसार के कल्याण के लिये चारों राजाओं के बीच स्थापित घनिष्ठ सम्बन्ध' को दृढ़ बनाने के लिये किया था। इस सन्धि की अन्तिम धारा के अनुसार यह भी निश्चय हुआ कि चारों राज्यों के प्रतिनिधि समय-समय पर एक सम्मेलन में एकत्रित हों और सामान्य हितों के सम्बन्ध में परामर्श करें, ऐसी

---

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. I, p. 731.

† Fyffe : History of Modern Europe, p. 422.

जटिल समस्याओं पर विचार करें जिनके कारण युद्ध की आशंका हो तथा योरोप की शान्ति को क़ायम रखने के उपाय सोचें। इस प्रकार सम्मेलन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की व्यवस्था की गई। मित्र-राज्यों की यह दृढ़ धारणा थी कि क्रान्तिकारी आन्दोलनों का, जो फ्रेंच क्रान्ति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय हो गये थे, मुक़ाबला करने का एकमात्र उपाय निरंकुश राज्यों का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ही था, क्योंकि यदि क्रान्ति ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया है तो उसका दमन भी अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिये। कुछ वर्षों तक चारों राज्यों के सम्मेलन भी हुए। युद्ध-निवारण तथा शान्ति-स्थापन के हेतु यह योजना वास्तव में अच्छी थी परन्तु इसमें दो बड़े दोष थे। इन सम्मेलनों में केवल चार बड़े राज्य ही सम्मिलित होते थे जिनमें से तीन निरंकुश एकतन्त्र थे; अन्य राज्य उनमें सम्मिलित नहीं हो सकते थे। उनके शासकों के मस्तिष्क में क्रान्ति की कष्टप्रद स्मृतियाँ ताज़ी थीं। उन्हें प्रत्येक देश में प्रत्येक उदारवादी या राष्ट्रीय आन्दोलन में शान्ति के लिये संकट दिखाई देता था और उसका दमन करने के लिये अपनी पूर्ण शक्ति का प्रयोग करने का सदा प्रलोभन रहता था। उन्होंने अपनी शक्ति का प्रयोग इसी उद्देश्य से कई जगह किया भी। इन्हीं कारणों से यह सम्मेलन व्यवस्था (Concert of Europe) राष्ट्रीयता तथा उदारवाद की विरोधी होने के कारण सर्वसाधारण जनता में बड़ी अप्रिय रही। इङ्गलैण्ड भी उसका विरोध करने लगा। वह शीघ्र ही भंग हो गई और एक बड़ी अच्छी हितकारी कल्पना विफल हो गई।* परन्तु कूटनीति के इतिहास में यह एक नवीन और महत्वपूर्ण प्रयोग था। इससे एक नवीन प्रकार की कूटनीति—सम्मेलन द्वारा कूटनीति (Diplomacy by Conference)—का प्रादुर्भाव हुआ।

संघर्ष का युग—इस प्रकार एक नये युग का आरम्भ एक बड़े व्यापक संघर्ष के साथ हुआ। योरोप के सम्मिलित राष्ट्रों ने नेपोलियन को तो पराजित कर दिया था परन्तु फ्रेंच क्रान्ति के जिन सिद्धान्तों का प्रचार हो चुका था वे जड़ पकड़ गये थे और उनका दमन नहीं हो सका था। फ्रेंच क्रान्ति ने जनता के अधिकारों की जो समस्या खड़ी कर दी थी वह नेपोलियन की पराजय से हल नहीं हो सकी थी। फलतः हम अब आगे फ्रेंच क्रान्ति तथा पुरातन व्यवस्था के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का संघर्ष देखते हैं। एक ओर उदारवाद, प्रजातन्त्र, राष्ट्रीयता तथा क्रान्ति की प्रगतिशील शक्तियाँ

---

* परन्तु यह प्रयत्न बिलकुल ही व्यर्थ नहीं गया। शान्ति के लिये उत्पन्न होने वाले खतरों को रोकने के लिये योरोप की बड़ी सत्ताओं में आवश्यकता पड़ने पर परस्पर परामर्श करने की आदत आगे भी बनी रही और उनके प्रतिनिधि संकट के समय मिल कर युद्ध-निवारण के प्रयत्न करते रहे। Muir : A Short History of the British Commonwealth, Vol. II, pp. 306-307.

काम करती है और दूसरी ओर निरंकुशता, स्थितिपालकता, न्याय्यता (Legitimacy) आदि अनेक नामों से पुकारी जानेवाली प्रतिक्रिया की शक्ति उनका दमन करने का प्रयत्न करती है।* अगले युग का इतिहास इसी संघर्ष का इतिहास है। योरोप के सभी देशों में यह संघर्ष किसी न किसी रूप में दिखाई देता है। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन जैसे देशों में, जहाँ राष्ट्रीय एकता पहले से ही थी और जो स्वतन्त्र थे, जनता निरंकुश शासन का अन्त कर अपने अधिकारों की प्राप्ति का प्रयत्न कर रही थी और वहाँ आन्दोलन उदारवादी, जनतन्त्रवादी था। जो देश विभक्त थे, जैसे जर्मनी तथा इटली, या पराधीन थे जैसे पोलैण्ड तथा आयर्लैण्ड, उनमें जनता राजनीतिक विभाजन को मिटाकर राष्ट्रीय एकीकरण तथा विदेशियों के शासन से मुक्त होकर स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष कर रही थी और वहाँ आन्दोलन मुख्यतः राष्ट्रीयतावादी था, किन्तु इसके साथ ही वहाँ की जनता अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिये भी प्रयत्नशील थी और इस तरह वहाँ आन्दोलन का एक पहलू जनतन्त्रवादी भी था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक इङ्गलैण्ड, बेल्जियम और ग्रीस को छोड़ कर प्रायः सर्वत्र राष्ट्रीयतावादी एवं जनतन्त्रवादी आन्दोलनों को कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई। चतुर्मुख गुट के तीन निरंकुश सदस्यों ने उनका दमन करने में कोई कसर नहीं रखी। प्रतिक्रिया विजयी हुई और योरोप की शान्ति के लिये स्थापित सम्मेलन-व्यवस्था के समान उदारवादी राष्ट्रीयतावाद की कल्पना भी विफल हुई। इस प्रकार इस युग का इतिहास दो उदात्त कल्पनाओं की विफलता तथा प्रतिक्रिया की सफलता का इतिहास है।

तैयारी का युग—किन्तु यह कथन सर्वांश में सत्य नहीं है। ऊपर से देखने में तो यह युग प्रतिक्रिया और उसके परिणामस्वरूप निश्चलता का युग दिखाई देता था, परन्तु वास्तव में यह युग निश्चलता का नहीं था और न प्रतिक्रिया को ही पूर्ण सफलता प्राप्त हुई थी। बाह्य दृष्टि से तो प्रतिक्रिया सफल मालूम हो रही थी, परन्तु इस संघर्ष में निरंकुश शासनों की निर्बलता प्रकट हो चुकी थी, उनका आधार खोखला हो चुका था और उनका पतन निश्चित था। उधर प्रगतिशील आन्दोलन असफल अवश्य रहे थे परन्तु बार-बार के असफल प्रयत्नों से जो अनुभव आन्दोलनकारियों को हुए थे वे बड़े मूल्यवान थे और उनकी सहायता से उनकी अन्तिम विजय सुनिश्चित थी। इस प्रकार जहाँ एक ओर यह युग प्रतिक्रिया एवं निश्चलता का युग था, वहाँ दूसरी ओर राजनीतिक क्षेत्र में होनेवाले महान् परिवर्तन के लिये तैयारी का युग भी था।

अन्य प्रकार से भी यह तैयारी का युग था। जहाँ एक ओर फ्रेंच क्रान्ति ने महान् राजनीतिक परिवर्तनों के लिये मार्ग तैयार कर दिया था, वहाँ दूसरी ओर

* Ketelbey : A History of Modern Times, p. 143.

औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पादन एवं वितरण के तरीक़ों में तरक्क़ी करके सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में बड़े-बड़े महत्वपूर्ण परिवर्तनों का सूत्रपात कर दिया था।* इस तैयारी का फल हमें अगले युग में मिलता है जबकि राष्ट्रीयता एवं उदारवाद को सफलता प्राप्त होती है और औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप समाजवाद तथा साम्राज्यवाद का जन्म होता है।

* Strong : Dynamic Europe, p. 232.

अध्याय १६

प्रतिक्रिया का आरम्भ

वियना में एकत्रित राजनीतिज्ञों का उद्देश्य, जैसा हम देख चुके हैं, योरोप को यथासम्भव १७८९ की स्थिति में वापस पहुँचा देना था। 'न्याय्यता' के सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने नेपोलियन द्वारा स्थापित व्यवस्था को मिटाकर प्रायः सर्वत्र पुराने राजवंशों को पुनः स्थापित कर दिया।

फ़ान्स

बूर्बों वंश की पुनःस्थापना—अठारहवाँ लुई—पुनःस्थापन का कार्य सर्वप्रथम फ़ान्स में हुआ था। १८१४ में नेपोलियन की पराजय के बाद फ़ांस में बूर्बों वंश पुनःस्थापित कर दिया गया था और अठारहवाँ लुई सिंहासन पर बिठा दिया गया था। उस समय उसकी अवस्था ५९ वर्ष की थी। उसे गठिया का रोग था। वह अपने भाई सोलहवें लुई से अधिक बुद्धिमान था और पिछले वर्षों की मुसीबतों से भी वह शिक्षा प्राप्त कर चुका था। वह ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहता था जिससे उसे फिर प्रवास के कष्ट भोगने पड़ते। वह समझता था कि पुराने राजवंश के पुनःस्थापन का अर्थ पुरातन व्यवस्था का पुनःस्थापन कदापि नहीं था, वह व्यवस्था सदा के लिये नष्ट हो चुकी थी। वह नये युग की आवश्यकताओं को समझता था और अपने आपको उनके अनुकूल बना कर शान्तिपूर्वक राज्य करना चाहता था।

सांविधानिक शासन-पत्र—उसने २ जून १८१४ को एक सांविधानिक शासन-पत्र (Constitutional Charter) द्वारा जनता को एक नवीन संविधान प्रदान किया जिसके अनुसार उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल तथा दो भवन की एक विधायिका सभा की व्यवस्था की गई। उनमें से एक भवन—कुलीन भवन (Chamber of Peers)—के सदस्यों की नियुक्ति राजा द्वारा उसके प्रसाद-काल के लिये की गई और दूसरे भवन—प्रतिनिधि-भवन (Chamber of Deputies)—का निर्वाचन पाँच वर्ष के लिये होना निश्चित किया गया। मतदाता के लिये यह आवश्यक रहा कि वह आयु में कम से कम ३० वर्ष का हो और कम से कम ३०० फ़्रैङ्क कर देता हो। प्रतिनिधि के लिये ४० वर्ष की आयु तथा १००० फ़्रैङ्क कर देने की योग्यता रखी गई।*

---

* Lodge : A History of Modern Europe, p. 628.

योग्यताएँ ऐसी थीं कि उनके अनुसार समस्त फ्रान्स की लगभग ३ करोड़ जनता में से केवल एक लाख के लगभग मतदाता बन सकते थे और उनमें से केवल बारह हज़ार प्रतिनिधि बन सकते थे।* प्रतिनिधि-भवन को कर स्वीकार करने तथा व्यय पर निगाह रखने का अधिकार मिला किन्तु सभा में क़ानून पेश करने का अधिकार राजा के हाथों में सुरक्षित रखा गया। इसके साथ ही उसने जनता के अनेक अधिकारों की भी घोषणा की जिसमें उसने क्रान्ति के प्रायः सभी सिद्धान्तों को स्वीकार किया। क़ानून के सामने सब मनुष्यों की समानता स्वीकार की गई, सरकारी पदों का द्वार योग्यता के आधार पर सब लोगों के लिये समान रूप से खोल दिया गया, रोमन केथोलिक मत राजकीय धर्म स्वीकार किया गया परन्तु इसके साथ ही प्रत्येक मनुष्य को धार्मिक स्वतन्त्रता दे दी गई और भाषण, लेखन, प्रकाशन तथा मुद्रण की स्वतन्त्रता की घोषणा की गई। यह भी घोषित किया गया कि पहले की तरह कोई भी व्यक्ति क़ानूनी प्रक्रिया के प्रतिकूल गिरफ़्तार नहीं किया जायगा और न दण्डित किया जायगा। जिन लोगों ने राजा, चर्च या रईसों की भूमि ख़रीदी थी उनका उस पर अधिकार स्वीकार कर लिया गया और उसे कभी न छीनने का वचन दिया गया। नेपोलियन ने जिन लोगों को उपाधियाँ प्रदान की थीं वे स्वीकार कर ली गईं और जिन लोगों को उसने कुलीनता प्रदान की थी वे पुराने कुलीनों के समकक्ष स्वीकार कर लिये गये।

कठिनाइयाँ—प्रतिक्रियावादियों का चुनाव—इस प्रकार अठारहवें लुई ने नवीन युग की नवीन आवश्यकताओं के सामने झुक कर क्रान्ति के परिणामों को स्वीकार किया और जनता को आश्वासन देकर शासन प्रारम्भ किया। नवीन संविधान मध्यमवर्गीय संविधान था। उससे अमीरों तथा मध्यम वर्ग के लोगों के हाथों में ही शक्ति पहुँची थी और सर्वसाधारण जनता शक्ति से वंचित रह गई थी, फिर भी वह योरोप के समस्त तत्कालीन संविधानों में अधिक उदार एवं जनसत्तात्मक था और सांविधानिक शासन का अच्छा आधार बन सकता था।† लुई स्वयं ही समझदार था, झगड़ा मोल लेना नहीं चाहता था और शान्ति से जीवन व्यतीत करना चाहता था। उसने तेलीरां को अपना प्रधान मन्त्री बनाया जो वियना-कांग्रेस में फ्रान्स की ओर से सम्मिलित हुआ। जैसा हम देख चुके हैं, नेपोलियन के वापस लौट आने पर उसे भागना पड़ा, परन्तु यह प्रवास बहुत दिनों तक नहीं रहा और वह सम्मिलित राष्ट्रों की सहायता से फिर वापस आगया। किन्तु अब स्थिति कठिन हो गई; उसे फ्रान्स के शत्रुओं ने सिंहासन पर बिठलाया था और उसकी सुरक्षा अब भी फ्रान्स की भूमि पर स्थित सम्मिलित राष्ट्रों की सेना पर निर्भर थी। ऐसी दशा में जनता की दृष्टि में उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं थी और वह

* Hazen : Modern European History, p. 270.

† Marriott : The Remaking of Modern Furope, p. 134.

अपने आपको असुरक्षित समझता था। इस स्थिति में उसने अपने पूर्व वचनों का पूर्णतया पालन करना तथा बदले की भावना एवं प्रतिक्रियावादी नीति से दूर रहने में ही बुद्धिमानी समझी। परन्तु उसे स्वयं अपने परिवार तथा निकट रहनेवाले कुलीनों एवं पादरियों के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा। उन्हें क्रान्ति के विचारों से अत्यन्त घृणा थी; वे राजा के परिवर्तित विचारों से बिलकुल असहमत थे, नवीन संविधान के विरोधी थे और राजा से भी अधिक कट्टर राजसत्तावादी थे। वे 'क्रान्ति' से बदला लेना और पुरातन व्यवस्था को जैसी की तैसी फिर से प्रतिष्ठित कर देना चाहते थे।* इन असन्तुष्ट अपरिवर्तनवादी लोगों का नेता था स्वयं राजा का भाई और उत्तराधिकारी 'आर्तुआ का काउण्ट' जो नवीन संविधान का अन्त करके पुरातन व्यवस्था को फिर से जैसी की तैसी प्रतिष्ठित करने पर तुला हुआ था। वाटरलू के मैदान में नेपोलियन की अन्तिम पराजय के समाचार प्राप्त होने के साथ ही पादरियों, राजसत्तावादी प्रतिक्रियावादियों एवं नेपोलियन के शत्रुओं का क्रोध भड़क उठा था और फ़्रान्स में सर्वत्र प्रोटेस्टेण्ट लोगों तथा नेपोलियन के पक्षपातियों पर हिंसात्मक आक्रमण आरम्भ हो गये थे। दक्षिणी फ़्रान्स में तो भयंकर मारकाट हुई और नेपोलियन के हज़ारों समर्थक इस 'श्वेत आतंक' (White Terror) की बलि बने। इस प्रकार देश में ज़बरदस्त राजसत्तावादी प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई। नवीन संविधान के अनुसार जो विधायिका बनी उसमें कुलीन-भवन के सदस्य तो राजा द्वारा नियुक्त नरम उदारदलीय थे परन्तु प्रतिनिधि-भवन के सदस्य अधिकांश में कट्टर प्रतिक्रियावादी एवं उग्र राजसत्तावादी थे। इधर आर्तुआ का काउण्ट राजा की उदार योजनाओं को विफल बनाने का प्रयत्न कर रहा था। उसने समस्त उच्च राजकीय पदों पर पुराने कर्मचारियों को हटा कर प्रवासी कुलीनों एवं पादरियों को नियुक्त करा दिया। तेलीराँ बरख़ास्त कर दिया गया और उसकी जगह एक 'प्रवासी' रिशल्यू नियुक्त किया गया। सेना में से भी नेपोलियन के समय के अनुभवी सेनापति एवं उच्च कर्मचारी निकाल दिये गये और उनकी जगह अनुभवहीन प्रवासी कुलीन नियुक्त कर दिये गये। वीर सेनापति मार्शल ने (Ney) तथा सेना के अन्य अफ़सर, जिन्होंने नेपोलियन के लौटने पर उसका साथ दिया था, देशद्रोही ठहराये गये और उन्हें प्राणदण्ड मिला। क्रान्ति के तिरंगे राष्ट्रीय झण्डे की जगह फिर से बूर्बों वंश के सफ़ेद झण्डे ने ले ली और दरबार के पुराने ढंग वापस लौट आये। प्रतिनिधि-सभा ने भी प्रतिक्रियावादी क़ानून बनाना और सांविधानिक शासन-पत्र द्वारा जनता को दिये हुए अधिकारों को छीनना आरम्भ किया। रिशल्यू 'प्रवासी' तो था परन्तु अन्य कुलीनों की तरह कट्टर प्रतिक्रियावादी नहीं था। उसने प्रतिनिधि-भवन

* Cambridge Modern History, Vol. X, p. 71.

के इन कार्यों का विरोध किया और लुई ने प्रतिनिधि-सभा भङ्ग कर दी। सितम्बर १८१६ में उसने अपने ही अधिकार से एक आदेश निकाला और निर्वाचन-प्रथा में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये। नये निर्वाचन के फलस्वरूप प्रतिनिधि सभा में उदारवादी सदस्यों का बहुमत था। अब सरकार और प्रतिनिधि-सभा में सहयोग सम्भव हो गया और राजसत्तावादियों की ओर से जो भय था वह हट गया।

फ्रान्स चतुर्मुख संघ में सम्मिलित—रिशल्यू ने इस अनुकूल परिस्थिति से लाभ उठा कर फ्रान्स को कई प्रकार से लाभ पहुँचाया। वोट देने के अधिकार का विस्तार किया गया, सेना का पुनः संगठन किया गया और अन्य प्रकार के भी अनेक सुधार किये गये। उसने सम्मिलित राष्ट्रों को समझा-बुझा कर एे-ला-शेपल (Aix-la-Chapelle) की कांग्रेस (१८१८) में फ्रान्स को 'चतुर्मुख संघ' में सम्मिलित करवा लिया। इस कांग्रेस ने यह भी निश्चय किया कि नवम्बर १८१८ के अन्त तक विदेशी सेना फ्रान्स की भूमि से हट जाय। यह रिशल्यू की बड़ी ज़बरदस्त कूटनीतिक विजय थी क्योंकि इस प्रकार उसने न केवल फ्रान्स को नियन्त्रण से मुक्त कर लिया वरन् सम्मिलित राष्ट्रों के समकक्ष बना कर उसकी प्रतिष्ठा में भी वृद्धि की। चतुर्मुख संघ अब पंचमुख संघ (Pentarchy) बन गया और पाँचों राज्यों ने योरोप की शान्ति के लिये सहयोग करने का वचन दिया।

प्रतिक्रिया – इस सफलता से रिशल्यू की स्थिति बड़ी मज़बूत हो गई परन्तु वह प्रतिनिधि-सभा के बढ़ते हुए उदारवादी बहुमत को देख कर चिन्तित होने लगा। नये निर्वाचन-क़ानून के अनुसार प्रतिनिधि-सभा के $\frac{1}{5}$ सदस्यों का प्रति वर्ष निर्वाचन होता था। नये निर्वाचनों में उदारवादी प्रतिनिधि अधिक संख्या में आने लगे। यह देख कर उसने राजा से निर्वाचन-क़ानून को बदलने का अनुरोध किया परन्तु राजा के इन्कार कर देने पर उसने त्यागपत्र दे दिया (दिसम्बर १८१८)। राजा ने उसके स्थान पर उसके सहयोगी देकाज़े (Decazes) को प्रधान मन्त्री नियुक्त किया। देकाज़े की नीति 'फ्रान्स को राजसत्ता का समर्थक और राजसत्ता को राष्ट्रीय बनाने' की थी।* उसने कई जनप्रिय काम किये परन्तु उस पर दोनों ओर से आक्रमण होने लगे। राजसत्तावादी तो इन कामों से असन्तुष्ट थे ही, उग्र उदारवादी भी इन सुधारों को अपर्याप्त कह कर उसका विरोध करने लगे। यह देख कर वह निर्वाचन-क़ानून में परिवर्तन करने की बात सोच ही रहा था कि अचानक एक ऐसी घटना हो गई जिससे फ्रेञ्च राजनीति में महान् परिवर्तन हो गया। फरवरी १८२० में आर्तुआ के काउण्ट के द्वितीय पुत्र बेरी (Berry) के ड्यूक की नेपोलियन के एक अनुयायी लूवेल ने हत्या कर दी। आर्तुआ

---

* "To royalise France and to nationalise the monarchy." Phillips : Modern Europe, p. 27.

के काउण्ट के बाद बेरी ही राज्य का उत्तराधिकारी था। उसकी मृत्यु से बूर्बो वंश की बड़ी शाखा निर्वंश हो गई।* इसका परिणाम यह हुआ कि राजसत्तावादी प्रतिक्रिया पुनः भड़की और कट्टर राजसत्तावादी प्रबल हो गये। देकाज़ को त्यागपत्र देना पड़ा और रिशल्यू फिर प्रधान मन्त्री बनाया गया। परन्तु उग्र राजसत्तावादियों की दृष्टि में वह भी उदारवादी था। अतः वह भी बरखास्त कर दिया गया और विलेल (Villele) प्रधान मन्त्री बना। लुई की शक्ति वृद्धावस्था के कारण क्षीण हो रही थी। उसने सारा राजकाज आर्तुआ के काउण्ट के हाथों में छोड़ दिया। अब फ़्रान्स में पूर्ण रूप से प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई। वोट देने का अधिकार संकुचित कर दिया गया और प्रतिनिधि-सभा के पाँचवें भाग के वार्षिक निर्वाचन का अन्त करके उसकी अवधि बढ़ा कर सात वर्ष कर दी गई। विदेश-नीति में भी फ़्रान्स ने अब पंचमुख संघ के सूत्रधार ऑस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री मेटरनिख का साथ देना आरम्भ किया। स्पेन की जनता के विद्रोह को दबाने के लिये फ़्रेंच सेना भेजी गई और वहाँ सप्तम फ़र्डिनेण्ड के निरंकुश शासन को फिर से स्थापित किया गया।

ऑस्ट्रिया

फ़्रान्स में तो पूर्ण प्रतिक्रिया कुछ देर से आरम्भ हुई परन्तु जर्मनी में उसका आरम्भ नेपोलियन के पतन के तुरन्त बाद ही हो गया था। उसका कारण था मेटरनिख का प्रभाव। वियना-कांग्रेस ने जर्मनी की जो नई व्यवस्था की थी उसमें ऑस्ट्रिया का स्थान मुख्य रखा गया था।

ऑस्ट्रिया के साम्राज्य का स्वरूप—ऑस्ट्रिया का साम्राज्य भानमती के कुनबे की तरह था। उसमें अनेक जातियों के लोग रहते थे, पश्चिमी भाग में जो ऑस्ट्रिया कहलाता था, मुख्यकर जर्मन लोग बसते थे; पश्चिमोत्तर की ओर बोहीमिया में बोहीमियन लोग थे; पूर्व की ओर हंगरी में मग्यार जाति के लोग थे जो आरम्भ में एशिया से आये थे और मंगोल रक्त के थे; हँगरी के पूर्वी भाग में मग्यारों से भिन्न रूमानियम जाति के लोग थे; साम्राज्य के दक्षिणी भाग में स्लाव जाति के लोग बसते थे और लोम्बार्डी तथा वेनीशिया में इटालियन लोग थे। इनके अतिरिक्त साम्राज्य के पूर्वी भागों में बहुत बड़ी संख्या में पोल लोग भी निवास करते थे। इन सब जातियों में जर्मन और मग्यार जातियाँ मुख्य थीं। फ़्रेंच क्रान्ति का ऑस्ट्रिया के शासन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था और वहाँ अब भी पुरातन व्यवस्था चल रही थी—शासन

---

* Fyffe : History of Modern Europe, p. 484.

राजकुमार बेरी की पत्नी उसकी मृत्यु के समय गर्भवती थी। बेरी की मृत्यु के कुछ महीनों बाद उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो पंचम हेनरी कहलाया।

निरंकुश था, समाज सामन्तवाद के आधार पर सङ्गठित था, अल्पसंख्यक कुलीन विशेषाधिकारों का उपभोग करते थे और बहुसंख्यक जनता दलित एवं पीड़ित थी।

मेटरनिख़—क्रान्तिकारियों तथा नेपोलियन द्वारा प्रसारित नवीन विचारों का ऑस्ट्रिया की जनता पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था और साम्राज्य में आन्तरिक परिवर्तन की इच्छा के कोई विशेष चिह्न दिखाई नहीं पड़ते थे। सम्राट् प्रथम फ्रान्सिस प्रगति का कट्टर विरोधी था और उसका मन्त्री मेटरनिख़ भी उससे पूर्ण रूप में सहमत था। मेटरनिख़ का उद्देश्य न कोई नवीन बात करना था और न पुरानी बातों को वापस लाने का प्रयत्न ही करना था, वरन् जैसी स्थिति थी उसको वैसी ही बनाये रखना था।* ऑस्ट्रिया में तो यह बात सम्भव थी परन्तु साम्राज्य के बाहर जर्मनी तथा इटली में ऐसे विचारों का प्रचार हो रहा था जिनको फैलने और ऑस्ट्रिया में प्रवेश करने से रोकने के लिये सभी प्रकार के प्रयत्न करना वह आवश्यक समझता था। उसने प्रचार के सभी साधनों पर बड़े कड़े प्रतिबन्ध लगाये। उसे सबसे अधिक भय विश्वविद्यालयों से था जो नवीन विचारों के प्रचार-केन्द्र थे। अध्यापकों और विद्यार्थियों पर बड़े अपमानजनक प्रतिबन्ध लगाये गये; उनके पीछे सदा गुप्तचर लगे रहते थे, यहाँ तक कि कक्षाओं में भी गुप्तचर मौजूद रहते थे; पाठ्य-क्रम तथा पाठ्य-पुस्तकें सरकार द्वारा निर्धारित की जाने लगीं; बाहर से पुस्तकें मँगवाना बन्द कर दिया गया; विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त विदेशों को जाने के लिये सरकार की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक हो गया जो कभी नहीं दी जाती थी; विद्यार्थी कोई सभा-सोसायटी नहीं बना सकते थे। अखबारों और थियेटरों पर भी बड़ी कड़ी निगरानी रखी जाने लगी। गुप्तचर सर्वत्र घूमते रहते थे और पुलिस निर्भय होकर जहाँ चाहती वहाँ हस्तक्षेप करने से नहीं चूकती थी।† कड़ी पुलिस, व्यापक गुप्तचर-व्यवस्था तथा विचारों पर कड़े प्रतिबन्ध पर आधारित व्यवस्था ऑस्ट्रिया में काफी सफल हुई और कई वर्षों तक वहाँ विद्रोह के चिह्न तक नहीं दिखाई देते थे।

जर्मनी

किन्तु मेटरनिख़ केवल ऑस्ट्रिया में ही यह दमनकारी व्यवस्था स्थापित करके

---

* Fyffe : History of Modern Europe; p. 433.

† मेटरनिख़ ने विभिन्न राज्यों से जो समझौते किये थे उनमें उसने बड़ी चतुराई से ऐसी व्यवस्था करली थी कि समस्त विदेशी डाक ऑस्ट्रिया में से होकर निकलती थी। वियना में उसने चिट्ठियाँ खोलने, सांकेतिक भाषा को समझने और चिट्ठियों को पुनः बन्द करने के लिये विशेषज्ञों का एक दफ़्तर खोल रखा था। इस प्रकार उसे समस्त राज्यों के बारे में बड़ी जानकारी रहती थी। Thomson : Europe since Napoleon, p. 113.

सन्तुष्ट नहीं रहा। वह अपनी सीमा के पास पड़ोसी देशों में कहीं भी नवीन विचारों को पनपने नहीं देना चाहता था। जर्मनी तथा इटली में उसे इस कार्य के लिये सुविधा भी थी।

जर्मन परिसङ्घ—वियना-कांग्रेस की व्यवस्था के अनुसार समस्त जर्मनी का एक शिथिल परिसंघ बना दिया गया था। जैसाकि हम देख चुके हैं उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के ३९ राज्य थे जिनमें से दो—आँस्ट्रिया और प्रशा—बड़े थे। आँस्ट्रिया का सम्राट् परिसंघ का अध्यक्ष था और प्रशा का राजा उपाध्यक्ष। बेवेरिया, हेनोवर, सेक्सनी तथा वुर्टेमबुर्ग के राज्य भी काफी बड़े थे। इनके अतिरिक्त अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जिनमें चार स्वतन्त्र नगर भी थे। उनमें से कुछ राज्यों का सम्बन्ध जर्मनी के बाहर के राज्यों से भी था। हेनोवर इङ्गलैण्ड के राजा का एक प्रदेश था, हॉल्स्टाइन डेन्मार्क के राजा का था और लुक्सेमबर्ग नीदरलैण्ड के शासक का था।

जर्मन परिसङ्घ का संविधान—इस विचित्र परिसंघ की एक केन्द्रीय विधायिका (Diet) थी जिसके अधिकेशन फ्रैंक फर्ट में होते थे। उसके सदस्य जनता के प्रतिनिधि नहीं, वरन् विभिन्न शासकों द्वारा नियुक्त एवं उनका आदेश पालन करनेवाले दूत होते थे। उसकी कार्य-पद्धति बड़ी पेचीदी थी जिससे निर्णय करने में प्रायः देर होती थी और रुकावट डालना सरल था। आँस्ट्रिया तथा प्रशा की पारस्परिक ईर्ष्या और छोटे-छोटे राज्यों की अपने अधिकारों में किसी प्रकार कमी न आने देने की इच्छा से उसमें कोई काम नहीं हो पाता था। एक नियम यह था कि आधारभूत कानूनों, आङ्गिक (Organic) संस्थाओं, व्यक्तिगत अधिकारों अथवा धार्मिक मामलों में कोई भी परिवर्तन करने के लिये सभा की सर्वसम्मति से स्वीकृति आवश्यक होगी। यह नियम इतना व्यापक था कि सभी महत्त्वपूर्ण बातें इसके अन्तर्गत आ जाती थीं और क्योंकि किसी बात के लिये सब सदस्यों का एक मत नहीं हो सकता, इस कारण उसमें कोई भी महत्त्वपूर्ण काम नहीं हो सकता था। कोई भी एक राज्य केवल अपने निषेधाधिकार से किसी भी निर्णय को रद्द कर सकता था। इस परिसंघ की कोई कार्य-पालिका नहीं थी। विधायिका के निर्णयों को कार्यान्वित करना विभिन्न राज्यों के शासकों की इच्छा पर निर्भर था। इस प्रकार यह परिसंघ अत्यन्त शिथिल था। किन्तु मेटरनिख ने विभिन्न राज्यों के शासकों की प्रतिक्रियावादिता से लाभ उठा कर उसे समस्त जर्मनी पर अपना प्रभाव जमाने का एक अच्छा साधन बना रखा था। परिसंघ की विधायिका को उसने एक प्रकार से अपने वैदेशिक विभाग का एक अङ्ग बना लिया था।*

---

* Ketelbey : A History of Modern Times, p. 173.

यह व्यवस्था विशुद्ध रूप में जर्मन भी नहीं थी। तीन विदेशी शासक इस संघ के सदस्य थे—इङ्गलैण्ड का राजा हेनोवर का भी शासक था और संघ में हेनोवर का. (Contd)

राष्ट्रीयता और उसका दमन—यह व्यवस्था जर्मन जनता को, विशेषकर प्रगतिशील लोगों को, बिलकुल पसन्द नहीं थी। नेपोलियन के समय में जर्मन जनता में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हो चुकी थी और प्रगतिशील लोग जर्मनी की राष्ट्रीय एकता तथा उसके लिये एक सुदृढ़ राष्ट्रीय शासन की कामना करते थे। परन्तु मेटरनिख जर्मनी की एकता नहीं चाहता था और उसने प्रशा के राजा पर अपना प्रभाव डाल कर तथा छोटे-छोटे राजाओं की स्वार्थ-भावना को प्रोत्साहन देकर इस लक्ष्य की पूर्ति को असम्भव कर दिया। प्रगतिशील लोग राष्ट्रीय एकता के साथ-साथ स्वतन्त्रता की कामना करते थे और परिसंघ के सभी सदस्य-राज्यों में निरंकुश शासन का अन्त कर सांविधानिक शासन स्थापित करना चाहते थे। संघ के संविधान की तेरहवीं धारा से उनको इस कामना की पूर्ति की आशा भी थी जिसमें यह घोषणा की गई थी कि परिसंघ के प्रत्येक राज्य में प्रतिनिधि-सभा स्थापित की जायगी। वाइमर राज्य के ड्यूक ने एक संविधान का भी निर्माण किया था; तृतीय, फ्रेडरिक विलियम ने भी प्रशा के लिये संविधान प्रदान करने का वचन दिया था और दक्षिणी जर्मनी के कई राजाओं ने भी अठारहवें लुई का अनुकरण करके जनता को राजनीतिक अधिकार प्रदान किये थे। किन्तु मेटरनिख इस बात से असन्तुष्ट था और वह जर्मनी में उन्हीं प्रतिक्रियावादी सिद्धान्तों को अमल में लाना चाहता था जो उसने आस्ट्रिया में लागू कर रखे थे। उसे विश्वास था कि जनता को प्रजातान्त्रिक अधिकार देने का अर्थ है अराजकता को निमन्त्रण देना। उसने यही विश्वास जर्मनी के समस्त राजाओं के दिलों में जमा दिया। प्रशा का राजा तृतीय फ्रेडरिक विलियम शायद अपना वचन पूरा करता परन्तु मेटरनिख ने उस समय होने वाली कुछ घटनाओं का उपयोग करके उसके दिल में भी भय उत्पन्न कर दिया और वह भी उसके प्रभाव में आ गया।

कार्ल्सबाद के आदेश—अपनी आशाओं को भङ्ग होते देख कर जर्मनी के उदारवादियों में बड़ा असन्तोष था। इस असन्तोष के केन्द्र विश्वविद्यालय, विश्वविद्यालयों के लोगों द्वारा सम्पादित समाचार-पत्र और विद्यार्थियों की सभाएँ थीं। इन विश्वविद्यालयों में मुख्य वाइमर राज्य में येना (Jena) का विश्वविद्यालय था जो उदारवादी आन्दोलन का केंद्र था और जहाँ विद्यार्थियों ने जर्मनी की एकता स्थापित करने के उद्देश्य से एक सभा स्थापित की थी। इस सभा ने १७ अक्टूबर १८१७ ई० को जर्मनी के समस्त विश्वविद्यालयों की विद्यार्थी-सभाओं के प्रतिनिधियों को निमन्त्रित करके

प्रतिनिधित्व करता था, डेन्मार्क का राजा होल्स्टीन का प्रतिनिधित्व करता था और हॉलेण्ड का राजा लुक्सेमबुर्ग का। सदस्य होने के नाते वे परिसंघ की विधायिका के विचार-विमर्श में भाग ले सकते थे और उस पर अपना प्रभाव डाल सकते थे, विशेषकर उन आधारभूत मामलों में जिनमें वे व्यक्तिगत निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकते थे।
Hazen : Europe since 1815, p. 24.

लाइपजिग के युद्ध की तीसरी संवत्सरी तथा धर्म-सुधार-आन्दोलन की तीसरी शताब्दी मनाने के लिये एक राष्ट्रीय उत्सव किया जिसमें जर्मनी के बारह विश्वविद्यालयों के कोई ४०० विद्यार्थी सम्मिलित हुए । यह उत्सव निर्दोष था। परन्तु मेटरनिख ने जर्मनी के शासकों के सामने इसका अत्यन्त अतिरञ्जित चित्र प्रस्तुत किया और वाइमर के ड्यूक को अपनी प्रजा की स्वतन्त्रता को कम करने तथा विश्वविद्यालयों पर कड़ा नियन्त्रण लगाने का आदेश दिया। इसके डेढ़ वर्ष बाद फिर एक घटना हुई। २३ मार्च, १८१९ को एक विद्यार्थी ने मेनहीम में एक पत्रकार एवं नाटककार कोत्सेब्यू (Kotzebue) को, जो ज़ार एलेक्ज़ेण्डर की नौकरी में था, मार डाला।* इस घटना से प्रतिक्रियावादियों में बड़ा आतङ्क छा गया जिसका मेटरनिख ने पूरा पूरा लाभ उठाया। वह प्रशा के राजा से मिला, उसके सामने उदारवाद के क्रान्तिकारी खतरों का बड़ा भयानक चित्र खींचा, उसके मन्त्री हार्डनबर्ग की संविधान-योजना को रद्द करवा दिया और उसे अपनी नीति का समर्थक बना लिया। उसने मुख्य-मुख्य राज्यों के मंत्रियों को कार्ल्सबाद नगर में आमन्त्रित किया और उनका सहयोग प्राप्त करके कुछ आदेश (Karlsbad Decrees) जारी किये (१८१९)। इन आदेशों को स्वीकार करने के लिये फ्रेङ्कफुर्ट में परिसंघ की विधायिका का अधिवेशन आमन्त्रित किया गया जिसमें मेटरनिख ने विरोध की परवाह न करते हुए असांविधानिक ढंग से उन आदेशों को स्वीकार करा लिया।† विद्यार्थियों की सभाएँ तथा खेलकूद की संस्थाएँ बन्द कर दी गईं और राजनीतिक सभाओं की मनाही कर दी गई; विश्व-विद्यालयों पर सरकारी नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया और सब जगह अध्यापकों तथा विद्यार्थियों पर कड़ी निगाह रखने के लिये सरकारी कर्मचारी (Curators) नियुक्त किये गये; समाचार-पत्रों पर अत्यन्त कठोर निन्यत्रण की व्यवस्था की गई और समस्त जर्मनी में जो (उसके विचार में) महान् गुप्त षड्यन्त्र रचा जा रहा था, उसका पता लगाने के लिये मेन्स (Mainz) में एक केन्द्रीय कमीशन स्थापित किया गया।

उदारवाद के विरुद्ध जिहाद—यह व्यवस्था अत्यन्त असाधारण तथा प्रति-क्रियावादी थी परन्तु मेटरनिख को इससे सन्तोष नहीं हुआ। उसने जून १८२० में वियना में संघीय विधायिका (Federal Diet) का अधिवेशन किया जिसमें एक संघीय क़ानून स्वीकार किया गया। यह घोषित किया गया कि चारों स्वतन्त्र नगरों को छोड़ कर प्रत्येक राज्य में सर्वोच्च सत्ता केवल राजा में निहित रहेगी और वह

* Gottschalk and Lach : Europe and the Modern World, Vol. I, p. 860.

† Hazen : Modern European History, p. 262.

कहीं भी संविधान द्वारा निश्चित कुछ कामों को छोड़ कर अन्य किसी काम में विभिन्न वर्गों (Estates) का सहयोग प्राप्त करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकेगा; यदि कोई राजा अपनी विद्रोही प्रजा के विरुद्ध सहायता की प्रार्थना करेगा या अपने अधिकारों का प्रयोग करने में असमर्थ होगा तो वहाँ सार्वजनिक व्यवस्था एवं सुरक्षा क़ायम रखना संघीय विधायिका का कर्तव्य होगा।*

मेटरनिख़ की विजय—इस प्रकार मेटरनिख़ की नीति सफल हुई और जर्मनी में प्रतिक्रिया का राज्य स्थापित हो गया। कार्ल्सबाद के आदेशों ने ऑस्ट्रिया के प्रभाव को जर्मनी में चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया।† मेटरनिख़ ने जर्मन राज्यों के शिथिल परिसंघ को एक सुदृढ़ संघीय राज्य बना दिया जिसमें संघीय विधायिका के हाथों में प्राचीन साम्राज्य के समय से अधिक शक्ति थी। इस संघ में ऑस्ट्रिया का सम्राट् सर्वोच्च था और वह एक प्रकार से जर्मनी का सम्राट् था।‡ यह सत्य है कि इस नवीन व्यवस्था के कारण ऑस्ट्रिया के सम्राट् के हाथों में जर्मनी में हस्तक्षेप करने और राष्ट्रीयता की भावना को दबाने के लिये क़ाफी शक्ति आ गई परन्तु छोटे-छोटे राज्य इस स्थिति से असन्तुष्ट थे और ऑस्ट्रिया को उनके विरोध का सामना भी करना पड़ा। फिर भी अगले ३० वर्ष तक जर्मनी में ऑस्ट्रिया का काफी प्रभाव बना रहा और उसके कन्धों पर 'निरंकुशता का जुआ' रखा रहा।** कार्ल्सबाद के आदेशों के महत्व की चर्चा करते हुए मेटरनिख़ ने स्वयं कहा था कि इन आदेशों के साथ मुक्ति के एक नये युग का आरम्भ हुआ है। जिस मुक्ति का वह स्वप्न देख रहा था वह जर्मनी के राजाओं के लिये हो सकती थी, जर्मन जनता के लिये तो वे आदेश सुदृढ़ बेड़ियों के समान थे जिनसे वह बड़ी कठिनाई से एक पीढ़ी बाद मुक्ति पा सकी।

स्पेन

घोर प्रतिक्रियावादी फ़र्डिनेण्ड—प्रतिक्रिया का सब जगह से अधिक उग्र रूप स्पेन में था। स्पेन के राजा सप्तम फ़र्डिनेण्ड को नेपोलियन ने क़ैद कर लिया था। उसके

---

* Fyffe : History of Modern Europe, pp. 476-477.

† Hazen : Europe since 1815, p. 33.

कार्ल्सबाद का यह सम्मेलन मध्य-योरोप के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण है। इससे ऑस्ट्रिया के साथ-साथ जर्मनी में भी मेटरनिख़ के प्राधान्य का प्रमाण मिलता है। इसकी सबसे मुख्य बात है ऑस्ट्रिया के समक्ष प्रशा का आत्मसमर्पण। १८१६ तक यह आशा की जा सकती थी कि शायद प्रशा जर्मनी के मुक्ति-आन्दोलन का नेतृत्व करेगा, परन्तु अब वह आशा लुप्त हो गई; अब प्रशा घोर प्रतिक्रियावादी हो गया।

‡ Phillips : Modern Europe, p. 74.

** Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 48.

पतन के बाद १८१५ में वह पुनः सिंहासनारूढ़ हुआ, उसकी अनुपस्थिति में जिन दिनों नेपोलियन के विरुद्ध युद्ध चल रहा था, स्पेनिश जनता ने फ्रांस के १७६१ के संविधान का अनुसरण करके एक जनमतात्मक संविधान बनाया था (१८१२), जिसमें जनता की प्रभुता की घोषणा की गई थी, विधायिका की सत्ता सर्वोच्च स्वीकार की गई थी, विधायिका तथा कार्यपालिका सत्ताएँ पृथक् रखी गई थीं और कार्यपालिका की सत्ता नगण्य कर दी गई थी। इस संविधान में कई त्रुटियाँ थीं और वह कार्यान्वित भी नहीं हो सका परन्तु वह समस्त दक्षिणी योरोप के लिये आदर्श बन गया, आधी शताब्दी तक जनता की स्वतन्त्रता का अधिकार-पत्र बना रहा और सांविधानिक प्रयत्नों के लिये प्रेरणा का स्रोत बना रहा।* अपूर्ण होते हुए भी यह संविधान एक बुद्धिमान् और साहसी राजा के हाथों में सांविधानिक शासन का अच्छा साधन बन सकता था परन्तु फर्डिनेण्ड न बुद्धिमान् था, न साहसी। स्पेन वापस लौटने पर उसने बड़ी अनिच्छा से इस संविधान को स्वीकार किया परन्तु अपनी लोकप्रियता से लाभ उठा कर उसने शीघ्र ही उसे नष्ट कर दिया। विधायिका सभा (Cortes) बरखास्त कर दी गई, वैयक्तिक स्वतन्त्रता छीन ली गई, कुलीनों एवं पादरियों को उनके विशेषाधिकार पुनः प्रदान कर दिये गये, चर्च की सम्पत्ति उसे वापिस मिल गई, जेसुइट लोग (जो कट्टर कैथोलिक थे) वापिस बुला लिये गये, दमनकारी धार्मिक न्यायालय (Inquisition) की पुनः स्थापना की गई, समाचार-पत्रों का मुँह बन्द कर दिया गया, उदारवादियों एवं नेपोलियन के समर्थकों का घोर दमन होने लगा और सारे देश में घोर प्रतिक्रियावादी शासन आरम्भ हो गया।

विद्रोह—फर्डिनेण्ड ने इस प्रकार जनता के अधिकारों को ठुकरा कर निरंकुश शासन तो शुरू किया परन्तु उनका शासन अत्यन्त निर्बल, निकम्मा एवं अत्याचारी था। इससे जनता में बड़ा असन्तोष फैला। अमेरिका में स्थित स्पेन के उपनिवेश कई वर्षों से विद्रोही हो रहे थे किन्तु वह उसके विद्रोह का दमन नहीं कर सका। यह स्थिति ६ वर्षों तक चलती रही परन्तु अन्त में विद्रोह की आग भड़क उठी। सेना भी असन्तुष्ट थी और षड्यन्त्रों का अड्डा बनी हुई थी। विद्रोह का नेतृत्व उसी ने किया और १८३० में केडिज में उसने विद्रोह कर दिया। राजा को दबना पड़ा और १८२२ के संविधान को पुनः प्रतिष्ठित करना पड़ा।

पुर्तगाल

पुनःस्थापन और विद्रोह—जब नेपोलियन ने १८०७ में पुर्तगाल पर आक्रमण किया था तो वहाँ का राजा चतुर्थ जॉन अपने परिवार सहित ब्राजील चला गया था। उसकी अनुपस्थिति में पुर्तगाल का शासन अंग्रेजी सेना के सेनापति की देख-रेख में चतुर्थ

* Ketelbey : A History of Modern Times, p. 164.

जॉन के नाम पर होता रहा। नेपोलियन के पतन के बाद जॉन वापस पुर्तगाल नहीं आया वरन् समस्त पुर्तगीज़ साम्राज्य की एकता घोषित करके और अंग्रेजी सेना के सेनापति बेरेसफ़ोर्ड को अपना राज-प्रतिनिधि नियुक्त करके उसके द्वारा ब्राज़ील से ही शासन करता रहा। इस प्रकार पुर्तगाल की स्थिति बदल गई, अब वह ब्राज़ील के अधीन हो गया। जॉन को पुर्तगाल बुलाने के प्रयत्न किये गये परन्तु वह वापस आने के लिये तैयार नहीं हुआ। बेरेसफ़ोर्ड का शासन जनता को विदेशी शासन मालूम होता था और बहुत अखरता था। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता में विद्रोह की भावना बढ़ने लगी; जगह-जगह षड्यन्त्र होने लगे और षड्यन्त्रकारियों का बड़ी कठोरता से दमन किया जाने लगा। निदान स्पेन के विद्रोह से प्रेरित होकर पुर्तगाल ने भी विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। सितम्बर १८२० ई० में लिस्बन की सेना ने विद्रोह कर दिया; उसने राजप्रतिनिधि को पदच्युत कर दिया और स्पेन के संविधान के अनुसार जनसत्तात्मक संविधान का निर्माण करने के लिये एक अस्थायी सरकार स्थापित की।

इटली

पुनः स्थापन—जर्मनी की भाँति इटली में भी वियना-कांग्रेस ने राष्ट्रीयता एवं एकता की जनकामना की अवहेलना करके विभिन्न पुराने राज्यों का पुनरुद्धार किया था। पुनरुद्धार के बाद शीघ्र ही सर्वत्र प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई। सार्डिनिया तथा पायडमॉण्ट के राजा प्रथम विक्टर इमेन्युएल ने नेपोलियन के समय के प्रायः समस्त सुधारों का अन्त कर दिया, कुलीनों को उनके विशेषाधिकार फिर से प्राप्त हो गये, पादरियों को उनकी सत्ता तथा चर्च की भूमि पुनः दे दी गई, चर्च के न्यायालय फिर से क़ायम कर दिये गये और धार्मिक स्वतन्त्रता छीन ली गई, पुराने कर्मचारियों को फिर से उनके पुराने पदों पर नियुक्त किया गया, समाचार-पत्रों पर कड़ी निगाह रखी जाने लगी और उदार विचारों का सब प्रकार से दमन किया जाने लगा। लोम्बार्डी तथा वेनीशिया में ऑस्ट्रिया का अत्यन्त कठोर शासन प्रारम्भ हो गया। पारमा, मोडीना तथा टुस्कनी के शासक पूर्णतया ऑस्ट्रिया के प्रभाव में थे और मेटरनिख की नीति का पालन करते थे। पोप ने भी अपने राज्यों में नेपोलियन के समय के सुधारों का अन्त करके पुरानी व्यवस्था बदस्तूर क़ायम कर दी। दक्षिणी इटली में नेपिल्स (दो सिसलियों) के राज्य में भी यही हाल हुआ। बूर्बोवंशीय राजा प्रथम फ़र्डिनेण्ड ने म्युरा (Murat) के समय के कुछ क़ानून एवं संस्थाओं को तो क़ायम रखा परन्तु अन्य बातों में वह पुराने ढंग पर आ गया; उसने पादरियों को उनकी सत्ता पुनः प्रदान कर दी, समाचार-पत्रों पर कड़े नियन्त्रण लगा दिये, पुलिस की बड़ी कठोर व्यवस्था की और उदार विचारों का दमन आरम्भ किया। उसने सिसिली के स्वतन्त्र संविधान को भी नष्ट कर उसे नेपिल्स का एक प्रान्त बना दिया।

विरोध—कार्बोनारी—इटली के नवयुवकों को, जो नेपोलियन के समय में राष्ट्रीय एकता की अनुभूति कर चुके थे, यह स्थिति असह्य थी। उनमें असन्तोष बढ़ने लगा और जगह-जगह गुप्त समितियाँ बनने लगीं। इन समितियों में कार्बोनारी (Carbonari) समिति मुख्य थी जो नेपिल्स में म्यूरा के शासन काल में विदेशियों से देश को मुक्त करने तथा सांविधानिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उद्देश्य से बन चुकी थी।* यह संस्था शीघ्र ही बड़ी शक्तिशाली हो गई और उसमें सब प्रकार के लोग—कुलीन, सेना के अफ़सर, पादरी, कृषक किन्तु विशेषकर मध्यम वर्ग के लोग, जो देशभक्ति एवं उदार विचारों से अनुप्राणित थे—शामिल होने लगे। इन गुप्त समितियों के प्रयत्नों के फल-स्वरूप इटली में एक क्रान्तिकारी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जिसकी प्रथम अभिव्यक्ति सन् १८२० में नेपिल्स में हुई जहाँ स्पेन के विद्रोह से प्रेरित होकर सेना ने विद्रोह कर दिया और स्पेन के सन् १८१२ के संविधान को नेपिल्स में लागू करने की मांग की। फ़र्डिनेण्ड दब गया; उसने नये संविधान की घोषणा की और उसे स्वीकार करने की शपथ खाई।

इस प्रकार नेपोलियन की पराजय के पाँच वर्ष बाद ही विद्रोह ने फिर सिर उठाया और विजयी हुआ। स्पेन और पुर्तगाल तथा नेपिल्स में जनता ने दैवी अधिकार पर आधारित एकतन्त्र को जनता के प्रभुत्व पर आधारित सांविधानिक एकतन्त्र में परिणत कर दिया और निरंकुश शासन का अन्त कर दिया। वियना के राजनीतिज्ञों ने क्रान्तिजनित विचारों एवं भावनाओं को निर्मूल करने का जो स्वप्न देखा था वह उनकी समस्त आशाओं के विपरीत इतना शीघ्र भंग हो गया। यह सत्य था कि ऑस्ट्रिया, जर्मनी तथा फ्रान्स में वे नवीन भावनाओं का दमन करने में सफल हुए थे परन्तु इन प्रदेशों की गतिविधि को देखकर वे चिन्तित हुए और विद्रोह के दबाने के लिये उन्होंने शीघ्र ही क़दम भी उठाया।

---

* Ketelbey: A History of Modern Times, p. 168. इस प्रकार की गुप्त षडयन्त्रकारी समितियाँ अनेक देशों में स्थापित हो गई थीं। जब क्रान्तियों के दमन में कई राजा सहयोग करने लगे तो विभिन्न देशों के गुप्त क्रान्तिकारियों ने भी परस्पर सम्पर्क स्थापित करके कार्य करना आरम्भ किया। "The Cousinhood of Kings fostered the brotherhood of rebels." Thomson : Europe since Napoleon, p. 120.

अध्याय १७

शान्ति के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

चतुर्मुख संघ का मुख्य उद्देश्य योरोप में शान्ति क़ायम रखना था। प्रारम्भ में शान्ति को ख़तरा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्दिता तथा कुछ विशिष्ट राष्ट्रों की उच्चाकांक्षाओं से माना जाता था। ग्रेट ब्रिटेन फ़्रान्स की ओर से सशंक था और उसे भय था कि कहीं फ़्रान्स फिर से शान्ति-भंग न करें। मेटरनिख को ज़ार एलेक्ज़ेण्डर के विचारों और उच्च आकांक्षाओं की ओर से बड़ी शंका थी; उसके पास पोलैण्ड में एक अच्छी सेना भी थी। ऐसी अवस्था में मेटरनिख़ और ग्रेट ब्रिटेन के विदेश मन्त्री केस्लरी दोनों अन्तर्राष्ट्रीय ग़लतफ़हमियों को दूर करने तथा योरोप के महान् राज्यों को मिलकर कार्य करने की आदत डालने के लिये परस्पर सहयोग करते रहे।*

ए-ला-शेपल की कांग्रेस—जर्मनी तथा योरोप में विभिन्न स्थानों में उदारवादी चेष्टाओं की वृद्धि देखकर मेटरनिख चिन्तित हो रहा था। उसने १८१८ में ए-ला-शेपल नामक स्थान पर चतुर्मुख संघ की पहली कांग्रेस अमन्त्रित की। उदारवादी आन्दोलनों के दमन के अतिरिक्त उसके सामने फ़्रान्स का प्रश्न भी आया। फ़्रान्स युद्ध का हर्ज़ाना दे चुका था और उसकी आन्तरिक गतिविधि सन्तोषजनक थी। यह देख कर कांग्रेस ने फ़्रान्स में विजयी राष्ट्रों की जो सेना थी उसे हटा लेने का निर्णय किया और फ़्रान्स को चतुर्मुख संघ अथवा योरोपीय संघ (Concert of Europe) में समानता के आधार पर सम्मिलित कर लिया और चतुर्मुख संघ अब पंचमुख संघ (Pentarchy) बन गया। यद्यपि इस सम्मेलन में सहयोग की भावना का पूर्ण प्रदर्शन रहा, तथापि उसमें विभिन्न राज्यों के विरोधी हितों एवं उनकी पारस्परिक ईर्ष्या के चिह्न प्रकट होने से न रुके। चतुर्मुख संघ के राज्यों को फ़्रान्स की ओर से अब भी शंका थी, उन्होंने उसको योरोपीय संघ में सम्मिलित तो कर लिया परन्तु चतुर्मुख संघ को पूर्ववत् क़ायम रखा।† इसके साथ ही एलेक्ज़ेण्डर ने क्रान्ति के

---

* Hayes : Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. I, p. 732.

† Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 140.

विरुद्ध समस्त राजाओं के सहयोग का प्रस्ताव किया* और दक्षिणी अमेरिका में स्थित स्पेनिश उपनिवेशों को जो कुछ वर्षों से विद्रोही हो रहे थे, दबाने के लिये स्पेन के राजा को सैनिक सहायता देने की भी माँग की। इस प्रश्न पर तीव्र मतभेद खड़ा हो गया; केस्लरी का मत था कि इंगलैंड केवल वियना-कांग्रेस द्वारा स्थापित व्यवस्था को २० वर्षों तक क़ायम रखने के लिये बाध्य है किन्तु दूसरे देशों में आन्तरिक विद्रोहों का दमन करने में सहयोग करने के लिये बाध्य नहीं है। मेटरनिख़ का मत इससे भिन्न था; उसका कथन था कि ऐसी स्थिति को रोकने के लिये जिससे योरोप की शान्ति को ख़तरा पहुँचने की आशंका हो, दूसरे देशों में हस्तक्षेप करना संघ का कर्तव्य है। इस प्रकार कांग्रेस में दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के संघर्ष का श्रीगणेश हो गया—एक ओर था हस्तक्षेप का विरोधी उदारवादी सिद्धान्त और दूसरी ओर हस्तक्षेप करने का प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त। इस प्रश्न पर कांग्रेस ने कोई निर्णय नहीं किया परन्तु मेटरनिख़ को इसमें रूस तथा प्रशा का समर्थन प्राप्त हो गया और अन्त में प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त की ही विजय हुई।† केस्लरी क्रान्ति या उदारवाद का भक्त नहीं था; उसका दृष्टिकोण यथार्थवादी था; वह समझता था कि समस्त योरोप में क्रान्ति की भावना का दमन करना न केवल संघ के लिये असम्भव था वरन् इंगलैण्ड के हित के विरुद्ध भी था।‡ कुछ भी हो, केस्लरी ने इस विरोध के द्वारा योरोपीय संघ के विनाश का बीज बो दिया।

ट्रोपो-कांग्रेस—ट्रोपो की घोषणा—ए-ला-शेपल की कांग्रेस के बाद दक्षिणी योरोप में कई जगह प्रतिक्रिया का विरोध होने लगा। हम देख चुके हैं कि सन् १८२० में स्पेन, पुर्तगाल तथा इटली में विद्रोह हुए जिसे देखकर संघ की प्रतिक्रियावादी

* एलेक्ज़ेण्डर उस समय तक अपने समय का सबसे आगे बढ़ा हुआ अन्तर्राष्ट्रीयतावादी था। उसने एक स्थायी योरोपीय संघ का सुझाव प्रस्तुत किया और बलपूर्वक किये जानेवाले परिवर्तनों से सर्वमान्य राज्यों की रक्षा के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना के निर्माण का भी प्रस्ताव किया। उसका विचार था कि यदि विभिन्न राज्यों के शासनों को क्रान्ति के विरुद्ध आश्वासन प्राप्त हो जाय तो वे स्वयं अपनी ओर से सांविधानिक एवं उदारवादी सुधार करने के लिये तैयार हो जायेंगे। Palmer : A History of the Modern World, p. 448.

† Muir : A Short History of the British Commonwealth, Vol II, pp. 307-303.

‡ Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. I, p. 732. केस्लरी इटली में ऑस्ट्रिया के शासन तथा ग्रीस में टर्की के शासन का पक्षपाती था। जब ऑस्ट्रिया के सम्राट् ने नेपिल्स के राजा चतुर्थ फ़र्डिनेण्ड से एक गुप्त सन्धि की जिसके द्वारा फ़र्डिनेण्ड को अपने राज्य में निरंकुश शासन-व्यवस्था क़ायम रखने का वचन देना पड़ा तो उसने उसका अनुमोदन भी किया था। Trevelyan : British History in the 19th Century and After, p. 206.

सत्ताएँ चिन्तित हो उठीं। प्रारम्भ में जब स्पेन में विद्रोह हुआ तो एलेक्जेण्डर ने कांग्रेस का अधिवेशन कर स्पेन में विद्रोह-दमन के लिये एक रूसी सेना भेजने का प्रस्ताव किया, परन्तु न तो फ्रान्स और न ऑस्ट्रिया ही रूस की शक्ति का प्रदर्शन देखना चाहते थे और मेटरनिख ने हस्तक्षेप करने की आवश्यकता न समझकर बात टाल दी।* किन्तु जब नेपिल्स में भी विद्रोह हो गया और उसे इटली में ऑस्ट्रिया के प्रभुत्व के लिये खतरा नजर आया तो उसने पंचमुख संघ की दूसरी कांग्रेस ट्रोपो (Troppau) में आमन्त्रित की (१८२०), जिसके सामने क्रान्तिकारी आन्दोलनों एवं बढ़ते हुए उदारवाद के दमन का प्रश्न रखा गया।† कांग्रेस ने मेटरनिख के प्रस्ताव पर एक नवीन सिद्धान्त की घोषणा की—"जिन राज्यों में क्रान्ति के परिणामस्वरूप शासन में ऐसा परिवर्तन हो गया है जिसके परिणामों से अन्य राज्यों को खतरा है, वे योरोपीय संघ के सदस्य नहीं रहे हैं और वे तब तक उससे बाहर रहेंगे जब तक उनकी स्थिति से व्यवस्था तथा स्थिरता की गारण्टी प्राप्त नहीं होती। यदि इन परिवर्तनों के कारण दूसरे राज्यों को कोई तात्कालिक खतरा हुआ तो सम्मिलित राष्ट्रों का कर्तव्य होगा कि वे शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा या आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र द्वारा अपराधी राज्य को इस महान् संघ में वापस ले आयें।" ऑस्ट्रिया, प्रशा तथा रूस ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया परन्तु केसलरी ने उसका तीव्र विरोध किया। उसने इंगलैण्ड की नीति का पुनः स्पष्टीकरण किया और कहा कि इङ्गलैण्ड का तत्कालीन राजवंश तथा संविधान विद्रोह का ही परिणाम था और ऐसी दशा में इङ्गलैण्ड किसी भी देश के आन्तरिक विद्रोहों में हस्तक्षेप करने की नीति का समर्थन नहीं कर सकता। प्रत्येक देश की जनता को अपने शासन में परिवर्तन करने का अधिकार है। वियना-कांग्रेस द्वारा स्थापित व्यवस्था की रक्षा के लिये इङ्गलैण्ड वचनबद्ध है। यदि कोई सबल राष्ट्र किसी निर्बल राष्ट्र पर विजय की दृष्टि से आक्रमण करेगा तो इङ्गलैण्ड तत्काल हस्तक्षेप करेगा किन्तु किसी भी देश के आन्तरिक मामलों से उसे कोई सरोकार नहीं होगा।‡

---

* Cambridge : Modern History, Vol. X, pp. 23-24

† इस कांग्रेस में केसलरी शामिल नहीं हुआ। वह मेटरनिख के विचार जानता था। वह इस बात को स्वीकार करने के लिये तैयार था कि यदि नेपिल्स के विद्रोह से ऑस्ट्रिया की सुरक्षा को खतरा हो तो वह अपने ही दायित्व पर जो उचित समझे करे। इसमें उसे कोई आपत्ति नहीं थी परन्तु वह ऐसे काम में अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस के निर्णयों में भाग लेकर उन्हें इङ्गलैण्ड की स्वीकृति प्रदान करना नहीं चाहता था। अतः वह स्वयं कांग्रेस में शामिल नहीं हुआ; उसने केवल अपने भाई लॉर्ड स्वीवार्ट को भेज दिया जो केवल दर्शक की भाँति कांग्रेस में शामिल हुआ। Phillips : Modern Europe, pp. 95-96

‡ Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 151.

लाईबेख-कांग्रेस—नेपिल्स का दमन—इस घोषणा के बाद कांग्रेस कुछ समय के लिये स्थगित हो गई और अगले वर्ष (१८२१) उसका अधिवेशन लाईबेख (Laibach) में हुआ जिसमें फर्डिनेण्ड भी बुलाया गया। उसकी बात सुनने के बाद कांग्रेस ने ऑस्ट्रिया को नेपिल्स के विद्रोह का दमन करने तथा फर्डिनेण्ड को पुनः सिंहासन पर बिठलाने का कार्य सौंपा। ऑस्ट्रिया ने ८०,००० सैनिक भेज कर नेपिल्स के विद्रोह को बड़ी निर्दयता के साथ दबा दिया और फर्डिनेण्ड को पुनः सिंहासन पर आसीन कर दिया, जिसने सैकड़ों व्यक्तियों को कारागार में डाल कर, देश से निर्वासित कर या मृत्यु-दण्ड देकर अत्यन्त निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी शासन आरम्भ करके अपनी प्रतिशोध की भावना को सन्तुष्ट किया।

पायडमॉण्ट का दमन—इसी बीच में पायडमॉण्ट में भी विद्रोह हो गया था। वहाँ भी विद्रोहियों ने स्पेन के १८१२ के संविधान की और साथ ही इटली तथा पायडमॉण्ट के घोर शत्रु ऑस्ट्रिया से युद्ध छेड़ने की माँग की थी। प्रथम विक्टर इमेन्युएल ने इन माँगों को स्वीकार करने के स्थान पर राज्य त्याग दिया (मार्च, १८२१)। उसकी जगह उसका भाई चार्ल्स फेलिक्स राजा बना जो स्वभाव से ही निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी था। ऑस्ट्रिया ने उसे भी सहायता दी; विद्रोही नोवारा नामक स्थान पर परास्त हुए और विद्रोह दब गया। मेटरनिख की नीति सफल हुई और समस्त इटली उसके प्रभाव में आ गया। परन्तु इसके साथ ही संघ में निर्बलता आ गई; प्रतिक्रियावादी तथा उदारवादी दलों के बीच की खाई अधिक चौड़ी हो गई और उसका विनाश निश्चित हो गया।

वेरोना कांग्रेस—तीसरी कांग्रेस वेरोना में हुई (१८२२) जहाँ संघ के विभिन्न सदस्यों के सहयोग की कृत्रिमता तथा निराधारता पूर्ण रूप से प्रकट हो गई। इसी बीच में ग्रीस में टर्की के विरुद्ध विद्रोह हो गया था। ज़ार एलेक्ज़ण्डर बाल्कन प्रायद्वीप के प्रश्न को उसी प्रकार रूसी राजनीति का अंग समझता था जिस प्रकार मेटरनिख इटली के प्रश्नों को ऑस्ट्रिया की राजनीति का अंग समझता था। एलेक्ज़ेण्डर अकेले ही स्वतन्त्र रूप से टर्की के मामलों में हस्तक्षेप करना चाहता था परन्तु मेटरनिख ने इसका विरोध किया। इंगलैण्ड ने भी उसका साथ दिया। मेटरनिख की विजय हुई; उसने न केवल रूस के हस्तक्षेप को रोक दिया वरन् वेरोना-कांग्रेस में ग्रीस के प्रश्न पर विचार तक नहीं होने दिया।

कैनिंग की घोषणा—वेरोना-कांग्रेस में मुख्य विचार स्पेन के विद्रोह के प्रश्न पर हुआ। सप्तम फर्डिनेण्ड बूर्बों वंश का था। उसने फ़ान्स के बूर्बों राजा अठारहवें लुई से सहायता की प्रार्थना की। इन दिनों फ़ान्स में राजसत्तावादियों का प्राधान्य था और फ़ान्स भी स्पेन में उसी प्रकार हस्तक्षेप करना चाहता था जिस प्रकार ऑस्ट्रिया ने इटली में किया था। इङ्गलैण्ड स्पेन में किसी प्रकार के भी हस्तक्षेप का विरोधी था।

केस्लरी की अगस्त १८२२ में मृत्यु हो चुकी थी और अब उसके स्थान पर कैनिङ्ग विदेश मन्त्री था। सिद्धान्त में केस्लरी और कैनिङ्ग में कोई अन्तर नहीं था परन्तु उस सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के ढंग में बड़ा अन्तर था। उसने अपने प्रतिनिधि वेलिंग्टन के द्वारा कांग्रेस को स्पष्ट कह दिया कि "यद्यपि इङ्गलैण्ड क्रान्ति का मित्र नहीं है तो भी वह बड़े आग्रह के साथ अनुरोध करता है कि प्रत्येक राष्ट्र को जैसा शासन वह अपने लिये चाहे वैसा स्थापित करने का अधिकार होना चाहिये और जब तक कि वह दूसरे राष्ट्रों के कामों में हस्तक्षेप नहीं करता, तब तक उसके मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये।"* संघ के अन्य राज्य भी नहीं चाहते थे कि फ़ान्स अकेला स्पेन की सहायता करे। उन्होंने स्पेन की सरकार को संविधान में परिवर्तन कराने तथा राजा को अधिक स्वतन्त्रता दिलाने के लिये सबकी ओर से एक पत्र भेजने का निर्णय किया। इस पर इङ्गलैण्ड उपर्युक्त स्पष्टीकरण के साथ सम्मेलन से अलग हो गया। कांग्रेस का विचार यह था कि यदि स्पेन की सरकार का उत्तर सन्तोषजनक न हुआ तो अन्य राज्यों से अधिकार प्राप्त कर फ़ान्स अवश्य कार्यवाही करेगा। स्पेन की सरकार ने कांग्रेस का आदेश ठुकरा दिया और फ़ान्स को अपनी अभिलाषा पूरी करने का मौक़ा मिल गया।

स्पेन का दमन—फ़ान्स पहले से ही तैयार बैठा था। उन दिनों स्पेन में पीला ज्वर संक्रामक रूप में फैल रहा था और उस रोग को फ़ान्स से दूर रखने के लिये स्पेन की सीमा पर उसने अपनी सेना नियुक्त कर रखी थी। अप्रैल १८२३ में १,००,००० फ़्रेञ्च सेना स्पेन में घुस गई। स्पेन की ओर से बड़ा निर्बल मुक़ाबला हुआ और फ़्रेञ्च सेना विजयी हुई। सप्तम फ़र्डिनेण्ड के हाथों में फिर से सत्ता आ गई; उसने १८२० में जितने परिवर्तन हुए थे उन सबको रद्द कर दिया और क्रान्तिकारी नेताओं को भयङ्कर दण्ड दिया गया। फ़्रेञ्च सेना उसके समर्थन के लिये १८२७ तक स्पेन में बनी रही।

इस प्रकार प्रतिक्रियावादी योरोपीय संघ की नीति सफल हुई और उदारवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया विजयी हुई। परन्तु स्पेन की विजय संघ की अन्तिम महत्वपूर्ण विजय थी। इङ्गलैण्ड के अलग हो जाने से उसको काफ़ी क्षति पहुँची थी। अब उसको लगातार रुकावटों का सामना करना था जिनके द्वारा उसके अन्त की तैयारी होनी थी।

स्पेनिश उपनिवेशों का विद्रोह—फ़र्डिनेण्ड ने स्पेन में अपनी निरंकुश सत्ता प्राप्त करने के बाद संघ से अपने उपनिवेशों के दमन में सहायता माँगी। दक्षिणी अमे-

---

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 142, कैनिङ्ग पर लोकमत का अधिक प्रभाव था। उसकी नीति को केस्लरी की नीति का अनुसरण-मात्र मानना ठीक नहीं होगा। जो कुछ कैनिङ्ग ने किया वह केस्लरी कभी नहीं करता। Trevelyan : British History in the 19th Century and After, p. 207.

रिका में स्थित स्पेन के उपनिवेश १८०८ में, जब नेपोलियन ने फर्डिनेण्ड को हटा कर अपने भाई जोज़ेफ को सिंहासन पर बिठला दिया था, विद्रोही हो गये थे और उन्होंने स्पेन के कठोर आर्थिक नियन्त्रणों से मुक्ति पा ली थी। जब १८१४ में फर्डिनेण्ड ने फिर पुराने नियन्त्रण लगाने का प्रयत्न किया तो वे फिर बिगड़ कर विद्रोही हो गये थे। इस बीच में इङ्गलैण्ड ने इन उपनिवेशों के साथ व्यापार-सम्बन्ध स्थापित कर लिया था जिससे उसे बड़ा लाभ था। कैनिङ्ग को भय था कि यदि स्पेन ने उन उपनिवेशों पर फिर से अधिकार कर लिया तो इंगलैण्ड को बड़ी क्षति पहुँचेगी और इस कारण वह स्पेन के उनका दमन करने के प्रयत्नों को रोकना चाहता था।*

मॉनरो-सिद्धान्त—स्पेन के उपनिवेशों की स्वतन्त्रता अमेरिका का संयुक्त राज्य भी चाहता था। उसका उनसे कोई व्यापार-सम्बन्ध तो नहीं था परन्तु चूँकि वे उसी के समान स्वतन्त्र होने का प्रयत्न कर रहे थे, इसीलिये उसे उनसे स्वाभाविक सहानुभूति थी; इसके अतिरिक्त उसे अपनी सुरक्षा की भी चिन्ता थी। अतः १८२२ में उसने स्पेन के अमेरिका में स्थित समस्त उपनिवेशों की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। कैनिङ्ग यह देख कर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसे यह सन्देह था कि फ्रान्स स्पेन को सहायता देने के पुरस्कार-स्वरूप उससे कुछ उपनिवेश प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है। उसने फ्रान्स को चेतावनी दी कि यदि स्पेन चाहे तो वह स्वयं अपनी शक्ति से अपने उपनिवेशों पर पुनः अधिकार जमा सकता है परन्तु इंगलैण्ड किसी अन्य राज्य को ऐसा कभी नहीं करने देगा। जब फर्डिनेण्ड ने स्पेनिश अमेरिका के प्रश्न पर विचार करने के लिये कांग्रेस आमन्त्रित की तो कैनिङ्ग ने उसमें इंगलैण्ड का कोई प्रतिनिधि नहीं भेजा। इतना ही नहीं, उसने मेक्सिको, कोलम्बिया तथा ब्यूनस आयर्स में अपने व्यापार की रक्षा करने के लिये अपने दूत नियुक्त कर दिये और इस प्रकार उनकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। उसने संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति मॉनरो (Monroe) को भी योरोपीय राज्यों को अमेरिका से दूर रखने के लिये घोषणा करने के लिये कहा। मॉनरो ने दिसम्बर १८२३ में घोषणा की कि अमेरिका में स्पेन के जिन उपनिवेशों ने स्वतन्त्रता ग्रहण करली है उनको दबाने का प्रयत्न यदि योराप के बड़े राष्ट्र करेंगे तो वह संयुक्त राज्य की शान्ति एवं सुरक्षा के लिये एक खतरा होगा और संयुक्त राज्य ऐसे प्रयत्न को उनकी शत्रुतापूर्ण मनोवृत्ति का प्रमाण समझेगा।† सारांश में, इस प्रकार उसने पुरानी दुनिया को नई दुनिया के मामलों में हस्तक्षेप करने से रोक दिया। यह सिद्धान्त 'मॉनरो-सिद्धान्त' (Monroe Doctrine) कहलाता है। इंगलैण्ड तथा संयुक्त राज्य के इस प्रयत्न का परिणाम यह हुआ

---

* Schevill : A History of Europe, p. 456.

† Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 143.

कि अमेरिका में स्पेन का साम्राज्य धीरे-धीरे नष्ट हो गया और उसके स्थान पर १८३० तक मेक्सिको, ग्वाटेमाला, कोलम्बिया, पेरू, चिली, पेरेग्वे तथा ब्यूनस आयर्स (अर्जेण्टाइना) के स्वतन्त्र गणतन्त्र स्थापित हो गये। १ जनवरी १८२५ को कैनिङ्ग ने योरोपीय राज्यों को सूचना दी कि इङ्गलैण्ड ने अमेरिका में स्थित स्पेन के उपनिवेशों की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली है। संघ ने इसका विरोध तो किया किन्तु व्यर्थ। अपनी इस सफलता पर गर्व करते हुए कैनिङ्ग ने कहा कि "मैंने पुरानी दुनिया के सन्तुलन को ठीक करने के लिये नई दुनिया की सृष्टि कर दी है।"* किन्तु नई दुनिया की सृष्टि का श्रेय कैनिङ्ग को नहीं दिया जा सकता। उसने यह सृष्टि नहीं की; उसने स्पेन के उपनिवेशों को स्वतन्त्र होने में कोई सहायता भी नहीं दी, जैसे फ्रान्स ने इङ्गलैण्ड के अमेरिकन उपनिवेशों को दी थी; उसने उनके स्वतन्त्र हो जाने के बाद केवल उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा की घोषणा करने के अतिरिक्त कुछ नहीं किया।†

कांग्रेस-व्यवस्था के परिणाम—इस प्रकार इंगलैण्ड के विरोध एवं असहयोग से योरोपीय संघ नष्ट-प्राय हो गया। उस संघ के द्वारा मेटरनिख ने योरोप को अपने प्रतिक्रिया के शिकंजे में कसने का प्रयत्न किया था। उसके तात्कालिक परिणाम हुए—कांग्रेस-व्यवस्था (अथवा योरोपीय संघ) से इंगलैण्ड का सम्बन्ध-विच्छेद, अमेरिकन उपनिवेशों का स्पेन के विरुद्ध सफल विद्रोह तथा मॉनरो-सिद्धान्त की घोषणा। ट्रोपो-कांग्रेस के बाद के दस वर्षों में मेटरनिख के राष्ट्रीयता-विरोधी एवं उदारवाद-विरोधी उद्देश्यों की विफलता के और भी प्रमाण मिले। इन दस वर्षों में, जैसा हम आगे देखेंगे, ग्रीस ने टर्की से स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली और बेल्जियम ने हॉलैण्ड से अलग स्वतन्त्र राज्य बन कर वियना-व्यवस्था को पहली भीषण चोट पहुँचाई।‡

अन्तिम अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अन्तिम दिखावा १८२४ तथा १८२५ में हुआ, जब कि एलेक्जेण्डर ने टर्की तथा ग्रीस के प्रश्न (Eastern

---

* "I Called the New World into existence to redress the balance of the Old." कैनिंग का इस घोषणा से यह आशय था कि उसने स्पेनिश अमेरिका के प्रश्न पर पूर्वीय योरोपीय राज्यों के विरुद्ध अमेरिका का कूटनीतिक समर्थन प्राप्त कर लिया था। वास्तव में प्रेसिडेण्ट मॉनरो ने कैनिंग के इरादों को विफल कर दिया था। कैनिंग चाहता था कि यह घोषणा अमेरिका तथा इङ्गलैण्ड दोनों की सम्मिलित घोषणा हो, परन्तु मॉनरो ने ऐसा नहीं किया क्योंकि उसके विचार में अमेरिका के राज्यों की स्वतन्त्रता को अन्य योरोपीय राज्यों की अपेक्षा इङ्गलैण्ड से अधिक भय था जिसके पास प्रबल नाविक शक्ति थी। यह घोषणा उतनी ही इङ्गलैण्ड के लिये भी थी जितनी अन्य राज्यों के लिये। Palmer : A History of the Modern World, p, 452.

† Fyffe : History of Modern Europe, p. 532.

‡ Strong : Dynamic Europe, pp. 237-238.

Question) पर विचार करने के लिये सेंट पीटर्सबर्ग में दो सम्मेलन आमन्त्रित किये। नवम्बर १८२४ में जो सम्मेलन हुआ उसमें कैनिङ्ग शामिल नहीं हुआ। अन्य चारों राज्यों का सम्मेलन जनवरी १८२५ में हुआ परन्तु उसमें ऑस्ट्रिया तथा रूस के हितों के संघर्ष के कारण कुछ निर्णय न हो सका, उल्टे उन दोनों में वैमनस्य हो गया। एलेक्ज़ेण्डर ने भविष्य में तुर्की के सम्बन्ध में बिना मित्र-राज्यों से परामर्श किये हुए स्वयं रूस के गौरव तथा हितों के अनुकूल कार्यवाही करने का अपना निश्चय प्रकट किया। इस मतभेद एवं वैमनस्य के कारण सम्मेलन भंग हो गया और कांग्रेस-व्यवस्था वस्तुतः नष्ट हो गई।*

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अन्त—योरोपीय इतिहास में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति क़ायम रखने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का यह प्रथम प्रयास था। विभिन्न राजाओं के परस्पर मिलन तथा उनमें पारस्परिक विश्वास उत्पन्न करने का विचार बड़ा उत्तम था। जहाँ तक शान्ति क़ायम रखने का उद्देश्य था वहाँ तक यह संस्था बड़ी उपयोगी थी। परन्तु ऑस्ट्रिया, रूस तथा प्रशा के लिये शान्ति का अर्थ था जनता की उदारवादी एवं राष्ट्रीय आकांक्षाओं का दमन। ऐसी दशा में इङ्गलेण्ड, जहाँ शासन पर पार्लमेण्ट का अंकुश था, इस व्यवस्था में भाग नहीं ले सकता था। जब १८२० में इस कांग्रेस-व्यवस्था ने जनता की स्वतन्त्रता को कुचलने के लिये निरंकुश राजाओं के गुट का रूप धारण कर लिया तो इङ्गलैण्ड उसका विरोध करने लगा और फ़्रान्स का सहयोग भी कुछ-कुछ अनिच्छापूर्ण होने लगा। इससे कांग्रेस-व्यवस्था में निर्बलता आने लगी। राष्ट्रीय आकांक्षाओं के दमन के लिये सहयोगी राज्यों के हस्तक्षेप का जो विरोध इङ्गलेण्ड ने किया, वह केवल राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के दावे का समर्थन ही नहीं, अपितु योरोप के निरंकुश शासकों की तानाशाही अथवा, दूसरे शब्दों में, मेटरनिख की प्रतिक्रियावादी व्यवस्था का विरोध था। यह कहना सत्य नहीं होगा कि इङ्गलेण्ड को योरोपीय जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं से कोई विशेष सहानुभूति थी। उन दिनों वहाँ भी शासन कंज़रवेटिव दल के हाथों में था जो जनता की स्वतन्त्रता का दमन कर रहा था। इंगलैण्ड ने सामान्य योरोपीय नीति का आदर्श स्वीकार कर लिया हो यह बात भी संदिग्ध है।† वह चतुर्मुख संघ का सदस्य था जिसका आधार उसके लिये शामों की सन्धि थी जो केवल फ़्रान्स के विरुद्ध की गई थी, जिसका क्षेत्र सीमित था और जो केवल रक्षात्मक थी। उस सन्धि के दायित्वों से अधिक इंगलैण्ड को कुछ भी स्वीकार नहीं था। जब संघ शामों की सन्धि के सीमित क्षेत्र से बाहर जाने लगा तो वह विरोध करने लगा।

---

* Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 143.

† Ketelbey : A History of Modern Times, p. 155

कांग्रेस-व्यवस्था के पतन के कारण—किन्तु इस कांग्रेस-व्यवस्था के पतन का कारण इंगलैण्ड का असहयोग नहीं, उसमें सम्मिलित विभिन्न राज्यों के परस्पर विरोधी हितों का संघर्ष था। योरोप के अन्दर तो इंगलैण्ड के विरोध के होते हुए भी तीनों निरंकुश राज्य, जिनमें बाद में फ़्रान्स भी शामिल हो गया, राष्ट्रीय आन्दोलनों को कुचलते रहे, परन्तु जब टर्की के साम्राज्य का प्रश्न कांग्रेस के सामने आया और रूस तथा ऑस्ट्रिया के स्वार्थों का संघर्ष हुआ तो प्रतिक्रिया के इन दोनों स्तम्भों के बीच बड़ी कटुता उत्पन्न हो गई और योरोपीय संघ का निर्बल जहाज़ इसी चट्टान से टकरा कर छिन्न-भिन्न हो गया।*

यह सत्य है कि इसके बाद भी कई बार, जैसे बेल्जियम के मामले में, विभिन्न राज्यों के सम्मेलन हुए जिनमें महान् राज्यों ने नेतृत्व किया, परन्तु उनमें निरंकुशता के सिद्धान्तों को पुनर्जीवित करने या क्रान्ति को दूषित ठहराने अथवा उसका दमन करने या हस्तक्षेप करने की सामान्य नीति की घोषणा करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया, जैसा इस कांग्रेस-व्यवस्था में हुआ था।† उन सम्मेलनों में इंगलैण्ड तथा फ़्रान्स के प्रजातन्त्र निरंकुश राजतन्त्रों के साथ स्वतन्त्रता से भाग ले सकते थे। उसके परिणाम भी अच्छे हुए।

---

* Fyffe : History of Modern Europe, p. 538.

† Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 144.

अध्याय १८

पूर्वीय समस्या (Eastern Question)

राष्ट्रीयता की प्रथम विजय—ग्रीस की स्वतन्त्रता

बाल्कन प्रायद्वीप में तुर्क लोग—ऑस्ट्रिया तथा रूस में जिस बात को लेकर कटुता उत्पन्न हुई थी, जिसके कारण मेटरनिख की प्रतिक्रियावादी कांग्रेस-व्यवस्था भंग हो गई, वह थी ग्रीस का टर्की के विरुद्ध विद्रोह। तुर्क लोग एशियाई मुसलमान थे जिन्होंने चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दी में दक्षिण-पूर्वी योरोप विजय कर लिया था। सोलहवीं शताब्दी में इनका साम्राज्य पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था और उत्तर-पूर्व में काले सागर के उत्तर के प्रदेश तथा पश्चिमोत्तर में पवित्र रोमन साम्राज्य तक फैला हुआ था। योरोप के इस भाग में, जो बाल्कन प्रायद्वीप कहलाता है, अनेक प्रजातियों के लोग रहते थे—जैसे ग्रीक, रूमानियन, अल्बेनियन तथा महान् स्लाव प्रजाति के (जो अनेक शाखाओं—सर्वियन, बॉस्नियन, बल्गेरियन, मॉण्टीनेग्रिन आदि—में विभक्त थी) जो ईसाई थे और भाषा, रक्त आदि में तुर्कों से भिन्न थे। तुर्कों ने इन सब को विजय करके उन्हें तुच्छ समझ कर उन्हें आत्मसात् करने का कोई प्रयत्न नहीं किया और न उन्हें किसी प्रकार से संगठित ही किया। तुर्क शासक उनका सब प्रकार से शोषण करते रहे और वे लोग भी विरोध करना असम्भव देख कर चुपचाप अत्याचार सहते रहे, परन्तु वे अपनी स्थिति से असन्तुष्ट थे और अत्याचार से मुक्ति पाने के लिये उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करते रहे।

रोगग्रस्त तुर्क साम्राज्य—तुर्क साम्राज्य आरम्भ में बड़ा शक्तिशाली था और सत्रहवीं शताब्दी तक योरोप में ईसाई लोगों के लिये एक दैवी अभिशाप के रूप में था, परन्तु अठारहवीं शताब्दी में उसमें निर्बलता के लक्षण प्रकट होने लगे। उस पर दो ओर से दबाव पड़ने लगा। उत्तर-पश्चिम की ओर से ऑस्ट्रिया के हेप्सबुर्ग सम्राट् उनके विरुद्ध आगे बढ़ने लगे और कार्लोविट्स (१६९९) तथा पेसेरोविट्स (१७१८) की सन्धियों द्वारा ऑस्ट्रिया ने टर्की से हंगरी तथा ट्रान्सिल्वेनिया के प्रदेश ले लिये। उधर उत्तर की ओर से रूस भी काले सागर की ओर बढ़ने लगा और काले सागर के उत्तरी तट पर उसने अपना अधिकार कर लिया। अठारहवीं शताब्दी में ये दोनों शक्तियाँ कभी अलग-अलग और कभी मिल कर टर्की के विरुद्ध युद्ध करती रहीं और

टर्की की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती रही। तुर्क लोग योरोप में जाति, धर्म, संस्कृति आदि सभी बातों की दृष्टि से योरोपीय समाज में एक विदेशी तत्व के समान रहे हैं और वे कभी उस समाज में घुल-मिल कर एक न हो सके। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही जब टर्की की शक्ति क्षीण होने लगी तो वह रोगी समझा जाने लगा और योरोप के सामने यह समस्या आई कि उसकी मृत्यु के बाद उसके साम्राज्य का क्या होगा। प्रायः दो शताब्दियों तक साधारणतया यही माना जाता रहा कि उसका स्थान योरोप की महान् शक्तियो में से कोई एक ले लेगी। इस बात की कोई कल्पना भी नहीं करता था कि उस साम्राज्य में बसनेवाली प्रजातियाँ भी अपना भाग्य-निर्णय अपने हाथ में रखने का दावा कर सकती हैं। इस प्रकार उस समय तक टर्की की समस्या का सम्बन्ध बाल्कन प्रायद्वीप के विभिन्न लोगों से नहीं वरन् योरोप के राज्यों से, मुख्यकर रूस से, था।*

ऑस्ट्रिया और रूस के हित—योरोप की महान् शक्तियों में से जो टर्की का स्थान ले सकती थीं, वे स्वभावतः उसकी पड़ोसी शक्तियाँ—ऑस्ट्रिया तथा रूस- ही थीं। आरम्भ में इस ओर रूस का ध्यान ही अधिक रहा, ऑस्ट्रिया का मुख्य ध्यान दूसरी ओर था। महान् पीटर से लेकर प्रथम एलेक्ज़ेण्डर तक रूस निरन्तर दक्षिण की ओर बढ़ता रहा और योरोपीय शक्तियाँ भी टर्की की समस्या में उस ओर विशेष ध्यान दिये बिना केवल रूस के हित की प्रधानता मानती रहीं; हाँ कभी-कभी फ्रान्स, जिसके टर्की से अच्छे सम्बन्ध थे और मिस्र में व्यापारिक हित भी थे, अवश्य विरोध करता रहा। योरोपीय शक्तियों की इस तटस्थता से लाभ उठा कर रूस आगे बढ़ता रहा और १७७४ तक काले सागर के किनारे तक उसने अपना अधिकार जमा लिया। उस वर्ष केनार्डजी (Kainardji) की सन्धि के द्वारा उसने अज़ोव लेकर और अपने व्यापारिक जहाज़ों के निर्बन्ध आने-जाने का अधिकार प्राप्त कर केवल काले सागर पर अपना अधिकार ही मज़बूत नहीं कर लिया, वरन् कुस्तुन्तुनिया में अपना स्थायी दूतावास खोलने का तथा टर्की के साम्राज्य में रहनेवाले यूनानी चर्च के ईसाइयों के संरक्षण का अधिकार भी प्राप्त कर लिया। बाल्कन प्रायद्वीप के निवासी अधिकतर स्लाव प्रजाति के थे। रूस का ज़ार स्लाव होने के नाते एक प्रकार से स्लाव परिवार का प्रमुख था और इस कारण स्लाव लोगों को उससे सहानुभूति की आशा थी। इस सन्धि से जो अधिकार रूस को मिले वे स्पष्ट नहीं थे, परन्तु इन दोनों बातों के कारण रूस को टर्की में बड़ा महत्वपूर्ण और (टर्की के लिये) अत्यन्त खतरनाक स्थान प्राप्त हो गया। वह टर्की की प्रजा के अधिकांश का संरक्षक बन गया और उसे बाल्कन प्रायद्वीप में अपनी इच्छानुसार हस्तक्षेप करने की सुविधा प्राप्त हो गई। १७८३

---

* Marriott : The Eastern Question, p. 6.

में द्वितीय केथरीन ने बाउग (Boug) नदी के पूर्व का टार्टार्स प्रदेश छीन लिया और १७९२ में जासी (Jassy) की सन्धि के द्वारा नीस्टर (Dniester) नदी तक अपनी सीमा का विस्तार कर लिया। टिलसिट की सन्धि (१८०७) के अनुसार नेपोलियन ने ज़ार को टर्की से मॉल्डेविया (Moldavia) और वालेशिया (Wallachia) के प्रदेश दिलवाने का वचन दिया था। ये प्रदेश तो उसे नहीं मिले परन्तु १८१२ में बुखारेस्ट (Bucharest) की सन्धि के अनुसार उसने टर्की से बेसरेबिया (Bessarabia) का प्रदेश छीन लिया और इसके साथ ही सर्विया के लोगों को अपने आन्तरिक शासन में स्वतन्त्रता दिलवा दी।

फ़्रान्स और इंगलैण्ड—इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक रूस दक्षिण की ओर निरन्तर बढ़ता रहा तथा टर्की के साम्राज्य को क्षति पहुँचा कर उसे कमज़ोर करता रहा परन्तु योरोपीय राज्यों ने उस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। हाँ, फ़्रान्स अपने हितों की ओर से बेखबर नहीं था। मिस्र में उसके व्यापारिक हित थे जिनको वह सुरक्षित रखना चाहता था और फ़्रेन्च क्रान्ति के पहले जब द्वितीय केथरीन तथा ऑस्ट्रिया के सम्राट् जोज़ेफ़ में टर्की के साम्राज्य के विभाजन के सम्बन्ध में बातचीत चल रही थी तो फ़्रान्स को मिस्र तथा सीरिया देने का निश्चय किया गया था। परन्तु फ़्रान्स के लिये टर्की की उपयोगिता की ओर फ़्रेन्च लोगों का ध्यान सबसे अधिक नेपोलियन ने आकृष्ट किया और नेपोलियन के विचारों तथा कार्यकलापों को देख कर अंग्रेज़ों का ध्यान भी उधर गया। अंग्रेज व्यापारी तो भूमध्यसागर के पूर्वीय भाग के व्यापार का महत्व बहुत पहले से समझते थे, परन्तु अंग्रेज राजनीतिज्ञों को टर्की में होनेवाली घटनाओं का इङ्गलैण्ड के लिये राजनीतिक महत्व बहुत देर में समझ में आया। कनिष्ठ पिट पहला अंग्रेज राजनीतिज्ञ था जिसने टर्की की समस्या का इङ्गलैण्ड के लिये महत्व समझा था। उसने पार्लमेण्ट का ध्यान इस ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। जब नेपोलियन ने मिस्र पर आक्रमण किया तो अंग्रेज अपने भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिये चिन्तित अवश्य हुए, फिर भी उन्होंने टर्की की समस्या के महत्व को नहीं समझा। टर्की की निर्बलता, रूस की दक्षिण की ओर प्रगति तथा फ़्रान्स की पूर्वी भूमध्यसागर-सम्बन्धी आकांक्षाएँ अंग्रेज राजनीतिज्ञों को उस समय तक भी एक स्थानीय समस्या (योरोपीय नहीं) दिखाई देती थी।* जब १८२१ में ग्रीस के लोगों ने टर्की के विरुद्ध विद्रोह किया तब कहीं जाकर इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञ जागे और टर्की की समस्या की ओर ध्यान देने लगे।

पूर्वीय समस्या—इस प्रकार धीरे-धीरे टर्की की समस्या जो आरम्भ में केवल एक स्थानीय समस्या समझी जाती रही एक अन्तराष्ट्रीय समस्या बन गई। यह समस्या

---

* Marriott : The Eastern Question, p. 9.

इतिहास में 'पूर्वीय समस्या' (Eastern Question) के नाम से प्रसिद्ध है। मुख्यतः यह टर्की की समस्या थी। प्रश्न यह था कि बाल्कन प्रायद्वीप में टर्की का, जो क्षीण हो रहा था और जिसका पतन निश्चित था, स्थान कौन लेगा? इस प्रश्न ने समय-समय पर भिन्न-भिन्न रूप धारण किये। प्रारम्भ में तो इस प्रश्न का रूप एक ओर तो टर्की तथा दूसरी ओर ऑस्ट्रिया एवं वेनिस का संघर्ष था। बाद में यह प्रश्न टर्की के सुल्तान तथा रूस के ज़ार की प्रतिद्वन्द्विता में केन्द्रित हो गया; किन्तु १८२० के बाद जब रूस की गतिविधि से यह प्रकट होने लगा कि वह टर्की की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कमज़ोरी से लाभ उठा कर उसे हड़प लेना चाहता है तो इङ्गलैण्ड, ऑस्ट्रिया तथा फ्रान्स अपने विभिन्न हितों से प्रेरित होकर इस ओर ध्यान देने लगे और यह समस्या अन्तर्राष्ट्रीय बन गई।* इस प्रकार एक ओर तो अपनी कमज़ोरी के कारण टर्की को बाह्य आक्रमण का भय था, उधर दूसरी ओर उसी कमज़ोरी के कारण साम्राज्य में रहनेवाली विभिन्न ईसाई जातियाँ भी, जो फ्रेञ्च क्रान्ति द्वारा प्रसारित स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीयता की भावनाओं से प्रेरित होकर स्वतन्त्र होने का स्वप्न देख रही थीं, अपने स्वप्न को सत्य करने का प्रयत्न करने लगीं और जो समस्या विभिन्न राज्यों के विरोधी हितों के संघर्ष के कारण जटिल हो रही थी और भी अधिक जटिल हो गई।

बाल्कन राष्ट्र—हम ऊपर बतला चुके हैं कि बाल्कन प्रायद्वीप में अनेक प्रजातियाँ रहती थीं जो सब प्रकार से तुर्क लोगों से भिन्न थी। ये प्रजातियाँ ईसाई थीं और मुसलमान तुर्कों के अत्याचारी शासन एवं शोषण से दुःखी थीं। जब तक तुर्क लोग शक्तिशाली रहे तब तक तो वे सब लोग दबे रहे, किन्तु जब सुल्तान की विलासिता, सेना की अनुशासनहीनता तथा शासन की भ्रष्टता एवं दुर्बलता के कारण साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी तो उनमें आशा का संचार हुआ। इसके साथ ही क्रान्तिकारी विचारों से उन्हें प्रेरणा भी मिली और वे स्वतन्त्र होने का स्वप्न देखने लगे। वियना-कांग्रेस में इन प्रजातियों का प्रश्न उठा था परन्तु उस पर विचार नहीं किया गया जिससे उन लोगों को बड़ी निराशा हुई। किन्तु अब उनमें स्वतन्त्रता की भावना जाग्रत हो चुकी थी और उन्होंने स्वयं ही अपने पैरों पर खड़े होकर प्रयत्न शुरू किया।

सर्बिया का विद्रोह—वियना-कांग्रेस के बहुत पहले बाल्कन प्रायद्वीप में स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्न प्रारम्भ हो गया था और उसको प्रारम्भ करने का श्रेय सर्ब लोगों को था। जिन दिनों योरोप के सभी राज्य नेपोलियन का दमन करने के प्रयत्न कर रहे थे उन्हीं दिनों सर्बिया के किसान लोग कारा जॉर्ज (Kara George) नामक एक बड़े पराक्रमी, देशभक्त कृषक नेता के नेतृत्व में टर्की के विरुद्ध उठ खड़े हुए (१८०४)। उन्हें रूस के ज़ार से सहायता की आशा थी परन्तु उनकी आशा पूरी नहीं

* Marriott : The Eastern Question, p. 10.

हुई; फिर भी उन्होंने बड़ी वीरता से युद्ध किया और तुर्कों को सर्बिया से बाहर निकाल दिया। परन्तु इसके बाद सर्ब लोग आपस में ही लड़ने लगे और उनका पक्ष कमज़ोर पड़ गया। रूस ने उनकी सहयता तो नहीं की थी; परन्तु १८१२ में उसने बुखारेस्ट की सन्धि के अनुसार टर्की को विवश करके सर्बिया के लोगों को आन्तरिक स्वशासन के कुछ अधिकार दिला दिये। किन्तु अगले ही वर्ष सुल्तान ने फिर से सर्बिया पर अधिकार कर लिया और बड़ी निर्दयतापूर्वक शासन शुरू किया। इस पर १८१५ में सर्ब लोग फिर बिगड़ खड़े हुए। इस समय कारा जॉर्ज कारागार में था और विद्रोह का नेता मिलोश ओब्रीनोविच (Milosch Obrenovitch) था जो कारा जॉर्ज का प्रतिद्वन्द्वी था। वह युद्ध करता रहा और अन्त में उसे कुछ सफलता प्राप्त हुई। १८१७ में बेलग्रेड में एक राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन हुआ जिसने टर्की की अनिच्छापूर्ण स्वीकृति से ओब्रीनोविच को अपना राजा चुन लिया और राजा का पद उसके वंश में वंशानुगत कर दिया; सर्बिया को स्थानीय शासन के कुछ अधिकार मिले और उस पर सुल्तान की संप्रभुता क़ायम रही। १८२६ में रूस ने टर्की को दबा कर सर्बिया को अपने संरक्षण में लेकर उसे प्रायः पूर्ण आन्तरिक स्वशासन प्रदान कर दिया। जब ग्रीस की स्वतन्त्रता का युद्ध समाप्त हुआ तो सुल्तान ने एड्रियानोपल की सन्धि (१८२९) में १८२६ में की हुई व्यवस्था को पुनः स्वीकार किया। इस प्रकार रूस की सहायता से १८३० तक सर्बिया आन्तरिक शासन में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया, यद्यपि नाममात्र को उस पर सुल्तान की संप्रभुता बनी रही और उसने प्रति वर्ष सुल्तान को भेंट देना स्वीकार किया।* इस प्रकार टर्की के साम्राज्य का विघटन आरम्भ हुआ और उसमें से पहला राज्य उत्पन्न हुआ।

ग्रीस का स्वातन्त्र्य-युद्ध

ग्रीस में राष्ट्रीयता की जागृति—जिन दिनों सर्बिया में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का प्रयत्न हो रहा था, उन्हीं दिनों ग्रीस में राष्ट्रीय आन्दोलन बढ़ रहा था। ग्रीस के लोगों की दशा साम्राज्य के अन्य लोगों की अपेक्षा अच्छी थी। तुर्क लोगों ने उन्हें भी दबाया तो था परन्तु कई बातों में उनके साथ अच्छा व्यवहार किया था; उन्हें धार्मिक स्वतन्त्रता थी, शासन-प्रबन्ध में भी उनका हाथ था और वे ऊँचे ऊँचे पदों पर नियुक्त थे। भूमध्यसागर के व्यापार में भी वे काफ़ी भाग लेते थे जिसके कारण वे समृद्ध भी काफ़ी थे। अच्छे नाविक होने के कारण टर्की के बेड़े में अधिकतर यूनानी मल्लाह ही थे और बेड़े के बहुत से अफ़सर भी यूनानी ही थे। द्वीपों में तो वे प्रायः स्वतन्त्र ही थे; उन्हें केवल वार्षिक भेंट देनी पड़ती थी। वे सब यूनानी चर्च के अनुयायी थे और समान धार्मिक जीवन के कारण उनमें जातीय एकता की अनुभूति भी थी।

---

* Marriott : The Eastern Question, pp. 181-183.

अठारहवीं शताब्दी के अन्त से उनमें अपने प्राचीन गौरव की चेतना भी जाग्रत हो रही थी, यद्यपि उस समय यूनानी लोग अधिकांश में मिश्रित स्लाव रक्तवाले थे और प्राचीन यूनानियों के वंशज केवल किनारे के कुछ भागों तथा कुछ द्वीपों में ही थे। उनकी भाषा भी पुरानी यूनानी भाषा नहीं थी। उस समय यूनानी भाषा का संस्कार तथा पुनरुत्थान करने के लिये बौद्धिक आन्दोलन चल रहा था जिससे राष्ट्रीय चेतना बढ़ रही थी। ऐसी स्थिति में उन्हें अपनी परतन्त्रता बहुत अखरती थी और उनमें तुर्कों के शासन से स्वतन्त्र होकर प्राचीन यूनानी साम्राज्य का पुनरुद्धार करने की इच्छा जाग्रत हो रही थी। फ्रेञ्च क्रान्ति की भावनाओं ने इस इच्छा को और तीव्र कर दिया। उन दिनों इंगलैण्ड तथा फ्रान्स में अनेक व्यक्ति ऐसे थे जिन्हें यूनानी सभ्यता के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। उनके खुल्लमखुल्ला प्रोत्साहन तथा जार एलेक्जेण्डर की धार्मिक सहानुभूति से भी इस इच्छा को बल मिला।* स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उद्देश्य से गुप्त समितियाँ बनने लगीं जिनमें मुख्य 'मित्र समाज' (Philke Hetairia) था और जिसका निर्माण १८१४ में ओडेसा में चार व्यापारियों ने किया था। शीघ्र ही इस समाज में देश के अन्दर तथा बाहर के प्रमुख यूनानी लोग सम्मिलित हो गये और कहा जाता है कि चार-पाँच वर्ष में ही उसके सदस्यों की संख्या दो लाख तक पहुँच गई थी। उसका उद्देश्य योरोप से तुर्कों को निकालना तथा प्राचीन यूनानी साम्राज्य की पुनः स्थापना करना था।†

स्वातन्त्र्य-संग्राम का श्रीगणेश—यूनानी नेताओं की योजना बालकन प्रायद्वीप की समस्त ईसाई प्रजातियों को तुर्कों के विरुद्ध एक साथ खड़ा करने की थी परन्तु इस योजना में उनको सफलता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि तब तक अन्य प्रजातियों में राष्ट्रीय जाग्रति उतनी तीव्र नहीं थी जितनी यूनानियों में थी। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रजातियाँ अपने पुराने पारस्परिक वैमनस्य के कारण ग्रीस का नेतृत्व स्वीकार करने के लिये तैयार भी नहीं थीं।‡ इस कारण यूनानियों ने अन्य प्रजातियों के सहयोग के बिना स्वयं अपने ही भरोसे और अपने ही लिये युद्ध पर कमर बाँधी। उन्हीं दिनों सर्बिया में स्वातन्त्र्य-युद्ध चल रहा था और स्पेन, पुर्तगाल तथा इटली में विद्रोह की आग सुलग रही थी। इन प्रयत्नों से प्रोत्साहित हो कर उन्होंने १८२१ में अपने स्वातन्त्र्य-संग्राम का श्रीगणेश कर दिया।

मोल्डेविया में—स्वातन्त्र्य-संग्राम के आरम्भ का सर्वप्रथम अवसर १८२१ में मिला जबकि अल्बानिया में जनीना (Janina) का सूबेदार अली पाशा विद्रोही हो

---

* Hearnshaw : Main Currents of European History, p. 163.

† Marriott : The Eastern Question, p. 203.

‡ Schevill : A History of Europe, p. 458.

गया (मार्च)। इससे प्रोत्साहित होकर मोल्डेविया में रहनेवाले यूनानियों ने हिप्सि-लाण्टी (Hapsilanti) के नेतृत्व में, रूस की सहायता की आशा से, विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया।* किन्तु विद्रोहियों के दुर्भाग्य से उस समय लाइबेख की कांग्रेस हो रही थी, जहाँ यूनानी आकांक्षाओं के साथ सहानुभूति करते हुए भी एलेक्ज़ेण्डर ने मेटरनिख के प्रभाव में आकर उनका साथ नहीं दिया और टर्की ने उन्हें तीन महीनों के अन्दर ही परास्त कर दिया (जून)।

ग्रीस में—मोल्डेविया के विद्रोह के दमन के पूर्व ही अप्रैल में मोरिया (ग्रीस का प्रायद्वीपी भाग) तथा ईजियन सागर के द्वीपों में एक बड़े पैमाने पर विद्रोह आरम्भ हो गया था। यह विद्रोह बड़ा भयङ्कर था। विद्रोहियों के पास कोई सुसंगठित सेना नहीं थी, परन्तु उनमें राष्ट्रीयता का जोश था और वे अपनी स्वतन्त्रता के लिये लड़ रहे थे। इसके अतिरिक्त उन्हें बाहर से सहानुभूति प्राप्त थी। प्राचीन यूनानी सभ्यता में श्रद्धा रखनेवाले असंख्य व्यक्ति (जिनमें इङ्गलैण्ड का प्रसिद्ध कवि लार्ड बाइरन भी था) पश्चिमी योरोप से ग्रीस की सहायता करने आ पहुँचे। बाहर से स्वयंसेवक इतनी बड़ी संख्या में आये थे कि सुल्तान (द्वितीय मुहम्मद) यह शिकायत करने लगा कि मुझे अपनी विद्रोही प्रजा का ही नहीं अपितु एक योरोपीय संघ का भी मुक़ाबला करना पड़ रहा है।† सुल्तान इस विद्रोह के लिये तैयार नहीं था; उसकी अधिकांश सेना अली पाशा से लड़ने में लगी हुई थी; अतः वह विद्रोहियों का ठीक तरह से मुक़ाबला नहीं कर सका और उसको सर्वत्र पराजय हुई। यह विद्रोह अच्छी तरह संगठित नहीं था और यूनानियों ने मुसलमानों की हत्या करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने मोरिया में मुसलमानों का क़त्लेआम बोल दिया जिसका उत्तर तुर्कों ने थिसेली तथा मेसिडोनिया में यूनानियों की हत्या से दिया। यूनानियों ने इस प्रकार स्वतन्त्रता के पवित्र नाम पर निर्दोष लोगों की हत्या का कलंक लगाया और जो स्वतन्त्रता का युद्ध था वह विनाश का युद्ध बन गया।‡

यूनानियों की पराजय—निदान सुल्तान ने १८२४ में मिस्र के अपने सूबेदार मुहम्मद अली से सहायता माँगी। मुहम्मद अली कहने को तो सुल्तान का सामन्त था परन्तु वह वस्तुतः स्वतन्त्र था और सुलतान से सहायता के बदले में मोरिया, सीरिया तथा दमिश्क की सूबेदारी देने का वचन प्राप्त करके ही उसने अपने पुत्र इब्राहीम पाशा

---

* उन दिनों ज़ार एलेक्ज़ेण्डर का मुख्य मन्त्री एक यूनानी काउण्ट कैपो द इस्ट्रिया था जो मित्र-समाज का सदस्य था। बाद में यही व्यक्ति १८२७ में ग्रीस के गणराज्य का अध्यक्ष बना था। Ketelbey : A History of Modern Times, p. 194.

† Hearnshaw : Main Currents of European History, p. 164.

‡ Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 187.

को एक योरोपीय ढङ्ग पर शिक्षित एवं सुसज्जित सेना के साथ भेजा, जिसने बड़ी निर्दयता के साथ विद्रोह को दबा दिया। १८२६ में मिसॉलांघो का पतन हो गया, १८२७ में एथेन्स भी विद्रोहियों के साथ से निकल गया और यूनानियो की पराजय निश्चित दिखाई देने लगी। किन्तु इसी समय योरोपीय सत्ताओं ने हस्तक्षेप किया और पाँसा पलट गया।

यूरोपीय सत्ताओं का हस्तक्षेप—ग्रीस के विद्रोह का प्रश्न योरोपीय सत्ताओं के सामने लाइबेख की कांग्रेस में ही उपस्थित हो गया था। मेटरनिख की दृष्टि में यूनानी विद्रोही थे और सुल्तान को उनको दमन का अधिकार था; अतः वह हस्तक्षेप करने के विरुद्ध था। ज़ार प्रथम एलेक्ज़ेण्डर भी उससे सहमत हो गया। उधर इंगलैण्ड हस्तक्षेप न करने की नीति का समर्थक था ही। केस्लरी और उसके बाद कैनिंग दोनों ही अन्य राज्यों में उस समय तक हस्तक्षेप करने के विरोधी थे जब तक कि सन्धि द्वारा स्वीकृत दायित्वों का निर्वाह करने के लिये हस्तक्षेप आवश्यक न हो जाय। इसके अतिरिक्त इङ्गलैण्ड और आॅस्ट्रिया दोनों ही समझते थे कि यूनानियों की सफलता का अर्थ होगा टर्की का विनाश और उसके विनाश से उत्पन्न होनेवाली अन्तर्राष्ट्रीय कठिनाइयों से दोनों ही डरते थे। अतः दोनों ने इस बात का प्रयत्न किया कि इस मामले से योरोप की सत्ताएँ दूर रहें और कुछ अंश तक उन्हें इसमें सफलता भी प्राप्त हुई। परन्तु इस प्रश्न को बिलकुल अलग रखना असम्भव था। कुछ ही दिन बाद रूस का रुख बदलने लगा। रूस की परम्परागत नीति दक्षिण की ओर बढ़ने की थी और आगे बढ़ने के लिये यह बड़ा उपयुक्त अवसर था। सुल्तान ने हस्तक्षेप के लिये उसे एक बहाना भी दे दिया था। उसने क़ुस्तुन्तुनिया के पेट्रिआर्क (Patriarch) को जो आॅर्थोडॉक्स चर्च (Orthodox Church) का अध्यक्ष था मरवा डाला था। ज़ार स्वयं इसी चर्च का अनुयायी था और अपने आपको उसका संरक्षक समझता था। सुल्तान के इस अपराध से रूस में बड़ा रोष फैल रहा था। इसके अतिरिक्त सुल्तान ने पूर्व सन्धियों का पालन भी नहीं किया और उसने कुछ ऐसे यूनानी जहाज़ भी पकड़ लिये जिन पर रूसी झण्डा फहरा रहा था। इन सब कारणों से रूस ने टर्की से अपना कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिया और युद्ध अनिवार्य मालूम होने लगा। आॅस्ट्रिया और इङ्गलैण्ड ने सुल्तान को यूनानियों के साथ नरमी का व्यवहार करने तथा रूस को कुछ रियायतें देने के लिये समझाया और किसी प्रकार रूस शान्त बना रहा।

नेवेरिनो की मुठभेड़—किन्तु इसी समय दो घटनाएँ ऐसी हो गईं जिनके कारण स्थिति बिलकुल बदल गई। अब केस्लरी के स्थान पर कैनिंग इङ्गलैण्ड का प्रधान मन्त्री बन गया था। पहले तो वह भी हस्तक्षेप न करने के पक्ष में था, परन्तु उसने शीघ्र ही (२५ मार्च, १८२३) यूनानियों को विद्रोही की जगह एक युद्धरत (Belligerent) राष्ट्र मान लिया ताकि उनके जहाजों द्वारा जो हानि भूमध्यसागर में

अंग्रेजों की हो उसकी पूर्ति कराई जा सके। इस पर ऑस्ट्रिया तथा रूस को भी अपनी मनोवृत्ति बदलनी पड़ी और हस्तक्षेप की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी। किन्तु हस्तक्षेप किस प्रकार हो इस प्रश्न पर मतभेद रहा। इतने में ज़ार एलेक्ज़ेण्डर का देहान्त हो गया (१८२५) और उसकी जगह उसका भाई प्रथम निकोलस ज़ार बना जो रूस की परम्परागत नीति के अनुसार अपनी ही ओर से हस्तक्षेप करने के पक्ष में था। इस पर कैनिंग ने उससे इंगलैण्ड तथा रूस दोनों के सम्मिलित हस्तक्षेप का प्रस्ताव किया। १८२६ में दोनों ने टर्की के सुल्तान से ग्रीस को टर्की के संप्रभुत्व के अन्तर्गत एक अधीन राज्य स्वीकार करने का प्रस्ताव किया, किन्तु सुल्तान ने प्रस्ताव ठुकरा दिया। इस पर इंगलैण्ड तथा रूस ने १८२७ में लन्दन की सन्धि करके ग्रीस को टर्की के संप्रभुत्व के अन्तर्गत एक राज्य बनाने का तथा टर्की को इसके लिये विवश करने का निश्चय किया। फ़ान्स भी इस सन्धि में शामिल हो गया। ऑस्ट्रिया तथा प्रशा को भी इस कार्रवाई में साथ लेने का प्रयत्न किया गया किन्तु मेटरनिख ने सहयोग करना तो दूर रहा, कैनिंग की नीति को विफल करने के अनेक प्रयत्न किये।* इस पर तीनों राज्यों का एक सम्मिलित पत्र सुल्तान को भेजा गया और साथ ही अंग्रेज़ी तथा फ़ेञ्च बेड़ों को भूमध्यसागर में सतर्क रहने का आदेश दिया गया। मुहम्मद अली के जहाजों ने इस सम्मिलित बेड़े पर नेवेरिनो (Navarino) के बन्दरगाह में गोली चलाई जिस पर युद्ध शुरू हो गया और तुर्की बेड़ा नष्ट कर दिया गया (२० अक्टूबर १८२७)।

रूस की विजय—नेवेरिनो के युद्ध के परिणाम बड़े महत्वपूर्ण हुए। वहाँ की तोपों की गरज ने संसार को एक स्वतन्त्र ईसाई राष्ट्र के जन्म की सूचना दी।† उससे ग्रीस को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई परन्तु इसके साथ ही सम्मिलित हस्तक्षेप का फल अकेले रूस के हाथ लगा। नेवेरिनो के युद्ध के दो महीने पहले ही कैनिंग की मृत्यु हो चुकी थी। उसके उत्तराधिकारी वेलिंग्टन ने उसकी सुदृढ़ कूटनीति के फल नष्ट कर दिये, नेवेरिनो के युद्ध को एक 'अशुभ घटना' (Untoward Event) बतला कर उसने टर्की से उससे लिये खेद प्रकट किया। अब जिस बात को कैनिंग रोकना चाहता था वही हुई और समस्त स्थिति रूस के हाथों में चली गई। सुल्तान ने जिहाद की घोषणा की जिस पर रूस ने उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। आरम्भ में तो रूस की सेनाओं से कुछ न बन पड़ा परन्तु शीघ्र ही उन्हें सफलता प्राप्त होने लगी। उन्होंने बाल्कन पर्वत को पार करके एड्रियानोपल ले लिया और कुस्तुन्तुनिया की ओर बढ़ना शुरू किया। उधर काले सागर के पूर्व में भी रूसी सेनाओं ने टर्की से कार्स तथा

---

* Marriot : The Eastern Question, p. 218.

† Schevill : History of Europe, p. 460.

अर्ज़रूम के प्रदेश छीन लिये। निदान सुल्तान को हार मान कर एड्रियानोपल की सन्धि स्वीकार करनी पड़ी (सितम्बर १८२६); जिसका महत्व पूर्वीय समस्या के लम्बे इतिहास में केनार्डजी की सन्धि से कुछ ही कम है। इसके अनुसार रूस ने डेन्यूब नदी के अन्दर के 'बड़े द्वीपों' को छोड़ टर्की के समस्त विजित प्रदेश छोड़ दिये, परन्तु टर्की को कॉकेशस प्रदेश में जॉर्जिया तथा अन्य प्रान्तों पर रूस का अधिकार स्वीकार करना पड़ा; काले सागर तथा डेन्यूब नदी में समस्त तटस्थ देशों के जहाजों की आने-जाने की स्वतन्त्रता स्वीकार करनी पड़ी; मोलडेविया तथा वालेशिया को रूस के संरक्षण में वस्तुतः स्वतन्त्रता देनी पड़ी; टर्की के अन्दर रहनेवाले रूसी व्यापारियों पर अपना न्यायाधिकार रूस के राजदूतों को सौंपना पड़ा और ग्रीस के सम्बन्ध में लन्दन की सन्धि को स्वीकार करके वस्तुतः ग्रीस की स्वतन्त्रता को स्वीकार करना पड़ा।*

ग्रीस की स्वतन्त्रता—फ्रान्स तथा इङ्गलैण्ड रूस के इस क़दम से चिन्तित हो उठे थे और पूर्वीय समस्या को अकेले रूस के हाथों में नहीं छोड़ना चाहते थे। अतः जुलाई १८२८ में दोनों की सम्मति से एक फ्रेञ्च सेना मोरिया पहुँची जिसने इब्राहीम की सेना को मोरिया छोड़ने के लिये विवश किया। मोरिया टर्की और मिस्र दोनों की सेनाओं से मुक्त हो गया। लन्दन की सन्धि (२२ मार्च, १८२८) से यह निश्चित हुआ कि ग्रीस स्वतन्त्र राज्य होगा परन्तु टर्की को वार्षिक भेंट देगा, उसका राजा योरोपीय सत्ताओं द्वारा चुना जायगा और उसकी सीमा पश्चिम में आर्टा की खाड़ी से लेकर पूर्व में वोलो की खाड़ी तक निश्चित की गई।

इस विषय में अभी अन्य प्रश्न विचारणीय थे परन्तु उन्हीं दिनों फ्रान्स में क्रान्ति हो गई जिसके कारण समस्त सत्ताओं का ध्यान उधर चला गया और उन प्रश्नों पर विचार होने में देर लग गई। अन्त में १८३२ में यह निश्चय हुआ कि ग्रीस टर्की के संप्रभुत्व में न रह कर बिलकुल स्वतन्त्र राज्य हो और बेवेरिया का राजकुमार

---

* रूस की परम्परागत नीति कुस्तुन्तुनिया की ओर बढ़ने तथा टर्की की अधिक से अधिक भूमि अपने राज्य में शामिल करने की थी, परन्तु इस सन्धि में रूस ने योरोप में अपने लिये कुछ नहीं लिया। १८२६ में निकोलस ने रूसी राजनीतिज्ञों की एक समिति टर्की के साम्राज्य के विघटन के परिणामों पर विचार करने के लिये नियुक्त की थी। उस समिति का विचार था कि टर्की का अधिक विघटन रूस के हित में नहीं था क्योंकि यदि ऐसा हुआ तो उसके स्थान पर छोटे-छोटे सुदृढ़ राज्य बन जायेंगे जिन पर रूस अपना प्रभाव नहीं डाल सकेगा। उसकी दृष्टि में रूस के लिये यही बात हितकर थी कि टर्की का साम्राज्य बना रहे और शान्तिपूर्ण उपायों से उस पर पूर्ण अंकुश रखा जाय। निकोलस को यह सम्मति पसन्द तो नहीं आई परन्तु अगले दस वर्ष तक उसने इसी सम्मति के अनुसार काम किया। Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 205.

ऑटो* उसका राजा बने। ऑटो ने ग्रीस का राज्य स्वीकार कर लिया और ग्रीस का स्वातन्त्र्य-संग्राम सफल हुआ।

उसका महत्व—इस प्रकार मेटरनिख के घोर विरोध के होते हुए भी राष्ट्रीयता एवं उदारवाद की विजय हुई। ग्रीस का स्वतन्त्र राज्य बन जाने से योरोप के शक्ति-सन्तुलन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, फिर भी यह घटना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल में ग्रीस में ही योरोपीय सभ्यता की नींव पड़ी थी, उन्नीसवीं शताब्दी में भी राष्ट्रीयता की विजय-यात्रा में उसी ने नेतृत्व किया। उसने मेटरनिख की प्रतिक्रिया-वादी व्यवस्था को घातक चोट पहुँचाई; इङ्गलैण्ड तथा फ्रान्स को उदारवाद के पक्ष में लाकर खड़ा कर दिया; टर्की के साम्राज्य को क्षति पहुँचाने का वह ढङ्ग बताया जिसका अन्य बाल्कन प्रजातियों ने अनुकरण किया; रूस की नीति को बदल कर उसे टर्की की विरोधी तथा बाल्कन प्रजातियों की समर्थक बना दिया और अन्त में संसार के सामने राष्ट्रीयता की भावना की शक्ति का प्रभावकारी प्रमाण प्रस्तुत किया।† उसने टर्की की दुर्बलता संसार को प्रकट कर दी और इसके साथ ही यह भी प्रकट कर दिया कि टर्की की समस्या योरोप की एक महान् जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्या थी जिससे कई राज्यों के हितों का सम्बन्ध था।

---

* ग्रीस के स्वातन्त्र्य-संग्राम के मुख्य नेताओं में से एक काउण्ट केपो द इस्ट्रिया था जो रूस का मुख्य मन्त्री रह चुका था। वह १८३१ तक राष्ट्रपति रहा परन्तु उस वर्ष उसकी हत्या हो गई और नये राजा के लिये स्थान खाली हो गया। Ketelbey : A History of Modern Times, p. 186.

† Strong : Dynamic Europe, 239.

अध्याय १६

योरोप में फिर क्रान्ति

(१) फ्रान्स—जुलाई १८३० की क्रान्ति

दसवाँ चार्ल्स—जिन दिनों यूनान में स्वातन्त्र्य-संग्राम चल रहा था; उन दिनों फ्रान्स में राजसत्तावादियों का प्राधान्य था जिनके प्रतिक्रियावादी एवं अत्याचारी शासन का विरोध धीरे-धीरे बढ़ रहा था और उदारवाद की भावना जोर पकड़ रही थी। हम देख चुके हैं कि अठारहवें लुई ने वृद्धावस्था की निर्बलता के कारण शासन-कार्य आर्तुआ के काउण्ट के हाथों में छोड़ रखा था जो घोर प्रतिक्रियावादी और जनता के अधिकारों का कट्टर शत्रु था। लुई के शासन के अन्तिम वर्षों में इसी कारण कठोर प्रतिक्रिया का राज्य रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे विरोध होने लगा और गुप्त क्रान्तिकारी समितियों का निर्माण होने लगा। परन्तु लुई के समय में कोई गड़बड़ नहीं हुई। वह १८२४ में शान्तिपूर्वक मर गया और उसके साथ शासन पर समझदारी का जो थोड़ा बहुत नियन्त्रण था वह हट गया।* उसके बाद आर्तुआ का काउण्ट दसवें चार्ल्स के नाम से सिंहासन पर आरूढ़ हुआ जिसके कठोर प्रतिक्रियावादी शासन से शीघ्र ही विरोध भड़क उठा।

प्रतिक्रिया—उसने पार्लामेण्ट्री संस्थाओं के प्रति अपनी श्रद्धा की घोषणा के साथ शासन प्रारम्भ किया, परन्तु वह राजा के दैवी अधिकार को मानने वाला था, जीवन भर कट्टर प्रतिक्रियावादियों का नेता रहा था तथा अपने भाई के उदारवाद का घोर विरोधी रहा था और अब ६७ वर्ष की अवस्था में उसके लिये अपने सिद्धान्तों को छोड़ना असम्भव था। वह कहा करता था कि इंगलेण्ड के राजा की तरह शासन करने से तो मैं लकड़ी फाड़ना अधिक पसन्द करूंगा। † वह पुरानी व्यवस्था को फिर से फ्रान्स में प्रतिष्ठित करना चाहता था तथा कुलीनों एवं पादरियों को जो क्षति क्रान्ति के कारण हुई थी उसकी पूर्ति करना चाहता था। परन्तु क्रान्ति के समय भूमि की जो नई व्यवस्था हो चुकी थी उसे रद्द करना असम्भव था। इस कारण उसने राष्ट्रीय ऋण

---

* Grant and Temperley : Europe in the Nineteeth and Twentieth Centuries, p. 150.

† Fisher : A History of Europe, p. 889.

पर ब्याज की दर कम करके बचत की और उस बचत में से कुलीनों को उनसे छीनी हुई भूमि के हरजाने के तौर पर १० करोड़ फ्रैंक दिया। यह ऋण मध्यम वर्ग का था। लोभी, देशद्रोही कुलीनों के लाभ के लिये अपना शोषण देख कर उसे बहुत बुरा लगा। फ्रान्स में दैवी अधिकार पर आधारित एकतन्त्र के पतन के लिये चार्ल्स के अन्य कार्यों में यह कार्य कहीं अधिक उत्तरदायी था। इस शोषण के फलस्वरूप पूँजीपति और व्यावसायिक वर्ग चार्ल्स के प्रतिक्रियावादी शासन के विरुद्ध नेपोलियन के अनुयायियों तथा उदारवादियों के साथ शामिल हो गये।* चार्ल्स ने जेसुइट लोगों को वापस लौट आने की अनुमति दे दी और शिक्षा का कार्य उन्हें सौंप दिया। पादरियों को उनकी पुरानी सत्ता एवं पुराना गौरव प्राप्त हो गया और शासन में उनका प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया। वेलिङ्गटन ने इसकी चर्चा करते हुए लिखा था कि चार्ल्स के लिये "राजनीतिक अनुभव जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। द्वितीय जेम्स का उदाहरण उसके सामने है फिर भी वह पादरियों का, पादरियों के द्वारा तथा पादरियों के लिये शासन स्थापित कर रहा है।"† उसने सेना में से १५० अफ़सर निकाल दिये और राष्ट्रीय रक्षक दल को भी तोड़ दिया। इन कार्यों का जब विरोध होने लगा तो उसने लेखन, भाषण तथा समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता छीन ली और प्रतिनिधि-भवन को भंग कर दिया। किन्तु नये निर्वाचन (१८२७) में उसकी पराजय हुई और ५५३ सदस्यों में से ४२८ सदस्य उदारवादी चुने गये। इस पर उसे दब कर अपने मन्त्रियों को बरखास्त करना पड़ा और नरम विचारवाले मन्त्री नियुक्त करने पड़े, परन्तु उसके लिये अपनी प्रतिक्रियावादी नीति का त्याग करना असम्भव था और नये प्रतिनिधि-भवन में उसका विरोध बढ़ता ही गया। देश के अन्दर जो कुछ हो रहा था उसकी ओर से जनता का ध्यान हटाने के लिये और विजय के गौरव द्वारा विरोध को कम करने के लिये उसने इङ्गलैण्ड तथा रूस से मिल कर यूनानियों के स्वातन्त्र्य-युद्ध में सहायता की और एल्जियर्स की विजय तथा बार्बरी के समुद्री डाकुओं को दण्ड देने के लिये सेना भेजी। इन कामों में सफलता भी मिली, परन्तु इन बातों से अब जनता बहकाई नहीं जा सकती थी। प्रतिनिधि-भवन राजा और उसके मन्त्रियों का विरोध करता रहा, जिस पर चिढ़ कर उसने उसे भंग कर दिया, किन्तु नये निर्वाचन के फलस्वरूप जो प्रतिनिधि-भवन बना वह पहले भवन से भी अधिक प्रतिक्रिया-विरोधी था। निदान उसने एक असांविधानिक कार्य द्वारा उसके विरोध का अन्त करने का प्रयत्न किया। २६ जुलाई १८३० को उसने चार अध्यादेश (Ordinances of St. Cloud) जारी किये जिनके द्वारा (१) प्रेस के अधिकार छीन लिये गये। (२) नया निर्वाचित प्रतिनिधि-भवन जिसका प्रथम अधिवेशन भी नहीं हो

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. I, p. 786.

† Ketelbey : A History of the Modern Times, p. 159.

पाया था, भंग कर दिया गया। (३) एक नये निर्वाचन-क़ानून की घोषणा की गई जिसके द्वारा मताधिकार अत्यन्त संकुचित कर दिया गया और तीन-चौथाई व्यक्ति मत देने के अधिकार से वंचित कर दिये गये। जो लोग मताधिकार से वंचित किये गये थे उनमें से अधिकांश मध्यम-वर्गीय थे जिनकी ओर से मुख्यतः विरोध हो रहा था। (४) नये क़ानून के अनुसार सितम्बर में निर्वाचन करने की घोषणा की गई।

जुलाई-क्रान्ति— इन अध्यादेशों से अत्याचार का घड़ा भर गया। ये अध्यादेश एक चुनौती के रूप में थे; जनता ने इस चुनौती को स्वीकार किया; उदारवादी लोग, गणतन्त्रीय विचारवाले मजदूर, बोनापार्ट पक्षवाले—सब लोग राजा के विरुद्ध एक हो गये और दूसरे ही दिन पेरिस के पत्रकारों के प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप पेरिस-वाले चार्ल्स के विरुद्ध उठ खड़े हुए। अपनी रक्षा के लिये उन्होंने सड़कों पर जगह-जगह मोर्चाबन्दी कर ली और जो कुछ युद्ध-सामग्री मिल सकी एकत्रित कर ली (२७ जुलाई)। विद्रोह का नगाड़ा तो पत्रकारों ने बजाया था परन्तु उसका वास्तविक संगठन गणतन्त्रीय लोगों ने पहले से ही गुप्त समितियाँ स्थापित करके कर रखा था। राजा की सेना ने विद्रोह शान्त करने का प्रयत्न किया परन्तु लाफ़ायेत और तेलीरां के नेतृत्व में जनता ने सेना का ख़ूब मुक़ाबला किया, राजा की बहुत-सी सेना स्वयं विद्रोही हो गई और तीन दिन के संघर्ष के बाद राजा की बची-खुची सेना परास्त हो गई। राजा ने उन अध्यादेशों को वापस लेने का प्रयत्न किया परन्तु अब उसके लिये समय नहीं रहा था। अन्त में वह निराश हो गया और पेरिस छोड़ कर भाग गया।

लुई फ़िलिप— इस 'जुलाई-विद्रोह' ने दैवी अधिकार पर आश्रित एकतन्त्र का तो अन्त कर दिया परन्तु उसके स्थान पर क्या व्यवस्था की जाय, इस प्रश्न पर तीव्र मतभेद खड़ा हो गया। एक ओर तो गणतन्त्रीय दल था जिसमें अधिकतर विद्यार्थी तथा पेरिस के मजदूर थे और जिसका नेता केवेन्याक (Cavaignac) था। यह दल १७९५ के गणतन्त्र को पुनः स्थापित करना चाहता था परन्तु उसे पेरिस के प्रमुख लोगों का या देश का बहुत कम समर्थन प्राप्त था। दूसरी ओर मध्यम-वर्गीय (पूँजीपति) उदारवादी लोग थे जिनका नेता एक पत्रकार एडॉल्फ़ थियर (Adolphe Thiers) था और जो ऐसे एकतन्त्र को स्वीकार करने के लिये तैयार थे जो सांविधानिक हो और शासन-कार्य उनके हाथों में छोड़ देने को तैयार हो। इस दल को फ़्रान्स की उस समस्त बहुसंख्यक जनता का समर्थन प्राप्त था जो स्वतन्त्रता के साथ व्यवस्था चाहती थी। इन दोनों का मतभेद इतना बढ़ गया कि एक समय तो उनके बीच सशस्त्र संघर्ष होता हुआ दिखाई देने लगा परन्तु लाफ़ायेत ने गणतन्त्रीय दल को समझा कर उदारवादी एकतन्त्र की योजना को स्वीकार करा लिया।* योजना यह थी कि जनता सर्वसम्मति से ओर्लिएँ

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. I, p. 788.

के ड्यूक लुई फ़िलिप को अपना राजा स्वीकार करे। लुई फ़िलिप बूर्बों वंश का ही था परन्तु उसने १७८९ की क्रान्ति में काफ़ी भाग लिया था; वह ज़कोबें दल का सदस्य भी रह चुका था और प्रजातन्त्र की सेना में रह कर उसकी ओर से युद्ध भी कर चुका था। वह मध्यम-वर्गीय लोगों की तरह रहता था और जनता उसे बहुत चाहने लगी थी। ३१ जुलाई को विधायिका ने उसे लेफ़्टिनेण्ट-जनरल बना कर राज्य की बाग-डोर भी उसके हाथ में सौंप दी। २ अगस्त को चार्ल्स ने अपने दस-वर्षीय पौत्र शाम्बोर्द के काउण्ट (Count of Chambord) हेनरी के पक्ष में सिंहासन त्यागने की घोषणा की और लुई फ़िलिप को अपनी ओर से लेफ़्टिनेण्ट-जनरल तथा राज-प्रतिनिधि नियुक्त करके 'पंचम हेनरी' के राजा बनने की घोषणा करने का उसे आदेश दिया। किन्तु विधायिका की इच्छा से वह लेफ़्टिनेण्ट-जनरल तो पहले ही बना हुआ था; ७ अगस्त को विधायिका के दोनों भवनों ने उसे राजा चुना और चार्ल्स के आदेश को स्वीकार करने की जगह उसने जनता का आदेश स्वीकार करना पसन्द किया। ९ अगस्त को 'फ़ान्स के राजा' नहीं, वरन् 'फ़्रेञ्च जनता के राजा' (King of the French) की तरह लुई फ़िलिप के राज्याभिषेक की घोषणा हुई। एक सप्ताह बाद दशम चार्ल्स अपने परिवार तथा अपने दरबार को लेकर इंगलेण्ड चला गया। दैवी अधिकार का दावा करनेवाले राजा के स्थान पर जनता द्वारा स्वीकृत राजा सिंहासनारूढ़ हुआ, बूर्बों-वंशीय सफ़ेद झण्डे की जगह फिर राष्ट्रीय तिरंगा झण्डा फहराने लगा और राजा के निरंकुश एकतन्त्र के सिद्धान्त की जगह जनता की संप्रभुता का सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो गया। १७८९ की क्रान्ति की तरह १८३० की क्रान्ति भी पेरिस ने की और इस बार भी पहले की तरह देश ने अपनी राजधानी के निर्णय को स्वीकार कर लिया।

जुलाई-क्रान्ति का महत्व—१८३० की क्रान्ति फ़ान्स के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। ऊपर से देखने में तो इससे कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ; बूर्बों वंश की बड़ी शाखा का स्थान छोटी शाखा (ओर्लिएँ शाखा) ने लिया और एकतन्त्र भी बना रहा। क्रान्ति जनतन्त्रवादियों ने की थी और क्रान्ति के समय में जो अस्थायी सरकार बनी थी वह गणतन्त्रियों की थी, परन्तु उन लोगों के प्रयत्न से लाभ मध्यम वर्ग के सांविधानिक राजसत्तावादियों ने उठाया। जुलाई-क्रान्ति का सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिणाम मध्यम वर्ग की विजय थी। इसी वर्ग ने १७८९ की महान् क्रान्ति का संचालन किया था और १७९४ में अपनी विजयों की पेरिस के मज़दूरों से रक्षा की थी। १८१५-१८३० तक विशेषा-धिकारयुक्त वर्ग से इसी वर्ग के हितों को खतरा था। यही वर्ग था जिसने एक प्रतिक्रिया-वादी राजा को भागने के लिये विवश किया, क्रान्तिकारी श्रमिक दल को चुप किया और

शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली।* श्रमिक दल ने विद्रोह करके केवल बूर्बो वंश का ही विरोध नहीं वरन् उन समस्त योरोपीय सत्ताओं का विरोध भी किया था जिन्होंने १८१५ में फ्रान्स पर फिर से बूर्बो वंश का शासन लादा था। परन्तु क्रान्तिकारी श्रमिक दल को परिस्थितिवश दबना पड़ा था। वह दब तो गया था परन्तु उसने अपने सिद्धान्तों एवं आशाओं को नहीं छोड़ा था। जब अपने दलीय स्वार्थों के बलिदान के लिये उनके नेता केविन्याक को धन्यवाद दिया गया तो उसने उत्तर दिया कि "आप हमें धन्यवाद देने में भूल कर रहे हैं। हम दब अवश्य गये हैं परन्तु इस कारण कि अभी हमारी शक्ति काफ़ी नहीं है; आगे चलकर बात और ही होगी।"†

गणतन्त्रीय दल की निर्बलता के अतिरिक्त एक कठिनाई और थी। "जो परिस्थितियाँ अन्त में बूर्बो एकतन्त्र के पतन के लिये उत्तरदायी बनीं उन्होंने उसके स्थान पर गणतन्त्र की स्थापना असम्भव कर दी।"‡ १८३० में फ्रेञ्च गणतन्त्र योरोप में चुनौती की तरह समझा जाता था और योरोपीय राज्य, जिनके मस्तिष्क में १७८९ की स्मृतियाँ अभी ताज़ी ही थीं, तुरन्त उसे नष्ट करने के लिये तैयार हो जाते। इस तरह गणतन्त्रियों के हाथ बंधे हुए थे और यद्यपि उन्होंने विधायिका में एकतन्त्र का विरोध तो किया परन्तु देश में उन्हें अधिक समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। ऐसी परिस्थिति में फ्रान्स का भाग्यनिर्माण उदारवादियों के हाथों में रहा और उन्होंने भी एक समझौता ढूंढ़ कर जनतन्त्रियों को मना लिया। लुई फ़िलिप को राजा बनाकर उन्होंने उनको सन्तुष्ट कर लिया और इसके साथ ही योरोपीय राज्यों को सन्देह नहीं होने दिया क्योंकि लुई फ़िलिप बूर्बो वंश ही की एक शाखा का था। इसके अतिरिक्त इस क्रान्ति के बाद भी एक-तन्त्र बना रहा और संविधान में जो परिवर्तन हुए वे नगण्य थे। राजा अध्यादेश जारी करने के विशेष अधिकार से वञ्चित कर दिया गया, क़ानून के प्रस्ताव करने का अधिकार विधायिका का रहा, कैथोलिक मत राज्य का धर्म नहीं रहा और प्रेस पर से नियन्त्रण भी हटा लिये गये, परन्तु मताधिकार का विस्तार नहीं हुआ और यद्यपि सर्व-साधारण जनता के प्रयत्नों से ही सफलता प्राप्त हुई थी तो भी उसे शासन में कोई भाग प्राप्त नहीं हुआ।

फिर भी इस क्रान्ति के महत्व की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। यह वास्तव में इंगलैण्ड की रक्तहीन क्रान्ति (१६८८) के समान थी। क्रान्ति से इंगलैण्ड के समान फ्रान्स में कोई आर्थिक सुधार नहीं हुए और न पार्लमेण्ट का ही कोई सुधार हुआ, परन्तु दोनों जगह इन क्रान्तियों के फलस्वरूप राजाओं के दैवी अधिकार का स्थान

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe Vol. I, p. 788.

† Hazen : Modern European History, p. 270.

‡ Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 16.

राष्ट्र के दैवी अधिकार ने ले लिया क्योंकि जिस प्रकार रक्तहीन क्रान्ति के बाद इङ्गलैण्ड में तृतीय विलियम राष्ट्र की अनुमति से राजा बन सका था, उसी प्रकार फ़ान्स में भी लुई फ़िलिप राष्ट्र की अनुमति से राजा बन सका था। अब यदि राजा और राष्ट्र में संघर्ष हुआ तो राष्ट्र की विजय निश्चित थी। इस प्रकार इस क्रान्ति के फलस्वरूप फ़ान्स ने वियना-कांग्रेस के सिद्धान्त का सदा के लिये परित्याग कर दिया और कट्टर राजसत्तावादी कार्यक्रम को भी ठुकरा दिया। इसी बीच में कुलीनों तथा पादरियों ने जो कुछ राजनीतिक शक्ति प्राप्त करली थी, वह नष्ट हो गई और अब पुनर्जीवित नहीं की जा सकती थी। संक्षेप में १८३० की क्रान्ति ने १७८९ की क्रान्ति को पूर्ण कर दिया क्योंकि अब समानता, धर्म-निरपेक्षता तथा सांविधानिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों का, जो क्रान्तिकारी भावना के फलस्वरूप फ्रेंच जनता ने प्राप्त किये थे, आधार सुरक्षित था। जनता की स्वतन्त्रता का चार्टर कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जो राजा ने दब कर जनता को प्रदान किया हो और जिसे वह अपनी इच्छानुसार छीन सकता हो; अब वह राष्ट्र का अविच्छेद्य जन्मसिद्ध अधिकार था।*

(२) बेल्जियम की स्वतन्त्रता

वियना-कांग्रेस के राजनीतिज्ञों की दृष्टि में राष्ट्रीयता एवं स्वतन्त्रता के नवीन विचार जो जनता के लिये प्रेरक शक्ति थे, स्पर्श-रोग के समान थे। उनका विचार ठीक भी था। फ़ान्स की क्रान्ति की सफलता का समाचार दावाग्नि के समान योरोप में फैल गया और सर्वत्र जनता में स्वतन्त्रता का जोश उमड़ पड़ा। फ़ान्स ने वियना कांग्रेस की प्रतिक्रियावादी व्यवस्था के विरुद्ध प्रथम सफल विरोध किया था। उससे अन्य देशों में भी लोगों को, जो इस व्यवस्था के शिकार थे, प्रेरणा मिली और कई जगह उसके विरुद्ध विद्रोह होने लगे।

डच तथा बेल्जियम लोगों की भिन्नता—फ़ान्स का स्पर्श-रोग सर्वप्रथम बेल्जियम को लगा। वियना-कांग्रेस ने फ़ान्स की उत्तर-पूर्वी सीमा पर एक सुदृढ़ राज्य खड़ा करने के लिये बेल्जियम को हॉलैण्ड के साथ सम्मिलित कर दिया था परन्तु उन लोगो ने इस बात का ध्यान नहीं दिया कि जिन प्रदेशों को सम्मिलित किया जा रहा था उनके निवासी प्रत्येक प्रकार से भिन्न थे। बेल्जियम तथा डच लोगों के भिन्न हित थे और दोनों में अपनी पृथक् राष्ट्रीयता की चेतना थी। डच लोग सदा से फ़्रेञ्च-विरोधी थे। वे प्रधानतः प्रोटेस्टण्ट थे और उनका मुख्य धन्धा कृषि तथा व्यापार था। इसके विपरीत बेल्जियन लोगो पर फ़्रेञ्च सभ्यता का बड़ा प्रभाव था और उन्हें फ़्रेंच लोगों के साथ सहानुभूति थी; वे प्रधानतः कैथोलिक और उद्योग-प्रधान थे तथा भिन्न-भिन्न

---

* **Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, pp. 17-18.**

प्रकार का माल तैयार करते थे। उनका हित इस बात में था कि राज्य संरक्षण की नीति का अवलम्बन करे जिससे उनके व्यवसायों की उन्नति हो, जब कि डच लोग मुक्त व्यापार के समर्थक थे। दोनों की भाषाओं में भी भिन्नता थी परन्तु उतनी नहीं जितनी प्रायः समझी जाती है। बेल्जियन लोग दो भागों में विभाजित थे—फ़्लेमिङ्ग (Flemings) तथा वालून (Walloons)। फ़्लेमिङ्ग लोग समस्त बेल्जियन जनसंख्या के दो-तिहाई थे और उनकी भाषा बहुत कुछ डच थी; वालून लोगों की भाषा फ़्रेञ्च से मिलती-जुलती थी। इसी प्रकार नस्ल में भी दोनों में भेद है; डच लोग जर्मन नस्ल के हैं, बेल्जियन लोगों में फ़्लेमिङ्ग तो जर्मन नस्ल के हैं परन्तु वालून केल्ट (Celt) हैं। किन्तु दोनों प्रकार के लोगों पर फ़्रेञ्च सभ्यता का प्रभाव था जिसने उनके इन समस्त भेदों को ढक दिया था।*

बेल्जियन लोगों के असन्तोष के कारण—यह बात नहीं थी कि वियना के राजनीतिज्ञ इन बातों को समझते नहीं थे, किन्तु फ़्रान्स की सीमा पर एक सुदृढ़ राज्य स्थापित करना उन्हें आवश्यक दिखाई दिया और उस आवश्यकता की पूर्ति का उन्हें यही उपाय सूझा। इस अस्वाभाविक संयोग को स्थायी और सुदृढ़ बनाने का उपाय भी उन्होंने किया था; दोनों लोगों को धार्मिक समानता दी गई थी और दोनों के व्यापारिक तथा सांविधानिक अधिकार समान रखे गये थे तथा दोनों प्रदेशों के जो सार्वजनिक ऋण थे वे नये राज्य ने स्वीकार कर लिये थे। इस संयोग के सफल होने की सम्भावना उससे कहीं अधिक थी जितनी इतिहासकार माना करते हैं।† बेल्जियम को हॉलैण्ड के साथ रहने से अनेक लाभ प्राप्त हुए थे; अब बेल्जियन लोगों को डच उपनिवेशों के साथ निर्बन्ध व्यापार करने की सुविधा प्राप्त हो गई थी और उनका व्यापार उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था; संयोग के बाद बेल्जियम में सड़कों, नहरों आदि यातायात के साधनों में बहुत उन्नति हुई थी और उद्योग-धन्धों ने भी काफ़ी उन्नति की थी। यदि डच और बेल्जियन लोगों में धार्मिक मतभेद न होता‡ और डच लोगों की ओर से बुद्धिमानी से काम लिया जाता तो बेल्जियन लोग अपनी भौतिक समृद्धि के सामने राष्ट्रीयता की हानि को शायद भूल जाते और दोनों राष्ट्र घुल-मिल कर एक हो जाते। किन्तु ऐसा होना नहीं था। बेल्जियन लोगों को कई शिकायतें थीं। हॉलैण्ड के शासक ऑरेञ्ज के विलियम ने उन शिकायतों को दूर करने का प्रयत्न ही नहीं किया, उल्टे कई प्रकार से उनके असन्तोष को बढ़ाया। बेल्जियम की जनसंख्या हॉलैण्ड की जनसंख्या से दुगनी थी परन्तु एस्टेट्स-जनरल (विधायिका सभा) में दोनों प्रदेशों के प्रतिनिधि समान संख्या में रखे गये थे। इसके साथ ही जो प्रतिनिधि सरकारी पदों पर थे

---

* Cambridge Modern History, Vol. X, p. 521.

† Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 229.

‡ Cambridge Modern History, Vol. X, 522.

वे सदा डच प्रतिनिधियों का साथ देते थे और इस प्रकार डच प्रतिनिधियों का बहुमत रहा करता था जो बेल्जियन लोगों को अखरता था। प्रशासन के क्षेत्र में भी बेल्जियन लोगों के साथ अन्याय किया जाता था; सरकारी सेवाओं में ऊँचे पद प्रायः डच लोगों को ही मिलते थे और बेल्जियन लोग उनसे वञ्चित थे। भाषा का प्रश्न उतना जटिल नहीं था जितना प्रायः समझा जाता है क्योंकि दो-तिहाई बेल्जियनों की भाषा डच से मिलती-जुलती थी और नये राज्य की राज्य-भाषा बनने का अधिकार डच भाषा का ही था परन्तु उसको ज़बरदस्ती राज्य-भाषा बनाने के प्रयत्न ने अग्नि में घृत की आहुति का काम किया। इसके अतिरिक्त विलियम ने अन्य कई बातों से बेल्जियन लोगों को नाराज़ किया; उसने उन पर डच क़ानून लाद दिया, कैथोलिक लोगों की शिक्षा पर प्रोटेस्टेण्ट निरीक्षकों की देख-रेख रखी और प्रेस की स्वतन्त्रता पर कड़े नियन्त्रण लगाये। किन्तु बेल्जियन लोगों को जो बात सबसे अधिक अखरती थी वह थी विलियम की आर्थिक नीति। हॉलैण्ड पर बहुत भारी ऋण था जिसका आधा बेल्जियम के सिर पड़ा और जिसका ब्याज चुकाने के लिये बेल्जियन लोगों पर अनुपात से कहीं अधिक कर लगाये गये।

क्रान्ति—इन सब बातों के कारण बेल्जियन लोगों का असन्तोष धीरे-धीरे बढ़ता गया और जब फ़ान्स में जुलाई-क्रान्ति हुई तो वह भड़क उठा। २५ अगस्त को ब्रूसेल्स में एक नाटक हुआ जिसमें नेपिल्स के स्वतान्त्र्य-संग्राम का खेल बतलाया गया जिसको देखकर जनता का जोश उमड़ पड़ा और बाहर निकलते ही उसने दंगा शुरू कर दिया। दंगे ने शीघ्र ही विद्रोह का रूप धारण कर लिया; नागरिकों ने नगर की सड़कों पर मोर्चाबन्दी कर ली, अप्रिय मन्त्रियों पर आक्रमण कर दिया और एक राष्ट्रीय रक्षक दल का निर्माण कर लिया। सरकारी सेना विद्रोह दबाने में असफल हुई। इस समाचार से सारे देश में जोश उमड़ पड़ा और विद्रोह देशव्यापी हो गया। पहले तो बेल्जियन लोगों की माँग अपने लिये केवल एक पृथक् विधायिका के लिये थी, परन्तु जब विलियम ने उनकी माँगें सुनने की जगह उनका दमन करने का प्रयत्न किया तो उन्होंने एक अस्थायी सरकार का निर्माण करके बेल्जियम की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी (अक्टूबर, १८३०)। १० नवम्बर को एक राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें नवीन स्वतन्त्र राज्य के लिये संविधान निर्माण करने का कार्य आरम्भ हुआ।

बेल्जियम की स्वतन्त्रता—विलियम ने योरोपीय राज्य-संघ से सहायता की अपील की। १० वर्ष पूर्व तो ऐसी अपील तुरन्त सफल हो जाती परन्तु अब अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बिलकुल बदल गई थी; योरोपीय राज्य-संघ इस समय विभक्त था; रूस और ऑस्ट्रिया अवश्य हॉलैण्ड की सहायता करते परन्तु मेटरनिख उसी समय जर्मनी तथा इटली में होनेवाले विद्रोहों के दमन में व्यस्त था और निकोलस को पोलैण्ड के भयङ्कर

विद्रोह का सामना करना पड़ रहा था। अतः वे दोनों उस समय कुछ भी नहीं कर सकते थे। प्रशा सहायता कर सकता था; वह अकेला सहायता करना भी चाहता था क्योंकि हॉलैण्ड के राजा विलियम का प्रशा के राजवंश से निकट सम्बन्ध था, परन्तु उसे इंगलैण्ड और फ्रान्स के विरोध का डर था जो इस समस्या को शान्त उपायों से सुलझाना चाहते थे। फ्रान्स में लुई स्वयं क्रान्ति के कारण राजा बन सका था और वह बेल्जियम की स्वतन्त्रता का समर्थक था। इंगलैण्ड भी उस समय तक विरोध करने के लिये तैयार नहीं था जब तक कि वहाँ फ्रान्स के प्रभाव के बढ़ने का कोई भय उपस्थित नहीं हो जाता।* उस समय पामर्स्टन परराष्ट्र-मन्त्री था, जो स्वयं छोटे-छोटे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का समर्थक था। ऐसी स्थिति में लन्दन में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ (१८३१) जिसमें बेल्जियम की स्वतन्त्रता स्वीकार की गई। बेल्जियमवालों ने लुई फिलिप के द्वितीय पुत्र नेमूर (Nemours) के ड्यूक को अपना राजा चुना परन्तु पामर्स्टन बेल्जियम को फ्रान्स के प्रभाव में नहीं देखना चाहता था और उसने उसका विरोध किया। अन्त में सेक्स-कोबुर्ग (Saxe-Coburg) का जर्मन राजकुमार लिओपोल्ड राजा चुना गया। जुलाई १८३१ में उसका राज्याभिषेक हुआ और बेल्जियम हॉलैण्ड की आधीनता से मुक्त होकर योरोप के स्वतन्त्र-समाज का सदस्य बन गया। इस प्रकार स्वतन्त्र बेल्जियम का निर्माण बेल्जियन लोगों की सैनिक शक्ति से नहीं वरन् इङ्गलैण्ड तथा फ्रान्स की कूटनीति के फलस्वरूप हुआ।†

परन्तु विलियम ने इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया। उसे यह बात भी बुरी लगी कि लुक्सेम्बर्ग बेल्जियम को मिल गया। उसने बेल्जियम पर आक्रमण कर दिया। इंगलैण्ड और फ्रान्स ने बेल्जियम की सहायता की और विलियम को अपनी सेनाएँ बेल्जियम से हटानी पड़ीं। किन्तु उसने फिर भी नई व्यवस्था स्वीकार नहीं की। अन्त में १८३९ में वह बेल्जियम की स्वतन्त्रता स्वीकार करने तथा उसके साथ मित्रता की सन्धि करने को राज़ी हुआ। इसी समय इंगलैण्ड, फ्रान्स, ऑस्ट्रिया, प्रशा तथा रूस ने बेल्जियम की स्वतन्त्रता की गारण्टी दी और सबने उसकी तटस्थता स्वीकार की। आगे चल कर १८६७ में लुक्सेमबर्ग को भी योरोप के महान् राज्यों ने तटस्थ बना दिया।‡

---

* Cambridge Modern History, Vol X, p. 538.

† Fisher : A History of Europe, p. 892.

‡ Lispson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 235.

अध्याय २०

योरोप में फिर क्रान्ति (क्रमशः)

(३) जर्मनी

बेल्जियम के स्वातन्त्र्य-संग्राम में इङ्गलेण्ड तथा फ्रान्स की मनोवृत्ति देखकर मेटरनिख को पूर्ण विश्वास हो गया कि ये दोनों देश योरोपीय राज्यमण्डल से सदा के लिये पृथक् हो गये। सर्विया, ग्रीस, स्पेन तथा पुर्तगाल के उपनिवेशों, फ्रांस और बेल्जियम में उसके यथाशक्ति प्रयत्न करने पर भी राष्ट्रीयता एवं उदारवाद की विजय हो चुकी थी। वह समझ गया कि जिन देशों में इङ्गलेण्ड तथा फ्रान्स के हितों का प्राधान्य था वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं बल-प्रयोग से शान्ति क़ायम रखना असम्भव था और उसने इसकी आशा भी छोड़ दी। परन्तु अभी इटली तथा मध्य-योरोप में उसका प्रभाव अक्षुण्ण बना हुआ था और उसे प्रशा तथा रूस के सहयोग से उदारवाद के रोग से उन प्रदेशों को अछूता रखने तथा पुरानी व्यवस्था को क़ायम रखने की आशा थी।

क्रान्ति और दमन—कार्ल्सबाद-आदेश—ऑस्ट्रिया के साम्राज्य में तो मेटरनिख का प्रभाव इतना ज़बरदस्त था कि वहाँ फ्रान्स की क्रान्ति का कोई प्रभाव नहीं हुआ और शान्ति बनी रही। उसके बाहर जर्मनी तथा इटली में अवश्य गड़बड़ हुई परन्तु वह भी छोटे राज्यों में। सेक्सनी, हेनोवर, ब्रुन्स्विक तथा हेस-केसिल के राजाओं को दबकर फ्रान्स के १८१४ के चार्टर से मिलते-जुलते चार्टरों की घोषणा करनी पड़ी। हेनोवर का राजा तो स्वयं इङ्गलेण्ड का राजा तृतीय विलियम था जिसे इसमें कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती थी। इन राजाओं ने दबकर अधिकारों की घोषणा तो कर दी थी परन्तु वे इस स्थिति से असन्तुष्ट थे। उन्हें शीघ्र ही मेटरनिख का आश्वासन मिल गया और उनमें से अधिकांश ने दिये हुए अधिकारों को वापस ले लिया। उन दिनों मेटरनिख का ध्यान फ्रान्स, पोलैण्ड तथा इटली की घटनाओं की ओर लगा हुआ था। ज्योंही उसे उधर से अवकाश मिला त्योंही उसने जर्मनी की स्थिति की ओर ध्यान दिया और उदारवाद के विनाश पर कटिबद्ध होकर १८३२ में जर्मन राज्य-संघ की विधायिका सभा का अधिवेशन किया और जर्मनी के इस बढ़ते हुए रोग को समूल नष्ट करने के लिये विधायिका सभा की समस्त शक्तियों के प्रयोग का

प्रस्ताव किया। इसमें उसे प्रशा का सहयोग प्राप्त था। विधायिका सभा ने उसके आदेश का पालन किया, १८१६ में कार्ल्सबाद में जो आदेश जारी किये गये थे उनकी फिर से सृष्टि की गई, राजनीतिक सभाओं पर रोक लगा दी गई, प्रेस पर नियन्त्रण कड़े कर दिये गये, जहाँ विधायिका सभाएँ थीं वहाँ उनके अधिकार कम कर दिये गये, विश्वविद्यालयों पर भी नियन्त्रण कठोर कर दिया गया, यहाँ तक कि क्रान्तिकारी गीतों एवं चिह्नों तक की मनाही कर दी गई। इसके साथ ही यह घोषणा की गई कि यदि किसी राज्य में राजा तथा उसकी विधायिका सभा के बीच गत्यवरोध हुआ तो जर्मन राज्य-संघ की विधायिका सभा को वहाँ हस्तक्षेप करने का अधिकार होगा। अगले वर्ष फ्रेंकफर्ट में विधायिका सभा को बारूद से उड़ा देने के लिये एक षड्यन्त्र का पता चला जिस पर मुन्शेनग्रात्स (Munchengratz) में ऑस्ट्रिया और रूस के सम्राटों तथा प्रशा के युवराज ने मिल कर जर्मनी में उदारवादी आन्दोलन को कुचलने तथा इंगलैण्ड और फ्रान्स की जनतन्त्रीय प्रवृत्तियों का विरोध करने के लिये परस्पर सहयोग करने का निश्चय किया।

अखिल-जर्मन राष्ट्रीयता—इस प्रकार जर्मनी में प्रतिक्रिया का राज्य अखण्ड बना रहा और राजनीतिक स्थिति में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। मेटरनिख को इससे बड़ा सन्तोष था, परन्तु वह नहीं जानता था कि जर्मनी में दो प्रबल शक्तियों का जन्म हो चुका था जिसके द्वारा उसकी प्रतिक्रियावादी व्यवस्था का अन्त होना था। मेटरनिख ने उदारवादी आन्दोलनों का तो दमन कर दिया था परन्तु विचार के क्षेत्र में वह कुछ नहीं कर सका था और राष्ट्रीयता की भावना जोर पकड़ रही थी। प्रत्येक प्रगतिशील व्यक्ति के विचार इस भावना में डूबे हुए थे और कवियों, दार्शनिकों, इतिहासकारों आदि की लेखनियों से जर्मन राष्ट्रीयता के गौरवगान से पूर्ण साहित्य का अविरल स्रोत बह रहा था। जर्मनी के बड़े-बड़े प्रख्यात व्यक्ति, जैसे फिख्टे (Fichte) हीगेल, स्टाइन, डालमेन (Dahlmann) आदि इस बौद्धिक आन्दोलन में भाग ले रहे थे और विश्वविद्यालयों में राष्ट्रीय नव-जागरण हो रहा था। विद्यार्थियों के भवन राष्ट्रीय गान से गूँजते थे और सैनिकों की बारकों तक से राष्ट्रीय गाने तथा नारों की ध्वनि प्रसारित होती थी। यह 'अखिल-जर्मन राष्ट्रीयता' (Pan-Germanism) साहित्यिकों कवियों एवं शिक्षकों की ऐसी देन थी जो जर्मनी का प्रान्तीयता के गर्त से जिसमें विभिन्न राजाओं के स्वार्थ तथा मेटरनिख की व्यवस्था उसे ढकेल रहे थे, उद्धार करने में सफल हुई।

आर्थिक संयोग (Zollverein)—दूसरी शक्ति भिन्न प्रकार की थी और उसका जन्म प्रशा के अर्थमन्त्री मासेन (Maassen) के मस्तिष्क में हुआ था।

---

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 198.

यह उसकी राजनीतिक दूरदर्शिता का परिणाम नहीं, प्रत्युत् समय की आवश्यकताओं को अच्छी तरह समझने का परिणाम था।* प्रशा का राज्य अत्यन्त बिखरा हुआ और दूर-दूर तक फैला हुआ था जिसके बीच में अन्य राज्यों के कई प्रदेश थे। जगह-जगह चुङ्गी के नाके थे जिनसे व्यापार में रुकावटें पड़ती थीं और उद्योग-धन्धों की उन्नति मारी जाती थी। यातायात के साधन भी नहीं थे। चोरी से राज्य के अन्दर माल लाना और राज्य से बाहर ले जाना सरल था और इससे राज्य को आर्थिक क्षति पहुँचती थी। इतनी लम्बी, टूटी-फूटी सीमा के निरीक्षण की असम्भवता के कारण किसी प्रकार के मुक्त व्यापार की आवश्यकता थी; राज्य मे दूर-दूर के और भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रान्तों को एक करने के लिये भीतरी चुङ्गी की रुकावटें दूर करना आवश्यक था। मासेन ने यह देख कर प्रशा के लिये एक नई कर-व्यवस्था की। उसने राज्य के अन्दर आनेवाले माल पर कर सर्वत्र समान रूप से इतना हलका कर दिया कि चोरी से माल अन्दर लाना लाभप्रद न रहे, किन्तु राज्य की आमदनी के लिये कुछ वस्तुओं पर जो बाहर से आती थीं और जिन पर बन्दरगाहों में सरलता से निरीक्षण रखा जा सकता था, भारी कर लगाया गया। प्रशा के अन्दर तो उसने व्यापार पर कर नहीं रखा परन्तु अन्य राज्यों का जो माल प्रशा के राज्य में से होकर निकलता था उस पर उसने भारी कर लेना शुरू कर दिया। जर्मनी के मुख्य मार्ग प्रशा के राज्य में से होकर निकलते थे। इस नई व्यवस्था से अन्य राज्यों को क्षति पहुँचने लगी। पहले तो उन्होंने इसका बड़ा विरोध किया परन्तु जब उसका कोई परिणाम नहीं निकला तो उन्होंने प्रशा से सन्धि कर लेना ही अच्छा समझा। सर्वप्रथम सन्धि २५ अक्टूबर १८१६ को प्रशा तथा श्वार्ज़बुर्ग-सोण्डरहाउज़ेन राज्य के बीच हुई, जिसके द्वारा दोनों राज्यों के बीच व्यापार की रुकावटें हट गईं और दोनों की कर-नीति समान हो गई। इस व्यवस्था से लाभ देख कर अन्य राज्यों ने भी प्रशा से इसी प्रकार की सन्धियाँ कर लीं। प्रशा के साथ इस प्रकार पहले तो छोटे-छोटे राज्य एक समान कर-व्यवस्था में सम्मिलित हुए, परन्तु बाद में बड़े राज्य भी सम्मिलित होने लगे। इस प्रकार धीरे-धीरे प्रशा के नेतृत्व में एक विशाल आर्थिक संयोग (Customs Union या Zollverein) का निर्माण हो गया। मेटरनिख को इस संयोग के महत्व और ऑस्ट्रिया के लिये उससे उत्पन्न होनेवाले खतरे का ज्ञान बहुत देर में हुआ। उसने उसका विरोध करने का प्रयत्न भी किया किन्तु व्यर्थ। १८३४ में बेवेरिया, वुर्टेमबुर्ग तथा सेक्सनी के राज्य भी संयोग में सम्मिलित हो गये और १८४४ तक ऑस्ट्रिया, हेनोवर, ओल्डेनबुर्ग, मेक्लेनबुर्ग तथा तीनों हन्सा-नगरों को छोड़ कर प्रायः समस्त जर्मनी इस संयोग में आ चुका था।† ऑस्ट्रिया

* Phillips : Modern Europe, p. 52.

† Grant and Temeperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 147.

ने उसमें प्रवेश करने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु प्रशा ने उसके सब प्रयत्न विफल कर दिये। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से प्रायः सारा जर्मनी एक हो गया और इससे अनेक लाभ हुए। विभिन्न राज्यों के बीच जो व्यापारिक रुकावटें थीं वे दूर हो गईं और जर्मनी के व्यापार ने बड़ी उन्नति की। रेलें, सड़कें तथा नहरें बनीं, यातायात बढ़ने लगा और जर्मनी के उद्योग-धन्धों की भी उन्नति होने लगी। इस संयोग का त्रिविध महत्त्व था। इससे जर्मनी में विभिन्न राज्यों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया। इस सम्बन्ध का आधार आर्थिक था, इस कारण उसके विच्छेद की सम्भावना नहीं थी। इतना ही नहीं, इसके फलस्वरूप औद्योगिक उन्नति होने से जर्मनी में सर्वत्र एक मध्य-वर्ग का उदय हुआ जो अपने व्यापारिक लाभ से प्रेरित होकर जर्मनी की एकता का प्रबल समर्थक बन गया। इस संयोग के द्वारा ये विभिन्न राज्य, जो अभी तक ऑस्ट्रिया के नेतृत्व में थे, प्रशा के नेतृत्व में पहुँच गये और इसके साथ ही वे ऑस्ट्रिया से अलग रहने के अभ्यस्त हो गये।* इस प्रकार इस आर्थिक संयोग ने मेटरनिख के उद्देश्य विफल कर दिये और भविष्य में प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के राजनीतिक एकीकरण का मार्ग तैयार कर दिया।

(४) इटली

क्रान्ति—वियना-कांग्रेस के बाद के ३५ वर्षों का (१८१५-१८५०) इटली का इतिहास फूट, विदेशी प्राधान्य तथा स्पष्टतः विफल संघर्ष का इतिहास है।† हम देख चुके हैं कि १८२१ में नेपिल्स तथा पायडमॉण्ट के प्रगतिशील विचारों के लोगों ने अपनी सांविधानिक स्वतन्त्रता के लिये जो प्रयत्न किये थे उन्हें वहाँ के शासकों ने ऑस्ट्रिया की सहायता से विफल कर दिया था। उसके बाद इटली में प्रतिक्रिया का कठोर शासन रहा और जनता को प्रत्येक प्रकार से दबाने का प्रयत्न किया गया। तिस पर भी फ्रान्स की १८३० की क्रान्ति के प्रभाव से इटली बच नहीं सका। इस बार विद्रोह की आग पोप के राज्य, पार्मा तथा मोडीना में भड़की। पोप के राज्यों में बोलोन्या, एन्कोना तथा अन्य नगरों ने पोप के शासन का अन्त करने के लिये विद्रोह कर दिया। पार्मा में रानी मेरी लुइसा के विरुद्ध और मोडीना में ड्यूक चतुर्थ फ्रान्सिस के विरुद्ध लोग उठ खड़े हुए। मेरी लुइसा तथा फ्रान्सिस अपने-अपने राज्यों को छोड़ कर भाग गये और उन्होंने पोप सोलहवें ग्रेगरी के साथ मिल कर मेटरनिख से सहायता की प्रार्थना की। सहायता भी तुरन्त पहुँच गई, विद्रोही दबा दिये गये और तीनों शासकों को उनके राज्य फिर मिल गये। पोप ने कुछ सुधार करने का वचन दिया था परन्तु उसने अपने वचन का पालन नहीं किया। इससे क्रुद्ध होकर ऑस्ट्रिया की सेना के

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 199.

† Ketelbey : A History of Modern Times, p. 166.

हटते ही रोमान्या के लोगों ने फिर से विद्रोह कर दिया (जुलाई १८३१)। आॅस्ट्रिया की सेना फिर लौट आई। उसकी इच्छा एन्कोना पर अधिकार करने की थी परन्तु अब आॅस्ट्रिया के प्राधान्य में हिस्सा बँटाने के लिये एक दूसरी शक्ति आ खड़ी हुई। फ़्रान्स को इटली में आॅस्ट्रिया का प्राधान्य बिलकुल नहीं सुहाता था और वह भी उसमें हिस्सा बँटाना चाहता था। उसने फ़रवरी १८३२ में एक सेना इटली भेज दी और एन्कोना पर अधिकार कर लिया। फ़्रेञ्च सेना और आॅस्ट्रियन सेना दोनों ही अगले ६ वर्ष तक पोप के राज्य में बनी रहीं।

निराशा में आशा—इस प्रकार एक बार फिर उदारवाद की पराजय हुई। इसके कई कारण थे। जो प्रयत्न किये जाते थे, उनका रूप गुप्त षड्यन्त्रों का होता था। वे असम्बद्ध होते थे और उनके पीछे कोई संगठित तैयारी नहीं होती थी। कार्बोनारी दल के सदस्यों ने अपने अदम्य साहस और वीरतापूर्ण कार्यों से क्रान्तिकारी भावना को जीवित तो रखा था परन्तु उनका प्रचार जनता तक नहीं पहुँच सका था। जनता अभी क्रान्ति के लिये तैयार नहीं थी। सफलता के लिये एकता की आवश्यकता थी परन्तु एकता की इच्छा अभी तक कुछ नेताओं तक ही सीमित थी; उसकी मोहिनी शक्ति का प्रभाव जनता पर नहीं पड़ा था और जनता में उसके लिये कोई उत्कण्ठा नहीं थी। ऐसी स्थिति में सफलता असम्भव थी, परन्तु फिर भी इस अन्धकार में आशा की किरण दिखाई देती थी। यदि उदारवादी आन्दोलन निर्बल था, तो साथ ही साथ उसके प्रतिक्रियावादी शत्रुओं की कमज़ोरी भी स्पष्ट प्रकट हो गई थी, क्योंकि वे अपनी प्रजा को अपने बल से नहीं वरन् बाहरी शक्ति की सहायता से दबा सके थे। यह सिद्ध हो चुका था कि उनका अस्तित्व बाहरी सहायता पर निर्भर था। इटली में बाहरी शक्तियों का हस्तक्षेप बहुत ही बुरा था इसमें कोई सन्देह नहीं था, परन्तु प्रायः बुराई से अच्छाई भी निकल सकती है। अब तक इटली में आॅस्ट्रिया का ही प्राधान्य था परन्तु अब फ़्रान्स भी उसके मुक़ाबले आ पहुँचा था और इन दोनों शक्तियों की स्पर्द्धा से इटली लाभ उठा सकता था।

मेज़िनी—इस स्पर्द्धा से इटली को तत्काल तो कोई लाभ नहीं पहुँचा; वह अवसर बाद में आया। परन्तु अब इटली के राजनीतिक मंच पर एक अनन्य देशभक्त आ गया था जिसने इटली के राष्ट्रीय एवं उदारवादी आन्दोलन में नई जान फूँक दी। वह था जोज़ेफ़ मेज़िनी (Joseph Mazzini) जिसका जन्म जिनोआ में विश्वविद्यालय के एक आचार्य के परिवार में १८०५ में हुआ था। अपने बाल्यकाल में ही वह अपने देश की दुर्दशा को देख कर बड़ा दुःखी होता था। वह प्रायः अपने देश के दुर्भाग्य के विषय में सोचा करता था और उसके उद्धार के स्वप्न देखा करता था। विश्वविद्यालय से निकलने के बाद वह कार्बोनारी नामक गुप्त क्रान्तिकारी संस्था का सदस्य बन गया, यद्यपि वह उसके उद्देश्यों तथा कार्य-प्रणाली से सहमत नहीं था।

वह कहा करता था कि कार्बोनारियों का न कोई कार्यक्रम है, न कोई विश्वास है और न कोई उच्च आदर्श ही है। इस कमी को पूरी करना ही उसने अपने जीवन का मुख्य ध्येय बनाया।*

'युवक इटली'—कार्बोनारी होने के कारण वह १८३० में गिरफ़्तार कर लिया गया और सेवोना के क़िले में बन्द कर दिया गया। ६ महीनों के बाद वह मुक्त हो गया परन्तु उसे अपनी मातृभूमि छोड़नी पड़ी और अपने जीवन के शेष ४० वर्ष उसे प्रवास में ही बिताने पड़े। उसने फ़ान्स तथा स्विट्जरलैण्ड में प्रवास किया परन्तु वह अधिकतर इंगलैण्ड में रहा। कारागार से मुक्त होने के बाद वह फ़ान्स चला गया जहाँ उसने मार्सेइय में 'युवक इटली' (Young Italy) नामक एक समिति स्थापित की जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन में शीघ्र ही कार्बोनारी का स्थान ले लिया और नवीन इटली के निर्माण में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया।† वह कार्बोनारी समिति से असन्तुष्ट था; उसने दो क्रान्तियाँ की थीं परन्तु वह दोनों में असफल रही थी; उसका उद्देश्य केवल विनाशात्मक था और उसके पास नव-निर्माण की कोई योजना नहीं थी। 'युवक इटली' भी गुप्त समिति थी परन्तु उसने उसका कार्य केवल षड्यन्त्र करने तक ही सीमित नहीं रखा; उसका काम शिक्षा देकर इटली के लोगों में देशभक्ति तथा देश के प्रति कर्तव्य-भावना उत्पन्न करना था और उसके सामने एक आदर्श रखना था। उसका कार्यक्रम स्पष्ट और असंदिग्ध था—ऑस्ट्रियावालों को इटली से बाहर निकालना, इटली को स्वतन्त्र करना और उसका एकीकरण करना। "इस समिति का नारा था—ईश्वर, राष्ट्र और इटली; उसकी कार्य-प्रणाली थी—शिक्षा, साहित्यिक प्रचार तथा आवश्यकता पड़ने पर विद्रोह; और उसका कार्य था—इटली की स्वतन्त्रता की कल्पना को एक लोकप्रिय प्रयोजन में परिणत करना।"‡ युवकों के जोश में उसका बड़ा विश्वास था और इसी कारण उसने समिति की सदस्यता उन्हीं लोगों के लिये रखी जिनकी अवस्था ४० वर्ष से कम थी। उसके लिये इटली की स्वतन्त्रता तथा उसका एकीकरण एक नवीन धर्म था जो उच्चतम भावनाओं को स्पर्श करता था, जिसमें पूर्ण आत्मत्याग तथा आदर्श के साथ सम्पूर्ण एकता की आवश्यकता थी और जिसमें अग्रदूतों का काम युवकों को करना था।§ मेज़िनी के सन्देश ने युवकों में जोश फूंक दिया।

---

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 177.

† जर्मनी, पोलैण्ड और स्विटजरलैण्ड में इसी प्रकार के आन्दोलनों के संचालन के लिये उसने १८३४ में 'युवक योरोप' (Young Europe) नामक आन्दोलन भी प्रारम्भ किया था। Thomson : Europe since Napoleon, p. 150.

‡ Ketelbey : A History of Modern Times, p. 169.

§ Hazen : Modern European History, p. 326.

युवक नई समिति में धड़ाधड़ भरती होने लगे। स्थान-स्थान पर शाखाएँ खुलने लगीं और दो वर्षों में ही उसके सदस्यों की संख्या साठ हज़ार हो गई। इटली की स्वतन्त्रता के आन्दोलन में एक नये उत्साह का सञ्चार हो गया और इटली नई आशा के साथ आगे बढ़ने लगा। मेज़िनी तो, जैसा हम देख चुके हैं, देश से बाहर रहा परन्तु बाहर से ही वह युवकों को प्रेरित करता रहा और आन्दोलन का नेतृत्व करता रहा।

(५) पोलैण्ड

जर्मनी और इटली में क्रान्तिकारी विद्रोह नगण्य से रहे परन्तु पोलैण्ड में विद्रोह ने बड़ा भयङ्कर रूप धारण किया। उसकी भयङ्करता को समझने के लिये पोलैण्ड के पूर्व-इतिहास तथा उसके साथ किये गये घोर अन्याय का थोड़ा-सा वर्णन आवश्यक है।

पोलैण्ड की स्थिति—मध्य-काल में पूर्वी योरोप में पोलैण्ड बड़ा विस्तृत राज्य था। वह रूस से अधिक शक्तिशाली था और विस्तार में भी बहुत बड़ा था। वह उत्तर में बाल्टिक सागर से लेकर दक्षिण में काले सागर तक तथा पूर्व में नीपर नदी से लेकर पश्चिम में ओडर नदी तक फैला हुआ था। आधुनिक युग के आरम्भ में तुर्कों के आक्रमण से योरोप की रक्षा का भार उसी ने उठाया था। परन्तु उसमें कई कमजोरियाँ थीं। उसमें रहनेवाले लोगों में मुख्य पोल थे परन्तु पश्चिम की ओर जर्मन तथा पूर्व की ओर रूसी लोग भी बड़ी संख्या में निवास करते थे। नस्ल में भिन्न होने के साथ-साथ उन लोगों में धर्म तथा भाषा के भी भेद थे। पोल लोग रोमन केथोलिक थे, जर्मन प्रोटेस्टेण्ट तथा रूसी लोग ग्रीक चर्च के अनुयायी थे। इन भेदों के कारण पोलैण्ड में राष्ट्रीय एकता का अभाव था। वहाँ की सामाजिक दशा भी अन्य देशों की भाँति ख़राब थी और उसमें सामन्त-पद्धति के सभी दोष विद्यमान थे। वहाँ केवल दो वर्ग थे। कुलीन वर्ग के हाथों में देश की सारी सम्पत्ति और समस्त राजनीतिक सत्ता थी। कृषक लोगों की दशा बिलकुल दासों जैसी थी और उन्हें अपने स्वामियों के विरुद्ध सम्पत्ति का, यहाँ तक कि जीवन का भी, कोई अधिकार नहीं था। कुलीन वर्ग अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग निःसङ्कोच अपने स्वार्थ में करता था और उसे न कृषकों के हित का कोई ध्यान था, न देश-हित का ही। वे लोग अपने स्वार्थ में इतने रत थे कि उन्हें राजा के अधिकार भी अखरते थे। वहाँ राजा का पद सांविधानिक दृष्टि से निर्वाचित होते हुए भी वास्तव में वंशानुगत था, परन्तु सोलहवीं शताब्दी के अन्त की ओर वह पूर्णतया निर्वाचित हो गया था। निर्वाचित हो जाने के बाद राजा को एक इक़रार पर हस्ताक्षर करना पड़ता था जिसके द्वारा उसे सेना की कमाण्ड तथा सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति को छोड़ राजा के समस्त कामों को त्याग देना पड़ता था। राज्य का शासन वास्तव में सीनेट और डायट (Diet) के हाथों में था। सीनेट में बिशप लोग, राज्य के उच्च मजिस्ट्रेट तथा बारह बड़े सरकारी कर्मचारी

होते थे। डायट में आरम्भ में तो कुलीन वर्ग के समस्त वयस्कों को बैठने का अधिकार था परन्तु धीरे-धीरे उसके सदस्य दूतमात्र (Delegates) रह गये थे जो कुलीनों की प्रान्तीय सभाओं के आदेशों का अक्षरशः पालन करते थे। डायट का अधिवेशन ५ सप्ताहों के लिये होता था और प्रत्येक निर्णय के लिये सर्वसम्मति आवश्यक थी, जिसका परिणाम यह होता था कि कोई भी एक सदस्य विरुद्ध मत देकर या बिलकुल ही मत न देकर किसी भी निर्णय को रद्द कर सकता था।* ऐसी दशा में कोई सुधार नहीं हो सकता था। राजा का निर्वाचन कुलीन लोग करते थे। प्रत्येक निर्वाचन में षड्यन्त्र का बाजार गर्म रहता था और पड़ोसी राजा रिश्वत, बलप्रयोग तथा अन्य प्रकारों से निर्वाचन पर अपना प्रभाव डालकर अपने उम्मेदवार को राजा निर्वाचित कराने का प्रयत्न किया करते थे।

प्रथम अंग-भंग—इस प्रकार पोलैण्ड कुलीनों के स्वार्थ और पड़ोसी राज्यों के षड्यन्त्रों के कारण निर्बल होता जा रहा था और वहाँ अराजकता का प्रखण्ड राज्य था। ऐसा निर्बल देश सबल, सुसंगठित राज्यों—ऑस्ट्रिया, प्रशा तथा रूस—से घिरा हुआ था, जिनके राजा अपने राज्य के विस्तार के लिये सदा उत्सुक रहते थे और कोई मौका नहीं चूकते थे। पोलैण्ड को निर्बल बनाये रखना और अवसर पाकर उसे हड़प लेना तीनों का उद्देश्य था। ऐसा मौका १७६३ में आया जब कि वहाँ के राजा तृतीय ऑगस्टस के, जो सेक्सनी का शासक भी था, मरने पर उसके उत्तराधिकारी के निर्वाचन का प्रश्न उठा। प्रशा के राजा फ्रेडरिक तथा रूस की रानी केथरीन दोनों ने आपस में समझौता करके एक पोल सरदार स्टेनिसलास को राजा निर्वाचित करा लिया। किन्तु देशभक्त पोलों को बाहरी राज्यों का यह हस्तक्षेप पसन्द नहीं आया और उन्होंने रूस के प्रभाव का विरोध किया। स्टेनिसलास स्वयं शासन-व्यवस्था में सुधार करना चाहता था। उसने डायट के निर्णयों के लिये सर्वसम्मति की आवश्यकता का जो नियम था, उसे रद्द कराने का प्रस्ताव किया। इस पर रूस तथा प्रशा ने पोलैण्ड के रईसों तथा जागीरदारों को भड़का कर गृह-कलह करवा दिया और उससे लाभ उठा कर उसका अङ्ग-भङ्ग करके उसके कई प्रदेश छीन लिये। रूस ने उत्तर-पूर्व की ओर लिवना और ऊपरी नीपर नदी के पूर्व का भाग ले लिया, गेलिशिया का प्रदेश ऑस्ट्रिया को मिला और पश्चिमी प्रशा का प्रदेश प्रशा ने ले लिया (१७७२)। उस समय के योरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार का यह ज्वलन्त उदाहरण है।

सुधार के प्रयत्न—कुछ समय तक रूस और ऑस्ट्रिया का ध्यान टर्की की ओर लगा रहा। इसे भी वे इसी प्रकार हड़प लेना चाहते थे। उनका ध्यान उस ओर लगा हुआ देख कर पोलैण्ड के समझदार तथा देशभक्त व्यक्तियों ने सुधार करने का

---

* Wakemam : The Ascendance of France, pp. 279-280.

प्रयत्न किया। उन्होंने एक नया संविधान बनाया (१७९१) जिसके अनुसार राजा का पद वंशानुगत कर दिया गया, कुलीनों के विशेषाधिकार कम कर दिये गये, दो सदनवाली एक विधायिका सभा स्थापित की गई और सर्वसम्मति का नियम रद्द कर दिया गया। केथोलिक मत को राज्य-धर्म स्वीकार करके धार्मिक-कलह का भी अन्त कर दिया गया। अर्ध-दास व्यवस्था का अन्त तो नहीं किया गया परन्तु कृषकों के भार को कम करने के प्रयत्न किये गये।

द्वितीय अंग-भंग—पोलैण्डवालों के ये प्रयत्न फ्रेडरिक तथा केथरीन दोनों को पसन्द नहीं आये। नये संविधान के अनुसार राजा का पद सेक्सनी के शासक को दिया गया था। प्रशा को सेक्सनी तथा पोलैण्ड के संयुक्त राज्य से अपनी सुरक्षा के लिये खतरा था। सेक्सनी के शासक के राजा बन जाने से पोलैण्ड में रूस का प्रभाव नहीं रह सकता था। परन्तु ऑस्ट्रिया का सम्राट् द्वितीय लियोपोल्ड इस नई व्यवस्था से प्रसन्न था क्योंकि नया पोलैण्ड प्रशा पर रुकावट का काम देता। रूस और प्रशा ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। पोलैण्ड को ऑस्ट्रिया से सहायता की आशा हो सकती थी परन्तु उन दिनों वह फ्रान्स के साथ युद्ध में फँसा हुआ था, अतः असहाय पोलैण्ड को फिर पड़ोसियों के लोभ का शिकार बनना पड़ा। अब की बार केवल रूस तथा प्रशा ने ही उसका अंग-भंग किया। रूस ने पूर्व की ओर का एक बहुत बड़ा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया और प्रशा ने पश्चिम की ओर का बहुत-सा प्रदेश ले लिया (१७९३)। इस अंग-भंग को स्वीकार करने के साथ ही स्टेनिसलास को नवीन संविधान भी रद्द करना पड़ा। इस अंग-भंग में ऑस्ट्रिया को कुछ नहीं मिला।

तृतीय अंग-भंग और स्वतन्त्र पोलैण्ड का अन्त—अब देशभक्त पोलों ने कॉस्कीउस्को (Kosciuszko) नामक एक वीर प्रतिभाशाली नेता के नेतृत्व में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। कॉस्कीउस्को को आरम्भ में सफलता मिली। उसने क्रेको तथा वार्सा ले लिये परन्तु घर की फूट ने उसके समस्त प्रयत्न विफल कर दिये। उसने कृषकों को भूमि दे दी थी जिससे कुलीन लोग बिगड़ गये थे। नगरों की जनता विद्रोह से दूर रही। ऐसी अवस्था में उसकी पराजय निश्चित थी। पोलैण्ड पर रूस, प्रशा तथा ऑस्ट्रिया तीनों ने आक्रमण कर दिया और विद्रोह कुचल दिया गया। अब की बार तीनों राज्यों ने मिल कर पोलैण्ड के अवशेष का अन्तिम विभाजन करके उसके अस्तित्व का अन्त कर दिया। लूट का सबसे अधिक भाग—ड्विना नदी के निचले भाग तथा गेलिशिया के बीच का समस्त प्रदेश—रूस ने लिया। बग तथा नीमेन नदी के बीच का प्रदेश वार्सा सहित प्रशा को मिला और वार्सा के दक्षिण का प्रदेश ऑस्ट्रिया को दिया गया। इस प्रकार स्वतन्त्र पोलैण्ड की हत्या हुई और उसका अस्तित्व मिट गया (१७९५)।

पोलिश क्रान्ति और फ्रेञ्च क्रान्ति—पोलेण्ड के पिछले दोनों अंग-भंग उन दिनों में हुए जिन दिनों फ्रान्स में क्रान्ति हो रही थी। इस प्रकार योरोप में एक साथ ही दो क्रान्तियाँ हो रही थीं—फ्रान्स तथा पोलेण्ड में, यद्यपि दोनों के रूप भिन्न थे। फ्रान्स में स्वतन्त्रता, समानता, जनता का संप्रभुत्व जैसी उदात्त भावनाएँ काम कर रही थीं किन्तु पोलैण्ड में निरंकुश राजाओं का निर्लज्ज स्वार्थ एक स्वतन्त्रता-प्रेमी राष्ट्र की हत्या कर रहा था। परन्तु जहाँ इस बुराई का प्रभाव पोलैण्ड के लिये अत्यन्त घातक हुआ वहाँ वह फ्रान्स के लिये एक आशीर्वाद-रूप प्रमाणित हुई। पोलैण्ड की क्रान्ति ने फ्रेञ्च क्रान्ति की रक्षा कर दी। यदि ऑस्ट्रिया और प्रशा का ध्यान पोलैण्ड में अपनी स्वार्थ-सिद्धि की ओर न होता तो उनकी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग फ्रान्स के विरोध में होता और फ्रेञ्च क्रान्ति नष्ट हो जाती।

पोलैण्ड का पुनरुत्थान—पोलैण्ड की राजनीतिक स्वतन्त्रता की इस प्रकार हत्या हो गई परन्तु पोल लोगों का स्वातन्त्र्य-प्रेम इस अत्याचार से और भी तीव्र हो गया और वे अपनी स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त करने के लिये किसी उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। उन्हें आशा थी कि नेपोलियन उन्हें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सहायता देगा; उसने वार्सा की डची का निर्माण करके इस आशा को सींचा भी था परन्तु उनकी आशा व्यर्थ रही। वियना-कांग्रेस में वार्सा की डची को स्वतन्त्रता नहीं मिली, यद्यपि कांग्रेस 'न्याय्यता' के सिद्धान्त पर नई व्यवस्था करने का प्रयत्न कर रही थी। वह रूस को मिल गई। किन्तु रूस का ज़ार प्रथम एलेक्ज़ेण्डर उन दिनों उदारवादी विचारों से प्रभावित था। उसने पोलैण्ड को रूस से पृथक् एक स्वतन्त्र राज्य बनाने की योजना बनाई। वह रूस से पृथक् रखा गया, केवल वह स्वयं एक साथ ही रूस का सम्राट् तथा पोलैण्ड का राजा बना रहा। वह यह भी चाहता था कि पोलैण्ड को उसके अंगभंग के पूर्व जो प्रदेश उसके पास थे सब वापिस मिल जायँ परन्तु यह सम्भव नहीं हो सका। ऑस्ट्रिया तथा प्रशा ने कुछ प्रदेश तो लौटा दिये परन्तु कुछ अपने पास ही रहने दिये। एलेक्जेण्डर ने पोलैण्ड के नये राज्य को एक संविधान प्रदान किया और दो सदनवाली विधायिका सभा की स्थापना की जिसे काफी अधिकार मिले। रोमन केथोलिक मत राज्य का धर्म स्वीकार किया गया परन्तु साथ ही दूसरे धर्मों को भी स्वतन्त्रता रही; प्रेस को स्वतन्त्रता दे दी गई; पोलिश भाषा राज्य-भाषा बनी और शासन में समस्त पद पोल लोगों को ही दिये गये। पोलैण्ड की एक सेना का निर्माण भी हुआ जिसके सैनिक तथा अफ़सर सब पोल रहे।

इस प्रकार पोल लोगों को फिर से स्वतन्त्रता मिल गई। मध्य-योरोप में कहीं भी ऐसी उदारवादी संस्थाएँ नहीं थीं जैसे नये पोलैण्ड में और पोल नागरिकों को इतनी नागरिक स्वतन्त्रता कभी प्राप्त नहीं हुई थी जैसी अब प्राप्त थी।

असन्तोष—परन्तु इस नई व्यवस्था से पोल लोग पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं हुए।

उन्हें स्वशासन तो प्राप्त हो गया था परन्तु वे पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये उत्सुक थे और उनकी स्वतन्त्रता पर जो थोड़ी-बहुत रुकावटें शेष थीं वे उन्हें अखरती थीं । वे अपना असन्तोष प्रकट करने लगे और विरोध करने लगे। एलेक्ज़ेण्डर उस समय तक मेटरनिख के प्रभाव में आ गया था और क्रान्ति से डरने लगा था। एक समय तो उसने संविधान को रद्द करने का विचार भी किया। उसने संविधान रद्द तो नहीं किया परन्तु वह उसके सिद्धान्तों की अवहेलना करने लगा और रूसी अफ़सर, जिनको उसने नियुक्त किया था, अपने स्वामी की परिवर्तित मनोवृत्ति को देख कर शासन में पोल लोगों की स्वतन्त्रताओं की अवहेलना करने लगे। ज़ार ने अपने भाई ग्राण्ड ड्यूक कॉन्स्टेण्टाइन को, जो बड़ा अत्याचारी था, पोलिश सेनापति बना दिया जो वाइसराय के अधिकारों का प्रयोग करके अत्याचार करने लगा। इस पर पोल लोगों का विरोध बढ़ने लगा और गुप्त समितियाँ बनने लगीं। यह देखकर एलेक्ज़ेण्डर ने भी विधायिका सभा के अधिकार कम कर दिये और संविधान वस्तुतः रद्द हो गया।

विद्रोह— एलेक्ज़ेण्डर का १८२५ में देहान्त हो गया और प्रथम निकोलस ज़ार बना जो अत्यन्त निरंकुश मनोवृत्ति का था। उसके सिंहासनरूढ़ होने के साथ गुप्त क्रान्तिकारी आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा। इस आन्दोलन का सेना में काफी ज़ोर था। जुलाई १८३० की फ्रेन्च क्रान्ति के समाचार से पोलिश क्रान्तिकारियों में बड़ा उत्साह उत्पन्न हुआ और वे भी क्रान्ति के लिये तैयार हो गये। उधर बेल्जियम में भी विद्रोह हो गया था। उसके दमन के लिये जब ज़ार ने पोलिश सेना को कूच के लिये तैयार होने का आदेश दिया तो नवम्बर १८३० में वार्सा में सेना ने विद्रोह कर दिया। ग्राण्ड-ड्यूक कॉन्स्टेण्टाइन की हत्या का प्रयत्न विफल हुआ, परन्तु वह साहस छोड़कर भाग गया और रूसी सेना को वार्सा से हटा ले गया। क्रान्तिकारियों ने एक अस्थायी सरकार का निर्माण किया और २५ जनवरी १८३१ को पोलैण्ड के सिंहासन को खाली घोषित कर दिया। यह एक प्रकार से रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा थी। इसका उत्तर ज़ार ने पोलैण्ड में २,००,००० सैनिक भेज कर दिया। पोल लोग बड़ी वीरता से लड़े परन्तु उनमें न संगठन था और न अनुशासन। उसके नेता भी योग्य नहीं थे। सितम्बर के अन्त तक वे पूर्णतया परास्त हो गये और उनकी पराजय के साथ जो कुछ स्वतन्त्रता उन्हें अभी तक प्राप्त थी वह भी नष्ट हो गई। फ़रवरी १८३२ में एलेक्ज़ेण्डर का दिया हुआ संविधान रद्द कर दिया गया और पोलैण्ड रूस के साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। विद्रोहियों को बड़ा कड़ा दण्ड दिया गया; उनमें से अधिकांश को मृत्युदण्ड मिला और बहुत से साइबेरिया भेज दिये गये; पोलिश विश्वविद्यालय तथा पाठशालाएँ बन्द कर दी गईं और रूसी भाषा पोलैण्ड की राज्य-भाषा बना दी गई। पोलिश सेना रूसी सेना में सम्मिलित कर दी गई, शासन में रूसी अफ़सरों की भरमार हो गई और अत्यन्त निरंकुश एवं कठोर शासन आरम्भ हो गया।

स्वतन्त्रता का अन्त—इस प्रकार पोलैण्ड में क्रान्ति का परिणाम बेल्जियम से बिलकुल विपरीत हुआ। पोलैण्डवालों को बाहर से सहायता मिलने की आशा थी परन्तु वह आशा पूरी नहीं हुई। प्रशा इस क्रान्ति के विरुद्ध था। ऑस्ट्रिया चाहता तो था कि पोलैण्ड की सहायता करे और ऑस्ट्रिया के एक राजकुमार को स्वतन्त्र पोलैण्ड का राजा बना दे परन्तु इस भय से कि उसकी पोलिश प्रजा इससे प्रोत्साहित होकर कहीं स्वयं विद्रोही न हो जाय, चुप रहा और कुछ न बोला। इंगलैण्ड और फ्रान्स में लोकमत पोलैण्ड को सहायता देने के पक्ष में था परन्तु लुई फिलिप रूस से युद्ध करके अपना राज्य खोना नहीं चाहता था और इङ्गलैण्ड की सरकार, जो किसी प्रकार भी जनता की प्रतिनिधि नहीं थी, हस्तक्षेप न करने की नीति पर अड़ी रही। जब विद्रोह समाप्त हो गया तब अवश्य पामर्स्टन ने रूस की सरकार पर पोलैण्ड को अपने राज्य में मिला कर १८१५ की व्यवस्था भंग करने का दोष लगाया* और उसका विरोध किया किन्तु यह रोष-प्रदर्शन व्यर्थ था और पोलैण्डवालों के साथ एक क्रूर मजाक था।

इस प्रकार पोलैण्ड का राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न विफल हुआ, परन्तु इस पराजय तथा उसके बाद होनेवाले कठोर दमनकारी शासन से उनकी राष्ट्रीय भावना कुचली नहीं जा सकी। पोल लोग तीन राज्यों में विभाजित थे परन्तु वे राष्ट्रीय एकता के आदर्श से अनुप्राणित थे और कभी उन राज्यों की जनता में घुल-मिल कर एक न हो सके। वे 'तीन पेटों में तीन अनपचे टुकड़ों' की तरह बने रहे।† रूस में तो उनके साथ बड़ा कठोर व्यवहार रहा परन्तु ऑस्ट्रिया में और कभी-कभी प्रशा में उन्हें अपनी राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति की कुछ सुविधाएँ प्राप्त थीं। आगे चल कर जब ऑस्ट्रिया ने क्रेको अपने राज्य में मिला लिया तो उससे पोलैण्ड के पुनरुत्थान में बड़ी सहायता मिली। क्रेको पोलिश संस्कृति, कला, साहित्य तथा राष्ट्रीय प्रचार का केन्द्र बन गया और अन्त में पोलिश राष्ट्रीयता इसी बिन्दु से फैल कर सारे पोलैण्ड पर छा जाने और उसे स्वतन्त्र करने में सफल हुई। किन्तु यह तो भविष्य की बात रही। इस समय तो पोल लोग अपनी सफलता से अत्यन्त निराश हुए। उन्हें एकमात्र सन्तोष था तो यही कि उन्होंने विद्रोह करके योरोप के निरंकुश राज्यों के गुट को

---

* Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 242. जब पोल क्रान्तिकारी रूसी सेनाओं के सामने फरवरी में प्रथम बार हारे तो उस पर पामर्स्टन ने कहा था—"तो अब पोलों का अन्त हो गया। मुझे उनके लिये हार्दिक दुःख है परन्तु उनका मामला कुछ समय के लिये निराशाजनक हो गया है।" Ketelbey : A History of Modern Times, p. 184.

† Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 159.

फ्रान्स तथा बेल्जियम में हस्तक्षेप में नहीं करने दिया और इस प्रकार उन दोनों स्थानों की क्रान्तियों को सफल बनाने में सहायता दी।*

(६) इङ्गलैण्ड

फ्रेञ्च क्रान्ति का इंगलैण्ड पर प्रभाव—फ़ान्स की जुलाई-क्रान्ति के प्रभाव से इङ्गलैण्ड भी नहीं बच सका। इङ्गलैण्ड की जनता अन्य देशों की जनता की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र थी। इसी कारण जब १७८६ में फ़ान्स की महान् क्रान्ति का श्रीगणेश हुआ तो इङ्गलैण्ड में उसका बड़ा स्वागत हुआ और वहाँ के राजनीतिज्ञों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। वहाँ कुछ दिनों से पार्लमिण्ट के सुधार के लिये आन्दोलन चल रहा था। क्रान्ति के समाचार से सुधारकों में नये उत्साह का सञ्चार हुआ और जनतन्त्रीय आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा। समस्त देश में सांविधानिक सुधार के लिये समितियाँ स्थापित होने लगीं; उनमें से कई फ़ान्स के राजनीतिक क्लबों से सम्पर्क भी स्थापित करने लगीं। परन्तु जब क्रान्ति ने रूप बदला और फ़ान्स में स्वतन्त्रता के नाम पर रक्त बहाया जाने लगा तो इङ्गलैण्ड में जनमत बदलने लगा और लुई की हत्या के बाद तो बिलकुल क्रान्ति-विरोधी हो गया। प्रधान मन्त्री पिट की पहले तो क्रान्ति के प्रति सहानुभूति थी परन्तु अब उसका भी विचार बदला। उसे भय था कि कहीं इङ्गलैण्ड में भी फ़ान्स के समान गड़बड़ न फैल जाय। उसे ऐसा मालूम होने लगा मानो जो लोग सुधार की माँग कर रहे थे वे छिपे हुए क्रान्तिकारी और देशद्रोही थे। उसने दमन-नीति का आश्रय लिया और सुधार की माँग करनेवालों का भयङ्कर दमन आरम्भ किया। उसने उन पर मुक़द्दमे चलवाये, भाषण तथा प्रेस की स्वतन्त्रता पर कड़ी रुकावटें लगाईं और पार्लमिण्ट के सुधार के लिये कार्य करनेवाली समस्त समितियाँ क़ानून द्वारा बन्द कर दी गईं। सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का नियम (Habeas Corpus Act) स्थगित कर दिया गया। मज़दूरों के संगठन के विरुद्ध नियम बनाये गये और उनकी मजदूर-सभाएँ ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर दी गईं। इङ्गलैण्ड की परम्परागत स्वतन्त्रता पर इतने कठोर नियन्त्रण लगा कर पिट ने अपने ऊपर कलंक लगा लिया परन्तु यह बात निस्सन्देह है कि इस दमनकारी नीति में पिट को देश का समर्थन प्राप्त था। इस प्रकार फ्रेञ्च क्रान्ति का इङ्गलैण्ड पर मुख्य प्रभाव घोर प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुआ और राजनीतिक सुधार के आन्दोलन को, जो बढ़ रहा था, गहरी ठेस लगी।† जब तक इङ्गलैण्ड फ़ान्स से युद्ध में लगा रहा तब तक इस नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

---

* **Hazen : Modern European History, p. 287.**

† **Muir : British History, p. 466.**

जब १८१५ में युद्ध बन्द हुआ तो सब लोगों को आशा थी कि शान्ति के साथ सुख और समृद्धि के दिन लौट आयेंगे परन्तु हुआ बिलकुल उल्टा। वाटरलू की विजय के बाद कुछ वर्ष अँग्रेजों के आधुनिक इतिहास में सबसे अधिक कष्टमय थे; युद्ध-काल के कष्ट बढ़ गये।

युद्ध के बाद बिक्री खूब होने की आशा से कारखानेवालों ने बहुत-सा माल तैयार कर लिया था परन्तु महाद्वीप के देश ग़रीब हो गये थे और इस माल को खरीद नहीं सकते थे। इसके अतिरिक्त अब वहाँ भी कारखाने काम करने लगे थे। ऐसी दशा में कई लोग दिवालिया हो गये; कारखाने बन्द हो गये और असंख्य लोग बेकार हो गये। अनाज का मूल्य कम हो जाने से किसानों की भी बड़ी हानि हुई। किन्तु अनाज का भाव सस्ता हो जाने से ग़रीबों को कोई लाभ नहीं हुआ था क्योंकि इसके साथ-साथ रोटी के दाम में कोई कमी नहीं हुई थी। ऐसी अवस्था में समस्त देश में असन्तोष व्याप्त था। उस समय सरकार टोरी (प्रतिक्रियावादी) दल की थी जिसमें लॉर्ड लिवरपूल प्रधान मन्त्री था, परन्तु उस पर वास्तव में विदेश-मन्त्री केस्लरी, गृह-मन्त्री सिडमाउथ तथा लॉर्ड चान्सलर एल्डन का प्रभाव अधिक था। वे सब प्रतिक्रियावादी थे और इस स्वाभाविक असन्तोष को क्रान्ति की भावना समझते थे। उन्होंने असन्तोष के कारणों को दूर करने का प्रयत्न नहीं किया; उल्टे, कठोर दमन आरम्भ किया। इस प्रकार योरोप के अन्य देशों की भाँति इङ्गलैण्ड में भी वियना कांग्रेस के बाद का समय प्रतिक्रिया का समय रहा। परन्तु अपनी दमन-नीति के कारण सरकार बड़ी अप्रिय एवं बदनाम हो गई और अधिक न टिक सकी। केस्लरी ने आत्मघात कर लिया; सिडमाउथ ने त्याग-पत्र दे दिया और मन्त्रिमण्डल में नये मन्त्री पहुँचे जो टोरी होते हुए भी सुधार के पक्षपाती थे। नये मन्त्रियों में कैनिंग, हस्किन्सन और राबर्ट पील मुख्य थे। इन लोगों ने अनेक उपयोगी सुधार किये; बाहर से आनेवाली कई वस्तुओं पर कर कम कर दिये गये और कुछ कर बिलकुल उठा लिये गये; अनाज पर कर कम कर दिया गया ताकि बाहर से कुछ परिमित मात्रा में अन्न मँगाया जा सके; दण्ड-विधान में भी सुधार हुआ और क़ानूनों की कठोरता में कमी हुई; धर्म-क्षेत्र में सहिष्णुता आई, कैथोलिकों तथा डिसेण्टरों के ऊपर जो रुकावटें थीं वे हटा ली गईं और उन्हें धार्मिक स्वतन्त्रता दे दी गई।

पार्लामेण्ट के सुधार का आन्दोलन—जहाँ इतने सुधार हो रहे थे वहाँ पार्लामेण्ट के सुधार का प्रश्न उठना अनिवार्य था। इस सुधार के लिये, जैसा हम देख चुके हैं, फ्रेन्च क्रान्ति के पूर्व आन्दोलन चल रहा था परन्तु पिट ने उसका दमन कर दिया था। उस समय पार्लामेण्ट एक कुलीनवर्गीय संस्था थी। लॉर्ड-सभा के तो सभी सदस्य जमींदार थे परन्तु लोक-सभा (House of Commons) भी जनता का किसी रूप में प्रतिनिधित्व नहीं करती थी; उस पर ज़मींदारों का पूर्ण प्रभाव था। इस

सभा के निर्वाचन के लिये तीन प्रकार के निर्वाचन-क्षेत्र थे – काउण्टी, बरो तथा विश्व-विद्यालय। काउण्टियों (ज़िलों) से १८६ सदस्य चुने जाते थे। इन सदस्यों का निर्वाचन करनेवालों के लिये ऐसी भूमि के स्वामी होना आवश्यक था जिसका वार्षिक लगान ४० शिलिङ्ग हो। बरो (नगर) ४६७ सदस्य चुनते थे। नगरों के अपने-अपने अलग निर्वाचन-कानून थे और मतदाताओं की योग्यताएँ भिन्न-भिन्न थीं। यथार्थ में नगरों में निर्वाचन थोड़े से ही व्यक्तियों द्वारा होता था। कई नगर जो पहले बड़े थे वे अब छोटे गाँवों के रूप में रह गये थे परन्तु उनसे उतने ही सदस्य चुने जाते थे जितने पहले। ऐसे नगर प्रायः पड़ोसी ज़मींदारों के प्रभाव में होते थे और वहाँ से उन्हीं के कृपापात्र निर्वाचित होते थे। उस समय कई बड़े-बड़े नगर ऐसे थे जो पहले केवल गाँव थे और जिनकी जनसंख्या व्यावसायिक क्रान्ति के फलस्वरूप बहुत बढ़ गई थी, परन्तु जिनसे एक भी सदस्य नहीं चुना जाता था। संक्षेप में, लोकसभा में किसी प्रकार भी इंगलैण्ड की सामाजिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब नहीं मिलता था। समस्त सदस्यों के दो-तिहाई सदस्य ऐसे थे जो केवल नाममात्र को निर्वाचित कहे जा सकते थे परन्तु जो वास्तव में किसी न किसी प्रकार कुछ थोड़े से प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा नियुक्त होते थे। इस दशा में लोकसभा का नाम ही अशुद्ध था क्योंकि वह लोक (सर्वसाधारण जनता) का नहीं, प्रत्युत थोड़े से ज़मींदारों तथा व्यापारियों का प्रतिनिधित्व करती थी।*

प्रथम सुधार-कानून—ऐसी अ-प्रतिनिधि पार्लमिण्ट का सुधार अत्यन्त आवश्यक था। जब तक इङ्गलैण्ड में टोरी शासन रहा तब तक सुधार की माँग का विरोध होता रहा परन्तु माँग भी बढ़ती रही। फ्रान्स की जुलाई-क्रान्ति से सुधारवादियों का साहस बढ़ा और सुधार-आन्दोलन की प्रगति तेज़ हुई। उसी समय चतुर्थ जॉर्ज की मृत्यु हो गई और चतुर्थ विलियम सिंहासन पर बैठा (१८३०)। वह उदार था। १८३१ में जो निर्वाचन हुए उनमें टोरी दल की पराजय हुई और उदारवादी ह्विग दल का बहुमत रहा। नई ह्विग सरकार, जिसमें लॉर्ड ग्रे प्रधान मन्त्री था, लॉर्ड-सभा तथा लोक-सभा के टोरी सदस्यों के प्रबल विरोध का सामना करके राजा की सहायता से प्रथम सुधार-कानून पास करने में सफल हुई (१८३२) जिसके फलस्वरूप मतदाताओं की संख्या दुगुनी हो गई और काउण्टियों में कृषकों तथा पट्टेदारों को और नगरों में मध्यम वर्ग को मतदान का अधिकार प्राप्त हो गया। इस कानून से सबसे अधिक लाभ मध्यम वर्ग को हुआ क्योंकि उद्योग-धन्धों की उन्नति के साथ उसकी संख्या बढ़ती जा रही थी और इसके साथ-साथ उसका प्रभाव भी बढ़ता जा रहा था। किन्तु राजनीतिक सत्ता मध्यम वर्ग के हाथों में नहीं पहुँची। शासन-सत्ता इसके बाद भी कई वर्षों तक पुराने शासक वर्ग के हाथों में रही आई, किन्तु अब उसे मध्यम वर्ग को अपने साथ लेकर

---

* Schevill : A History of Modern Europe, p. 491.

चलना पड़ा और उसके हितों का ध्यान रखना पड़ा। सर्वसाधारण जनता को छोटे किसानों तथा मजदूरों को, जिन्होंने अपनी बड़ी-बड़ी सभाओं, प्रदर्शनों एवं उपद्रवों द्वारा सुधार-बिल को पास कराने में बड़ी सहायता की थी इससे कोई लाभ नहीं पहुँचा; वे मताधिकार से वञ्चित रहे आये। इस प्रकार १८३२ के सुधार से इङ्गलैण्ड में जन-तन्त्र तो स्थापित नहीं हुआ परन्तु वह उसकी ओर एक महत्वपूर्ण क़दम अवश्य था।

१८३० की क्रान्तियों पर विहंगम दृष्टि—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि १८३० की क्रान्तियों ने वियना-व्यवस्था को, जिसे हम मेटरनिख़-व्यवस्था भी कह सकते हैं, काफ़ी आघात पहुँचाया। बेल्जियम की स्वतन्त्रता से इस व्यवस्था को प्रथम घातक आघात लगा। बेल्जियम ने एक जर्मन राजकुमार लियोपोल्ड को अपना राजा स्वीकार करके और फ़्रान्स ने लुई फ़िलिप को अपना राजा चुन कर न्याय्यता के सिद्धान्त का उल्लंघन किया। बेल्जियम में राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की विजय हुई और फ़्रान्स तथा इङ्गलैण्ड में लोकतन्त्र की प्रगति हुई। उधर पञ्चमुखी संघ में भी फूट पड़ी। इङ्गलैण्ड और फ़्रान्स ने निरंकुश राज्यों के साथ सहयोग करने से इन्कार कर दिया; किन्तु अभी ऑस्ट्रिया, रूस और प्रशा, जो प्रतिक्रिया के गढ़ थे, क्रान्ति के विनाशकारी प्रभाव से सुरक्षित थे। इस प्रकार मेटरनिख़-व्यवस्था बुरी तरह से हिल अवश्य गई थी, फिर भी अक्षत बनी हुई थी।

अध्याय २१

लुई फ़िलिप तथा १८४८ की क्रान्ति

लुई फ़िलिप का चरित्र—फ़्रान्स के सिंहासन पर आरूढ़ होने के समय लुई फ़िलिप की आयु ५६ वर्ष की थी। वह समझदार था, धार्मिक मामलों में सहिष्णु था और सांविधानिक राजा की स्थिति तथा उसकी मर्यादाओं का उसे ज्ञान था। फ़्रान्स में दैवी अधिकारयुक्त राजपद के प्रति जो घृणा व्याप्त थी उसे वह ख़ूब जानता था और अपने आचरण में उस भावना का सन्देह नहीं होने देता था। वह साधारण रीति से रहता था, बगल में छाता दबाये नगर में पैदल ही निकल जाता, सबसे निस्संकोच मिलता और कभी-कभी मज़दूरों के साथ बैठ कर शराब भी पी लेता था। परन्तु इस सादगी के पर्दे में सत्ता-लोलुपता एवं स्वेच्छाचारिता छिपी हुई थी।*

कठिनाइयाँ—किन्तु आरम्भ से ही उसकी स्थिति कमज़ोर थी। सिंहासन के लिये उसका सांविधानिक अधिकार निर्बल था क्योंकि उसका निर्वाचन जनता द्वारा नहीं, केवल प्रतिनिधि-भवन द्वारा हुआ था जिसको राजा चुनने का कोई अधिकार नहीं था और जिसके ४३० सदस्यों में से केवल २१९ सदस्यों ने उसके पक्ष में मत दिया था। इसके अतिरिक्त दशम चार्ल्स इस सभा को विधिवित् भंग कर चुका था और उसका कोई सांविधानिक अस्तित्व नहीं था। उसके अधिकार को अनेक दल मानने के लिये तैयार नहीं थे; न्याय्यता के सिद्धान्त के समर्थक उससे घृणा करते थे और राजकुमार शाम्बोर्द के वैध अधिकार को धोखे और निर्लज्जता के साथ चुरा लेनेवाला चोर समझते थे। बोनापार्टिस्ट दल के लोग नेपोलियन के पुत्र को राजा बनाना चाहते थे और उसके विरोधी थे। किन्तु उसका सबसे प्रबल विरोधी गणतन्त्र दल था जिसके नेता मध्यवर्गीय थे और बड़े उत्साही थे। इस दल में अधिकतर पेरिस, लियों तथा अन्य व्यावसायिक नगरों के मज़दूर थे जिनका क्रान्ति के सिद्धान्तों में विश्वास था और जिनके लिये वे सब कुछ करने को तैयार थे।† वे गणतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे परन्तु जब लाफ़ायेत ने उन्हें आश्वासन दिया कि लुई फ़िलिप पक्का जनतन्त्रवादी था और शीघ्र ही गणतन्त्रीय संस्थाओं की स्थापना करेगा तो वे मान गये थे और उन्होंने उसे स्वीकार

---

* Hazen : Modern European History, p. 289.

† "फ़्रान्स का 'जुलाई-राजतन्त्र' ज्वालामुखी पर निर्मित एक काष्ठ-मंच था जिसके नीचे गणतन्त्रवाद की दबी हुई अग्नि सुलग रही थी; जिसका १८३० में दमन कर दिया गया था और जो तभी से अधिकाधिक समाजवादी बनता जा रहा था।" Palmer : A History of the Modern World, p. 470.

कर लिया था। किन्तु उनकी आँखें शीघ्र ही खुल गईं, जब लुई फिलिप ने गणतन्त्रीय दिशा में कोई क़दम नहीं उठाया, उलटे एक संकुचित मध्यवर्गीय शासन स्थापित किया जो जनतन्त्र का उतना ही विरोधी था जितना कुलीनतन्त्र का, तो वे उसके कट्टर विरोधी बन गये। अतः उसे मध्यम वर्ग के समर्थन पर निर्भर रहना पड़ा जिसने उसे राजा बनाया था और जो १८३० की शासन-व्यवस्था को क़ायम रखना चाहता था। इसी कारण यह दल सांविधानिक (Constitutionalist) दल कहलाता था।

मध्यवर्ती नीति—वह एक अपरिवर्तनवादी सांविधानिक शासक की तरह शासन करना चाहता था। उसकी नीति न प्रतिक्रियावादी थी और न उग्र; वह 'मध्यवर्ती' थी। उसने १८१४ के संविधान को कुछ परिवर्तनों के साथ स्वीकार किया; ऊपरी भवन के सदस्यों की अवधि जीवन भर के लिये रखी गई, राजा के साथ-साथ दोनों भवनों को क़ानून के प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार मिला और मतदाताओं की योग्यताओं में कमी करके मताधिकार का विस्तार किया गया। अब तक वे ही लोग मत दे सकते थे जो ३०० फ़्रैङ्क प्रत्यक्ष कर के रूप में देते थे। अब २०० फ़्रैङ्क प्रत्यक्ष कर देनेवालों को मताधिकार मिल गया और मतदाताओं की संख्या दुगुनी हो गई। किन्तु इस सुधार से सर्वसाधारण जनता को कोई लाभ नहीं हुआ। इससे लाभ उठानेवाला वर्ग पूँजीपतियों का ही रहा जिसके समर्थन की उसे आवश्यकता थी। इस सीमित मताधिकार ने फ़्रेंच जनता की समानता की भावना को बड़ी चोट पहुँचाई। जनता नाराज हो गई और लुई फिलिप का अन्तिम पतन निश्चित हो गया।*

विरोध—इस प्रकार लुई फिलिप ने एक व्यापक विरोध के वातावरण में अपना शासन आरम्भ किया। अपने शासन के प्रथम पाँच वर्ष में उसे कई विद्रोहों का सामना करना पड़ा। प्रथम विद्रोह न्याय्यता के समर्थकों की ओर से राजकुमार शाम्बोर्द की माता बेरी की डचेस के नेतृत्व में वांदे (Vendee) में हुआ (१८३२), परन्तु जनता का समर्थन प्राप्त न होने के कारण वह बड़ी सरलता से दबा दिया गया। यह विद्रोह तो साधारण था परन्तु गणतन्त्रीय लोगों के विद्रोह (१८३२ तथा १८३४) अधिक भयंकर थे, किन्तु सरकार ने उन्हें भी दबा दिया। १८३५ में लुई फिलिप की हत्या का भी एक निष्फल प्रयत्न हुआ।

दमन—इस निरन्तर विरोध को देख कर लुई फिलिप ने सितम्बर १८३५ में बड़े कठोर दमनकारी नियम बनाये जिनके द्वारा गणतन्त्रीय सभाओं एवं समितियों को बन्द कर दिया गया, उनके समाचार-पत्र बन्द कर दिये गये और उनके सम्पादकों पर भारी जुर्माने किये गये, सरकार की अनुमति के बिना सार्वजनिक सभाएँ करना मना

---

* Lodge : A History of Modern Europe, p. 673

कर दिया गया, राज्य की आलोचना करना या एकतन्त्र को छोड़ अन्य किसी शासन-प्रणाली की बात तक करना निषिद्ध ठहरा दिया गया और इन क़ानूनों को तोड़नेवालों को दण्ड देने के लिये विशेष न्यायालय बनाये गये। इन कानूनों के द्वारा उसने समस्त विरोधियों का, विशेषकर गणतन्त्रियों का, बड़ा कठोर दमन किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि विरोधियों के लिये खुले तौर से काम करना असम्भव हो गया। इस प्रकार लुई फिलिप ने उदारवाद का आवरण उतार फेंका और पूँजीपति वर्ग की सहायता से स्वेच्छाचारी शासन आरम्भ किया।

लुई फिलिप और उसके मन्त्री—लुई फिलिप पूँजीपतियों की सहायता पर तो निर्भर था परन्तु उनके नेताओं से उसका मतभेद था और उसके, उसके मंत्रियों के तथा विधायिका के बीच प्रायः संघर्ष रहता था। उसके शासन के प्रथम दस वर्षों में दस मन्त्रिमण्डल बने परन्तु उनमें से एक भी ऐसा नहीं निकला जिसके साथ उसकी पटती। वह इङ्गलैण्ड के राजा के समान केवल दर्शनीय मूर्ति बन कर रहना नहीं चाहता था। वह वास्तविक शासन करना चाहता था, किन्तु उसके मन्त्री चाहते थे कि वह केवल सांविधानिक राजा रहे, राज्य करे, शासन नहीं। दस वर्ष बाद उसे अपनी इच्छा के अनुकूल मन्त्री मिला। वह था 'सभ्यता का इतिहासकार' गिज़ो (Guizot) जिसके विचार राजा से मिलते थे और जो कट्टर अपरिवर्तनवादी था। उसकी दृष्टि में १८३० में संशोधित १८१४ का संविधान बिलकुल उपयुक्त था और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन अनावश्यक ही नहीं, खतरनाक भी था। वह प्रत्येक परिवर्तन का विरोध करता था और प्रत्येक आन्दोलन को उनके नेताओं की स्वार्थ-सिद्धि का साधन समझ कर उसकी अवहेलना करता था। इस अपरिवर्तनवादी निषेधात्मक नीति से जनता बड़ी असन्तुष्ट हो गई और सरकार अत्यन्त अप्रिय हो गई।

नवीन स्थिति—आश्चर्य की बात तो यह थी कि न लुई और न उसका मन्त्री गिज़ो ही उस समय की देश की परिस्थिति से परिचित था। व्यावसायिक क्रान्ति के फलस्वरूप फ्रान्स में सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में बड़े महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे, देश में बड़े-बड़े कारखाने बढ़ रहे थे जिससे उत्पादन में वृद्धि हो रही थी, व्यापार में विस्तार हो रहा था और देश में समृद्धि बढ़ रही थी। किन्तु इस उन्नति से लाभ उठानेवाले केवल पूँजीपति थे जो निरन्तर अधिकाधिक धनवान बनते जा रहे थे। दूसरी ओर कारखानों में काम करनेवाले मज़दूरों की दशा उत्तरोत्तर बिगड़ती जा रही थी; वे पूँजीपति कारखानेवालों की दया पर निर्भर थे; पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों को कम वेतन पर अधिक समय तक कारखानों में काम करना पड़ता था और उनके रहने-सहने की व्यवस्था भी अत्यन्त शोचनीय थी। अपनी दशा में कुछ सुधार करने

का उनके पास एक ही उपाय था—मजदूर-सभाएँ बनाना और उनके द्वारा आन्दोलन करना—परन्तु क़ानून द्वारा मज़दूर-सभाओं का निर्माण निषिद्ध था। १८३५ से तो राजनीतिक दलों द्वारा आन्दोलन करना भी मना हो गया था। ऐसी स्थिति में मज़दूरों का असन्तोष स्वाभाविक था। लुई फिलिप का शासन-काल पूँजीपतियों तथा श्रमिकों के लम्बे संघर्ष का काल रहा जिसमें शासक वर्गों के समस्त हित पूँजीपतियों के पक्ष में और श्रमिकों के विरुद्ध थे।*

नवीन सिद्धान्त—समाजवाद—यह स्थिति बिलकुल नई थी और उसने बिलकुल नये सिद्धान्त को जन्म दिया। अनेक विचारक उद्योग-धन्धों के संगठन तथा पूँजीपतियों और मज़दूरों के सम्बन्धों पर विचार प्रकट करने लगे। इस प्रकार समाजवादी सिद्धान्तों का प्रचार आरम्भ हुआ। सबसे प्रथम समाजवादी लेखक सेंत साइमन (१७६०-१८२५) तथा फ़ाउरिए (१७७२-१८३७) थे जिनके सिद्धान्तों का कुछ वर्षों से फ़ान्स में प्रचार हो रहा था। किन्तु उनके विचार कुछ इने-गिने व्यक्तियों तक ही सीमित थे और उनका प्रभाव भी अधिक नहीं था। परन्तु अब विचारों को एक ऐसे व्यक्ति ने अपनाया जो दार्शनिक नहीं वरन् राजनीतिज्ञ था, जो उन विचारों को जनता तक पहुँचा सकता था और उनको कार्यरूप में परिणत करने के लिये उसे प्रेरित कर सकता था। वह था लुई ब्लां (Louis Blanc) (१८११-१८८२)। उसने अपने लेखों द्वारा फ़ान्स के मज़दूरों को तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के दोष बतलाये और उन दोषों के लिये उस समय की सरकार को उत्तरदायी ठहराया जिसका शासन धनिकों का, धनिकों के द्वारा और धनिकों के लिये था। मज़दूरों के कष्ट-निवारण के लिये उस सरकार को नष्ट करना और राज्य का जनतन्त्रीय आधार पर पुनः संगठन करना आवश्यक था। उसने बतलाया कि प्रत्येक मनुष्य का यह अधिकार है कि उसे काम मिले और राज्य का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक मनुष्य को काम दे। यह तभी हो सकता है जबकि राज्य उद्योग-धन्धों को स्वयं अपने हाथ में लेकर उनका संगठन करे। राज्य को चाहिये कि वह अपनी ही पूँजी से राष्ट्रीय कारखाने खोले। उनका प्रबन्ध काम करनेवालों के हाथों में छोड़ दे और उससे होनेवाले लाभ को उन्हें ही दे दे। इस प्रकार मज़दूरों के श्रम को मोल लेनेवाले और उससे लाभ उठानेवाले पूँजीपति मिट जायँगे और उनके श्रम का पूर्ण पुरस्कार उन्हें ही मिलेगा। लुई ब्लां ने इन विचारों को अपनी पुस्तक 'श्रम का संगठन' (Organization of Labour) में बड़ी अच्छी तरह व्यक्त किया। मजदूरों पर इन विचारों का तात्कालिक प्रभाव पड़ा और वे 'काम के अधिकार' की माँग करने लगे। इन विचारों के आधार पर मज़दूरों का एक समाजवादी दल बन गया। यह दल भी गणतन्त्र की स्थापना चाहता था परन्तु वह

* Lodge : A History of Europe, p. 673.

अन्य गणतन्त्रियों से भिन्न था क्योंकि पुराने गणतन्त्री तो केवल शासन के रूप में ही सुधार चाहते थे परन्तु समाजवादी राजनीतिक सुधार से बहुत आगे बढ़ कर समाज का नवनिर्माण चाहते थे।* मजदूरों के कष्ट वास्तविक थे परन्तु लुई फ़िलिप तथा पूँजीपति वर्ग ने, जिसके हाथों में शासन की सत्ता थी, उनकी दयनीय अवस्था पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि मजदूरों में असन्तोष बढ़ता गया और उन्होंने ऐसे निर्मम शासन को पलटने के लिये गुप्त समितियाँ बनाना आरम्भ कर दिया। राज्य की ओर से उपेक्षित होकर लुई ब्लां के सिद्धान्त इस रीति से कार्यान्वित होने लगे। समाजवाद ने, जो अभी तक केवल सिद्धान्त के ही रूप में था, अब राजनीतिक शक्ति का रूप धारण कर लिया। समाजवाद की यह प्रगति इस युग की एक महत्वपूर्ण घटना है।† यही सिद्धान्त था जिसने १८४८ की क्रान्ति को प्रेरक शक्ति प्रदान की और जो ओर्लिएँ वंश के एकतन्त्र के पतन का कारण बना।‡

सुधारवादी दल—लुई फ़िलिप की इस हृदयहीन अपरिवर्तनवादी नीति का विरोध केवल जनता की ओर से ही नहीं हो रहा था; स्वयं पूँजीपति वर्ग में भी इस नीति के सम्बन्ध में मतभेद था। उस वर्ग में भी एक प्रगतिवादी दल था जिसका नेता था फ्रेंच क्रान्ति का प्रसिद्ध इतिहाकार थियर (Thiers)। उसने प्रतिनिधि-भवन में पूँजीपतियों के अपरिवर्तनवादी दल का, जिसका नेता गिज़ो था, विरोध शुरू किया। परन्तु भवन में गिज़ो के दल का बहुमत था और वह उचितानुचित सभी प्रकार के उपायों से अपना बहुमत बनाये रखता था जिसके परिणामस्वरूप शासन में सर्वत्र भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया था। इस स्थिति को सुधारने के लिये उसे यह आवश्यक मालूम होता था कि मतदाताओं की योग्यताओं में कमी की जाय और मतदान के अधिकार का विस्तार किया जाय ताकि रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार असम्भव हो जाय। प्रतिनिधि-भवन के द्वारा अपने उद्देश्य की सफलता की कोई आशा न देखकर उसने अपना सन्देश जनता तक पहुँचाना शुरू किया और १८४७ तक यह आन्दोलन सारे देश में व्याप्त हो गया।

लुई फ़िलिप के समय में उन्नति—उपर्युक्त वर्णन से यह नहीं समझना चाहिये कि लुई फ़िलिप ने फ्रान्स के लिये कोई हितकारी कार्य नहीं किये। कई बातों में उसका शासन-काल फ्रान्स के इतिहास में महत्वपूर्ण है। जैसा हम अभी देख चुके हैं, उसके शासन-काल में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप बड़े आर्थिक परिवर्तन हुए। उसने उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन दिया, इङ्गलैण्ड से मशीनें मँगाने तथा कारखाने खोलने में

---

* Hazen : Modern European History, p. 294.

† Lodge : A History of Modern Europe, p. 673.

‡ Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 159.

सहायता दी, वाणिज्य-व्यापार ने उन्नति की और उसके समय में फ़ान्स की भौतिक समृद्धि में काफ़ी उन्नति हुई। सड़कों तथा नहरों की उन्नति की ओर भी उसने ध्यान दिया। उसने एक अँग्रेज़ कम्पनी को पेरिस से ला हावर (Le Havre) तक रेल बनाने का कार्य सौंपा और पेरिस के चारों ओर फैलनेवाली रेलों का एक जाल बिछा देने की योजना बनाई।* परन्तु उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में उसने व्यक्तिगत प्रयत्नों को प्रोत्साहन दिया। उसने शिक्षा की उन्नति की ओर भी ध्यान दिया। प्रारम्भिक शिक्षा पर तो उसने चर्च का नियन्त्रण रहने दिया, परन्तु उच्च शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण रखा और समस्त शिक्षा-संस्थाओं के लिये 'आन्तरिक एवं सामाजिक शान्ति' की शिक्षा देना अनिवार्य कर दिया।

उसकी औपनिवेशिक नीति फ़ान्स की परम्परागत नीति के अनुकूल थी। पिछले लम्बे युद्ध में फ़ान्स का औपनिवेशिक साम्राज्य नष्ट हो चुका था। दसवें चार्ल्स ने दो फ़्रेन्च नागरिकों के साथ दुर्व्यवहार करने के अपराध का दण्ड देने के लिये एक सेना एल्जीयर्स (उत्तरी अफ़्रीका में) के शासक के विरुद्ध भेजी थी जिसने एल्जीयर्स पर अधिकार कर लिया था, परन्तु उसके बाद ही क्रान्ति हो गई थी और चार्ल्स के स्थान पर लुई फ़िलिप आसीन हो गया था। कुछ वर्षों तक तो उसने अफ़्रीका में फ़ान्स का अधिकार बढ़ाने का उद्योग नहीं किया, परन्तु जब वहाँ अब्दुल कादिर नामक एक नेता के नेतृत्व में फ़ान्स के विरुद्ध जिहाद छिड़ गया तो लुई फ़िलिप ने सेना भेज कर समस्त एल्जीयर्स को फ़ान्स के अधिकार में कर लिया और इस प्रकार फ़ान्स के औपनिवेशिक साम्राज्य के पुनर्निर्माण की ओर पहला क़दम उठाया।

इस नीति का उद्देश्य बहुत कुछ अंश तक फ़ान्स की जनता की गौरवभावना को स्पर्श कर उसका ध्यान उनकी आन्तरिक कठिनाइयों से हटाना था। उसने अन्य प्रकार से भी इस उद्देश्य की पूर्ति का प्रयत्न किया। उसने तिरंगे झण्डे को फिर से राष्ट्रीय झण्डा स्वीकार किया और राष्ट्रीय रक्षक दल की पुनः स्थापना की। नेपोलियन की स्मृति का सम्मान करने में भी वह किसी के पीछे नहीं रहा। उसने सेण्ट हेलेना द्वीप से नेपोलियन के मृत शरीर के अवशेषों को बड़े सम्मान के साथ मँगाया और उन्हें पेरिस में एक बड़ी भव्य विशाल समाधि में स्थापित किया (१८४०)। उसने वार्साय (Versailles) के प्रासाद में फ़्रेन्च इतिहास के समस्त युद्धों के चित्र अङ्कित कराये और उसे 'फ़ान्स की समस्त कीर्तियों' को समर्पित किया।†

परन्तु नेपोलियन के प्रति इतनी आदर-भावना प्रकट करना और उसकी तथा

---

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 73.

† Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 151.

उसके गौरवमय कार्यों की स्मृति को पुनः जाग्रत करना जनता में यह आशा उत्पन्न करता था कि लुई फ़िलिप नेपोलियन का अनुकरण करेगा और फ़्रान्स को फिर से नेपोलियन के समान गौरव प्रदान करेगा। किन्तु उसमें इस प्रकार की आशाओं को पूर्ण करने की योग्यता बिलकुल नहीं थी।

बाह्य नीति—वह शान्ति का इच्छुक था और उसकी नीति योरोप में शान्ति बनाये रखने की थी, किन्तु इसके साथ ही राष्ट्रीय गौरव की रक्षा करना और उसकी वृद्धि करने की इच्छा भी उसमें थी। उसने अन्य राज्यों को अपनी शान्तिप्रिय नीति का आश्वासन देने के लिये अपने दूत भेजे और इस प्रकार योरोपीय विरोध का निराकरण किया।* स्वयं इङ्गलेण्ड की महारानी विक्टोरिया से उसका सम्बन्ध मित्रतापूर्ण था, यद्यपि पामर्स्टन से वह प्रसन्न नहीं थी। उसकी परराष्ट्र-नीति मोटे तौर से इङ्गलेण्ड की नीति के अनुकूल रही और उसे कभी-कभी, जैसे बेल्जियम के मामले में, दबना भी पड़ा। अन्य राज्यों की मान्यता प्राप्त करने में भी उसे त्याग करना पड़ा। यह बात फ़्रान्स की गौरवप्रिय जनता को, जिसे नेपोलियन के गौरवमय साम्राज्य के दिन याद थे, अत्यन्त अपमानजनक मालूम होती थी। अपनी जनता में उसके अप्रिय होने का आधारभूत कारण यह था कि वह अपने आपको उसकी भावनाओं के अनुकूल बनाकर अपनी बाह्य नीति को उसकी इच्छानुसार रूप न दे सका।†

बेल्जियम की क्रान्ति—फ़्रेञ्च जनता चाहती थी कि फ़्रान्स योरोप के दलित राष्ट्रों के उद्धार में सहायता करे, परन्तु लुई फ़िलिप शान्ति चाहता था और दूसरे देशों के मामलों में हस्तक्षेप करना नहीं चाहता था। उसके शासन के आरम्भ में ही योरोप में कई घटनाएँ हुईं जिनमें हस्तक्षेप करके फ़्रेञ्च जनता गौरव प्राप्त करना चाहती थी। बेल्जियम ने हॉलण्ड के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, जर्मनी तथा इटली में राष्ट्रीय विद्रोह हुए और पोलैंण्ड रूस के विरुद्ध बिगड़ खड़ा हुआ। किन्तु लुई फ़िलिप ने बेल्जियम को छोड़ और कहीं हस्तक्षेप नहीं किया, यद्यपि पोलण्डवालों तथा इटलीवालों को उससे बड़ी आशा थी और उनके साथ फ़्रेञ्च जनता की सहानुभूति भी थी। उन मामलों में हस्त-क्षेप न करने में ही बुद्धिमानी थी क्योंकि यदि वह ऐसा करता तो उसे रूस, ऑस्ट्रिया तथा प्रशा से युद्ध करना पड़ता जिसके लिये फ़्रान्स बिलकुल तैयार नहीं था; उसका परिणाम विनाश के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। बेल्जियम को स्वतन्त्रता प्राप्त करने में उसने सहायता अवश्य दी और फ़्रेञ्च जनता उससे प्रसन्न भी अवश्य हुई परन्तु अन्त में अपनी कूटनीतिक चालों के कारण उसे अपमानित होना पड़ा। उसने तेलीरां को इङ्गलैण्ड भेजा और इस सहायता के बदले लुक्सेमबुर्ग अथवा फ़िलिपविल और मेरियन

* Cambridge Modern History, Vol. X, pp. 481-482.

† Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries. p. 19.

बुर्ग की माँग की, परन्तु पामर्स्टन ने उस माँग को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और तेलीराँ को निराश होकर लौटना पड़ा।* इसी प्रकार जब बेल्जियन कांग्रेस ने लुई फ़िलिप के दूसरे पुत्र को अपना राजा चुना और पामर्स्टन ने उसका विरोध किया तब भी उसे दबना पड़ा। फ़्रेञ्च जनता की दृष्टि में यह अक्षम्य अपराध था, परन्तु फ़िलिप जानता था कि योरोप इस बात को कभी नहीं स्वीकार करेगा कि बेल्जियम में किसी फ़्रेञ्च राजवंश का शासन हो। उसने युद्ध से बचकर बुद्धिमानी की क्योंकि उसका परिणाम फ़ान्स के लिये अनिष्टकारी होता।† परन्तु फ़्रेञ्च जनता इन सब बातों को देखने के लिये तैयार नहीं थी और वह उसकी दृष्टि में गिर गया।

मिस्र—इसी प्रकार लुई फ़िलिप की मिस्र-सम्बन्धी नीति से भी जनता असन्तुष्ट रही। १८३१ में मिस्र के पाशा (सूबेदार) मुहम्मद ने अपने पुत्र इब्राहीम को फ़िलिस्तीन पर आक्रमण करने के लिये भेजा। मुहम्मद ने यूनान के विद्रोह के समय अपने स्वामी टर्की के सुल्तान को सहायता दी थी और उसके पुरस्कारस्वरूप उसे क्रीट का द्वीप मिला था। परन्तु वह उससे सन्तुष्ट नहीं हुआ।† वह बड़ा उच्चाकांक्षी था। वैसे तो वह सुल्तान का एक सामन्त था परन्तु वह अपने आपको प्रायः स्वतन्त्र ही समझता था। यूनानी विद्रोह के समय उसे सुल्तान की निर्बलता का पूर्ण प्रमाण मिल चुका था और अब वह सीरिया और दमिश्क (डेमस्कस) को भी अपने अधिकार में करना चाहता था। उसके हौसलों से सुल्तान भी परिचित था और उसके प्रति वह सदा सशंक रहता था। इब्राहीम एक सेना लेकर बढ़ा (नवम्बर १८३१) और उसने शीघ्र ही जाफ़ा, गाज़ा तथा जेरुसलेम ले लिये और कुछ कठिनाई के बाद एकर भी ले लिया (मई १८३२)। उसने आगे बढ़कर दमिश्क तथा एलेप्पो पर भी अधिकार कर लिया और एशिया माइनर में घुस कर वह कुस्तुन्तुनिया की तरफ़ बढ़ा। यह देख कर सुल्तान ने योरोप के राज्यों से सहायता की प्रार्थना की। इङ्गलैण्ड तथा फ़ान्स उस समय बेल्जियम के मामले में व्यस्त थे और केवल रूस ही सहायता के लिये तैयार ही नहीं, उत्सुक था।‡ सुल्तान रूस से डरता था, परन्तु जब उसे कहीं से सहायता प्राप्त नहीं हुई तो उसने बड़ी अनिच्छा से अपने शत्रु से ही सहायता लेना स्वीकार कर लिया। फ़रवरी १८३३ में रूसी बेड़े ने कुस्तुन्तुनिया के पास लङ्गर डाला और अप्रेल में रूसी सेना भी समुद्र पार करके एशिया में उतर गई। इङ्गलैण्ड तथा फ़ान्स इस स्थिति को देख कर बड़े चिन्तित हुए। इब्राहीम के एशिया माइनर से हटने के पहले रूस अपनी सेना हटाने के लिये तैयार नहीं था और इब्राहीम अपने पिता की माँग पूरी

---

* Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 153.

† Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries; pp. 233-240.

‡ Ketelbey : A History of Modern Times, p. 199.

होने के पहले हटने के लिये तैयार नहीं था। ऐसी स्थिति में इङ्गलंड, फ़ान्स तथा ऑस्ट्रिया ने टर्की के सुल्तान पर दबाव डाल कर मुहम्मद अली को क्रीट के अतिरिक्त सीरिया, फ़िलस्तीन, एलेप्पो तथा दमिश्क दिलवा दिये।

परन्तु रूस अपनी सहायता का मूल्य लिये बिना हटना नहीं चाहता था और सुल्तान को उससे उन्कियार स्केलेसी (Unkiar Skelessi) की सन्धि करनी पड़ी (जुलाई १८३३) जिसने कुस्तुन्तुनिया में रूस के प्रभाव को चरम सीमा पर पहुँचा दिया; वास्तव में उसने तुर्क साम्राज्य पर रूस का सैनिक संरक्षण स्थापित कर दिया।* इस सन्धि के अनुसार रूस के युद्ध-पोतों को काले सागर तथा डार्डेनेलीज़ के मुहाने में बिना रोकटोक के आने-जाने का अधिकार मिल गया और सुल्तान ने युद्ध के समय डार्डेनेलीज़ को अन्य सभी देशों के जहाज़ों के लिये बन्द करने का वचन दिया। इंगलैण्ड और फ़ान्स में इस सन्धि से बड़ा भय उत्पन्न हुआ और तीनों ने उसका विरोध किया, परन्तु मेटरनिख़ ने ज़ार को समझाया और उसने सन्धि के अनुसार उसे जो अधिकार प्राप्त हुए थे उनका प्रयोग न करने का आश्वासन दिया।

सुल्तान ने दब कर मुहम्मद को सीरिया आदि दे तो दिये थे परन्तु वह उन्हें वापस लेना चाहता था। उसने इसी बीच में अपनी सेना का संगठन ठीक कर लिया था। पामर्स्टन की नीति भी अब बदल गई थी और उससे सहायता की आशा थी। इस सहायता की आशा से उसने १८३९ में मुहम्मद के विरुद्ध सीरिया में अपनी सेना भेजी परन्तु इब्राहीम ने उसे बुरी तरह से परास्त कर दिया; इतना ही नहीं, सुल्तान का बेड़ा भी इब्राहीम की ओर चला गया। उसी समय सुल्तान (द्वितीय मुहम्मद) की मृत्यु हो गई और उसकी जगह अब्दुल मजीद, जिसकी अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी, सुल्तान बना। अब योरोपीय राज्यों ने हस्तक्षेप किया। इंगलैण्ड और रूस दोनों ही मुहम्मद अली को अत्यधिक शक्तिशाली बनता हुआ नहीं देख सकते थे। उनको यह भी मालूम था कि फ़ान्स उसे चुपके-चुपके सहायता दे रहा था। मिस्र में फ़ान्स के प्रभाव की वृद्धि की आशंका से रूस ने इंगलैण्ड के साथ सहयोग किया। १८४० में इंगलैण्ड, रूस, ऑस्ट्रिया और प्रशा ने लन्दन में एक चतुर्मुख सन्धि की जिसके अनुसार उन्होंने मुहम्मद अली को दबाने का निश्चय किया। इस सन्धि में फ़ान्स को सम्मिलित नहीं किया गया। फ़्रेञ्च जनता ने इसे अपना राष्ट्रीय अपमान समझा और फ़ान्स में युद्ध छेड़ने के लिये चारों ओर से माँग होने लगी। लुई फ़िलिप ने अपने शान्तिप्रिय प्रधान मन्त्री ग्विज़ो को हटा कर मुहम्मद अली के समर्थक थियर को प्रधान मन्त्री बनाया और युद्ध की धमकी दी, परन्तु पामर्स्टन ने उसकी परवाह नहीं की और उसे

* Marriott : The Eastern Question, p. 235.

बड़े शिष्ट एवं मैत्रीपूर्ण ढंग से उत्तर दिया कि यदि फ़ान्स को युद्ध की चुनौती देने की इच्छा है तो इंगलैण्ड को उसे स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होगा।* लुई फ़िलिप को दबना पड़ा। इंगलैण्ड के बेड़े ने मुहम्मद अली को परास्त कर कई स्थान छीन लिये और अन्त में उसे शस्त्र डालने पड़े। उससे सीरिया, क्रीट आदि कई प्रदेश जो पिछले वर्षों में दिये गये थे, छीन लिये गये और उसके पास केवल मिस्र रह गया जिसकी वंशानुगत सूबेदारी (Pashalik) उसे दे दी गई। अन्त में जुलाई १८४१ में लन्दन में एक सन्धि हुई जिसके द्वारा डार्डेनेलीज़ का जलसंयोजक पंचमुख राज्यमण्डल की गारण्टी के साथ युद्ध-काल में समस्त राष्ट्रों के जहाज़ों के लिये बन्द कर दिया गया। इस सन्धि से पूर्वी समस्या कुछ दिनों के लिये सुलझ गई। इस घटना से सर्वाधिक लाभ इंगलैण्ड को हुआ। पामर्स्टन न तो टर्की में रूस का प्राधान्य देख सकता था और न मिस्र में फ़ान्स का प्राधान्य ही सह सकता था।† उसकी नीति सफल हुई। लन्दन की सन्धि ने उन्कियार स्केलेसी की सन्धि को नष्ट कर दिया। पामर्स्टन केवल टर्की से रूस के प्राधान्य को हटाने में ही सफल नहीं हुआ, उसने मिस्र में फ़ान्स की उच्चाकांक्षाओं को भी घातक चोट पहुँचाई और मुहम्मद अली से चतुर्मुख सन्धि करते समय फ़ान्स को अलग रखकर उसे नीचा भी दिखाया। बाद में लन्दन की सन्धि में उसने फ़ान्स को अवश्य सम्मिलित किया परन्तु उससे फ़ान्स का जो राष्ट्रीय अपमान हो चुका था वह मिट नहीं सकता था। इस घटना से लुई फ़िलिप फ़्रेञ्च जनता की दृष्टि में बहुत गिर गया।

स्पेन—स्पेन की रानी के विवाह के सम्बन्ध में उसने जो स्वार्थी एवं कुत्सित मनोवृत्ति का प्रदर्शन किया उससे योरोप में उसकी बड़ी निन्दा हुई, फ़ान्स में भी उसकी प्रतिष्ठा गिर गई और फ़्रेञ्च जनता उससे घृणा करने लगी। स्पेन की रानी इसाबेला अविवाहित थी और उसके विवाह का प्रश्न कुछ दिनों से उठ रहा था। उन दिनों वहाँ लुई फ़िलिप का प्रभाव काफ़ी था और उसने उससे लाभ उठाने की इच्छा की। वह चौदहवें लुई की नीति का अनुसरण करके चाहता था कि इसाबेला का विवाह इस प्रकार हो कि उसके परिणामस्वरूप स्पेन का राजमुकुट किसी फ़्रेञ्च राजकुमार को प्राप्त हो। वह इसाबेला का विवाह ऐसे व्यक्ति से करा देना चाहता था जिससे उसके कोई सन्तान उत्पन्न न हो और इसाबेला की छोटी बहिन का विवाह अपने ही पुत्र मोंतपेन्सियर से करना चाहता था ताकि इसाबेला के बाद स्पेन उसके पौत्र के हाथ में आ जाय। किन्तु इंगलैण्ड स्पेन में फ़ान्स का प्रभाव बढ़ने देना नहीं चाहता था क्योंकि उससे

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 157.

† Marriott : The Eastern Question, p. 239.

योरोप की शक्ति-सन्तुलन में बाधा पड़ती।* विक्टोरिया की इच्छा थी कि सेक्सकोबुर्ग के राजकुमार लिओपोल्ड से इसाबेला का विवाह हो, परन्तु लुई फ़िलिप को यह सम्बन्ध स्वीकार नहीं था क्योंकि सेक्सकोबुर्ग वंश के लोग योरोप के राजवंशों से सम्बद्ध थे और उससे योरोप का शक्ति-सन्तुलन बिगड़ता था। अन्त में विक्टोरिया तथा लुई फ़िलिप परस्पर मिले और निर्णय हुआ कि इसाबेला का विवाह केडिज़ के ड्यूक से हो तथा उसके सन्तान उत्पन्न हो जाने के बाद इसाबेला का विवाह मोंतपेन्सियर से हो। परन्तु लुई फ़िलिप को अपने वचन के पालन से कहीं अधिक अपने स्वार्थ की सिद्धि की चिन्ता थी। १० अक्टूबर १८४६ को इसाबेला का विवाह केडिज़ के ड्यूक से हो गया और उसी दिन मोंतपेन्सियर का विवाह भी इसाबेला की छोटी बहिन से कर दिया गया।† इस समाचार से योरोप में बड़ी सनसनी फैली और लुई फ़िलिप की बड़ी निन्दा हुई। इङ्गलैण्ड, जिससे उसका सम्बन्ध अच्छा था और जिसकी सहायता की उसे आवश्यकता थी, नाराज़ हो गया।

स्विट्ज़रलैण्ड—स्विट्ज़रलैण्ड में भी उसका आचरण ऐसा रहा जिससे उसकी स्थिति सुधरने की जगह अधिक निर्बल हो गई। १८१५ में वियना-कांग्रेस ने नेपोलियन के परिवर्तनों को रद्द करके स्विट्ज़रलैण्ड को पहले के समान एक शिथिल राज्य-मण्डल बना दिया था परन्तु स्विस जनता नेपोलियन के शासन में बहुत आगे बढ़ चुकी थी और पुरानी स्थिति की पुनः स्थापना से सन्तुष्ट नहीं थी। वहाँ शीघ्र ही दो आन्दोलन (जनतन्त्रीय एवं राष्ट्रीय) शुरू हो गये; एक तो विभिन्न केण्टनों के जनतन्त्रीय सुधार के लिये और दूसरा उनमें विशेष घनिष्ट एकता स्थापित करने के लिये। परन्तु इन राजनीतिक प्रश्नों के साथ-साथ धार्मिक मतभेद ने स्थिति को जटिल बना दिया।‡ स्विट्ज़रलैण्ड के समस्त केण्टनों में सात केथोलिक तथा प्रतिक्रियावादी थे और शेष प्रोटेस्टेण्ट एवं उदारवादी। सातों केथोलिक केण्टनों ने मिल कर १८४५ में अपनी पारस्परिक रक्षा के लिये एक संघ (Sonderbund) बना लिया था। १८४७ में दोनों प्रकार के केण्टनों में संघर्ष शुरू हो गया। फ्रान्स और ऑस्ट्रिया

---

* Phillips : Modern Europe, p. 259.

† विक्टोरिया और उसके विदेश-मन्त्री एबर्डीन ने लिओपोल्ड का समर्थन न करने का वचन दिया था, परन्तु उसके बाद पामर्स्टन ने, जो एबर्डीन के स्थान पर आ गया था, स्पेन की रानी को विवाहयोग्य कई वरों की सूची भेजी जिनमें लिओपोल्ड का नाम भी था और उनमें से किसी के साथ विवाह करने की सलाह दी। लुई फ़िलिप ने यह सोच कर कि इस प्रकार विक्टोरिया ने वचन-भङ्ग किया है अपने वचन के पालन के कर्त्तव्य से बचने का अच्छा अवसर देखा और अपने पुत्र का विवाह कर दिया। Strachey : Queen Victoria, pp. 126-129.

‡ Phillips : Modern Europe, p. 262.

केथोलिक संघ का समर्थन कर रहे थे और इङ्गलेण्ड प्रोटेस्टेण्ट केण्टनों का। लुई फ़िलिप सशस्त्र हस्तक्षेप करना चाहता था। परन्तु पामर्स्टन ने अपनी कूटनीतिक चालों से उसे ऐसा करने से रोक दिया। अन्त में केथोलिक केण्टनों की पराजय हुई, उनका संघ तोड़ दिया गया और स्विट्ज़रलेण्ड की एकता, जो खतरे में पड़ी हुई थी, पुनः स्थापित हो गई। लुई फ़िलिप का प्रतिक्रियावादी केण्टनों की सहायता के लिये ऑस्ट्रिया का साथ देना फ्रेञ्च उदारवादियों को बहुत बुरा लगा और उसकी बची-खुची प्रतिष्ठा भी नष्ट हो गई।* फ्रान्स की समस्त जनता उससे ऊब उठी। उसकी अपरिवर्तनवादी गृह-नीति, उदारवादियों का कठोर दमन, गिज़ो का भ्रष्ट तथा अत्यन्त निकम्मा शासन, निरुत्साही एवं राष्ट्र के लिये अपमानजनक बाह्य नीति—ये सभी बातें ऐसी थीं, जिनसे उसकी स्थिति कमज़ोर और निराधार हो गई। अब एक ज़रा-सा धक्का उसे गिरा सकता था। वह धक्का भी शीघ्र ही लगा।

व्यापक असन्तोष—हम ऊपर देख चुके हैं कि फ्रेञ्च जनता के सभी वर्ग उससे अप्रसन्न थे और सब तरफ़ से उसका विरोध हो रहा था। 'न्याय्यता' के सिद्धान्त के समर्थक उसके अधिकार को अवैध समझते थे; गणतन्त्रीय लोग उसके शासन को प्रतिक्रियावादी कहते थे; समाजवादी लोग उसे पूँजीपतियों का संरक्षक समझते थे; केथोलिक लोग उसे ईसाई धर्म का विरोधी एवं अनैतिक कह कर उसकी निन्दा करते थे; देशभक्त लोग उसे राष्ट्रीय गौरव के प्रति तटस्थ और इङ्गलेण्ड के अधीन कह कर उससे घृणा करते थे। सर्वसाधारण जनता भी असन्तुष्ट थी; उसमें विद्रोह की भावना तो नहीं थी परन्तु लुई फ़िलिप के भाग्य की ओर से वह अत्यन्त उदासीन हो गई थी। स्वयं उसके समर्थकों में भी एक दल जो उसकी स्थिरता की नीति से तङ्ग आ गया था, उसे अनुदार कह कर उसका विरोध करने लगा था और सुधार के लिये आन्दोलन कर रहा था। इन सुधारकों के दल का नेता थियर था। उसके आन्दोलन का ढङ्ग अनोखा था। वह पेरिस में बड़े-बड़े सहभोजों का आयोजन करता था जिनमें बड़े जोशीले भाषण होते थे, शासन के भ्रष्टाचार की निन्दा की जाती थी, और सुधारों के लिये ज़ोरदार माँग की जाती थी। इन सहभोजों में गणतन्त्रीय तथा समाजवादी लोग भी होते थे जिनकी उपस्थिति और जिनके भाषणों से इन सहभोजों का रूप क्रान्तिकारी होता जाता था।

क्रान्ति—२२ फ़रवरी १८४८ को पेरिस में एक विशाल 'सुधार-सहभोज' का आयोजन किया गया था। सरकार ने डर कर उसका निषेध कर दिया परन्तु फिर भी असंख्य विद्यार्थी तथा मज़दूर एकत्रित हो गये, प्रदर्शन करने लगे और सुधार की माँग के साथ ही सुधार के शत्रु गिज़ो को बरखास्त करने की माँग करने लगे। दूसरे दिन

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 157.

भी हुल्लड़ जारी रहा जिसे देखकर ग्विज़ो ने रक्षक दल को शान्ति-स्थापन के लिये भेजा परन्तु वह दल भी प्रदर्शनकारियों से जा मिला। सुधार की इस जबरदस्त मांग को देखकर लुई फ़िलिप ने ग्विज़ो को बरखास्त कर दिया और जनता की मांग को पूरी करने का वचन दिया। जनता का आन्दोलन अभी तक सांविधानिक था और मुख्यकर ग्विज़ो के विरुद्ध था क्योंकि वह सुधार का कट्टर विरोधी था। सम्भवतः राजा के इस कार्य से जनता शान्त हो जाती परन्तु इसी समय ग्विज़ो के घर की रक्षा करनेवाले सैनिकों ने भीड़ पर गोली चला दी जिससे तेईस आदमी मर गये और तीस बुरी तरह से घायल हो गये। इससे जनता भड़क उठी। पेरिस में मृत लोगों के शवों का जुलूस निकाला गया जिससे नगर में बड़ी उत्तेजना फैली। राजा इस हत्या के लिये ज़िम्मेदार ठहराया गया और जहाँ अभी तक जनता 'सुधार जिन्दाबाद' के नारे लगा रही थी, वहाँ उसने 'गणतन्त्र जिन्दाबाद' के नारे लगाना शुरू कर दिया। सांविधानिक आन्दोलन एकदम क्रान्तिकारी बन गया। २४ फ़रवरी को जनता ने सड़कों और गलियों में मोर्चाबन्दी कर ली तथा सारे नगर में लड़ाई शुरू हो गई। जनता की एक उत्तेजित भीड़ ने राजमहल भी घेर लिया और उस पर गोलियों की वर्षा प्रारम्भ कर दी। यह देखकर लुई फ़िलिप घबड़ा गया। अपना सिंहासन त्यागने तथा अपने पौत्र पेरिस के काउण्ट को राजा बनाने की घोषणा करके वह अपनी पत्नी सहित वेश बदल कर महल से निकल भागा और इङ्गलैण्ड के लिये रवाना हो गया।

ओर्लिएँ की डचेस अपने पुत्र को लेकर प्रतिनिधि-भवन पहुँची। उसने अपने पुत्र के अधिकार की स्वीकृति की मांग की और प्रतिनिधि-भवन ने उसे राजा घोषित कर दिया; परन्तु इससे ओर्लिएँ वंश की रक्षा न हो सकी। गणतन्त्रीय तथा समाजवादी लोगों ने, जिन्होंने लुई फ़िलिप को सिंहासन छोड़ने को विवश किया था, प्रतिनिधि-भवन के निर्णय को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने दोनों दलों के प्रतिनिधियों की एक अस्थायी सरकार का निर्माण किया जिसका प्रमुख लामार्तीन था और जिसका एक मुख्य सदस्य लुई ब्लां (Blanc) था। इस अस्थायी सरकार ने तुरन्त 'गणतन्त्र' की घोषणा कर दी और एक नवीन संविधान के निर्माण के लिये वयस्क मताधिकार के आधार पर एक राष्ट्रीय संविधान-सभा के निर्वाचन की व्यवस्था की। इस प्रकार फ्रान्स में अचानक क्रान्ति हो गई।

द्वितीय गणतन्त्र की स्थापना—लुई नेपोलियन का कथन था—'हम फ्रान्स में सुधार नहीं करते, क्रान्ति करते हैं।' १८४८ की क्रान्ति से इस उक्ति की यथार्थता बड़ी अच्छी तरह से प्रकट होती है। लुई फ़िलिप से जनता ऊब अवश्य चुकी थी परन्तु उसके शासन को और उसके साथ ही एकतन्त्र को समाप्त करने की कोई निश्चित योजना किसी ने भी नहीं बनाई थी। २२ फरवरी को जनता केवल सुधार की माँग कर रही थी। लोग वैध राजसत्ता से सन्तुष्ट थे, किन्तु अगले ही दिन वे राजसत्ता का अन्त

करने और गणतन्त्र की स्थापना करने पर तुल गये। शासन की निर्बलता तथा पेरिस की भीड़ की उत्तेजनीयता ने एक सुधार-आन्दोलन को क्रान्ति में परिणत कर दिया।* क्रान्ति ने लुई फ़िलिप को सिंहासन पर बिठाया था और १८ वर्ष के अन्दर क्रान्ति ने ही उसे सिंहासन से च्युत कर दिया। फ्रान्स में राजसत्ता का अन्त हुआ और द्वितीय गणतन्त्र का आरम्भ हुआ। परन्तु गणतन्त्र का जन्म शुभ मुहूर्त में नहीं हुआ था, उसका एक कट्टर शत्रु घात लगाये बैठा था जिसने उसे चार वर्ष के अन्दर ही समाप्त कर दिया।

गणतन्त्र और समाजवाद—अस्थायी सरकार, जैसा हम देख चुके हैं, गणतन्त्रीय तथा समाजवादी दलों से मिल कर बनी थी। गणतन्त्रीय दल का उसमें बहुमत था। उसके सदस्य नरम विचारवाले मध्यम वर्ग के थे। वे एकतन्त्र के स्थान पर केवल गणतन्त्रीय शासन स्थापित करने के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहते थे, परन्तु समाजवादी लोग गणतन्त्र को चाहते हुए भी उसे सामाजिक एवं आर्थिक क्रान्ति का साधन समझते थे और उसके द्वारा बहुसंख्यक ग़रीबों एवं मज़दूरों के हित में समाज का नवनिर्माण चाहते थे। वे केवल राजनीतिक परिवर्तन से ही सन्तुष्ट न होकर पिछले वर्षों में प्रचारित समाजवादी सिद्धान्तों को और मुख्यकर 'काम के अधिकार' को वास्तविक क़ानूनों एवं संस्थाओं में कार्यान्वित करना चाहते थे।

समाजवादी प्रयोग—दोनों दलों में आधारभूत मतभेद होने के कारण अस्थायी सरकार में आरम्भ से ही संघर्ष होने लगा। सर्वप्रथम संघर्ष राष्ट्रीय झण्डे के सम्बन्ध में हुआ। समाजवादी लोग लाल झण्डे को राष्ट्रीय झण्डा बनाना चाहते थे परन्तु गणतन्त्री लोग तिरंगे झण्डे को ही रखना चाहते थे। लामार्तीन ने अपनी वक्तृता के प्रभाव से तिरंगे झण्डे को तो बचा लिया परन्तु अन्य महत्त्वपूर्ण बातों में उसे दबना पड़ा। उसे समस्त नागरिकों को काम देने की घोषणा करनी पड़ी और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपनी इच्छा के विपरीत 'राष्ट्रीय कारखाने' (National Workshops) खोलने पड़े जहाँ नियत वेतन पर सब को काम मिल सके। परन्तु यह योजना सफल नहीं हुई। राष्ट्रीय कारखानों में काम करने के लिये बड़ी संख्या में लोग आने लगे। तीन महीने के अन्दर उसमें १,१५,००० आदमी हो गये। किन्तु इतने आदमियों के लिये काम नहीं था, वे अधिकतर निठल्ले रहते थे और मुफ़्त वेतन पाते थे, यद्यपि वेतन बहुत ही कम था। इससे राजकोष का अपव्यय होने लगा और उद्योग-धन्धे नष्ट होने लगे। बेकार बैठे ये लोग अपने कष्टों की चर्चा करते रहते थे और समाजवादियों को अपने प्रचार के लिये अच्छी सामग्री मिलती थी। वास्तव में लामार्तीन इस योजना की सफलता नहीं चाहता था और उसे कार्यान्वित करने का काम एक ऐसे मन्त्री को

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 161.

दिया गया था जो लुई ब्लां का शत्रु था और उसे बदनाम करना चाहता था। यह योजना वास्तव में ब्लां के सिद्धान्तों के प्रतिकूल थी परन्तु देश के सामने वह ब्लां की योजना कह कर रखी गई थी ताकि सब लोग समझ लें कि उसके विचार कोरे काल्पनिक और अव्यावहारिक थे।*

समाजवादी प्रयोग का अन्त—उन्हीं दिनों में (२३ अप्रैल) राष्ट्रीय संविधान सभा का निर्वाचन हुआ। इस सभा में ९०० सदस्य चुने गये, जिनमें से ८०० के लगभग गणतन्त्रीय थे। उसका प्रथम अधिवेशन ४ मई १८४८ को हुआ। अस्थायी सरकार ने इस्तीफ़ा दे दिया और संविधान सभा ने संविधान के निर्माण तक शासन-कार्य सँभालने के लिये पाँच सदस्यों की एक समिति बनाई। उसका प्रमुख लामार्तीन था और उसके सभी सदस्य समाजवाद-विरोधी थे। उन्होंने राष्ट्रीय कारखानों को समाजवादी प्रचार के अड्डे तथा अशान्ति के केन्द्र बताकर बन्द कर दिया जिस पर मजदूरों ने विद्रोह कर दिया। विद्रोह की भयङ्करता देख कर संविधान सभा ने कार्यपालिका समिति से इस्तीफ़ा लेकर जनरल केवेन्याक (Cavaignac) को अधिनायक बनाया जो चार दिनों (२३-२६ जून १८४८) के भयंकर संघर्ष के बाद विद्रोह को दबा सका। पेरिस की सड़कें लाशों से पट गई; लगभग दस हज़ार व्यक्ति हताहत हुए; ग्यारह हज़ार व्यक्ति गिरफ़्तार करके देश से निकाल दिये गये। इस प्रकार गणतन्त्र ने समाजवाद पर विजय पाई परन्तु विजय प्राप्त करने के साथ ही उसने अपना विनाश भी कर लिया।† इस हत्याकाण्ड से वह अत्यन्त निर्बल हो गई।

नवीन गणतन्त्रीय संविधान—विद्रोह-दमन के बाद संविधान सभा ने नवीन संविधान का निर्माण किया जिसके अनुसार फ़्रान्स में स्थायी रूप से गणतन्त्र की स्थापना की गई और वयस्क मताधिकार के आधार पर तीन साल के लिये निर्वाचित ७५० सदस्यों की भवनवाली विधायिका की व्यवस्था की गई। कार्यपालिका की सत्ता चार वर्ष के लिये निर्वाचित राष्ट्रपति के हाथों में सौंपी गई जिसका पुनः निर्वाचन प्रथम अवधि समाप्त होने के चार वर्ष बाद हो सकता था। उसके हाथों में काफ़ी अधिकार दिये गये। राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति पर काफ़ी वाद-विवाद रहा। अधिकतर सदस्य वयस्क मताधिकार के आधार पर समस्त मतदाताओं द्वारा उसके निर्वाचन के पक्ष में थे। समझदार लोगों ने इस प्रणाली के दोषों की तरफ़ सभा का ध्यान आकर्षित किया। फ़्रान्स की जनता को राजनीतिक अनुभव नहीं था और ऐसी दशा में इस बात की बहुत सम्भावना थी कि वे उम्मेदवार की योग्यता का विचार न कर किसी प्रभावशाली या आकर्षक नाम से बहक जाँय और बिना सोचे-समझे उसे चुनकर गणतन्त्र

---

* Hazen : Modern European History, p. 315.

† Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 162.

को खटाई में डाल दें।* किन्तु सभा ने समस्त मतदाताओं द्वारा निर्वाचन का ही निर्णय किया जिसका फल शीघ्र ही सामने आया। इस समय फ्रान्स में एक ऐसा व्यक्ति था जिसके नाम का फ्रेञ्च जनता में बड़ा आकर्षण था, जो उस पर प्रभाव भी डाल सकता था और जो फ्रान्स पर शासन करना अपना जन्मजात अधिकार मानता था। वह था नेपोलियन बोनापार्ट के भाई हॉलैण्ड के शासक लुई का पुत्र लुई नेपोलियन।

लुई नेपोलियन—राष्ट्रपति—महान् नेपोलियन का पुत्र 'रोम का राजा' १८३२ में मर चुका था और अब लुई नेपोलियन अपने वंश का प्रमुख था तथा अपने आपको बोनापार्ट का उत्तराधिकारी समझता था। उसे यह विश्वास भी था कि एक दिन उसकी अभिलाषा अवश्य पूर्ण होगी और फ्रान्स के सिंहासन पर उसका राज्याभिषेक होगा। उसने १८३६ में स्ट्रासबुर्ग में तथा १८४० में बोलोन में जनता को लुई फ़िलिप के विरुद्ध उभाड़ कर सत्ता छीनने के असफल प्रयत्न भी किये थे। १८३६ में वह देश से निर्वासित करके अमेरिका भेज दिया गया था। १८४० में वह क़ैद कर लिया गया था परन्तु १८४६ में वह क़ैद से निकल भागा और इङ्गलैण्ड जा पहुँचा। १८४८ की क्रान्ति के बाद उसने गणतन्त्र को अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। वह संविधान सभा का सदस्य चुना गया, परन्तु वहाँ कोई प्रभाव नहीं डाल सका। फिर भी उसका नाम नेपोलियन था जिसके लिये फ्रेञ्च जनता में बड़ी श्रद्धा थी। उसने इससे लाभ उठाया और राष्ट्रपति के पद के लिये उम्मेदवार बन कर खड़ा हो गया। नरम गणतन्त्र दल का उम्मेदवार केवेन्याक था जिससे मजदूर लोग घृणा करते थे। निर्वाचन में कोई ७० लाख मतदाताओं ने मत दिये जिसमें से ५५ लाख वोट लुई को मिले। लुई की इच्छा पूर्ण हुई; वह राष्ट्रपति बन गया। उसने २० दिसम्बर को 'जनतन्त्रात्मक गणतन्त्र' के प्रति भक्ति की शपथ ली और गणतन्त्र का विधिवत् आरम्भ हुआ। लुई कई बार फ्रान्स के सिंहासन पर अपने वंशानुगत अधिकार की बात कर चुका था। ऐसे व्यक्ति को राष्ट्रपति चुनकर फ्रेञ्च जनता ने यह प्रकट कर दिया कि उस पर अभी तक गणतन्त्रवाद का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था।†

क्रान्ति की प्रगति का स्वरूप—यह क्रान्ति एक मिश्रित आन्दोलन का परिणाम थी। इसकी प्रगति चार मंजिलों में हुई। क्रान्ति के प्रथम दो दिनों में उसमें केवल उस समय की स्थिरता-प्रेमी, प्रगति-विरोधी सरकार को, जिससे जनता ऊब चुकी थी, बदलने का प्रयत्न दिखाई देता था। तीसरे दिन उसने रूप बदला और वास्तविक गणतन्त्रीय आन्दोलन का रूप धारण किया। उसने एकतन्त्र का अन्त करके एक अस्थायी सरकार स्थापित की, परन्तु उसे तत्काल एक तीसरे दल के विरोध का सामना करना पड़ा

---

* Hazen : Modern European History, p. 317.

† Schevill : A History of Europe, p. 475.

जिसका फ्रान्स में प्रथम बार एक सुसङ्गठित राजनीतिक शक्ति के रूप में उदय हुआ था; वह दल था नगरों के, विशेषकर पेरिस के समाजवादी मजदूरों का जो सांविधानिक एवं राजनीतिक उपायों के परिणामों से निराश हो चुके थे। दो-तीन महीनों तक मध्यम वर्गीय गणतन्त्रीय दल तथा समाजवादी श्रमिक दल में घोर संघर्ष चलता रहा परन्तु अन्त में समाजवाद की हार हुई, मुख्यकर इस कारण कि १७८९ की क्रान्ति के समय की तरह इस बार भी देश के कृषकों ने जो वस्तु प्राप्त हुई थी उसकी रक्षा के लिये मध्यम वर्ग के साथ सहयोग किया।* १८४८ की क्रान्ति पेरिस का ही और वह भी उसकी जनसंख्या के अल्पांश का ही कार्य था। संकुचित मताधिकार के विरुद्ध देश में असन्तोष अवश्य था और इसके विस्तार के लिये आन्दोलन भी हुआ था परन्तु जिस आन्दोलन ने लुई फ़िलिप को सिंहासन-च्युत कर देश से भगा दिया उसमें प्रान्तों का कोई हाथ नहीं था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि फ्रान्स की अधिकांश जनता इस क्रान्ति के विरुद्ध थी।† इस प्रकार इस क्रान्ति में बारी-बारी से उच्च मध्यम वर्गीय सुधारवादियों, निम्न मध्यम वर्गीय गणतन्त्रियों तथा श्रमिक वर्गीय समाजवादियों ने भाग लिया और अन्त में वह मध्यम वर्ग विजयी रहा जिसने १७८९ तथा १८३० की क्रान्तियों से लाभ उठाया था। वास्तव में १८४८ की क्रान्ति ने लुई फ़िलिप के मध्यम वर्गीय एकतन्त्र का अन्त करके कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं किया। १८४८ तथा १८३० की क्रान्तियों में कोई आधारभूत अन्तर नहीं था, दोनों ही क्रान्तियाँ पेरिसवालों ने की थीं, दोनों ही उदारवादी और राजनीतिक थीं, उनका सामाजिक रूप केवल प्रसंगवश और गौण था। यह सत्य है कि १८३० की क्रान्ति के अत्यन्त संकुचित मताधिकार के आधार पर एकतन्त्र स्थापित हुआ था जबकि १८४८ की क्रान्ति ने व्यापक वयस्क (पुरुष) मताधिकार के आधार पर गणतन्त्र की स्थापना की थी। किन्तु दोनों क्रान्तियों ने जनता के संप्रभुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार किया और इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि दोनों ही क्रान्तियों में अन्ततोगत्वा धनिकों की विजय हुई और उन्हीं की इच्छाओं के अनुकूल नीतियाँ कार्यान्वित हुईं।‡

समाजवादियों पर गणतन्त्रियों की विजय के साथ क्रान्ति की तीसरी मंज़िल समाप्त हुई परन्तु अन्त में जाकर जो दल विजयी हुआ, वह बोनापार्ट के अनुयायियों का था। जैसा हम आगे देखेंगे, लुई नेपोलियन ने गणतन्त्र की रक्षा का वचन देकर अपना

---

* Ketelbey : A History of Modern Times, p. 161.

† Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 165.

‡ Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol II, p. 83.

शासन आरम्भ किया परन्तु अन्त में गणतन्त्र की ओर से और उसी के नाम में काम करने का बहाना लेकर उसने उसकी हत्या कर दी और अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। क्रान्तियों में एक बहुत बड़ा दोष यह है कि उनके परिणाम के सम्बन्ध में कोई निश्चित बात कहना कठिन होता है। १७८९ के समान १८४८ में भी क्रान्तिकारी करना कुछ चाहते थे परन्तु हुआ कुछ और ही; दोनों बार जनता की संप्रभुता की स्थापना करने का प्रयत्न किया गया, परन्तु दोनों ही बार स्थापित हुआ नेपोलियन का साम्राज्य।* फिर भी १८४८ की क्रान्ति राजनीतिक प्रजातन्त्र के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है क्योंकि उसने मताधिकार का विस्तार करके सत्ता मध्यम वर्ग के हाथों से लेकर समस्त समाज को सौंप दी। इसके साथ ही आर्थिक जनतन्त्र के इतिहास में उसका एक विशिष्ट महत्व है क्योंकि उसके फलस्वरूप एक महत्वपूर्ण समाजवादी प्रयोग हुआ, चाहे वह क्षणिक ही क्यों न रहा हो।†

---

* Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 28.

† Ibid, p. 26.

अध्याय २२

योरोप में १८४८ की फ्रेंच क्रान्ति की गूँज

सन् १८४८ – क्रान्ति का वर्ष—सन् १८४८ योरोप के इतिहास में 'क्रान्ति का वर्ष' है। योरोप में उस वर्ष छोटी-बड़ी सत्रह क्रान्तियाँ हुईं। फ्रान्स की क्रान्ति के बाद सर्वप्रथम १३ मार्च को वियना में विद्रोह हुआ जो अन्य समस्त विद्रोहों से अधिक महत्वपूर्ण था क्योंकि उसके फलस्वरूप प्रतिक्रिया के अवतार मेटरनिख का पतन हो गया। वियना के विद्रोह का प्रभाव तात्कालिक हुआ और एक सप्ताह के अन्दर ही ऑस्ट्रिया, जर्मनी तथा इटली में विद्रोह की ज्वालाएँ भड़क उठीं। १५ मार्च को हंगरी, बोहीमिया, क्रोटिया तथा इलिरिया में विद्रोह हुए। हंगरी के लोग जनता के अधिकार तथा राष्ट्रीय स्वराज्य के लिये उठ खड़े हुए; बोहीमिया के लोगों ने अपने लिये संविधान एवं लोकप्रिय उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल की माँग की और क्रोटिया तथा इलिरिया के लोग मगयार लोगों का जुआ अपने कन्धे से उतार फेंकने को तैयार हो गये। १५ मार्च को पोप के राज्यों में विद्रोह हुआ और उसे जनता को संविधान प्रदान करना पड़ा। १८ मार्च को मिलान ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और ऑस्ट्रिया की सेना को निकाल दिया। २२ मार्च को वेनिस ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की और दूसरे ही दिन सार्डिनिया के राजा चार्ल्स एल्बर्ट ने ऑस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इसके पहले ही जर्मनी में १५ मार्च को बर्लिन में विद्रोह हो चुका था और फ्रेडरिक विलियम को दब कर प्रशा के लिये ही नहीं, समस्त जर्मनी के लिये सांविधानिक शासन का सिद्धान्त स्वीकर करना पड़ा था। उसने समस्त जर्मनी के लिये सांविधानिक शासन स्थापित करने के निमित्त एक जर्मन राष्ट्रीय पार्लमिण्ट भी आमन्त्रित की। इस प्रयोग के परिणाम की प्रतीक्षा किये बिना ही जर्मनी के अन्य राज्यों की प्रजा उठ खड़ी हुई। बेवेरिया के लोगों ने अपने राजा को सिंहासन त्यागने पर विवश किया और अपने लिये उदार शासन स्थापित कर लिया। बादेन की जनता ने अपने लिये प्रेस की स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली और नागरिक-सेना का निर्माण करवा लिया। सेक्सनी के लोगों के विद्रोह के फलस्वरूप वहाँ के राजा को अपने मन्त्रिमण्डल को बरखास्त करके सुधार करने पड़े। डेनमार्क तथा हॉलैण्ड के शासकों को भी झुकना पड़ा और प्रजा की इच्छानुसार नवीन संविधान प्रदान करने पड़े। इङ्गलैण्ड भी अछूता नहीं बचा; अप्रेल में वहाँ चार्टिस्ट आन्दोलन हुआ और जुलाई में आयरलैण्ड में 'युवक

आयरलेण्ड' दल ने विद्रोह कर दिया। ऐसा मालूम होता था मानो प्रतिक्रिया का अन्त हो गया; सर्वत्र जनतन्त्र का प्राधान्य स्थापित होता हुआ मालूम होता था।*

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस सर्वव्यापी विप्लव का कारण फ्रान्स की क्रान्ति थी। उसके पहले ही स्विट्ज़रलेण्ड में उदारवाद की विजय हो चुकी थी, नेपिल्स और पालर्मो में सफल विद्रोह हो चुके थे और सार्डीनिया के राजा को संविधान की घोषणा करनी पड़ी थी। परन्तु फ्रेन्च क्रान्ति की ज्वाला मानो एक संकेत थी जिसे पाकर सर्वत्र क्रान्तिकारी आन्दोलन, जिनकी बहुत पहले से तैयारी थी, एक साथ भड़क उठे। सम्भव है कि इस संकेत के अभाव में यह विस्फोट एक साथ न हो कर अलग-अलग होता।†

मध्य-योरोप की स्थिति—उदारवाद १८३० में इङ्गलेण्ड, फ्रान्स तथा बेल्जियम में विजयी हो चुका था और वहाँ धीरे-धीरे उसकी प्रगति हो रही थी परन्तु योरोप में अन्यत्र उसका बहुत कम प्रभाव था। समस्त मध्य-योरोप उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भी वैसा ही था जैसा अठारहवीं शताब्दी में था। सामाजिक जीवन में अब भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था; सामान्तवाद तथा अर्ध-दास व्यवस्था अब भी बहुत कुछ अंशों में विद्यमान थी। शासन में कुछ निपुणता अवश्य आ गई थी और पुराने शासक-वर्ग से भिन्न वर्गों के लोग शासन में नियुक्त होते थे, परन्तु फिर भी शासन दैवी अधिकारयुक्त निरंकुश राजाओं के नाम से होता था। पूर्वी योरोप में तो उदारवाद का नाम भी नहीं था।‡ प्रथम एलेक्ज़ेण्डर के समय में उसकी कुछ क्षणिक झलक अवश्य दिखाई दी थी परन्तु उसके बाद स्थिति जैसी की तैसी हो गई थी।

मेटरनिख का प्रभाव—मध्य योरोप में उदारता के कट्टर शत्रु मेटरनिख का प्राधान्य था, और जैसा हम देख चुके हैं, वह इस बात को बिलकुल नहीं सहन कर सकता था कि राजा तथा प्रजा के बीच में कोई लिखित संविधान हो, समाज की परम्परागत वर्गीय व्यवस्था में विक्षेप डालनेवाली व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन दिया जाय, या मध्यम वर्गीय पूँजीपतियों को ज़मींदारों एवं पादरियों के पुराने अधिकारों के लिये घातक नवीन अधिकार प्रदान किये जायें या व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय आत्म-निर्णय की क्रान्तिकारी माँग के साथ किसी प्रकार का भी समझौता किया जाय। जब तक उसका प्राधान्य रहा उसने ऑस्ट्रिया के साम्राज्य में और जहाँ कहीं बन सका सर्वत्र उदारवाद तथा राष्ट्रीयता का दमन करने में कोई कसर नहीं की।

---

* Hearnshaw : Main Currents of European History, pp. 201-203.

† Phillips : Modern Europe, p. 274.

‡ Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 83.

उदारवाद की प्रगति—परन्तु अपनी समस्त शक्ति के साथ भी वह समय की गति को रोकने में असमर्थ रहा। उसने नाना प्रकार के नियन्त्रण लगाये किन्तु जनता में उदारवाद का अनेक कारणों से प्रभाव बढ़ता रहा। जिन लोगों में यह प्रभाव अधिक था वे थे मध्यम वर्ग के शिक्षित लोग। अनेक मानवतावादी ज़मींदार तथा प्रगतिशील विचारवाले पादरी लोग भी उनके साथ थे परन्तु अन्य लोगों में उन्हें सबसे अधिक सहयोग प्राप्त था व्यावसायिक लोगों तथा नगरों में रहनेवालों का। फिर भी उदारवाद की प्रगति धीमी ही थी। किन्तु जब औद्योगिक क्रान्ति हुई जिसके फलस्वरूप मध्यम वर्ग में सम्पत्ति की वृद्धि हुई, नगरों में रहनेवालों की संख्या बढ़ी और उनमें राज्य पर अधिकार जमाने तथा उसकी नीतियों का निर्माण करने की इच्छा उत्पन्न हुई तो उसकी प्रगति तेज़ होने लगी। १८४७ में समस्त मध्य-योरोप में उदारवादी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति होती रही। प्रशा में जनता ने पार्लमिण्ट की स्थापना तथा क़ानून बनाने में अपने सहयोग की माँग की। स्विट्ज़रलैण्ड में उदारवादी प्रोटेस्टेण्ट केण्टनों की विजय हुई। इटली में पोप नवें पायस तथा टुस्कनी के ड्यूक ने अपने राज्यों में उदारवादी सुधारों की घोषणा की। हङ्गरी में उदारवादी आन्दोलन अधिक तीव्र था और वहाँ उसका नेतृत्व शिक्षित लोग या उद्योगपति नहीं वरन् देशभक्त ज़मींदार कर रहे थे और मगयार राष्ट्र के मध्यम वर्ग तथा कृषकों से मिलकर ऑस्ट्रिया से पृथक् होने का प्रत्यन कर रहे थे। १८४७ में फ़ान्सिस डीक ने हङ्गरी की पार्लमिण्ट के सभी दलों को एक करके सांविधानिक शासन, पार्लमिण्ट के प्रति उत्तरदायी मन्त्रि-मण्डल तथा नागरिक अधिकारों की माँग की थी। इस प्रकार मध्य-योरोप में क्रान्ति की अग्नि सुलग रही थी जो पश्चिम की ओर से आनेवाली हवा से प्रज्वलित हो उठी।

क्रान्ति ने मध्य-योरोप के विभिन्न भागों में विभिन्न रूप धारण किये परन्तु उसका मोटे तौर से द्विविध रूप था – उदारवादी तथा राष्ट्रीयतावादी। क्रान्तिकारी दो बातें चाहते थे—अपने-अपने राज्य में उदारवाद की स्थापना करना अर्थात् प्रतिनिधि-सरकार और संविधान प्राप्त करना तथा अपने-अपने राष्ट्र की एकता स्थापित करके उसे स्वतन्त्र करना। जर्मनी में क्रान्ति का आधार था समस्त जर्मन राष्ट्र की एकता की दृढ़ इच्छा। उसके साथ ही यह विश्वास भी था कि उदारवाद की प्रतिष्ठा के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य की प्राप्ति भी हो सकेगी। ऑस्ट्रिया के जर्मन प्रदेश में आन्दोलन इसी प्रकार का था परन्तु वहाँ जनता का दृष्टिकोण अधिकतर उदारवादी था, राष्ट्रीय कम। हङ्गरी तथा अन्य अ-जर्मन प्रदेशों में आन्दोलन ऊपर से तो कभी-कभी उदारवादी दिखाई देता था परन्तु वास्तव में वह सदा राष्ट्रीय बना रहा।* इटली में भी आन्दोलन उदारवादी तथा राष्ट्रीयतावादी था। सभी राज्यों में प्रगतिवादी लोग

---

* Grant and Temperley: Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 176.

सांविधानिक शासन की स्थापना चाहते थे। इसके साथ ही वे ऑस्ट्रिया के प्राधान्य का अन्त करके समस्त इटली के एकीकरण की कामना भी करते थे।

ऑस्ट्रिया

वियना में क्रान्ति और मेटरनिख का पतन—मध्य-योरोप में क्रान्ति की दावाग्नि का केन्द्र वियना था जो अभी तक प्रतिक्रिया का गढ़ बना हुआ था। वियना के विद्रोह को तात्कालिक प्रोत्साहन हङ्गरी से मिला, जहाँ कई वर्षों से उग्र राष्ट्रवादी पत्रकार लुई कॉसुथ (Louis Kossuth) तथा फ्रान्सिस डीक के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था। लुई फिलिप के पतन का हङ्गरी में बिजली की तरह प्रभाव हुआ। तीन मार्च १८४८ को कॉसुथ ने ऑस्ट्रिया की शासन-व्यवस्था की बड़ी कड़ी आलोचना करते हुए एक जोशीला भाषण दिया जिसके प्रभाव से समस्त साम्राज्य में जोश भड़क उठा। १२ मार्च को वियना विश्वविद्यालय के दो प्रोफेसरों ने सम्राट् को सुधार के लिये प्रार्थनापत्र दिया। १३ मार्च को विद्यार्थियों और मजदूरों का एक विशाल जुलूस वियना की सड़कों पर निकला। सम्राट् की सेना ने उन पर गोलियाँ चलाईं परन्तु भीड़ न रुकी और उसने सम्राट् के महल तथा मेटरनिख के भवन को घेर लिया। मेटरनिख ने नागरिक रक्षक-दल को भीड़ को भगाने का आदेश दिया, परन्तु उसने उसके आदेश का पालन करने से इन्कार कर दिया। मेटरनिख समझ गया कि अब उसकी सत्ता का अन्त आ गया; वह सम्राट् को त्यागपत्र देकर तथा वेश बदल कर महल से निकल भागा और इंगलैण्ड चला गया। मेटरनिख के पतन के समाचार का प्रभाव बड़ा जबरदस्त हुआ। जिस प्रकार १७८९ में बास्तिल के पतन का एक नवीन युग के उदय के प्रतीक की तरह स्वागत हुआ था, उसी प्रकार १८४८ में मेटरनिख के पतन का स्वतन्त्रता-विरोधी प्रतिक्रियावादी शक्तियों के गुट के पतन की तरह स्वागत हुआ।*

मेटरनिख के चले जाने के उपरान्त सम्राट् प्रथम फर्डिनेण्ड ने एक उदार मन्त्रिमण्डल नियुक्त किया, प्रेस पर से सब नियन्त्रण हटा लिये, राष्ट्रीय रक्षक-दल के निर्माण की अनुमति दी और संविधान-निर्माण का वचन दिया। अप्रेल में उसने एक संविधान की घोषणा की परन्तु उदारवादियों को सम्राट् के दिये हुए संविधान में विश्वास नहीं था क्योंकि वह बाद में किसी समय भी रद्द किया जा सकता था। उन्होंने उसका विरोध किया और सम्राट् को विवश होकर एक संविधान सभा को आमन्त्रित करना पड़ा। इसके उपरान्त वह क्रान्तिकारियों के पंजे से निकल कर साम्राज्य के दूरस्थ टिरोल प्रान्त के इन्सब्रुक नामक नगर को चला गया।

---

* Phillips : Modern Europe, p 277.

हंगरी—वियना के विद्रोह के समाचार ने हंगरी में भी आग लगा दी। हंगरी की विधायिका सभा ने १५ मार्च को सुधार का कार्य आरम्भ कर दिया और कुछ दिनों में कई कानून (मार्च के कानून) बना कर पुरानी कुलीनतन्त्रीय शासन-व्यवस्था को रद्द करके एक जनतन्त्रीय संविधान बना लिया। प्रेस को स्वतन्त्रता दे दी गई, धार्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा की गई, सामन्तीय विशेषाधिकार नष्ट कर दिये गये, जूरी द्वारा न्याय की स्थापना की गई और एक राष्ट्रीय रक्षक-दल का संगठन किया गया; हंगरी के लिये विधायिका के अतिरिक्त एक पृथक् उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल की भी व्यवस्था की गई; सम्राट् को पदच्युत तो नहीं किया गया परन्तु हंगरी के लिये एक पृथक् झण्डा स्वीकार किया गया, मानो हंगरी एक स्वतन्त्र राज्य था। सम्राट् ने ३१ मार्च को यह संविधान स्वीकार कर लिया।*

बोहीमिया—हंगरी का अनुकरण बोहीमिया ने भी किया और उन सब बातों की माँग की जो हंगरी ने माँगी थीं। सम्राट् ने उनकी माँगो को भी स्वीकार कर लिया और वहाँ भी एक पार्लमिण्ट, उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल तथा राष्ट्रीय रक्षक-दल की स्थापना हो गई।

इटली में क्रान्ति—इटली में भी ऑस्ट्रियन प्रान्तों ने ऑस्ट्रिया के जुए को अपने कन्धे से उतार फेंका। वहाँ, जैसा हम देख चुके हैं, फ्रेञ्च क्रान्ति के पूर्व ही नेपिल्स के राज्य में विद्रोह हो चुका था और जनवरी में फर्डिनेण्ड को एक उदार संविधान स्वीकार करना पड़ा था। टुस्कनी के ड्यूक को भी उसका अनुकरण करना पड़ा था। (फरवरी) और मार्च में चार्ल्स एल्बर्ट को ट्यूरिन में तथा पोप नवें पायस को रोम में पार्लमिण्ट बुलानी पड़ी थी। फ्रेञ्च क्रान्ति के बाद शीघ्र ही सार्डीनिया-पायडमॉण्ट के राजा चार्ल्स एल्बर्ट ने एक उदार संविधान की घोषणा की जिसके अनुसार करदाताओं द्वारा निर्वाचित पार्लमिण्ट, उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल तथा नागरिक स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था की गई। मेटरनिख के पतन की सूचना प्राप्त होने पर मिलान के लोगों ने लगातार पाँच दिन युद्ध करके ऑस्ट्रिया की सेनाओं को अपने यहाँ से निकाल दिया और लोम्बार्डी को सार्डीनिया में शामिल करने की घोषणा की; पार्मा तथा मोडीना के ड्यूक डर कर भाग गये; वेनिस ने भी ऑस्ट्रियन सेनाओं को निकाल कर अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की और गणतन्त्र की पुनः स्थापना कर ली। मिलान से तो ऑस्ट्रियन सेना निकल गई थी परन्तु

---

* यह बात ध्यान देने योग्य है कि वियना तथा बुडापेस्ट (हंगरी) की घटनाओं के स्वरूप में बड़ा अन्तर है। वियना में तो एक उदारवादी आन्दोलन को सफलता प्राप्त हुई थी, परन्तु बुडापेस्ट में मगयार राष्ट्रीयता विजयी हुई थी और उसके फल-स्वरूप जो शासन वहाँ बना वह कट्टर जर्मन-विरोधी एवं हॉप्सबुर्ग-विरोधी राष्ट्रीय शासन था। Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Cenutries, p. 179.

लोम्बार्डी के अन्य स्थानों में अभी ऑस्ट्रिया की सेना मौजूद थी जिससे बड़ा खतरा था। यह खतरा ऑस्ट्रिया से युद्ध करके ही दूर किया जा सकता था। सब ओर से ऑस्ट्रिया के प्राधान्य को समाप्त करने के लिये युद्ध की माँग होने लगी। इस युद्ध का नेतृत्व सार्डीनिया-पायडमाण्ट ही कर सकता था। सार्डीनिया के राजा के सामने सर्वोत्तम अवसर आ गया था। सरकार, राष्ट्र तथा सबके सामने एक मार्ग ही खुला हुआ था—तुरन्त युद्ध की घोषणा। चार्ल्स एल्बर्ट ने यह पुकार सुनी और २३ मार्च को ऑस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी; टुस्कनी के ड्यूक ने उत्साहपूर्वक उसका साथ दिया; पोप तथा नेपिल्स के राजा फर्डिनेण्ड ने भी अपनी प्रजा के दबाव में आकर सहायता भेजी; पार्मा तथा मोडीना की प्रजा ने जनमत-संग्रह करके अपने राज्यों को सार्डीनिया में शामिल कर दिया। इस प्रकार इटली की स्वतन्त्रता का संघर्ष एक मंज़िल आगे बढ़ गया; जो संघर्ष अभी तक जनता के फुटकर विद्रोहों के रूप में चल रहा था उसने अब राष्ट्रीय युद्ध का रूप धारण कर लिया था जिसका नेतृत्व समस्त इटली की सेनाओं के साथ इटली का ही एक राजा कर रहा था।* ऐसा मालूम होने लगा मानो इटली की स्वतन्त्रता की घड़ी आ गई थी।

जर्मनी की क्रान्ति

प्रशा—जर्मनी में भी यही हाल हो रहा था। बर्लिन की जनता ने १५ मार्च को विद्रोह कर दिया। चतुर्थ फ्रेडरिक विलियन ने जनता को सन्तुष्ट करने के लिये पार्लामेण्ट की स्थापना तथा जर्मनी की राष्ट्रीय एकता की योजना में सहयोग करने का वचन दिया; किन्तु जब मजदूरों और विद्यार्थियों की भीड़ इसके लिये अपने राजा को धन्यवाद देने के लिये महल के पास पहुँची तो सैनिकों ने उन पर गोलियों की बौछार की, जिस पर भीड़ और सेना में युद्ध शुरू हो गया तथा २०० आदमी मारे गये।† १६ मार्च को राजा ने सेना वापस लौटा ली, एक उदार मन्त्रिमण्डल नियुक्त किया और संविधान सभा आमन्त्रित की जिसका प्रथम अधिवेशन बर्लिन में मई में हुआ।

अन्य राज्य—जर्मनी के अन्य राज्यों में भी उदारवादियो को सफलता मिली। बेवेरिया के शासक प्रथम लुई ने सिंहासन त्याग दिया और उसके पुत्र द्वितीय मेक्सीमिलियन ने अपने पिता के दिये हुए संविधान को, जिसकी उसने परवाह नहीं की थी, स्वीकार किया तथा उसे अधिक उदार बनाने का वचन दिया। बावेन, वुर्टेमबुर्ग, सेक्सनी, वाइमर, हेस-कासेल, ब्रुन्स्विक तथा अन्य कई राज्यों के राजाओं को भी उदार मन्त्रिमण्डलों की नियुक्ति करनी पड़ी, और सांविधानिक शासन तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को स्वीकार करना पड़ा।

---

* Ketelbey : A History of Modein Times, p. 171.

† Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 89.

डेनमार्क तथा हॉलेण्ड—डेनमार्क में सप्तम फ्रेडरिक को भी उदारवादी विद्रोहियों को सन्तुष्ट करने के लिये एक संविधान-सभा का अधिवेशन करने का वचन देना पड़ा। उसका अधिवेशन अक्टूबर में हुआ जिसके द्वारा निर्मित संविधान को उसने जून १८४८ में स्वीकार कर लिया। हॉलेण्ड में द्वितीय विलियम ने स्वयं उदारवादी आन्दोलन का नेतृत्व किया और अक्टूबर में एक संविधान की घोषणा की जिसके द्वारा धनिकों द्वारा निर्वाचित पार्लमिण्ट की स्थापना की गई।*

इंगलैण्ड—इङ्गलैण्ड भी क्रान्ति के प्रभाव से न बचा। वहाँ १८३२ में जो सुधार हुआ था उससे मध्यम वर्ग को ही लाभ पहुँचा था और सर्वसाधारण जनता उसके बाद भी अधिकारों से वंचित रह गई थी। इसलिये सर्वसाधारण लोगो—मजदूरों और किसानों—ने अधिक सुधार के लिये आन्दोलन शुरू किया। १८३६ में लन्दन के मजदूरों की एक सभा स्थापित हुई थी। उसके एक सदस्य विलियम लॉवेट ने मेग्ना-कार्टा के समान एक जनता का चार्टर (People's Charter) तैयार किया जिसमें सार्वलौकिक मताधिकार, पार्लमिण्ट का वार्षिक चुनाव, गुप्त मतदान, समान निर्वाचन-क्षेत्र, निर्वाचन के लिये सम्पत्ति की योग्यता की शर्त के अन्त तथा पार्लमिण्ट के सदस्यों को वेतन देने की माँगें की गईं। इन माँगों को सरकार से स्वीकार कराने के लिये देश भर में आन्दोलन होने लगे और दो बार—१८३९ तथा १८४२ में—इन माँगों को स्वीकार करने के लिये लाखों व्यक्तियों के हस्ताक्षरयुक्त प्रार्थना-पत्र पार्लमिण्ट को दिये गये, परन्तु उनका कोई परिणाम नहीं निकला। पार्लमिण्ट की उपेक्षा से यह आन्दोलन—चार्टिस्ट आन्दोलन (Chartist agitation)—जोर पकड़ता गया और देश में सैकड़ों चार्टिस्ट समितियाँ बन गईं। जब फ्रेञ्च क्रान्ति की सफलता का समाचार इङ्गलैण्ड पहुँचा तो चार्टिस्ट लोगों में उत्साह की बाढ़ आ गई। सर्वत्र बड़ी-बड़ी सभाएँ होने लगीं और लन्दन में १० अप्रेल १८४८ को एक विशाल सभा में एक तीसरा प्रार्थना-पत्र तैयार किया गया जिस पर अनुमानतः साठ लाख व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे। उस समय सारे देश में बड़ा प्रचण्ड आन्दोलन हो रहा था। चार्टिस्ट लोगों का विचार एक जुलूस के साथ उस पत्र को ले जाकर पार्लमिण्ट के सामने प्रस्तुत करना था परन्तु शान्ति-भंग के डर से सरकार ने सेना और पुलिस का बड़ा प्रबन्ध किया जिसे देख कर चार्टिस्ट लोग घबड़ा गये। उन्होंने जुलूस तो नहीं निकाला परन्तु इस प्रार्थना-पत्र को पार्लमिण्ट के सामने पेश किया। उसको देखने से पता चला कि उसमें बहुत से हस्ताक्षर जाली थे। इससे चार्टिस्ट लोगों का बड़ा उपहास हुआ और आन्दोलन ठण्डा पड़ गया।

---

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 90.

आयर्लैण्ड

इङ्गलैण्ड में तो चार्टिस्ट आन्दोलन शान्त आन्दोलन था परन्तु आयर्लैण्ड में सरकार को एक सशस्त्र विद्रोह का सामना करना पड़ा। आयर्लैण्ड पर इङ्गलैण्ड का कठोर शासन था और सरकार आयरिश लोगों के कष्टों की ओर ध्यान नहीं देती थी। आयरिश लोगों की मुख्य शिकायत भूमि सम्बन्धी थी। उन लोगों से अच्छी-अच्छी भूमि छीन कर अंग्रेजों को दे दी गई थी। जो आयरिश किसान उनकी भूमि जोतते थे उनसे बड़ा कड़ा लगान वसूल किया जाता था और बेचारे किसानों की बड़ी दुर्दशा थी। इसी दुर्दशा में १८४५ तथा १८४६ में वहाँ अकाल पड़ गया और आलू की फसल नष्ट हो गई। हज़ारों भूख से मरने लगे। सरकार ने उनके कष्टों के निवारण का प्रयत्न तो कुछ किया परन्तु उससे कोई लाभ नहीं पहुँचा। जो किसान भूमि का लगान नहीं दे सके, वे निकाल दिये गये और इसके फलस्वरूप किसानों तथा जमींदारों में संघर्ष छिड़ गया। सरकार उनका बड़ी कठोरता से दमन करने लगी। वहाँ कुछ वर्षों से 'युवक आयर्लैण्ड' नामक एक दल कार्य कर रहा था। सरकार के अत्याचार से क्षुब्ध होकर तथा फ्रेञ्च क्रान्ति से प्रोत्साहित होकर और फ्रान्स से सहायता की आशा करके उसने ओब्रायन के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया (१८४८)। परन्तु फ्रान्स से सहायता नहीं मिली और सरकार ने विद्रोह को सरलता से दबा दिया।

दमन

बोहीमिया— इस प्रकार योरोप में सर्वत्र (इङ्गलैण्ड और आयर्लैण्ड को छोड़) क्रान्ति सफल हुई परन्तु यह सफलता क्षणिक थी। मध्य योरोप में क्रान्ति का आरम्भ ऑस्ट्रिया से हुआ था। दमन भी वहीं से आरम्भ हुआ। आरम्भ में तो ऐसा मालूम होता था मानो ऑस्ट्रिया का साम्राज्य नष्ट हो जायगा और कोई शक्ति उसे बचा नहीं सकेगी। परन्तु जो लोग विद्रोह कर रहे थे उन्हीं के प्रजातीय विद्वेष ने ऑस्ट्रिया के साम्राज्य को बचा लिया।* सरकार को प्रथम विजय बोहीमिया में प्राप्त हुई। बोहीमिया में दो प्रजातियों के—जर्मन तथा चेक - लोग रहते थे जिनमें चेक लोगों की संख्या अधिक थी। आरम्भ में इन दोनों ने मिलकर कार्य किया था परन्तु बाद में उनका प्रजातीय द्वेष प्रबल हो गया और वे आपस में ही प्राग की सड़कों पर लड़ने लगे। ऐसा उपयुक्त अवसर देख कर साम्राज्य की सेना के कमाण्डर ने जर्मनों के सहयोग से चेक लोगों को दबा कर क्रान्तिकारी उदार सरकार को पलट दिया और वह स्वयं अधिनायक बन बैठा। उसने सुधार रद्द कर दिये और समस्त प्रान्त पर फ़ौजी शासन स्थापित कर दिया।

---

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 202.

लोम्बार्डी—सरकार की दूसरी विजय इटली में हुई। सार्डीनिया के राजा ने आरम्भ में तो आॅस्ट्रिया के सेनानायक रेडेत्स्की (Redetzky) को गायटो नामक स्थान पर परास्त कर दिया था परन्तु उसके बाद उसने शत्रु का पीछा नहीं किया और उसे कई स्थान वापस ले लेने दिये। यह उसने बड़ी घातक भूल की क्योंकि रेडेत्स्की के पास सेना कम थी और यदि वह उस पर अपनी पूरी शक्ति से आक्रमण करता तो उसको पूरी तरह से परास्त कर सकता था। सैनिक दृष्टि से तो इसका परिणाम विनाशकारी हुआ ही, राजनीतिक दृष्टि से भी उसकी यह भूल अनिष्टकर प्रमाणित हुई, क्योंकि अन्य राज्यों को इससे अपनी सेनाओं को वापस लौटा लेने का बहाना मिल गया।* टुस्कनी तथा नेपिल्स के राजाओं और पोप ने, जो किसी बहाने की तलाश में थे, अपनी सेनाओं को वापस बुला कर सार्डीनिया के राजा को अकेले ही आॅस्ट्रिया की सेना से लड़ने के लिये छोड़ दिया। उसकी सहायता पर केवल लोम्बार्डी के विद्रोही रह गये। इसका परिणाम यह हुआ कि रेडेत्स्की ने सार्डीनिया की सेना को २५ जुलाई को कस्टोज़ा नामक स्थान पर परास्त कर दिया। चार्ल्स एल्बर्ट को युद्ध बन्द करना पड़ा और लोम्बार्डी फिर आॅस्ट्रिया के हाथों में पहुँच गया।

हंगरी—बोहीमिया तथा लोम्बार्डी में अपनी सेनाओं की विजय का समाचार पाकर सम्राट् में पुनः साहस का संचार हुआ। उसे विश्वास हो गया कि राजभक्त सेनानायकों के नेतृत्व में उसकी सेनाएं अब भी उसकी सेवा कर सकती हैं। इसके साथ ही बोहीमिया के समान हंगरी में भी प्रजातीय विद्वेष अपना रंग दिखा रहा था जिसे देखकर उसका आत्मविश्वास बढ़ा। हंगरी में मगयार लोग अल्प संख्या में थे परन्तु सदा ही उनका प्राधान्य रहता आया था और मार्च में विजय भी उन्होंने ही प्राप्त की थी। यह बात सर्ब, क्रोटियन, रूमानियन आदि अन्य लोगों को अखरती थी। वे लोग भी अपने लिये मगयार लोगों के समान अधिकार चाहते थे। वे चाहते थे कि उन्हें भी स्वशासन का अधिकार प्राप्त हो और उनकी भाषाओं तथा रीति-रिवाजों को राज्य से स्वीकृति मिले। परन्तु मगयार लोग उनकी मांगों को सुनने को बिलकुल तैयार नहीं थे; वे हंगरी में केवल एक मगयार राष्ट्रीयता रखना चाहते थे। वे प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता देने को तैयार थे परन्तु किसी भी प्रजाति को एक राष्ट्र मानने, उसे स्वशासन प्रदान करने या उसकी भाषा को सरकारी भाषा स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे। इतना ही नहीं, वे हंगरी के रहनेवाले समस्त लोगों को मगयार बनाने का प्रयत्न करने लगे। वे इस बात पर ज़ोर देने लगे कि समस्त पाठशालाओं में तथा समस्त सरकारी कामों में मगयार भाषा का प्रयोग हो। इस पर प्रजातीय विद्वेष बढ़ने लगा। इन मगयार-विरोधी प्रजातियों का एक बड़ा सुयोग्य एवं राष्ट्रभक्त नेता था—

---

* Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 172.

जेलाचिच (Jellacic)—जो क्रोटिया का रहनेवाला था। सम्राट् ने इस स्थिति से लाभ उठाया। उसने जेलाचिच को क्रोटिया का गवर्नर बना दिया (सितम्बर १८४८) और एक स्लाव सेना के साथ हङ्गरी पर आक्रमण करने को प्रोत्साहित किया।

उधर ऑस्ट्रिया में भी अब प्रतिक्रियावादियों का ज़ोर बढ़ा। उन्होंने फेलिक्स श्वार्ज़ेनबर्ग को प्रधान मन्त्री बनाया जिसके विचार बिलकुल मेटरनिख के समान थे और जो वैसा ही योग्य भी था। श्वार्ज़ेनबर्ग ने सबसे पहला काम तो यह किया कि सम्राट् प्रथम फर्डिनेण्ड को अपने भतीजे फ्रान्सिस जोजेफ के पक्ष में सिंहासन त्यागने के लिये राज़ी कर लिया (२ दिसम्बर १८४८)।* नये सम्राट् ने उसके कहने से फर्डिनेण्ड के दिये हुए वचनों को अस्वीकार कर दिया और हंगरी के दमन की तैयारी का आदेश दिया। जेलाचिच क्रोटियन सेना के साथ हंगरीवालों से युद्ध कर ही रहा था। अब उसकी मदद पर बोहीमिया के विजयी जनरल की कमाण्ड में एक जर्मन तथा चेक सेना पहुँची। इस पर क्रुद्ध होकर कॉसुथ ने हंगरी की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी (१४ अप्रेल १८४९) और दुगने उत्साह से शत्रु का मुक़ाबला करना शुरू किया। किन्तु अब हंगरी की सेनाओं को नये-नये शत्रुओं का भी मुक़ाबला करना पड़ा; हंगरी के स्लाव लोग ऑस्ट्रियन सेना की मदद करने लगे; उधर सम्राट् ने रूस के ज़ार प्रथम निकोलस को भी सहायता देने के लिये राज़ी कर लिया। निकोलस केवल मध्य-योरोप की क्रान्ति के दमन के लिये उत्सुक नहीं था, उसे यह भी डर था कि मगयार लोगों की विजय से प्रोत्साहित होकर पोलैण्ड में फिर कहीं राष्ट्रीय विद्रोह न हो जाय और वह इस ख़तरे को रोकना चाहता था।† ऑस्ट्रिया की सहायता के लिये शीघ्र ही रूसी सेना पहुँच गई। कॉसुथ के प्रोत्साहन से हंगरी की सेनाएँ बड़ी वीरता से लड़ीं। उन्होंने टर्की से सहायता की प्रार्थना की और स्लाव लोगों की भी माँगें स्वीकार करने का वचन दिया परन्तु सब व्यर्थ। अगस्त १८४९ तक सम्पूर्ण हंगरी पर ऑस्ट्रिया का अधिकार पुनः स्थापित हो गया। कॉसुथ भाग गया, संविधान का अन्त कर दिया गया, विद्रोहियों को बड़ा कठोर दण्ड दिया गया और हंगरी फिर ऑस्ट्रिया के साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया।

इटली—इस प्रकार से ऑस्ट्रिया में क्रान्ति का दमन हो गया और प्रतिक्रिया पुनः प्रबल हो गई। विजयजनित उल्लास से अब श्वार्ज़ेनबर्ग ने मेटरनिख की तरह इटली में क्रान्ति के दमन की ओर ध्यान दिया। हम देख चुके हैं कि सार्डीनिया का राजा परास्त होकर बैठ गया था। उसकी पराजय का कारण था टुस्कनी के राजा, पोप तथा नेपिल्स के राजा का विश्वासघात। नेपिल्स के राजा ने तो संविधान भी रद्द कर दिया था

* Schevill : A History of Europe, p. 481.

† Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 95.

और दोनों सिसिलियो में निरंकुश शासन की पुनः स्थापना कर दी थी। इटली की स्वतन्त्रता तथा एकता की योजना को इस प्रकार असफल होते हुए देख कर इटली के गणतन्त्रियों को बड़ा क्रोध आया और मेज़िनी के नेतृत्व में उन्होंने रोम में विद्रोह करके गणतन्त्र की घोषणा की (फ़रवरी १८४९)। पोप भाग कर नेपिल्स चला गया। फ़्लोरेन्स में भी यही हुआ और टुस्कनी के राजा ने भी पोप का साथ दिया। इसी प्रकार नेपिल्स को भी गणतन्त्र घोषित कर दिया गया। सार्डीनिया में इसी प्रकार के गणतन्त्रीय विद्रोह के भय से चार्ल्स एल्बर्ट ने फिर ऑस्ट्रिया से अकेले ही युद्ध छेड़ दिया, परन्तु इस बार भी वह नोवारा के स्थान पर बुरी तरह से परास्त हुआ (२३ मार्च, १८४९)। उसे ऑस्ट्रिया के साथ अपमानजनक सन्धि न करनी पड़े, इस उद्देश्य से उसने अपने पुत्र द्वितीय विक्टर इमेन्युएल के पक्ष में राज्य त्याग दिया। राज्य त्याग कर वह चला गया और कुछ ही महीनों में उसका देहान्त हो गया, किन्तु वह अपने राजवंश तथा इटली की महान् सेवा कर गया। वह यह बता गया कि कम से कम इटली का एक राजा ऐसा था जो अपने राष्ट्र के लिये सब कुछ अर्पण कर सकता था। लोग उसे राष्ट्र की वेदी का शहीद मानने लगे और इटली राष्ट्रीय एकता की सिद्धि के लिये पायडमॉण्ट की सरकार की ओर, सेवॉय-वंश की ओर, ताकने लगा।*

अब ऑस्ट्रिया की सेना ने क्रान्तिकारी गणतन्त्रों की ओर प्रयाण किया। वेनिस का थल और जल दोनों ओर से घेरा डाला गया और अन्त में उसे हथियार डालने पड़े। नेपिल्स और टुस्कनी के गणतन्त्रों का भी अन्त कर दिया गया और वहाँ के राजाओं को उनके राज्य वापस मिल गये (मई, १८४९)। रोम के गणतन्त्र का अन्त फ़्रेञ्च गणतन्त्र के राष्ट्रपति लुई नेपोलियन ने किया जो फ़्रान्स में पादरी-वर्ग का समर्थन प्राप्त करने के लिये उन्हें पोप की सहायता करके प्रसन्न करना चाहता था और इसके साथ ही इटली में ऑस्ट्रिया के अत्यधिक प्रभाव को सहन नहीं कर सकता था। उसने एक फ़्रेञ्च सेना रोम भेजी जिसने गणतन्त्र का अन्त करके पोप (नवें पायस) को फिर से सिंहासन पर बिठला दिया (जून, १८४९)। इस प्रकार इटली में राष्ट्रीयता एवं उदारवाद की पराजय हुई। गणतन्त्र अब वहाँ कहीं नहीं रहा। उदारवाद केवल सार्डीनिया में बचा रहा जहाँ चार्ल्स एल्बर्ट के संविधान के अनुसार काम होता रहा। प्रतिक्रिया के मरुस्थल में केवल वही एक मरुद्यान था; सार्डीनिया को छोड़ सर्वत्र इटली में फिर से क्रूर प्रतिक्रिया छा गई।

जर्मनी—जर्मनी में भी उदारवाद की विजय क्षणिक रही। प्रशा में भी ऑस्ट्रिया की भाँति शासक वर्ग उदारवाद का शत्रु था। वहाँ चतुर्थ फ़्रेडरिक विलियम

---

* Hazen : Modern European History, p. 306. चार्ल्स एल्बर्ट का वंश सेवॉय का वंश कहलाता था।

पर ज़मींदारों, प्रोटेस्टेण्ट पादरियों, सरकारी कर्मचारियों तथा सैनिक अधिकारियों का बड़ा प्रभाव था; गाँव के बहुसंख्यक कृषक तथा नगरों में भी अपरिवर्तनवादी लोग उनके प्रभाव में थे।* इस प्रकार वहाँ उदारवाद का पक्ष निर्बल था। ऑस्ट्रिया में उदारवाद की पराजय से प्रशा के प्रतिक्रियावादी प्रोत्साहित हुए। उनके दबाव में आकर राजा ने उदार मन्त्रिमण्डल बरखास्त करके उसकी जगह एक घोर प्रतिक्रियावादी—ब्रैण्डनबर्ग के काउण्ट—को प्रधान मन्त्री बनाया और प्रशा की विधान-सभा को, जिसमें उदारवादियों का बहुमत था, विसर्जित करके स्वयं एक संविधान बनाया जिसके अनुसार समस्त सत्ता राजा और उसके मन्त्रियों के हाथों में रखी गई। उच्च वर्ग तथा मध्यम वर्ग के धनी पुरुषों का प्रतिनिधित्व करनेवाली एक पार्लामेण्ट की भी स्थापना की गई; परन्तु उसको कोई विशेष अधिकार नहीं दिये गये, केवल कुछ विषयों पर उससे परामर्श किया जा सकता था।

अखिल-जर्मन संविधान-सभा—उन्हीं दिनों समस्त जर्मनी के लिये एक संविधान बनाने के निमित्त सार्वलौकिक मताधिकार के आधार पर निर्वाचित एक संविधान-सभा का अधिवेशन फ़्रैंकफ़ोर्ट में हो रहा था जिसे फ़्रेडरिक विलियम ने मार्च १८४८ में आमन्त्रित किया था। यह आशा की जाती थी कि यह संविधान-सभा ऐसा संविधान बनायगी जिसके द्वारा केवल समस्त जर्मनी का एकीकरण ही सम्भव नहीं हो सकेगा, वरन् जर्मन जनता को राजनीतिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त हो सकेगी और राज्यों में निरंकुश राजाओं अथवा विशेषाधिकारयुक्त वर्गों के शासन के स्थान पर जनतन्त्रीय शासन स्थापित हो सकेगा, अर्थात् जनतन्त्र के आधार पर एक विशाल स्वतन्त्र जर्मन राज्य की सृष्टि हो सकेगी।

इस सभा ने आरम्भ में वही गलती की जो १७८९ में फ़्रान्स की संविधान-सभा ने की थी। वह महीनों तक जर्मन लोगों के आधारभूत अधिकारों के निर्णय में ही लगी रही। इस बीच में राजाओं को जो क्रान्ति के पहले झोंके में धराशायी हो गये थे अपनी शक्ति का संगठन करने का मौक़ा मिल गया। इसके अतिरिक्त क्रान्ति से जो प्रबल उत्साह उत्पन्न हुआ था वह धीरे-धीरे ठण्डा पड़ गया। यदि आरम्भ में ही संविधान बन जाता तो उसे समस्त राजाओं को अवश्य स्वीकार करना पड़ता। परन्तु इस व्यर्थ वाद-विवाद के बाद जब तक सभा ने असली कार्य आरम्भ किया तब तक प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई और क्रान्ति की विफलता निश्चित हो गई।† इसके अतिरिक्त इस सभा को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। नया संविधान संघात्मक ही हो

---

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 95.

† Lodge : A History of Modern Europe, p. 703.

सकता था क्योंकि उस समय जर्मनी में ३६ राज्य थे जिनमें अपने-अपने इतिहास, अपनी-अपनी परम्पराएँ और अपने-अपने राजवंश थे और जिन्हें एक दूसरे के प्रति आशंकाएँ थीं। ऐसे राज्य संघीय राज्य में ही शामिल हो सकते थे परन्तु इन विभिन्न राज्यों में राजनीतिक प्रगति समान नहीं थी जो एक सन्तोषजनक संघ के निर्माण के लिये आवश्यक होती है। उनमें कई राज्य ऐसे थे जिनमें संविधान थे और जिन्हें जनतन्त्रीय शासन का अनुभव था, परन्तु कई ऐसे भी थे, जिनमें प्रशा और ऑस्ट्रिया मुख्य थे, जो राजनीतिक विकास में अत्यन्त पिछड़े हुए थे। इसके अतिरिक्त ये दोनों राज्य प्रतिद्वन्द्वी थे और उनमें से कोई समस्त जर्मनी के कल्याण के लिये अपनी स्वतन्त्र सत्ता का बलिदान करने के लिये तैयार नहीं था। इसके साथ ही सभा के सामने एक बड़ा विकट प्रश्न नवीन जर्मन संघ के साथ ऑस्ट्रिया के साम्राज्य के सम्बन्ध का था। इस प्रश्न पर सभा में बड़ा तीव्र मतभेद था। एक दल 'वृहद् जर्मनी' (Great Germany) का समर्थक था जिसमें ऑस्ट्रिया के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त बेवेरिया तथा दक्षिणी जर्मनी के बहुत से राज्यों के प्रतिनिधि शामिल थे और जो चाहते थे कि समस्त ऑस्ट्रियन साम्राज्य (अ-जर्मन प्रदेशों सहित) नवीन जर्मन संघ में शामिल हो। इसके विरुद्ध दूसरा दल 'लघु जर्मनी' (Little Germany) का समर्थक था और समझता था कि ऑस्ट्रियन साम्राज्य के अ-जर्मन प्रदेशों को शामिल करना जर्मन एकता के लिये घातक सिद्ध होगा। उनके सामने जर्मन राज्यों के आर्थिक संघ (Zollverein) का आदर्श पहले से उपस्थित था जिसमें ऑस्ट्रिया सम्मिलित नहीं था। वे उसी के अनुसार ऑस्ट्रिया को छोड़ कर शेष जर्मनी का प्रशा के नेतृत्व में राजनीतिक संघ निर्माण करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त संघीय कार्यपालिका के स्वरूप के विषय में भी मत-भेद था। ऑस्ट्रिया की इच्छा थी कि कार्यपालिका-सत्ता सात राजाओं की एक समिति के हाथों में रहे परन्तु लघु जर्मनी के समर्थक एक वंशानुगत साम्राज्य की स्थापना करना चाहते थे।

विशुद्ध जर्मन संघ-राज्य—इन प्रश्नों पर बड़ी गरमागरम बहस होती रही परन्तु अन्त में लघु जर्मनी के समर्थकों की विजय रही और मार्च १८४९ में नया संविधान तैयार हो गया जिसके अनुसार जर्मनी एक वंशानुगत सम्राट् के अधीन एक संघ-राज्य बनाया गया और उसके लिये दो भवनों की एक पार्लामेण्ट की व्यवस्था की गई जिसका एक भवन राज्यों का तथा दूसरा जनता के प्रतिनिधियों का था। सम्राट् के संघीय मन्त्री पार्लामेण्ट के प्रति उत्तरदायी रखे गये। साम्राज्य का राजमुकुट प्रशा के राजा चतुर्थ फ्रेडरिक विलियम को अर्पित किया गया। ऑस्ट्रिया इस निर्णय पर क्रुद्ध होकर अलग हो गया और उसने घोषणा की कि वह अपने आपको जर्मन संघ से

---

* Marrioitt : The Remaking of Modern Europe, p. 295.

ऑस्ट्रियन साम्राज्य (१८४८ ई०)
रूस का साम्राज्य
प्रशा
हेस
थ्युरिन्जियन राज्य
सेक्सनी
बोहीमिया
प्राग
कार्ल्सबाद
मोरेविया
गेलीशिया
लेमबुर्ग
स्लोवेकिया
बुकोविना
बेवेरिया
वुर्टेमबुर्ग
उल्म
म्यूनिख
ऑस्ट्रिया
वीयना
प्रेसबुर्ग
हंगरी
ट्रान्सिल्वेनिया
स्टिरिया
सालत्सबुर्ग
इन्सब्रुक
टिरोल
ग्रात्स
लोम्बार्डी
मिलान
वेरोना
वेनिस
कार्नियोला
अग्राम
क्रोशिया
स्लेवोनिया
बनाट
वालेशिया
तुर्की का साम्राज्य
सर्बिया
पार्मा
मोडेना
पोप के राज्य
एड्रियाटिक सागर
स्विट्जरलैण्ड
पायडमाँट
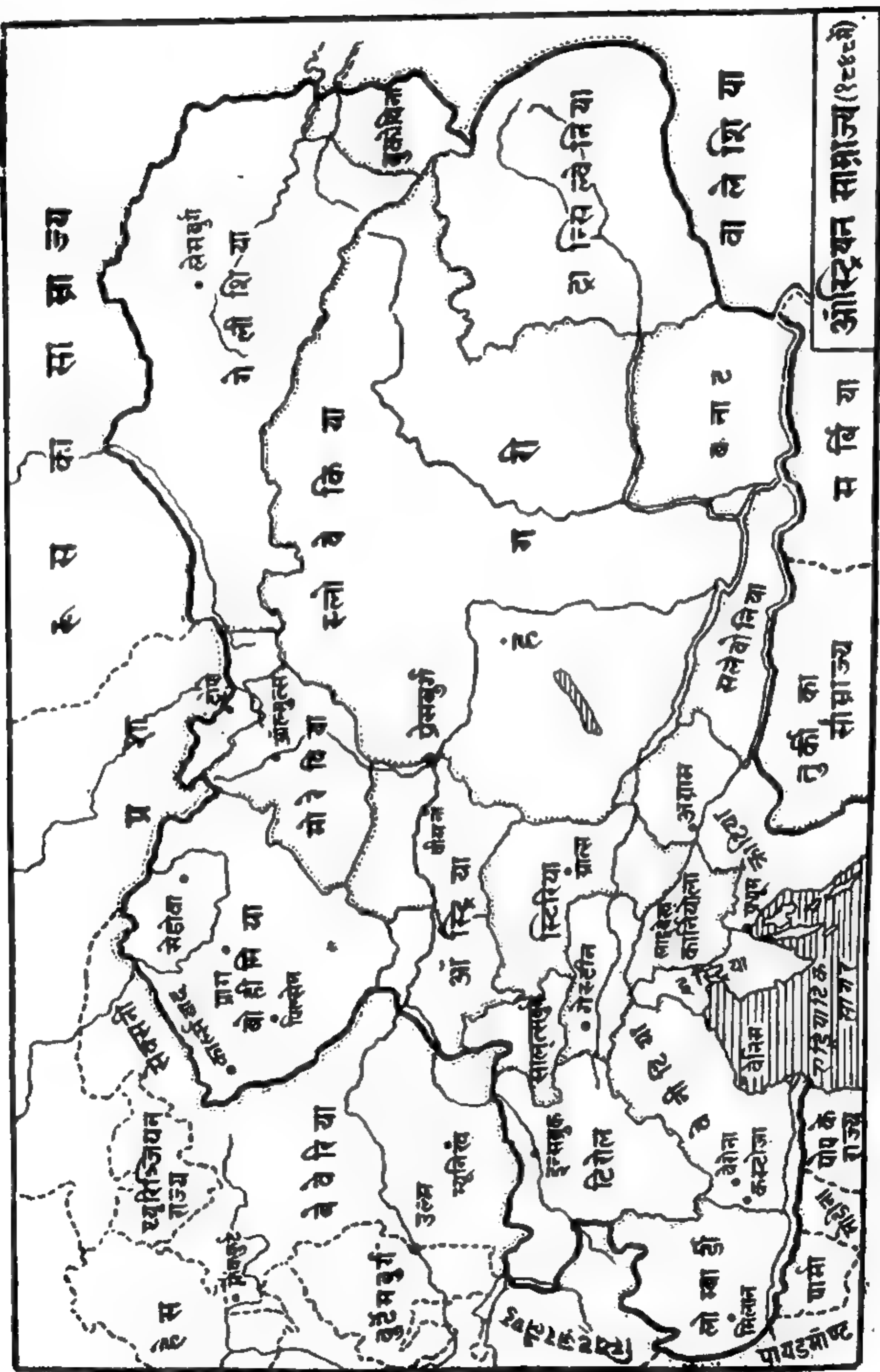
कभी अलग नहीं होने देगा और न अपने जर्मन प्रदेशों को अपने अविभाज्य एकतन्त्र से पृथक् होने देगा।*

ऑस्ट्रिया का विरोध—नवीन संविधान उदारवादियों एवं राष्ट्रवादियों को सन्तुष्ट तो नहीं कर सका, फिर भी वह काफी अच्छा था। उससे प्रत्येक जर्मन को नागरिक स्वतन्त्रता और क़ानून के समक्ष समानता की गारण्टी मिली; संघीय शासन तथा पृथक्-पृथक् राज्यों के शासनों पर पार्लमेण्ट का नियन्त्रण भी स्थापित हुआ। किन्तु संविधान-सभा का सारा प्रयत्न व्यर्थ गया। ऑस्ट्रिया के विरोध की उपेक्षा करना सरल नहीं था। फ्रेडरिक विलियम राष्ट्रीय एकता का इच्छुक था और प्रशा तथा अपने राजवंश (Hohenzol ern) की प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहता था। इस संविधान से उसकी दोनों इच्छाएँ पूरी हो रही थीं। परन्तु वह इवाज़ नवर्ग के प्रभाव में था और ऑस्ट्रिया को अप्रसन्न नहीं करना चाहता था। उसे अन्य राज्यों की ईर्ष्या का भय था और ज़ार निकोलस भी, जो अपने आपको १८१५ के राज्य-संघ का संरक्षक समझता था, उसे चेतावनी दे रहा था। इसके अतिरिक्त वह एक जनतन्त्रीय संविधान-सभा के हाथों से अर्पित, 'गन्दे पानी की नाली में से प्राप्त' राजमुकुट को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था। उधर प्रशा में बहुत से लोग ऐसे थे जो डरते थे कि इस प्रकार प्रशा जर्मनी में शामिल हो जायगा और उसकी राष्ट्रीयता तथा स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी; वे भी विरोध कर रहे थे। १८४७ में उसने बड़े गर्व के साथ कहा था कि 'मैं जर्मन समस्या को ऑस्ट्रिया के सहयोग से अथवा उसके सहयोग के बिना अथवा आवश्यकता पड़ने पर उसका विरोध करके किसी प्रकार भी हल करूँगा' किन्तु अब वह झिझक गया। उसने साम्राज्य के राजमुकुट को और उसके साथ ही फ्रेंकफोर्ट-संविधान को अस्वीकृत कर दिया। ऑस्ट्रिया तथा प्रशा का अनुकरण करके अन्य राज्यों ने भी नवीन संविधान को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया, संविधान-सभा का परिश्रम व्यर्थ गया और प्रगतिवादियों की आशा पर पानी फिर गया। इस विफलता का उत्तरदायित्व ऑस्ट्रिया तथा प्रशा पर था।†

गणतन्त्रीय विरोध—अपनी आशाओं को इस प्रकार भङ्ग होते हुए देख कर उग्र उदारवादियों को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने यह सोच कर कि राजा लोग ही उदारवाद के शत्रु थे, शस्त्र-बल से राइन प्रदेश, साईलेशिया, सैक्सनी और बादेन में मई १८४९ में गणतंत्र स्थापित करने का प्रयत्न किया। बादेन राज्य की सेनाएँ भी उनसे मिल गईं, परन्तु प्रशा की सेनाओं ने उन्हें बुरी तरह दबा कर उनके गणतन्त्रीय स्वप्न का अन्त कर दिया (मई, १८४९)। उनके कई नेताओं को मृत्यु-दण्ड

* Hazen : Modern European History, p. 308

† Ibid., p. 308.

मिला; कई कारागार में डाल दिये गये; कई बच कर भाग गये और अमेरिका के संयुक्त राज्य में जा बसे।*

प्रतिक्रिया की विजय—फ्रेडरिक विलियम ने साम्राज्य का राजमुकुट अस्वीकार कर दिया था और गणतन्त्रीय विद्रोह का दमन भी कर दिया था, परन्तु फिर भी वह जर्मनी की एकता अवश्य चाहता था। उसने एक दूसरे प्रकार से अपना उद्देश्य पूर्ण करने का प्रयत्न किया और अपने नेतृत्व में केवल विशुद्ध जर्मन राज्यों के संघ का प्रस्ताव किया जिसका अर्थ था नवीन संघ से आॅस्ट्रिया का बहिष्कार, क्योंकि आॅस्ट्रिया के राज्य में अ-जर्मन प्रदेश अधिक थे। उसके प्रस्ताव को १७ छोटे राज्यों ने स्वीकार कर लिया (१८५०)। परन्तु इस समय तक आॅस्ट्रिया में सर्वत्र विद्रोह का दमन हो चुका था और श्वार्जनबर्ग इस अपमानजनक योजना को येनकेनप्रकारेण भंग करने पर तुला हुआ था। उसने उसका विरोध किया और १८१५ में स्थापित किये हुए जर्मन संघ को, जो १८४८ में स्थगित कर दिया गया था और जिसमें आॅस्ट्रिया का स्थान प्रमुख था, पुनः जैसे का तैसा स्थापित करने की मांग की। फ्रेडरिक विलियम दब गया। वह आॅस्ट्रिया से लड़ना नहीं चाहता था; उसे भय था कि दक्षिणी जर्मनी के राज्य आॅस्ट्रिया का साथ देंगे और सम्भव था कि रूस भी उसकी सहायता करता। उसने श्वार्जनबर्ग के साथ नवम्बर १८५० में आॅलमुत्स (Olmutz) नामक स्थान पर सन्धि कर ली और नवीन जर्मन-संघ को भङ्ग कर दिया। पुराना जर्मन-संघ पुनः स्थापित हो गया। जर्मन राष्ट्र ने दो वर्ष की प्रसव वेदना के उपरान्त जो सन्तति उत्पन्न की वह थी हास्यास्पद पुराना जर्मन-संघ।† आॅस्ट्रिया की स्थिति पहले से भी अधिक सुदृढ़ हो गई और श्वार्जनबर्ग मध्य-योरोप पर वैसे ही हावी हो गया जैसे मेटरनिख था।

क्रान्ति की विफलता के कारण—इस प्रकार मध्य-योरोप में क्रान्ति, जिसका आरम्भ बड़े उत्साहपूर्ण एवं आशाजनक ढंग से हुआ था, थोड़े ही दिनों में शान्त हो गई। किन्तु यह आश्चर्य की बात नहीं थी क्योंकि क्रान्ति मुख्यकर नगरों तथा मध्यम वर्ग का ही कार्य थी। गाँवों की जनता अमूर्त भावात्मक स्वतन्त्रता की अपेक्षा अपने परम्परागत रीति-रिवाजों के प्रति अधिक आसक्त थी। उसे नगरों की जनता में विश्वास नहीं था; वह अपने जमींदारों, पादरियों तथा सरकारी कर्मचारियों का आदर करती थी और उनमें विश्वास करती थी; उसने क्रान्ति का समर्थन नहीं किया। इसके अतिरिक्त नगरों की जनता में भी ऐक्य नहीं था; वहाँ मध्यम वर्ग तथा श्रमिक वर्ग में फूट थी और जब श्रमिकों ने अधिक उत्पात करना आरम्भ किया तो मध्यम वर्ग

---

* Hayes and Cole : History of Europe, Vol. II, p. 21?.

† Schevill : A History of Europe, p. 487.

व्यवस्था एवं सुरक्षा की वेदी पर स्वतन्त्रता का बलिदान करने के लिये तैयार हो गया। इसके साथ ही जिस देशभक्ति की भावना पर उदारवादी एवं राष्ट्रवादी जोर देते थे उसी देशभक्ति की भावना का उपयोग करके प्रतिक्रियावादियों ने बहुसंख्यक जनता को क्रान्ति से अलग कर दिया और उदारवादियों का बड़ी सरलता से दमन कर दिया।* जनता की फूट यहीं तक सीमित नहीं थी; आॅस्ट्रिया के साम्राज्य की विभिन्न प्रजातियों में भी पारस्परिक द्वेष था जिसको प्रतिक्रियावादियों ने खूब भड़काया और एक प्रजाति का दूसरी के विरुद्ध प्रयोग करके सबको दबा दिया। इसके अतिरिक्त आॅस्ट्रिया की सेनाएँ राजभक्त बनी रहीं और सम्राट् का साथ देती रहीं। यही हाल जर्मनी की सेनाओं का था। इधर तो राजाओं को अपनी सुशिक्षित सेनाओं का बल प्राप्त था, उधर क्रान्तिकारी लोग अनुभवहीन और असहाय थे। यदि नवीन फ्रेञ्च गणतन्त्र जर्मनी के उदारवादियों की सहायता करता और सार्डिनिया का राजा इटली में आॅस्ट्रियन सेनाओं को परास्त कर देता तो जर्मनी और आॅस्ट्रिया में क्रान्ति की अवश्य विजय होती।†

क्रान्ति के परिणाम—इस प्रकार हम देखते हैं कि १८५० तक उदारवाद तथा राष्ट्रीयता की प्रगतिशील शक्तियाँ मध्य योरोप में प्रतिक्रिया की शक्ति के सामने पराजित हुईं और प्रतिक्रिया पूर्णरूप से विजय हुई। यह सत्य है कि प्रतिक्रिया का अवतार मेटरनिख भाग चुका था परन्तु उसका स्थान श्वार्ज़ेनबर्ग ने ले लिया था जो उसी के समान कट्टर प्रतिक्रियावादी था और जो क्रान्ति को सर्वत्र परास्त करने में सफल हुआ था। आॅस्ट्रिया का संविधान रद्द हो गया, हंगरी का गणतन्त्र नष्ट हो गया, स्लाव राष्ट्रीयता कुचल दी गई और समस्त साम्राज्य पर फिर से हाप्सबुर्ग वंश का एकछत्र निरंकुश शासन स्थापित हो गया। लोम्बार्डी और वेनीशिया फिर आॅस्ट्रिया की अधीनता में पहुँच गये और सार्डीनिया तथा पोप के राज्यों को छोड़कर समस्त इटली पर पुनः आॅस्ट्रिया का प्राधान्य स्थापित हो गया। सार्डीनिया के राजा के राष्ट्रीय एकीकरण के प्रयत्न निष्फल हुए और फ्रेञ्च तलवार के बल पर पोप फिर निरंकुश हो गया। फ्रैंकफोर्ट पार्लामेण्ट के प्रयत्न, जिनमें जर्मन एकता का स्वप्न सत्य होता हुआ दिखाई देता था, निष्फल हुए और जर्मनी फिर १८१५ की स्थिति में पहुँच गया।

परन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि क्रान्ति सर्वथा निष्फल रही। सर्वत्र पुराने प्रतिक्रियावादी शासन पुनः स्थापित अवश्य हो गये थे, किन्तु कुछ क्रान्तिजनित

---

* Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 176.

† Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, pp. 91-92.

लाभ बचे रहे। आस्ट्रिया के साम्राज्य में अर्ध दास व्यवस्था, जिसे क्रान्ति ने नष्ट कर दिया था, पुनर्जीवित नहीं की गई और सार्डीनिया, स्विट्ज़रलैण्ड, हॉलैण्ड, डेनमार्क तथा प्रशा में किसी न किसी रूप में सांविधानिक शासन बना रहा। स्विट्ज़रलैण्ड में १८४८ में क्रान्ति के प्रभाव में जो संविधान बना उसके द्वारा प्रजातन्त्रीय एवं संघीय गणतन्त्र की स्थापना हुई। वह संविधान आज तक बना हुआ है। सार्डीनिया में मार्च १८४८ में चार्ल्स एल्बर्ट ने जो संविधान प्रदान किया था वह बना रहा। वह इंगलैण्ड के संविधान के समान था और उससे वास्तविक सांविधानिक शासन की स्थापना हुई थी। १८५० में इटली में सार्डीनिया ही अकेला सांविधानिक एवं उदारवादी राज्य था जैसे योरोप में स्विट्ज़रलैण्ड अकेला प्रजातन्त्रीय गणतन्त्र था। १८४८ में हॉलैण्ड को द्वितीय विलियम ने और १८४९ में डेन्मार्क को सप्तम फ्रेडरिक ने जो संविधान दिये थे वे सार्डीनिया के संविधान के समान उदारवादी तो नहीं थे क्योंकि उनमें मन्त्री पूर्णतया पार्लमिण्ट के प्रति उत्तरदायी नहीं थे फिर भी वे इस अर्थ में अवश्य उदारवादी कहे जा सकते थे कि उनमें पार्लमिण्ट के निर्वाचन के लिये मतदान की व्यवस्था थी, यद्यपि मतदान का अधिकार उच्च तथा मध्यम वर्ग तक ही सीमित था। प्रशा को भी फ्रेडरिक विलियम ने १८५० में एक संविधान प्रदान किया था परन्तु वह १८४८ के संविधान से बहुत भिन्न था। १८४८ में उसने सार्वलौकिक मताधिकार का वचन दिया था। १८५० के संविधान में सार्वलौकिक मताधिकार बना रहा, परन्तु जिस प्रकार उसकी व्यवस्था की गई उससे वह प्रायः रद्द हो गया। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में मतदाता सम्पत्ति के आधार पर तीन श्रेणियों में विभक्त किये गये और प्रत्येक क्षेत्र से जितनी धनराशि कर द्वारा प्राप्त होती थी, वह तीन समान भागों में बाँटी गई। जो मतदाता करों का प्रथम तृतीयांश देते थे वे प्रथम श्रेणी में रखे गये, जो करों का द्वितीय तृतीयांश देते थे वे द्वितीय श्रेणी में रखे गये और शेष तृतीय श्रेणी में रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य में जो अत्यन्त धनी थे वे प्रथम श्रेणी में रहे, जो साधारण धनी थे वे द्वितीय श्रेणी में और ग़रीब लोग तृतीय श्रेणी में। प्रथम श्रेणी में बहुत थोड़े व्यक्ति थे; किसी-किसी निर्वाचन-क्षेत्र में तो एक ही था; द्वितीय श्रेणी प्रथम श्रेणी से बीस गुना बड़ी थी और तृतीय श्रेणी तो सैकड़ों गुना बड़ी थी। किन्तु तीनों श्रेणियों को प्रशा की पार्लमिण्ट के निचले भवन के लिये प्रतिनिधि चुननेवाले निर्वाचक-मण्डल के लिये बराबर संख्या में निर्वाचक चुनने का अधिकार था।* इसका परिणाम यह होता था कि सार्वलौकिक मताधिकार होते हुए भी ग़रीबों के प्रतिनिधि या तो चुने ही नहीं जाते थे और यदि चुने भी जाते थे तो बहुत थोड़े। इस प्रकार सारी सत्ता धनिकों के हाथों में रही। यह व्यवस्था १९१८ तक बनी रही। ऐसी दशा में प्रशा में संविधान का होना या न होना बराबर ही था, फिर भी

---

* Hazen : Modern European History, p. 311.

कम से कम नाम मात्र को प्रशा की गणना योरोप के सांविधानिक राज्यों में की जा सकती थी।

इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि उदारवाद एवं राष्ट्रीयता की जिन भावनाओं का परिणाम यह क्रान्ति थी उनका अस्तित्व नष्ट नहीं किया जा सका था।* जर्मनी में राष्ट्रीय एकता की जो भावना जाग्रत हो चुकी थी और जिसे फ्रेंकफोर्ट-पार्लामेण्ट से काफी उत्तेजना मिली थी वह मिट नहीं सकती थी। आगे चल कर हम देखेंगे कि उदारवाद को तो विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई परन्तु राष्ट्रीयता की भावना २० वर्ष के अन्दर ही पूर्ण रूप से विजयी हुई। प्रत्येक बुराई में कुछ न कुछ भलाई अवश्य होती है। १८४८-४९ की घटनाओं ने दो बातें स्पष्ट कर दी थी। यह बात अच्छी तरह प्रमाणित हो गई थी कि जर्मन एकता का सबसे भयङ्कर शत्रु ऑस्ट्रिया था। इसके साथ यह बात भी अच्छी तरह प्रकट हो गई थी कि यदि कभी जर्मन एकता सम्भव होगी तो ऐसा प्रशा के नेतृत्व में ही हो सकेगा। यह सत्य है कि एकता का समस्त प्रयत्न प्रशा के राजा की निर्बलता के ही कारण असफल हुआ था, किन्तु फिर भी वह एक बड़ा एवं शक्तिशाली राज्य था और एक संविधान स्वीकार करके, यद्यपि वह उदारवादियों की दृष्टि में अत्यन्त असन्तोषजनक था, अठारहवीं शताब्दी की संस्थाओं को तिलाञ्जलि देकर, नये युग में प्रवेश कर चुका था।† इटली के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य थी। वहाँ भी उदारवाद एवं राष्ट्रीयता की भावनाएं जड़ पकड़ चुकी थीं। वहाँ भी ऑस्ट्रिया इन भावनाओं का कट्टर शत्रु प्रमाणित हो चुका था और यह बात अच्छी तरह प्रकट हो चुकी थी कि राष्ट्रीय संघर्ष का नेतृत्व यदि कोई कर सकता था तो वह था सार्डीनिया का राजवंश।

क्रान्ति की विफलता का एक और महत्वपूर्ण परिणाम हुआ। १७८९ से योरोप के लोगों में यह विश्वास जमा हुआ था कि क्रान्ति के द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में मनोवांछित परिवर्तन बड़ी शीघ्रता से किये जा सकते हैं, परन्तु १८४८ की विफलताओं से यह विश्वास नष्ट हो गया और लोग अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये क्रान्ति को छोड़ अन्य साधनों का आश्रय लेने लगे।‡

---

* "१८४८ की क्रान्ति ने कुछ समय-बम (Time-bombs) बहुत गहरे गाड़ दिये थे—वर्गीय घृणा तथा राष्ट्रीय ईर्ष्या, अखिल जर्मनवाद तथा अखिल-स्लाववाद, फ्रान्स में एक अधिकनायकतन्त्र जिसमें भावी फासिज्म के कुछ लक्षण दृष्टिगोचर होते थे और कार्लमार्क्स का दर्शन।" Palmer : A History of the Modern World, p. 493.

† Schevill : A History of Europe, p. 488.

‡ Muir : A Short History of the British Commonwealth, Vol. II, p. 375.

मेटरनिख—१८४८-५० में प्रतिक्रिया की विजय के साथ एक युग समाप्त होता है। इतिहास में यह युग 'मेटरनिख-युग' (Age of Metternich) कहलाता है। जैसा हम देख चुके हैं, इस युग में केवल ऑस्ट्रिया तथा जर्मनी की राजनीति में ही नहीं, समस्त योरोपीय कूटनीति में मेटरनिख का प्राधान्य रहा। उन्नीसवीं शताब्दी में ऑस्ट्रिया में जितने राजनीतिज्ञ हुए उनमें सबसे अधिक प्रख्यात एवं प्रभावशाली मेटरनिख ही था।*

उसका जन्म कोबलेन्स में ऑस्ट्रिया के एक उच्च-कुलीन वंश में १७७३ में हुआ था। उसकी शिक्षा स्ट्रासबुर्ग तथा मेएन्स (Mayence) के विश्वविद्यालयों में हुई थी। जिन दिनों वह मेएन्स में शिक्षा प्राप्त कर रहा था उन दिनों वहाँ फ्रान्स से भागे कई कुलीन लोग बस रहे थे। उन लोगों के सम्पर्क से उसे क्रान्ति से ऐसी घृणा उत्पन्न हुई जिसका प्रभाव उस पर जीवन भर बना रहा।†

उसके परिवार का राजदरबार से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था और उसे कई बार सम्राट् के राजदूत की तरह कई जगह रहना पड़ा था। फिर भी १८०१ तक उसका मुख्य ध्यान साहित्यिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन की ओर लगा रहा। कभी-कभी वह कूटनीति के क्षेत्र से अलग हो जाने का भी विचार करता था। परन्तु उसी वर्ष ल्यूनविल की सन्धि के बाद वह ड्रेस्डन में राजदूत नियुक्त किया गया, जहाँ उसे योरोपीय कूटनीति का बड़ा अच्छा अनुभव प्राप्त हुआ और धीरे-धीरे वह योरोप का ज़बरदस्त कूटनीतिज्ञ बन गया। इसी सम्बन्ध में उसे नेपोलियन के पास रहने का भी अवसर मिला और वह उसके चरित्र का अच्छी प्रकार अध्ययन कर सका। उसने तेलीरां से भी घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर लिया जो १८०८ के अन्त से नेपोलियन के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लग गया था। इन बातों से आगे चलकर उसने बड़ा लाभ उठाया।

वह १८०९ में ऑस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री नियुक्त हुआ और १८४८ तक उस पद पर रह कर ऑस्ट्रिया की नीति का सूत्रधार बना रहा। उसे नेपोलियन का विश्वास प्राप्त था परन्तु वह स्वयं नेपोलियन से घृणा करता और उसे नष्ट करने के लिये उसने कुछ नहीं उठा रखा। जिस प्रकार उसे नेपोलियन से घृणा थी उसी प्रकार वह ज़ार प्रथम एलेक्ज़ेण्डर की योजनाओं से भी डरता था। उसे भय था कि कहीं नेपोलियन के पतन के बाद योरोप में उसका स्थान ज़ार न ले ले। इस कारण उसने अपनी कूटनीतिक चालों से उन दोनों में फूट डालने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जर्मनी के 'मुक्ति-युद्ध' के आरम्भ होने तक उसकी नीति यही रही और जब उसने उस युद्ध में भाग लिया तो उसका हस्तक्षेप निर्णायक रहा और लाइपत्सिग के युद्ध में

* Hazen : Modern European History, p. 255.

† Chaytor : The Making of Modern Europe (Vol. VI of Gresham's European History), p. 124.

नेपोलियन परास्त हुआ। इसके बाद नेपोलियन के विरुद्ध होनेवाली समस्त कार्यवाहियों का मुख्य संचालक प्रायः वही बना रहा और, जैसा हम देख चुके हैं, वियना कांग्रेस में भी उसकी नीति विजयी रही। नेपोलियन के पतन के बाद उसने किस प्रकार अपनी कूटनीतिक चालों से १८४८ तक योरोप पर अपना प्राधान्य रखा, उसका इतिहास हम देख चुके हैं।

उसके प्राधान्य का रहस्य उसकी प्रसन्न प्रभावशाली मुद्रा, विशाल कूटनीतिक अनुभव, मिलनसारी, ठण्डे दिमाग, मनुष्य की बारीक परख, षड्यन्त्रकुशलता तथा दृढ़निष्ठा में था। उसे स्वयं अपनी शक्ति में अपूर्व विश्वास था; वह अपने आपको सर्वज्ञ समझता था। वह कहा करता था कि मेरा जन्म पतनोन्मुख योरोपीय समाज के पुनरुद्धार के लिये हुआ है और जीवन भर वह इसी निमित्त प्रयत्न करता रहा। वह टिटहरी की भांति समस्त संसार को अपने विशाल कन्धों पर टिका हुआ समझता था; उसका यह दावा ठीक भी था क्योंकि उसका संसार अठारहवी शताब्दी का योरोपीय संसार था और, जैसा हम देख चुके हैं, यह संसार वास्तव में मेटरनिख के बाहुबल का ही आश्रित था और उसी के बल पर टिका हुआ था।

वह मनुष्य का बहुत अच्छा पारखी था परन्तु उसे परिस्थिति की परख नहीं थी। वह यह नहीं समझ पाया कि १८१५ के बाद का योरोप १७८९ के पहले का योरोप नहीं था। वह क्रान्ति का एक—विनाशकारी - पक्ष ही देख सका; उसका दूसरा पक्ष — रचानात्मक — उसे दिखाई नहीं दिया। वह फ्रेञ्च क्रान्ति द्वारा प्रसारित नवीन भावनाओं के महत्व एवं प्रभाव को नहीं समझ सका और उन्हें तुच्छ समझ कर जीवन भर उन्हें नष्ट करने के असफल प्रयत्न में लगा रहा। वह उन क्रान्तिजनित नवीन भावनाओं को एक रोग समझता रहा जिनको निर्मूल करना वह अपना कर्तव्य समझता था। वह निरंकुश एकतन्त्र में विश्वास करता था और प्रतिनिधि-सभाओं एवं उत्तरदायी शासन से उसे घृणा थी। स्वतन्त्रता, समानता आदि शब्दों को वह क्रान्तिकारी पागलों का अनर्गल प्रलाप कह कर उनसे घृणा करता था। वह कहा करता था कि प्रजातन्त्र केवल दिन के प्रकाश को रात्रि के घोर अन्धकार में परिवर्तित कर सकता है।* वह नहीं देख सका कि भविष्य इन नवीन भावनाओं के साथ ही था।

वह स्थितिपालक था और वियना-कांग्रेस द्वारा स्थापित व्यवस्था को कायम रखना तथा उसके द्वारा योरोप में शान्ति रखना अपना कर्त्तव्य समझता था। उसकी दृष्टि में क्रान्ति का सबसे बड़ा अथवा एकमात्र खतरा उन नवीन भावनाओं से ही था और उनके दमन से ही शान्ति रह सकती थी तथा यह कार्य केवल निरंकुश एकतन्त्र द्वारा ही सम्पन्न हो सकता था। ऑस्ट्रिया के साम्राज्य में तो उसने इन भावनाओं को

---

* **Hazen : Modern Europen History, p. 257.**

दबा कर निरंकुश एकतन्त्र को बिलकुल कमजोर नहीं होने दिया; उसके बाहर भी उसने सर्वत्र निरंकुश एकतन्त्र का समर्थन किया और ज़ार प्रथम एलेक्ज़ेण्डर तथा प्रशा के शासक फ्रेडरिक विलियम पर अपना प्रभाव डाल कर उन्हें उदारवाद एवं राष्ट्रीयतावाद के दमन-कार्य में अपना सहयोगी बना लिया। जर्मनी में तो उसने जर्मन परिसंघ की विधायिका सभा (Diet) के द्वारा सर्वत्र इन नवीन भावनाओं की प्रगति का सफलतापूर्वक विरोध किया और अन्यत्र (इटली तथा स्पेन में) उसने कांग्रेस-व्यवस्था का एक शक्तिशाली दमनकारी शस्त्र की तरह उपयोग किया। ग्रीस में भी उसने ज़ार एलेक्ज़ेण्डर को टर्की के सुल्तान के विरुद्ध यूनानियों की सहायता नहीं करने दी।

इस प्रकार मेटरनिख जीवन भर उदारवाद का कट्टर शत्रु बना रहा और अपने उद्देश्य की सिद्धि में वह सफल भी रहा। परन्तु, जैसा हम आगे देखेंगे, जो सफलता उसे प्राप्त हुई वह वास्तव में सफलता की छायामात्र थी। उसके समय में ही ग्रीस तथा बेल्जियम में उदारवाद एवं राष्ट्रीयतावाद की विजय हो चुकी थी और उसकी मृत्यु के बाद इन नवीन भावनाओं ने जर्मनी तथा इटली में भी, जहाँ उसका प्रभाव सबसे अधिक रहा था, थोड़े ही समय में विजय प्राप्त की। किन्तु इन नवीन भावनाओं की सफलता को देख कर मेटरनिख की जो कड़ी निन्दा की जाती है उसमें उसके साथ कुछ अन्याय होता है।* उसकी आलोचना करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह ऑस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री था और यह आवश्यक था कि उसकी नीति ऑस्ट्रिया के हितों के अनुकूल हो। ऑस्ट्रिया के साम्राज्य में, जैसा हम देख चुके हैं, अनेक प्रकार के लोग रहते थे जिनमें किसी प्रकार की एकता की कोई भावना नहीं थी और जो केवल बलपूर्वक ही साम्राज्य में रखे जा सकते थे। ऐसे साम्राज्य में राष्ट्रीयता की भावना को प्रश्रय देना उसके विनाश को निमन्त्रण देना था। इसी कारण वह इन नवीन भावनाओं का कट्टर शत्रु था और चूँकि उनसे ऑस्ट्रिया के साम्राज्य को बड़ा भारी खतरा था, वह उन्हें कहीं भी पनपने नहीं देना चाहता था। इसके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि फ्रेन्च क्रान्ति तथा नेपोलियन के समय के अनवरत युद्धों से योरोप की जनता त्रस्त थी और अन्य सब वस्तुओं से अधिक शान्ति चाहती थी। जहाँ उसने नवीन भावनाओं का दमन कर जनता का इतना अपकार किया, वहाँ ४० वर्षों तक शान्ति कायम रखकर उसने उसका उपकार भी कम नहीं किया।

फिर भी इतना कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि एक महान् राजनीतिज्ञ में युग की प्रेरक शक्तियों को समझने तथा अपने आपको उनके अनुकूल बनाने का जो

---

* Phillips : Modern Europe, pp. 65-66.

विशिष्ट गुण होता है उससे वह बिलकुल शून्य था। अतुलनीय भौतिक एवं मानसिक विस्तार के युग के आरम्भ में विद्यमान होते हुए भी वह यही विश्वास करता रहा कि भाग्य ने उसे ह्रास के युग में ला खड़ा किया था जिसमें उसका काम पतनोन्मुख संस्थाओं को सहारा देना था। उसके राजनीतिक ढंगों में भी कुशल राजनीतिज्ञता की छाप नहीं दिखाई देती थी। नेपोलियन कहा करता था कि मेटरनिख साज़िश को ही राजनीतिज्ञता समझता है। तेलीरां उसे सत्य एवं सम्मान की उपेक्षा करके प्रतिक्षण अपने उद्देश्यों एवं ढंगों को बदलते रहनेवाला अवसरवादी कहा करता था। उसकी नीति वास्तव में निषेधात्मक एवं अवसरवादी थी, उच्च रचनात्मक आदर्शों द्वारा प्रेरित नहीं थी। वह अवसरवादी था परन्तु शायद उसके जीवन की सबसे बड़ी ग़लती यह थी कि वह सदा अवसरवादी नहीं रहा और उसने एक ऐसी नीति को, जो संकटकाल में शान्ति क़ायम रखने का एक अच्छा अस्थायी साधन बन सकती थी, एक स्थिर सिद्धान्त बना डाला। एक थकी हुई और भीरु पीढ़ी के लिये वह आवश्यक था, किन्तु यह उसका दुर्भाग्य था कि वह अपनी उपयोगिता समाप्त होने के बाद भी बना रहा और यह न समझ सका कि जबकि वह स्वयं वृद्ध और क्षीण होता जा रहा था, उसी समय संसार पुनः यौवनावस्था को प्राप्त हो रहा था।* अचल नीति का आश्रय लिये हुए वह प्रगतिशील संसार के बिलकुल ही अनुपयुक्त था। वह स्वयं इस बात को समझता था और कहता था कि मैं इस संसार में या तो बहुत जल्दी आ गया या बहुत देर से आया हूँ। यदि मैं पहले आया होता तो अपने युग का आनन्द लेता और यदि देर से आया होता तो उसके निर्माण में सहायक बनता, परन्तु आज तो मुझे अपना जीवन क्षीयमाण संस्थाओं को सम्हालने में लगाना पड़ रहा है।† उसे क्रान्ति तथा निरंकुश शासन के बीच का कोई मार्ग नहीं दिखाई देता था और चूँकि उसे क्रान्ति से घृणा थी, इस कारण वह निरंकुश शासन का अन्धभक्त बना रहा और निरन्तर उदारवाद तथा राष्ट्रीयता की भावना को कुचलने में लगा रहा। किन्तु ये भावनाएँ किसी प्रकार भी दबाई नहीं जा सकती थीं। इसके परिणामस्वरूप मेटरनिख-युग केवल एक प्रतिक्रियावादी विष्कम्भक (Interlude) ही प्रमाणित हुआ जिसमें मेटरनिख के समस्त प्रयत्न ऐसे उद्देश्य की प्राप्ति के लिये हुए जिसकी पराजय निश्चित थी।‡ उसकी अन्तर्राष्ट्रीय चौकसी तथा दमन की व्यवस्था ब्रिटेन के असहयोग, मॉनरो-सिद्धान्त की घोषणा तथा १८३० में फ़्रान्स में लुई फ़िलिप के शासन की स्थापना के फलस्वरूप धीरे-धीरे निर्बल

---

* Phillips : Modern Europe, p. 66.

† Ketelbey : A History of Modern Times, p. 145.

‡ Strong : Dynamic Europe, p. 246.

पड़ती गई। ग्रीस तथा बेल्जियम के स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना में उसकी स्थितिपालक नीति की विफलता का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। १८४८ तक कांग्रेस-व्यवस्था पर आधारित योरोपीय राज्यों का सहयोग समाप्त हो चुका था। १८४९ में इटली में और १८५० में जर्मनी में ऑस्ट्रिया को विजय अवश्य मिली थी परन्तु वह क्षणिक थी। इन्हीं दोनों देशों में वे शक्तियाँ तैयार हो चुकी थीं जो ऑस्ट्रिया को वहाँ से बाहर निकाल कर उसके प्राधान्य को समाप्त करनेवाली थीं।

अध्याय २३

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक रूस

उदारवाद एवं राष्ट्रीयता के दमनकार्य में मेटरनिख का मुख्य सहयोगी रूस का ज़ार था। नेपोलियन के पतन के समय रूस योरोप का सबसे बड़ा राज्य था। नेपोलियन को परास्त करने में जिन महान् राज्यों ने सहयोग किया था उनमें से एक रूस भी था और इस कार्य में उसने जो कुछ भी भाग लिया था उसके फलस्वरूप योरोपीय राज-नीति में उसने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। जैसा हम देख चुके हैं, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक उसका प्राधान्य अक्षुण्ण बना रहा और मेटरनिख अपनी नीति की सफलता के लिये सदा उसके सहयोग पर निर्भर रहा।

इतना होते हुए भी रूस एक बहुत ही पिछड़ा हुआ देश था। उसमें विभिन्न प्रजातियों के एवं विभिन्न धर्मों को माननेवाले लोग रहते थे जिनमें स्लाव प्रजाति मुख्य थी जो ऑर्थोडॉक्स चर्च (Greek Orthodox Church) की अनुयायिनी थी। उत्तर-पूर्व की ओर फ़िनलैण्ड में अधिकांश लोग फ़िन थे जो स्वीडिश तथा फ़िनिश भाषाएँ बोलते थे और धर्म में ल्यूथर के अनुयायी थे। बाल्टिक सागर के तटीय प्रान्तों में अधिकांश जनता फ़िन तथा लिथुएनियन थी और ल्यूथर की अनुयायिनी थी तथा कई भाषाएँ बोलती थी किन्तु उच्च वर्ग के लोग जर्मन उत्पत्ति के थे और जर्मन भाषा बोलते थे; वे भी ल्यूथर के अनुयायी थे। पोलैण्ड का विशाल भाग रूस में शामिल था। उसके निवासी रोमन कैथोलिक धर्म को माननेवाले तथा पोलिश भाषा-भाषी पोल लोग थे। पूर्व तथा दक्षिण की ओर एशियाई प्रजातियाँ थीं जिनमें से अधिकांश इस्लाम धर्म को मानती थीं। इन अनेक प्रजातियों के अतिरिक्त कई जगह यहूदी लोग बसे हुए थे। ये विभिन्न प्रजातियाँ सभ्यता के विभिन्न स्तरों पर थीं परन्तु समष्टि रूप से समस्त देश अत्यन्त पिछड़ा हुआ था।

महान् पीटर और केथरीन—रूस को सभ्य बनाने तथा उसे पश्चिमी योरोप के समकक्ष बनाने का प्रयत्न करनेवाला सर्वप्रथम व्यक्ति महान् पीटर (१६८२-१७२५) था, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसके काम को आगे बढ़ानेवाला कोई नहीं हुआ। केथ-रीन (१७६२-१७९६) ने योरोप के राजनीतिक क्षेत्र में रूस को आगे बढ़ाने तथा उसे प्रतिष्ठित पद पर आसीन करने में बड़ी सफलता प्राप्त की परन्तु आन्तरिक पुनर्निर्माण

की महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर उसने कोई ध्यान नहीं दिया जिसके परिणाम-स्वरूप समस्त रूस उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक सब प्रकार से मध्यकालीन ही बना रहा। आधुनिक सभ्यता का जो थोड़ा-बहुत प्रवेश रूस में हो पाया था वह उच्च वर्गों तक ही सीमित था, बहुसंख्यक जनता पर उसका कोई प्रभाव नहीं था।

समाज—समाज दो वर्गों - कुलीनों तथा कृषकों—में विभक्त था। अधिकांश कृषक ज़ार के तथा कुलीन ज़मींदारों के दास थे। कुलीन लोगों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे, सेना तथा शासन के उच्च पद उन्हीं के हाथों में थे और वे बहुत-सी भूमि के स्वामी भी थे जिसे उनके दास (Serfs) जोतते थे। स्वामियों को अपने दासों पर अपरिमित एवं निरंकुश अधिकार प्राप्त थे। दासों को अपने स्वामियों की भूमि पर रहना और काम करना पड़ता था; वे उसे छोड़ कर कहीं नहीं जा सकते थे। अपने स्वामी की ओर से उन्हें थोड़ी-बहुत भूमि तो प्राप्त थी जिसके द्वारा वे अपना जीवन-निर्वाह कर सकते थे परन्तु उन्हें वस्तुत: कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे और प्राय: उनके साथ अमानुषिक व्यवहार किया जाता था। उन्हें भारी कर देने पड़ते थे; उनसे कैसा ही और कितना ही काम लिया जा सकता था जिसके लिये उन्हें कोई उजरत नहीं दी जाती थी; स्वामी उन्हें बेच भी सकता था, पीट सकता था, कोड़े लगा सकता था, निर्वासित कर साइबेरिया भेज सकता था, उन्हें क़ैद करके बन्द कर सकता था, सेना में भरती होने के लिये ज़बरदस्ती भेज सकता था परन्तु बेचारे दास को इन कष्टों से छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं था, वह किसी से शिक़ायत भी नहीं कर सकता था। रूस की बहुत-सी भूमि ज़ार की निजी सम्पत्ति थी। उस पर काम करनेवाले दासों की दशा ज़मींदारों के दासों की अपेक्षा कुछ अच्छी थी। वे ग्रामों (Mir) में संगठित थे जहाँ उन्हें कुछ स्थानीय स्व-शासन प्राप्त था और वे एक निर्वाचित समिति तथा पंच के द्वारा अपना प्रबन्ध करते थे। उन पर भी अनेक प्रकार की रुकावटें थीं परन्तु उनकी मुख्य शिकायतें ये थीं कि उन पर ग़ैर-क़ानूनी करों का अत्यधिक भार था, उनसे रिश्वतें ली जाती थीं और ज़बरदस्ती काम लिया जाता था। ज़मींदारों के दासों की दशा तो इतनी दयनीय थी कि उनकी तुलना में अमेरिका के गोरे मालिकों के खेतों पर काम करनेवाले हब्शी भी, जिनकी दुर्दशा को पढ़ कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं, उनसे कहीं अधिक सुखी थे।* १८६१ में रूस में कुल दास पाँच करोड़ के लगभग थे जिनमें से दो करोड़ तीस लाख के लगभग तो राजकीय दास थे, इतने ही ज़मींदारों के अधिकार में थे और शेष या तो चर्च तथा अन्य संस्थाओं के साथ बँधे हुए थे या घरेलू नौकरियाँ करते थे।

आर्थिक दशा—अन्य देशों के समान उस समय तक रूस में व्यापार तथा

---

* Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 82.

उद्योग-धन्धों की उन्नति नहीं हो पाई थी और समस्त देश कृषि-प्रधान था। इस कारण वहाँ शिक्षित एवं धनी मध्यम वर्ग नहीं बन पाया था। कृषि की दशा भी बड़ी खराब थी और उसके ढंग में भी कोई उन्नति नहीं हुई थी। सारा देश प्रधानतः दासों तथा कृषकों का था जिनकी दशा भी दासों से किसी प्रकार अच्छी नहीं थी।

शासन-व्यवस्था—निरंकुश एकतन्त्र—रूस की शासन-व्यवस्था भी सब प्रकार से असन्तोषजनक थी। राज्य की समस्त शक्ति ज़ार के हाथों में केन्द्रित थी जो अपने अधिकार को दैवी मानता था और जिस पर किसी प्रकार का भी अंकुश नहीं था। उसके निर्णय ही, जिनकी वह आदेशों के रूप में उद्घोषणा करता था, राज्य के क़ानून थे। वह मन्त्रियों की सहायता से शासन करता था जिनकी नियुक्ति वह स्वयं करता था और जो स्वयं उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। राज्य में कोई विधायिका सभा नहीं थी, न जनता को कोई राजनीतिक अधिकार ही प्राप्त थे। न्यायाधीश ज़ार के आज्ञाकारी सेवक थे और उसकी इच्छानुसार न्याय करते थे। प्रेस को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी। शासन अत्यन्त भ्रष्ट और निकम्मा था; शासन के पदों पर नियुक्तियाँ योग्यता के आधार पर नहीं होती थीं; प्रभाव या रिश्वत के ज़ोर से कोई भी पद प्राप्त किया जा सकता था। रिश्वत का बाज़ार सर्वत्र गरम था। इसका एक कारण यह भी था कि सरकारी कर्मचारियों का वेतन कम था। प्रान्तों में फ़ौजी गवर्नर प्रजा को चूस कर धनराशि एकत्रित करने में लगे रहते थे। जनता को यह सब सहन करना पड़ता था; शिकायत करना व्यर्थ था क्योंकि गवर्नरों के परिवर्तन से उनकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता था।

जागृति और असन्तोष—ऐसी दशा क्रान्ति के अनुकूल होती है परन्तु रूस में फ़्रान्स की भाँति कोई जाग्रत मध्यम वर्ग नहीं था जो दलित जनता का नेतृत्व करके शासन का विरोध करता। कृषक वर्ग इतना दबा हुआ था कि उसमें से नेता उत्पन्न होना कठिन था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक यही अवस्था रही परन्तु नेपोलियन की पराजय के बाद के समय में जनता के हितों को एक अप्रत्याशित दिशा से समर्थन प्राप्त हुआ। रूस में कुलीन वर्ग तथा नौकरशाही के बीच बड़ा मनोमालिन्य था। ज़ार के विश्वासपात्र कर्मचारियों में बहुतसे लोग जर्मन उत्पत्ति के थे और समस्त शासन उन्हीं के हाथों में था। यह बात रूसी कुलीन वर्ग को बहुत अखरती थी। ऊपर से तो वे लोग ज़ार के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करते थे परन्तु मन ही मन में उस व्यवस्था के अन्त की कामना करते थे। इसके अतिरिक्त सेना के अफ़सर, जो कुलीन वर्ग के थे, वर्षों पश्चिमी योरोप में और तीन वर्ष तक फ़्रान्स में भी रह चुके थे जहाँ उन पर नवीन विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा था और उनका दृष्टिकोण अधिक विशद एवं सहानुभूतिपूर्ण बन चुका था। जिस प्रकार अमेरिकन क्रान्ति ने फ़्रेञ्च क्रान्ति का बीजारोपण किया, उसी प्रकार फ़्रान्स की स्थिति की तुलना में रूस की निकृष्ट अवस्था,

दास-प्रथा तथा स्वतन्त्र संस्थाओं के अभाव की अनुभूति ने कई रूसियों के हृदय में क्रान्ति का बीज बो दिया।* सांविधानिक एकतन्त्र तथा क्रान्ति के विचार लोगों में अंकुरित होने लगे और उनके प्रचार के लिये गुप्त समितियों का निर्माण होने लगा। परन्तु इन नवीन विचारों से प्रेरित लोगों की संख्या बहुत कम थी, अधिकांश जनता अभी इन विचारों को नहीं समझती थी।

प्रथम एलेक्जे ण्डर (१८०१-१८२५)—जिन दिनों में इस प्रकार के विचारों ने रूस में प्रवेश किया, उन दिनों वहाँ प्रथम एलेक्जे ण्डर (१८०१-१८२५) शासन कर रहा था। उसकी शिक्षा ला होर्प नामक एक उदारवादी स्विस विद्वान् की देख-रेख में हुई थी जिससे उसने फ्रेञ्च क्रान्ति के उदार विचारों को ग्रहण किया। वह आदर्शवादी और उदार विचारों का समर्थक था। उसकी प्रवृत्ति धार्मिक थी किन्तु उसमें एक बहुत बड़ी दुर्बलता यह थी कि उसकी प्रकृति स्थिर नहीं थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह अपने प्रारम्भिक उदार विचारों पर स्थिर न रह सका। वियना-कांग्रेस के समय वह योरोप में सबसे अधिक उदारवादी शासक समझा जाता था। वियना-कांग्रेस में उसने अपना प्रभाव उदारवादी दिशा में ही डाला। 'पवित्र-संघ' उसी के मस्तिष्क की उपज था। वह विजित फ्रेञ्च राष्ट्र के साथ उदार व्यवहार करना चाहता था और उसने आग्रह करके अठारहवें लुई से फ्रेञ्च जनता को एक संविधान दिलवाया। वह चाहता था कि योरोप के समस्त राष्ट्रों को संविधान प्रदान किये जायँ और उसने पोलेण्ड को स्वयं अपनी ओर से संविधान प्रदान करके इस दिशा में पहला क़दम भी उठाया। अपने देश में भी वह सुधार करना चाहता था। वह समस्त बुराइयों को अच्छी तरह समझता था। उसने सरकारी कर्मचारियों के भ्रष्टाचार को रोकने का प्रयत्न किया और दासों की दशा में भी सुधार की आवश्यकता महसूस की। परन्तु वह कुछ न कर सका क्योंकि इस कार्य में उसे राज्य के कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त नहीं हुआ। उसकी इस प्रवृत्ति को देख कर मेटरनिख चिन्तित था, और जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, उदारवादी विचारों के सम्भावित सङ्कटों तथा क्रान्ति के खतरों की ओर उसका ध्यान आकर्षित करके उसने उसकी मनोवृत्ति बदल दी और वह अपने उदारवादी विचारों को तिलाञ्जलि देकर स्वेच्छाचारी शासन का समर्थक बन गया। १८२० में सेना में एक मामूली विद्रोह हुआ जिससे उसका चित्त एक दम फिर गया और वह उदारवाद का घोर शत्रु बनकर मेटरनिख की प्रतिक्रियावादी नीति का प्रबल समर्थक बन गया। योरोप में सर्वत्र उसने मेटरनिख से सहयोग किया और अपने देश में भी वह स्वेच्छाचारी हो गया। पोलैण्ड के लोगों को जो स्वतन्त्रताएँ उसने स्वयं प्रदान की थीं, उनका वह अपहरण करने लगा। देश में सर्वत्र नियन्त्रण बढ़ गया; पुलिस का

* Lispson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 85.

ज़ोर बढ़ा, प्रेस पर कड़ी निगाह रखी जाने लगी. विश्वविद्यालयों से स्वतन्त्र एवं उदार विचारवाले शिक्षक निकाल दिये गये और नवीन विज्ञानों की शिक्षा बन्द कर दी गई। १८२५ में, जब उसकी मृत्यु हुई, देश में प्रतिक्रिया का एकछत्र शासन था और उदार-वादी लोग निराश होकर गुप्त समितियों में, जिनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, शामिल होकर षड्यन्त्र करने लगे।

प्रथम निकोलस (१८२५-१८५५)—एलेक्ज़ेण्डर निस्सन्तान था, अतः उसके बाद सिंहासन पर अधिकार उसके छोटे भाई कॉन्स्टेण्टाइन का था परन्तु वह शासन के भार को सम्हालने के लिये राज़ी नहीं था। इस कारण अपनी मृत्यु के पहले ही १८२३ में एलेक्ज़ेण्डर ने कॉन्स्टेण्टाइन से छोटे भाई निकोलस को अपना उत्तराधि-कारी नियुक्त कर दिया था परन्तु यह समाचार उसने प्रकट नहीं किया था। निकोलस से सेना के अफ़सर नाराज़ थे क्योंकि उसका प्रशा से अत्यधिक सम्पर्क था और उसके विचार भी प्रतिक्रियावादी थे। एलेक्ज़ेण्डर की मृत्यु के समय कॉन्स्टेण्टाइन पोलैण्ड में सेनापति था। उसने अपनी सेना से निकोलस के प्रति स्वमिभक्ति की शपथ ली परन्तु निकोलस, जो उस समय सेण्टपीटर्सबर्ग में था, अपनी अप्रियता की सूचना पाकर सिंहा-सन पर बैठने का साहस न कर सका और उसने कॉन्स्टेण्टाइन के राज्याभिषेक की घोषणा की। परन्तु कॉन्स्टेण्टाइन किसी प्रकार भी राज्य स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हुआ और अन्त में निकोलस सिंहासन पर आसीन हुआ।

दिसम्बर का विद्रोह—इसमें कोई तीन सप्ताह बीत गये। इस अनिश्चितता से लाभ उठाकर राज्य में जितने भी विरोधी तत्व थे वे सब बल पकड़ गये और गुप्त समितियों ने क्रान्तिकारी विद्रोह की तैयार कर ली। २६ दिसम्बर को पेट्रोग्राड में स्थित मॉस्को रेजिमेण्ट ने अपने अफ़सरों के भड़काने पर निकोलस के प्रति भक्ति की शपथ खाने से इन्कार करके विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। उन्होंने 'कान्स्टेण्टाइन तथा कॉन्स्टीट्यूशन (संविधान)' का नारा बुलन्द किया, परन्तु विद्रोह बड़ी सरलता से दबा दिया गया। यह विद्रोही दिसम्बर में हुआ था, इस कारण ये विद्रोही रूसी इतिहास में 'दिसेम्ब्रिस्ट' (Decembrist) कहलाते हैं। यह विद्रोह इतनी सरलता से दबा दिया गया इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। यह केवल सैनिक तथा एक ही रेजीमेण्ट का विद्रोह था, उसमें अन्य सरकारी वर्ग तथा जनता ने कोई भाग नहीं लिया था। स्वयं विद्रोही सिपाही बिलकुल अज्ञानी थे और अपने नारे का मतलब तक नहीं समझते थे; बहुत से तो यही समझते थे कि कॉन्स्टीट्यूशन कॉन्स्टेण्टाइन की पत्नी थी।* विद्रो-हियों को बड़ा भयङ्कर दण्ड मिला। उदारवादी विचारों के पक्ष में रूस में यह प्रथम

* Vernadsky ; History of Russia, p. 148,

विद्रोह था। जिस कठोरता के साथ इसका दमन किया गया उसके कारण वर्षों तक सुधार के लिये सशस्त्र प्रयत्न करने का किसी का साहस नहीं हुआ।*

घोर प्रतिक्रिया—निकोलस स्वभाव से ही प्रतिक्रियावादी था। अपने शासन के आरम्भ में ही विद्रोह को देख कर वह भयङ्कर प्रतिक्रियावादी हो गया और ३० वर्ष तक उसने रूस पर बड़ी निर्दय कठोरता के साथ शासन किया। उसने अपने पूर्वगामी शासकों की नीति को बिलकुल बदल दिया। उसका विश्वास था कि योरोप में नवीन विचारों के फलस्वरूप धर्म और शासन का ह्रास हो रहा था और इस ह्रास से रूस की रक्षा स्वेच्छाचारी शासन क़ायम रख कर ही की जा सकती थी, क्योंकि उन विनाशकारी विचारों के भ्रम-जाल से स्वेच्छाचारी शासन द्वारा ही प्रजा की रक्षा की जा सकती थी। पश्चिमी योरोप के क़ानूनों, रिवाजों एवं संस्थाओं की स्थापना द्वारा रूस को सभ्य बनाने का विचार छोड़ कर वह अपनी पुरातन राष्ट्रीय संस्थाओं का, विशेषकर ग्रीक चर्च का, प्रबल समर्थक बन गया क्योंकि वह समझता था कि रूस की वास्तविक उन्नति पश्चिमी योरोप के देशों से भिन्न अपने ही ढङ्ग से होनी चाहिये।

अतः रूसी राष्ट्रीयता के नाम में निकोलस ने उदारवाद की प्रगति को रोकने के लिये बड़े कठोर उपायों का प्रयोग किया। पश्चिमी विचारों का रूस में प्रवेश रोकने के लिये सब प्रकार की कोशिशें की गई। विदेशियों का रूस में प्रवेश मना कर दिया गया और समस्त रूसियों के लिये बिना सरकारी अनुमति के किसी भी काम से बाहर जाना निषिद्ध घोषित कर दिया गया। बाहर से देश में आनेवाली पुस्तकों के पुलिस या पादरियों द्वारा बड़े निरीक्षण की व्यवस्था की गई। जिन पुस्तकों में नवीन विचारों का ज़रा भी आभास मिलता था वे ज़ब्त कर ली जाती थीं। सरकारी कर्मचारी बिना किसी संकोच के लोगों की डाक खोल कर देखते थे। समाचार-पत्रों, छापाखानों, नाटक-गृहों आदि पर भी गुप्तचरों द्वारा कड़े निरीक्षण की व्यवस्था की गई ताकि उनके द्वारा नवीन विचारों का प्रचार न हो सके। विश्वविद्यालयों में अध्यापकों की नियुक्तियों एवं पाठ्यक्रमों के निर्धारण पर कड़ा नियन्त्रण लगाया गया ताकि किसी प्रकार भी उनके द्वारा अवांछित विचारों की शिक्षा न दी जा सके। देशभर में राजविद्रोह का पता लगाने तथा दण्ड देने के लिये गुप्त पुलिस की व्यवस्था की गई जिसको बड़े ज़बरदस्त अधिकार दिये गये। कोई भी व्यक्ति पुलिस-विभाग के अध्यक्ष की इच्छानुसार गिरफ़्तार किया जा सकता था, क़ैद किया जा सकता था, निर्वासित किया जा सकता था या समाप्त कर दिया जा सकता था। विदेशी साहित्य के बहिष्कार के साथ उसने रूसी साहित्य को प्रोत्साहन दिया ताकि लोगों का ध्यान राजनीति से हटे। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय

---

* Gottschalk and Lach : Europe and the Modern World, Vol. I, p, 872.

उदारवाद के प्रभाव से जनता की रक्षा करने के लिये रूसी राष्ट्रीयता पर जोर दिया गया। सारांश में, उसने समस्त राष्ट्र पर एक सेना की तरह एक प्रकार के विचार और एक प्रकार की आदतें लादने का प्रयत्न किया।* इस प्रकार निकोलस ने कठोर पुलिस तथा नियन्त्रण के आधार पर एक अत्यन्त दमनकारी शासन स्थापित किया। उदारवादियों के साथ अत्यन्त कठोरता बरती गई। एक अत्यन्त निर्दोष शब्द मुँह से निकालने के लिये, यदि उसमें किसी गुप्तचर को उदारवाद की लेशमात्र गन्ध का भी सन्देह होता था, व्यक्ति निर्वासित कर साइबेरिया भेज दिया जाता था। इस प्रकार बीस वर्षों में डेढ़ लाख व्यक्ति निर्वासित कर दिये गये और हजारों व्यक्ति रूस के कारागारों की असह्य यातनाएँ भोगते रहे।†

राजनीतिक दमन के साथ-साथ निकोलस ने धार्मिक दमन का भी आश्रय लिया। महान् पीटर के समय से रूस के चर्च पर शासन का पूर्ण नियन्त्रण था और चर्च राज्य का ही एक अङ्ग बन गया था। जिस प्रकार निकोलस राजनीतिक स्वतन्त्रता से घृणा करता था, उसी प्रकार धार्मिक स्वतन्त्रता से भी उसे घृणा थी। उसका विश्वास था कि जिस प्रकार रूस की एकता के लिये स्वेच्छाचारी शासन आवश्यक था, उसी प्रकार रूसी चर्च की रक्षा, उसका प्राधान्य तथा उसके मन्तव्यों को अक्षुण्ण बनाये रखना भी आवश्यक था। अतः उसने रोमन कैथोलिकों, प्रोटेस्टेण्टों, यहूदियों आदि ग्रीक चर्च से भिन्न धर्मावलम्बियों को खूब सताया।

पोलैण्ड का विद्रोह - निकोलस ने अपने विशाल साम्राज्य को क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों से बचाने का भरसक प्रयत्न किया था परन्तु उसे इस कार्य में पूर्ण सफलता नहीं मिली। हम ऊपर देख चुके हैं कि जब फ्रान्स में जुलाई १८३० में क्रान्ति हुई तो उससे प्रभावित होकर पोलैण्डवालों ने विद्रोह करके अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। निकोलस ने केवल विद्रोह का ही दमन नहीं किया, उसने एलेक्जेण्डर द्वारा प्रदत्त संविधान भी छीन लिया और पोलैण्ड को अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया।

परराष्ट्र-नीति— अपने परराष्ट्र-सम्बन्धों में भी उसने एलेक्जेण्डर से भिन्न नीति रखी। एलेक्जेण्डर तो पूर्णतया मेटरनिख के प्रभाव में था और सदा उससे सहयोग करता रहा, यहाँ तक कि उसके कहने से उसने इच्छा होते हुए भी टर्की के विरुद्ध ग्रीक लोगों को सहायता देने से इन्कार कर दिया था। उसने द्वितीय केथरीन की आक्रामक परराष्ट्र-नीति पर कार्य करना शुरू किया और टर्की के मामलों में स्वतन्त्र रीति से हस्तक्षेप करना आरम्भ किया। हम ऊपर देख चुके हैं कि उसने ग्रीक

---

* Ketelbey : A History of Modern Times, p. 286.

† Hazen : Modern European History, p. 560.

लोगों के स्वातन्त्र्य-संग्राम में हस्तक्षेप किया और उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सहायता दी। उसके बाद जब मिस्र के पाशा मुहम्मदअली ने सुल्तान पर चढ़ाई की तो निकोलस ने सुल्तान की सहायता के लिये सेना भेजी और उन्कियार स्केलेसी की सन्धि के द्वारा काले सागर पर अपना प्राधान्य स्थापित कर कॉन्स्टेण्टीनोपल में अपना प्रभाव सर्वोच्च कर लिया। इसके कुछ वर्ष बाद उसने मुहम्मदअली के विरुद्ध इङ्गलेण्ड से सहयोग किया और १८४० में इङ्गलैण्ड, प्रशा तथा ऑस्ट्रिया के साथ मिलकर मुहम्मदअली को दबाने के लिये लन्दन की चतुर्मुख सन्धि की जिसमें फ्रान्स को शामिल न करके उसे अपमानित किया। परन्तु इस बार निकोलस का दाव कच्चा रहा। १८४१ में लन्दन में जो दूसरी सन्धि हुई उसके अनुसार उसका टर्की पर वह प्राधान्य न रहा जो उन्कियार स्केलेसी की सन्धि के द्वारा उसने स्थापित कर लिया था।* उस समय तक तो उसकी नीति, जैसा हम देख चुके हैं, टर्की के साम्राज्य को नष्ट करने की जगह उस पर अपना प्रभाव स्थापित करने की थी; परन्तु जब पामर्स्टन की कूटनीति के सामने उसकी कुछ न चली और उसकी योजना विफल होने लगी तो उसने यह नीति त्याग दी और रूस की परम्परागत नीति के अनुसार काम करने का निश्चय किया। कुछ वर्षों बाद टर्की के साम्राज्य में स्थित ईसाई तीर्थ-स्थानों के प्रश्न को लेकर उसने टर्की में अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये हस्तक्षेप किया, परन्तु जैसा हम आगे देखेंगे, उसे सफलता नहीं मिली। इस हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप, जो युद्ध (क्रीमिया का युद्ध) हुआ (१८५४-५६) उसमें रूस की पराजय हुई परन्तु निकोलस युद्ध की समाप्ति के पूर्व ही मर चुका था (१८५५)।

बाह्य-राजनीति में उसके प्राधान्य को यह ठेस तो उसके जीवन-काल के अन्त में लगी। क्रीमिया के युद्ध के पहले तक योरोप की राजनीति में उसका प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा। यह प्रभाव पूर्णतया प्रतिक्रियावादी दिशा में था। वियना कांग्रेस ने जो व्यवस्था की थी उसमें रूस का पूरा-पूरा हाथ था और एलेक्जेण्डर तथा उसके बाद निकोलस अपने आपको उस व्यवस्था का संरक्षक समझते थे। १८३० की फ्रेंच क्रान्ति के बाद जब जर्मनी में जगह-जगह क्रान्ति होने लगी तो उदारवाद के दमन के लिये निकोलस ने मेटरनिख तथा चतुर्थ फ्रेडरिक विलियम से सहयोग किया और तीनों ने १८३३ में क्रान्तिकारी आन्दोलन के विरुद्ध आत्म-रक्षा के लिये एक त्रिदली गुट बनाया। जब १८४९ में ऑस्ट्रिया के विरुद्ध हंगरी में क्रान्ति हुई तो उसने हंगरीवालों के दमन में ऑस्ट्रिया के सम्राट् फ्रान्सिस जोजेफ की सहायता की। अगले वर्ष जब जर्मनी में फ्रेङ्कफोर्ट पार्लामेण्ट ने एक अखिल-जर्मन राष्ट्रीय राज्य के लिये संविधान बनाया और सम्राट् का पद प्रशा के शासक फ्रेडरिक विलियम को अर्पित किया तो

* पृष्ठ २१७-२२३ तथा २५६-२५८ देखिये।

निकोलस ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट करते हुए उसे चेतावनी दी। फ्रेडरिक विलियम ने जिन कारणों से साम्राज्य का मुकुट स्वीकार न किया उनमें एक कारण निकोलस की अप्रसन्नता भी थी।

इस प्रकार निकोलस का प्रभाव रूस के अन्दर तथा बाहर सब ओर घोर प्रतिक्रिया के पक्ष में रहा। हाँ, टर्की के विरुद्ध ग्रीसवालों को उसने जो सहायता दी वह प्रतिक्रिया के पक्ष में नहीं थी किन्तु यद्यपि उसके हस्तक्षेप के फलस्वरूप ग्रीस को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तथापि उस हस्तक्षेप का कारण स्वतन्त्रता के साथ उसकी सहानुभूति नहीं, वरन् उसका स्वार्थ था। टर्की के प्रति उसकी जो नीति रही उसका आधार स्वार्थ ही था।

निकोलस की मृत्यु के साथ, जैसा हम आगे देखेंगे, रूस में प्रतिक्रिया में शिथिलता आई और सुधार-कार्य आरम्भ हुआ। वास्तव में योरोप में प्रतिक्रिया के युग का अन्त निकोलस की मृत्यु तथा क्रीमियन युद्ध का अन्त करनेवाली पेरिस की सन्धि के साथ होता है, मेटरनिख की मृत्यु के साथ नहीं। मेटरनिख की मृत्यु के बाद भी, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, श्वार्ज़नबर्ग के नेतृत्व में आस्ट्रिया प्रतिक्रिया का गढ़ बना रहा और रूस, आस्ट्रिया तथा प्रशा का त्रिदली गुट प्रतिक्रिया का समर्थक बना रहा। क्रीमियन युद्ध में इस गुट में फूट पड़ी और उसके फलस्वरूप प्रतिक्रिया के युग का अन्त हो सका।

अध्याय २४

औद्योगिक क्रान्ति

वियना-कांग्रेस के बाद के युग के लक्षणों की चर्चा करते हुए हमने कहा था कि वह युग 'तैयारी का युग' था जिसमें जहाँ एक ओर फ्रेञ्च क्रान्ति ने महान् राजनीतिक परिवर्तनों के लिये मार्ग तैयार कर दिया था, वहाँ दूसरी ओर औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पादन एवं वितरण के तरीकों में उन्नति करके सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में बड़े-बड़े महत्वपूर्ण परिवर्तनों का सूत्रपात कर दिया था। पिछले अध्यायों में हमने 'न्याय्यता' (Legitimacy) तथा निरंकुश शासन के विरुद्ध राष्ट्रीयता तथा उदारवाद के संघर्ष का वर्णन पढ़ा है। हम देख चुके हैं कि इस युग में इन उदात्त भावनाओं को सफलता के मार्ग पर अग्रसर करनेवाली शक्ति का अभाव रहा। इस अभाव की पूर्ति औद्योगिक क्रान्ति द्वारा हुई। अगले युग में हम इन भावनाओं की सफलता का इतिहास पढ़ेंगे।

औद्योगिक क्रान्ति—औद्योगिक क्रान्ति कोई आकस्मिक घटना नहीं थी; इसका धीरे-धीरे विकास हुआ है जो अब भी जारी है। साधारणतया इससे उन यान्त्रिक आविष्कारों से तात्पर्य लिया जाता है जिनका उपयोग १७७० से १८३० तक इङ्गलैण्ड में औद्योगिक उत्पादन की क्रियाओं में तथा यातायात के तरीकों में होने लगा था। परन्तु यह इस महान् क्रान्ति का केवल एक रूप था। इस रूप में हम इसे यान्त्रिक क्रान्ति (Mechanical Revolution) कह सकते हैं। इसी अवधि में इङ्गलैण्ड में कृषि के ढंगों तथा ग्राम्य संगठन में भी बड़ा भारी परिवर्तन हो रहा था जिसके फलस्वरूप छोटे-छोटे खेत शामिल करके बड़ी-बड़ी जायदादों में परिवर्तित किये जा रहे थे। यह क्रान्ति का दूसरा रूप था जिसे हम कृषि-सम्बन्धी क्रान्ति (Agrarian Revolution) कह सकते हैं। वास्तव में औद्योगिक क्रान्ति से हमें केवल इन आर्थिक क्रियाओं में होनेवाले परिवर्तनों का ही आशय नहीं लेना चाहिये, वरन् इन क्रियाओं में आगे चल कर इङ्गलैण्ड में तथा अन्य देशों में जो उन्नति हुई और उनके जो महान् सामाजिक एवं राजनीतिक परिणाम हुए उन सबको इसमें शामिल करना चाहिये। इस व्यापक अर्थ में औद्योगिक क्रान्ति अब भी जारी है।* इसका आरम्भ,

---

* Strong : Dynamic Europe, p 219.

जैसा हमने अभी कहा है, अठारहवीं शताब्दी में इङ्गलैण्ड में हुआ। १७७० से १८३० तक कुछ विशिष्ट बातों में क्रान्ति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगी। अगले चालीस वर्षों में (१८३० से १८७० तक) उसमें काफ़ी प्रगति हुई परन्तु उसके विश्वव्यापी परिणाम १८७० के बाद प्रकट हुए।*

औद्योगिक क्रान्ति का इंगलैण्ड में प्रारम्भ – अठारहवीं शताब्दी में योरोप में फ़्रान्स प्रमुख देश था और फ़्रेञ्च क्रान्ति के पहले तक उद्योग-धन्धों तथा व्यापार में वह इङ्गलैण्ड से काफ़ी आगे था। उसकी जनसंख्या इङ्गलैण्ड की जनसंख्या से तिगुनी थी। उसके पास रेशम, पटसन, कोयला, लोहा तथा जल-शक्ति का काफ़ी भण्डार था और इस प्रकार कच्चे माल तथा उद्योगों में यान्त्रिक क्रान्ति के लिये आवश्यक चालक शक्ति की उपलब्धि की दृष्टि से वह इङ्गलैण्ड से कहीं अधिक बढ़ा हुआ था, फिर भी औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ फ़्रान्स में न होकर इङ्गलैण्ड में हुआ। यह आश्चर्यजनक बात है परन्तु इसके कई कारण थे।

फ़्रान्स में जो वस्तुएं निर्यात के लिये बनाई जाती थीं उनमें अधिकतर बढ़िया विलासिता की वस्तुएँ होती थीं जो व्यापारिक दृष्टि से मूल्यवान् थीं परन्तु जो हाथ से बनाई जा सकती थीं और जिनके निर्माण में मशीनों का उपयोग नहीं हो सकता था। यह बात इङ्गलैण्ड में नहीं थी। इसके अतिरिक्त इङ्गलैण्ड में कई बातें ऐसी थीं जो मशीनों द्वारा उत्पादन करने में सहायक हुईं। वहां माध्यमिक काल से चली आने-वाली अर्द्ध-दास व्यवस्था तथा श्रेणी-व्यवस्था फ़्रान्स की अपेक्षा बहुत पहले समाप्त हो चुकी थी और इस कारण मजदूर अपने खेतों को छोड़कर कारखानों में भरती होने में अधिक स्वतन्त्र थे। माल तैयार करनेवालों पर भी कोई विशेष नियन्त्रण नहीं थे; वे अपनी इच्छानुसार मजदूरों को नियुक्त कर सकते थे और अपनी इच्छानुसार ही माल बना सकते थे। इसके अतिरिक्त इङ्गलैण्ड में सरकार भी बड़े पैमाने पर उत्पादन करनेवालों की आर्थिक आवश्यकताओं की तरफ़ ध्यान देती थी। सरकार कुलीन-वर्गीय तो थी परन्तु व्यापार तथा कृषि की उन्नति की ओर उसका लक्ष्य था। उसने वैज्ञानिक कृषि के विकास की दृष्टि से कई क़ानून बनाये थे जिनके द्वारा छोटे-छोटे खेतों को शामिल करके बड़ी-बड़ी जायदादों का निर्माण हो रहा था। इसके फलस्वरूप साधारण कृषक गाँवों से हट कर नगरों की ओर जाने लगे थे और कारखानों के लिये मजदूर सुलभ थे। उधर १७९३ से १८१५ तक इङ्गलैण्ड और फ़्रान्स के बीच जो लम्बा सामुद्रिक युद्ध चलता रहा उसका फल यह हुआ कि फ़्रान्स का योरोप से बाहर के प्रदेशों से जो व्यापार होता था बन्द हो गया, सामुद्रिक व्यापार पर इंगलैण्ड

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 3.

का एकाधिकार हो गया और वह बड़े पैमाने पर औद्योगिक उत्पादन में संलग्न हो सका। नेपोलियन के कार्यकलाप ने इङ्गलेण्ड में औद्योगिक क्रान्ति को प्रगति करने में सहायता दी और औद्योगिक क्रान्ति ने इङ्गलेण्ड को नेपोलियन को परास्त करने की सामर्थ्य दी। इन सब बातों के साथ ही इङ्गलेण्ड में औद्योगिक क्रान्ति को सम्भव बनाने के लिये आवश्यक पूँजी भी विद्यमान थी। सोलहवीं शताब्दी से ही समुद्री लूटमार, दास-व्यापार, अमेरिका और भारतवर्ष के व्यापार तथा अन्य कई प्रकार से इंगलेण्ड में धन एकत्रित हो रहा था जो औद्योगिक उत्पादन में लगाया जा सकता था। यह बात नहीं थी कि फ़ान्स में धन एकत्रित नहीं हो रहा था; वास्तविक बात यह थी कि वहाँ धन का प्रयोग उचित रीति से नहीं हो रहा था। उसका अधिकांश ऋण तथा करों के रूप में सरकार के हाथों में पहुँच जाता था और उसका प्रयोग अधिकतर अनुत्पादक कामों में तथा फ़ुज़ूलखर्ची में होता था। फ़ान्स में बेङ्क-व्यवस्था भी अच्छी नहीं थी। इसके विपरीत इंगलेण्ड में पूँजी का प्रयोग उत्पादक कामों में होता था, सरकारी कर फ़ान्स की अपेक्षा कम थे, सरकार सेना पर भी अधिक व्यय नहीं करती थी और बेङ्क-व्यवस्था भी अच्छी थी। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक लन्दन संसार के मुख्य ऋण देनेवाले केन्द्रों में से एक बन गया था।*

कृषि-सम्बन्धी क्रान्ति— इस निरन्तर बढ़ती हुई पूँजी का प्रयोग इंगलेण्ड में सर्वप्रथम कृषि के क्षेत्र में हुआ। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक इङ्गलेण्ड कृषि-प्रधान देश था। कृषि के ढङ्ग पुराने ही चले आते थे और उनमें उन्नति की ओर किसी का ध्यान नहीं गया था। परन्तु अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुछ सुधारकों के प्रयत्न से नये वैज्ञानिक तरीकों का आविष्कार हुआ और धीरे-धीरे वे काम में आने लगे। इन सुधारकों में तीन-चार व्यक्ति उल्लेखनीय हैं। उनमें से सर्वप्रथम बर्कशायर का कुलीन कृषक जेथ्रो टल (Jethro Tull) था जिसने वनस्पति जीवन की उपयुक्त अवस्थाओं का अध्ययन किया और भूमि जोतने तथा बीज बोने के नये ढङ्गों का आविष्कार किया। नॉर्फ़ाक के एक ज़मींदार लॉर्ड टाउनशेण्ड (Townshend) ने बारी-बारी से विभिन्न फ़सलों को बोकर भूमि की उर्वरा-शक्ति को निरन्तर क़ायम रखने का सिद्धान्त निकाला। लिस्टरशायर के एक कृषक रॉबर्ट बेकवेल (Bakewell) ने पशुओं की नस्ल सुधारने के उपाय मालूम किये। इन आविष्कारों के फलस्वरूप लोगों का ध्यान वैज्ञानिक कृषि की ओर आकृष्ट होने लगा और कई लेखक, जिनमें आर्थर यंग (Arther Young) प्रमुख था, वैज्ञानिक कृषि के सिद्धान्तों के प्रचार में भाग लेने लगे। परन्तु इन नवीन आविष्कारों से उस समय

---

* Hayes : A Polit cal and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 5.

तक कोई लाभ नहीं हो सकता था जब तक उनका बड़े पैमाने पर प्रयोग न हो। इंगलैण्ड की कृषक जनता अब भी पुराने ढंगों को पसन्द करती थी और सुधारों का विरोध करती थी। ऐसी दशा में यह आवश्यक था कि सरकार इस दशा में नेतृत्व करे। उन्नति की सम्भावना तथा आन्दोलन से प्रभावित होकर सरकार ने १७६३ में कृषकों में खेती के नये तरीकों का प्रचार करने के लिये एक कृषि-विभाग खोला और इसके साथ ही नये तरीक़ों को काम में लाने के लिये जो अत्यन्त आवश्यक सुधार था, अर्थात् बिखरे हुए छोटे-छोटे खेतों को एकत्र करना (जिसके बिना नये तरीक़ों का प्रयोग असम्भव था), उसे सम्भव बनाने के लिये अनेक क़ानून भी बनाये। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक इस प्रकार के हज़ारों क़ानून बन चुके थे।

इन क़ानूनों के फलस्वरूप कृषि में जो सुधार सम्भव हो सके उनसे इंगलैण्ड की कृषि की उपज में बहुत वृद्धि हुई परन्तु इस उन्नति का प्रभाव छोटे किसानों पर बहुत अनिष्टकारी हुआ। उन्हें अपनी भूमि सम्पन्न आदमियों को बेच देनी पड़ी और वे धीरे-धीरे भूमिहीन मजदूरों की श्रेणी में पहुँच गये। इस प्रकार इस क्रान्ति के फलस्वरूप धीरे-धीरे समाज में एक महान् परिवर्तन हो गया। बड़े-बड़े ज़मींदार अपनी ज़मींदारी में खेत पर खेत जोड़ते चले जा रहे थे और भूमि के छोटे-छोटे मालिक मिटते चले जा रहे थे। फलतः इंगलैण्ड का ग्राम्य समाज अब पहले जैसा नहीं रहा। जहाँ पहले समाज में कोई विशिष्ट वर्ग नहीं था वहाँ अब एक ओर तो भूमिहीन मजदूरों का वर्ग बनता जा रहा था तथा दूसरी ओर बड़े-बड़े जमींदारों का छोटा-सा वर्ग तथा साथ ही पूंजीपति कृषकों का एक वर्ग तैयार हो गया था और दोनों के बीच की खाई धीरे-धीरे चौड़ी होती जा रही थी। अभी तक तो जमींदार लोग ग्राम्य समाज के स्वभाविक नेता समझे जाते थे और उनका राजनीतिक प्राधान्य भी साधारण जनता स्वीकार करती थी परन्तु अब वह बात नहीं रही। वर्ग-भेद धीरे-धीरे बढ़ता गया और भूमिपतियों के राजनीतिक प्राधान्य के औचित्य पर शङ्का की जाने लगी। छोटे-छोटे किसान बेरोज-गार हो गये और आजीविका की तलाश में गाँव छोड़-छोड़ कर नगरों की ओर जाने लगे जहाँ यान्त्रिक क्रान्ति के फलस्वरूप नये-नये कारखाने बन रहे थे जिनमें अपना श्रम बेचकर वे अपनी आजीविका कमा सकते थे।

यान्त्रिक क्रान्ति—इन्हीं दिनों उद्योग-धन्धों के कुछ क्षेत्रों में बहुत बड़ा परि-वर्तन हो रहा था। वस्तुओं के उत्पादन में नवीन यन्त्र काम में आने लगे थे। यह परिवर्तन विशेष कर कपड़े के व्यवसाय में हो रहा था जिसमें कताई तथा बुनाई दोनों क्रियाओं में नये-नये आविष्कार हो रहे थे। इस दिशा में सबसे पहला आविष्कार १७३३ में जॉन के (John Kay) ने एक 'उड़ती ढरकी' (Flying Shuttle) बना कर किया जिसकी सहायता से जुलाहा दुगुनी गति से कपड़ा बुन सकता था। इस आविष्कार से कते हुए सूत की माँग बढ़ी। इस माँग को पूरा करने की आवश्यकता

ने नये-नये बुनाई के आविष्कारों को जन्म देकर यान्त्रिक क्रान्ति का श्रीगणेश किया। अब तक सूत चरखे या तकली से काता जाता था जिससे एक मनुष्य एक समय में एक ही धागा कात सकता था, परन्तु १७६४ में ब्लेकबर्न के एक लुहार जेम्स हारग्रीव्ज (James Hargreaves) ने एक ऐसा चरखा (Spinning Jenny) बनाया जिसमें एक पहिये के घुमाने से आठ तकुए घूम सकते थे और इस प्रकार एक साथ ही आठ धागे काते जा सकते थे। १७६९ में बोल्टन के एक नाई रिचार्ड आर्कराइट (Richard Arkwright) ने एक ऐसे चरखे का आविष्कार किया जो पानी की शक्ति से चलता था और जिसमें बेलनों के घूमने से सूत कतता था। यह चमत्कारी आविष्कार करके आर्कराइट ने इंगलैण्ड के महान् सूती व्यवसाय की नींव डाली और कारखाना-व्यवस्था को जन्म दिया।* इसके दस वर्षों बाद १७७९ में बोल्टन के एक सूत कातनेवाले सेम्युएल क्रॉम्पटन (Samuel Crompton) ने एक नया चरखा (Mule) बनाया जिसमें इन दोनों आविष्कारों के लाभ उपस्थित थे और जिसमें उन दोनों की अपेक्षा अधिक तेज़ी से और अधिक मजबूत धागा काता जा सकता था।

कपड़े का व्यवसाय—इन आविष्कारों के परिणामस्वरूप धागा काफ़ी मात्रा में और अच्छा कतने लगा तथा जुलाहों को धागे की कोई कमी नहीं रही। परन्तु कताई में उन्नति होने के साथ ही बुनाई के क्षेत्र में भी उन्नति अनिवार्य हो गई। इस ओर ध्यान देनेवाले लोग भी थे। १७८५ में एडमण्ड कार्टराइट (Edmund Cartwright) ने जलशक्ति से चलनेवाला एक करघा (Powerloom) बनाया। अनुमान किया जाता था कि कार्टराइट के बनाये हुए तीन करघे, जिनकी देख-रेख केवल एक लड़का कर सकता था, हाथ से काम करनेवाले चार कुशल जुलाहों का काम कर सकते थे। इन सब आविष्कारों के कारण इंगलैण्ड में कपड़े के व्यवसाय ने बड़ी आश्चर्यजनक उन्नति की और लंकाशायर कपड़े के व्यवसाय का एक महान् केन्द्र बन गया। इंगलैण्ड में रुई पैदा नहीं होती और बाहर से मंगवानी पड़ती है। यह उन्नति कितनी आश्चर्यजनक थी, यह इस बात से अच्छी तरह प्रकट हो जायगा कि जहाँ १७८५ में लगभग ४० हजार आदमी सूत के व्यवसाय में लगे हुये थे वहाँ १८३१ तक यह संख्या बढ़ कर आठ लाख से ऊपर हो गई थी। इसी प्रकार जहाँ १७५० में तीस लाख पौंड रुई इंगलैण्ड में बाहर से आई थी, वहाँ १८१५ में एक करोड़ पौण्ड रुई आई थी।†

लोहे का व्यवसाय—सूत के व्यवसाय की उन्नति के साथ लोहे के व्यवसाय ने भी उन्नति की। अब तक कच्चा लोहा गलाने और साफ़ करने में लकड़ी का कोयला

---

* Fisher : A History of Europe, p. 780.

† Warner and Martin : The Groundwork of British History, p. 586.

काम श्राता था, परन्तु धीरे-धीरे जंगलों के कट जाने से लकड़ी के कोयले की कमी हो गई और लोहे के कारबार को चलाने के लिये कोयला बाहर स्पेन तथा स्वीडन से मँगाने की आवश्यकता पड़ने लगी। किन्तु इसका भी उपाय निकल आया। १७५० के लगभग पत्थर का कोयला प्रकाश में आया; १७६० में सर्वप्रथम स्कॉटलैण्ड में पत्थर के कोयले से लोहा गलाने की नई भट्टी सफलतापूर्वक काम में आने लगी और इन नई भट्टियों का प्रचार बढ़ने लगा।* इंगलैण्ड में पत्थर के कोयले की खानें प्रचुर मात्रा में होने के कारण अब लोहे के कारबार की खूब उन्नति होने लगी और लोहे का उत्पादन सस्ता हो गया। इंगलैण्ड में सबसे पहला लोहे का पुल सेवर्न नदी पर १७७९ में बना। इस प्रकार पत्थर के कोयले का, जो तब तक घरेलू कामों में ही काम आया करता था, महत्व बढ़ा और वह शीघ्र ही नई औद्योगिक व्यवस्था का आधार-स्तम्भ बन गया। इस प्रकार कोयले और लोहे के युग का आरम्भ हुआ जिससे आगे चलकर मानव-जीवन में कल्पनातीत परिवर्तन हुए।

भाप की शक्ति का आविष्कार—नये-नये यन्त्र बनते चले जा रहे थे, परन्तु उनसे पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिये यह आवश्यक था कि शक्ति के नये स्रोत मिलें। तब तक बहुत प्राचीन काल से लोग पवन-शक्ति तथा जल-शक्ति का प्रयोग करते आ रहे थे परन्तु उनका उपयोग जहाँ चाहें और जब चाहें नहीं हो सकता था। किन्तु शीघ्र ही इस अभाव की भी पूर्ति हो गई। भाप की शक्ति का आविष्कार हुआ और पत्थर के कोयले से उत्पन्न तेज आग तथा जल के संयोग से उत्पन्न भाप की शक्ति से यन्त्रों के चालन की विधि का ज्ञान हुआ। यों तो भाप की शक्ति से चलनेवाले एञ्जिनों का खानों से पानी उलीचने के लिये सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तथा अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में सेवॉरी तथा न्यूकोमेन नामक व्यक्तियों ने आविष्कार कर लिया था, परन्तु ये एञ्जिन बड़े भारी-भरकम, मँहगे और खर्चीले होते थे।† १७६४ में ग्लासगो के जेम्स वॉट ने इस एञ्जिन में सुधार किया और उसमें ऐसे परिवर्तन कर दिये कि वह कई प्रकार के कार्यों में आने लगा। इस प्रकार मानव सभ्यता पर जबरदस्त प्रभाव डालनेवाली एक नई शक्ति का जन्म हुआ। वह कई दिशाओं में काम करने लगी; उसकी सहायता से बड़ी-बड़ी मशीनें चलने लगीं और कारखानों की उन्नति होने लगी।

यातायात—इस नई शक्ति का उपयोग, कारखानों के अतिरिक्त, यातायात के साधनों में भी होने लगा। जहाजों में, जो तब तक चप्पुओं तथा पालों के द्वारा

* Muir : A Short History of the British Commonwealth, Vol. II, p. 121.

† Ibid, p. 120.

चलाये जाते थे, अब भाप के एञ्जिनों का प्रयोग होने लगा और सबसे पहला भाप की शक्ति से चलनेवाला अंग्रेज़ी जहाज़ (कॉमेट) १८११ में समुद्र पर प्रकट हुआ। इसके दो वर्ष बाद १८१४ में जॉर्ज स्टीवेन्सन ने सबसे पहला ऐसा एञ्जिन बनाया जो भाप की शक्ति से लोहे की पटरियों पर स्वयं चल सकता था और साथ ही लदी हुई गाड़ियों को खींच सकता था। इस आविष्कार के फलस्वरूप रेलों का निर्माण सम्भव हो सका और कुछ ही वर्षों में योरोप में सर्वत्र रेलें बनने लगीं तथा समुद्र-यात्राओं में भाप की शक्ति का प्रयोग करनेवाले द्रुतगामी जहाज़ काम में आने लगे। उन्हीं दिनों छपाई के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे। १८०० में सम्पूर्ण लोहे से बनी हुई छापने की मशीन बनी और १८११ में भाप की शक्ति का प्रयोग करनेवाली छापने की मशीन का निर्माण हुआ जिसके द्वारा छपाई का काम बड़ी तेज़ी से होने लगा।

इस प्रकार इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ हुआ और १८३० तक उसका प्रारम्भिक रूप समाप्त हुआ। इसके फलस्वरूप कपड़े, लोहे तथा कोयले के व्यवसायों में महान् परिवर्तन हुए। हाथ के औज़ारों की जगह मशीनों ने ले ली, भाप एक महत्वपूर्ण चालक-शक्ति बन गई और उसकी शक्ति से चलनेवाली रेलों तथा जहाज़ों ने यातायात के क्षेत्र में और भाप की शक्ति से चलनेवाले छापाखानों ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन का सूत्रपात कर दिया।

क्रान्ति की प्रगति—अपने चालीस वर्षों में क्रान्ति ने आश्चर्यजनक उन्नति की। जिन व्यवसायों और क्षेत्रों में उसका प्रारम्भ हुआ था उनमें और भी बड़े-बड़े आविष्कार तथा परिवर्तन हुए और आश्चर्यजनक उन्नति हुई। अन्य व्यवसायों पर भी उसका प्रभाव पड़ा और उत्पादन में अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस युग में योरोप में तथा अमेरिका में भी नवीन आविष्कारों का प्रचार और प्रसार हुआ। अन्य नये-नये आविष्कार हुए और नये-नये व्यवसायों का जन्म हुआ।

क्रान्ति और विज्ञान—पिछले युग में जो आविष्कार हुए थे उनका प्रयोग औद्योगिक प्रतिक्रियाओं तक ही सीमित था और उनमें विज्ञान का कोई विशेष प्रयोग नहीं हुआ था। तब तक गणित, भौतिक-विज्ञान, रसायन-विज्ञान, भूगोल, शरीर-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान आदि ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में काफ़ी काम हुआ था और विज्ञान की खोजों के आधार पर अनेक दार्शनिक, अर्थशास्त्री तथा लेखक समाज, राजनीति तथा धर्म की कड़ी आलोचना कर रहे थे, जिनकी चर्चा हम ऊपर फ्रेञ्च क्रान्ति के कारणों के सम्बन्ध में कर चुके हैं। फिर भी विज्ञान व्यावहारिक संसार से अलग ही रहा आया था। किन्तु अब औद्योगिक क्षेत्रों में महान् परिवर्तन हो रहे थे, उनमें वैज्ञानिक अन्वेषणों का प्रयोग होने लगा और भौतिक विज्ञान, रसायन-विज्ञान तथा प्राणि-विज्ञान उद्योग-धन्धों के सहायक बन गये। उन्होंने उपलब्ध शक्तियों में उन्नति करके, भूमि से नई-नई वस्तुएँ निकाल कर और नई-नई कृत्रिम वस्तुएँ बना

कर औद्योगिक क्रान्ति को आगे बढ़ाने में बड़ा योग दिया। तब तक लोगों को भूमि में निहित विशाल खनिज-सम्पत्ति का बहुत कम ज्ञान था परन्तु अब विज्ञान की सहायता से तांबा, सीसा, पारा, निकेल, मैङ्गनीज, एल्यूमिनियम आदि धातुएं निकाली जाने लगीं, पेट्रोलियम का पता लगा और खेती में आनेवाली फास्फेट, नाइट्रेट, पोटाश आदि वस्तुएँ प्राप्त हुईं। बिजली का भी आविष्कार हुआ। इन सब तथा अन्य असंख्य आविष्कारों के फलस्वरूप केवल विभिन्न उद्योग-धन्धों तथा यातायात के क्षेत्रों में ही नहीं, अपितु जीवन के सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए। जीवन को स्वस्थ, सरल, आकर्षक एवं सुखी बनाने के साधन प्रस्तुत हुए, यातायात के साधनों में उन्नति हो जाने से यात्रा सरल हो गई और संसार के विभिन्न भाग परस्पर निकट आने में समर्थ हुए। यह सब औद्योगिक क्रान्ति तथा उसके साथ विज्ञान के सहयोग का वरदान है। किन्तु जहां विज्ञान ने मानव समाज के लिये उपयोगी व्यवसायों की सहायता करके उसकी इतनी सेवा की है, वहां युद्ध-सम्बन्धी उद्योगों के साथ सहयोग करके उसने विनाश-कारी अस्त्रशस्त्रो का निर्माण करके मानवता के विनाश की भी तैयारी कर दी है।

योरोप में क्रान्ति का प्रसार—इंगलैण्ड से क्रान्ति योरोप के अन्य देशों में पहुँची परन्तु यह नेपोलियन के पतन के बाद ही सम्भव हो सका जबकि इंगलैण्ड का व्यापार योरोपीय देशों से फिर होने लगा। आरम्भ में इंगलैण्ड की सरकार मशीनों को अपने देश से बाहर नहीं जाने देती थी, इस कारण लोग मशीनों को चोरी से लाते थे और उन्हें चलाने के लिये वहीं से चतुर शिल्पियों को भी लाना पड़ता था। परन्तु १८२५ में अंग्रेज़ सरकार ने यह प्रतिबन्ध हटा दिया। पश्चिमी योरोप में नई मशीने बड़ी संख्या में पहुँचने लगीं और योरोप में औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ हुआ। आरम्भ में बेल्जियम, उत्तरी फ्रान्स, अलसास तथा राइन प्रदेश में ही नई मशीनों और नई प्रक्रियाओं का प्रयोग हुआ और पूर्व की ओर उनकी प्रगति बहुत धीरे-धीरे हुई। १८७० के पूर्व केवल इंगलैण्ड, बेल्जियम, फ्रान्स और जर्मनी को छोड़ समस्त योरोप कृषि-प्रधान ही बना हुआ था। इन देशों के बाहर बड़े-बड़े कारखाने बहुत थोड़ी जगह थे। हॉलैण्ड, स्वीडन तथा स्पेन में किसी-किसी जगह कारखाने दृष्टिगोचर होते थे। रूसी पोलैण्ड में, विशेषकर वारसा के निकट, उनकी संख्या कुछ विशेष थी। प्राग तथा वियना में भी कुछ कारखाने थे। काउण्ट कावूर ने १८५० में पायडमॉण्ट में कुछ भाप की शक्ति से चलनेवाले एञ्जिन मँगवाये थे।* इस प्रकार अधिकांश योरोप में १८७७ तक औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव नहीं हुआ था, परन्तु जहां-जहां उसका प्रभाव पहुँच चुका था वहां उसके सभी आवश्यक परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे थे। हमें अब इन परिणामों की ओर ध्यान देना चाहिये।

---

* Hayes and Cole : History of Europe, Vol. II, p. 133.

औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम—यान्त्रिक क्रान्ति के फलस्वरूप जो औद्योगिक क्रान्ति हुई अर्थात् यान्त्रिक आविष्कारों के कारण औद्योगिक उत्पादन के तरीक़ों में जो महान् परिवर्तन हुए उनके योरोपीय समाज के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में बड़े महत्वपूर्ण परिणाम हुए।

घरेलू व्यवसायों का अन्त—औद्योगिक क्रान्ति का सर्वप्रथम प्रभाव तो घरेलू व्यवसायों के विनाश में प्रकट हुआ। इस क्रान्ति के पहले सभी व्यवसाय घरेलू थे। प्रत्येक कारीगर अपने घर पर अपने बाल-बच्चों के साथ अपनी पूँजी से, अपने ही औजारों से तथा अपनी इच्छानुसार काम करता था और जो चाहता था बनाता था; उसकी बिक्री से जो लाभ होता था वह भी उसी के पास रहता था। इस प्रकार वह स्वतन्त्र था और यद्यपि वह धनी नहीं था तो भी उसका जीवन बड़ा सरल और शान्तिमय था। परन्तु जब नये कारख़ाने खुलने लगे और उनमें बड़ी मात्रा में तथा सस्ता माल बनने लगा तो ये स्वतन्त्र कारीगर उनका मुक़ाबला न कर सके। उन्हें धीरे-धीरे अपना व्यवसाय बन्द करना पड़ा और अपनी आजीविका कमाने के लिये उन्हीं कारख़ानों में मज़दूरी पर काम स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार घरेलू व्यवसाय और उसके साथ ही स्वतन्त्र कारीगर का अन्त हो गया। घरेलू व्यवसायों का स्थान कारख़ानों ने ले लिया और स्वतन्त्र कारीगर वेतनभोगी मज़दूर बन गया। उसके पतन की यही सीमा नहीं थी; कारख़ानों की व्यवस्था में शामिल होकर वह मनुष्यत्व को खोकर स्वयं मशीन बन गया। अब उसे सोचने-समझने अथवा अपनी कलात्मक प्रतिभा दिखाने और इस प्रकार अपने कार्य में गौरव अनुभव करने का कोई अवसर नहीं रहा। पहिले तो आर्थिक उत्पादन की सभी प्रक्रियाएँ वह स्वयं किया करता था और अपनी कृति में अपनी कलात्मक प्रतिभा का प्रदर्शन कर गौरव का अनुभव करता था, परन्तु बड़े-बड़े कारख़ानों में उत्पत्ति की सभी प्रक्रियाएँ अलग-अलग मशीनों द्वारा होती हैं और मज़दूर का काम केवल यही देखना रह जाता है कि मशीन ठीक तरह से काम कर रही है या नहीं।

औद्योगिक नगरों का विकास और जनसंख्या का स्थानान्तरण—औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व बड़े-बड़े नगरों की संख्या बहुत कम थी और अधिकतर जनता गाँवों में रहती थी। कारीगर भी, जैसा हम देख चुके हैं, अपने गाँवों या नगरों में अपना काम घर पर ही करते थे। परन्तु जब शक्ति से चलनेवाले कारख़ानों का निर्माण होने लगा तो यह आवश्यक हो गया कि कारख़ाने शक्ति के स्रोतों के पास हों। जब कोयले की शक्ति का प्रयोग होने लगा तो कोयले की खानों के पास ही कारख़ानों का निर्माण होने लगा और जो प्रदेश अभी तक उजाड़ थे वे कारख़ानों के शोर से गूँजने लगे। कारख़ानों में काम करने के लिये गाँवों से बेरोज़गार लोग आ-आकर कारख़ानों के पास ही बसने लगे। इस प्रकार वहाँ धीरे-धीरे बड़े-बड़े नगर बसने लगे

और गाँव उजड़ने लगे। यह स्थिति सर्वप्रथम इङ्गलैण्ड में उत्पन्न हुई। क्रान्ति के पहले इङ्गलैण्ड के दक्षिण-पूर्वी भाग में आबादी अधिक थी और उत्तर-पश्चिमी भाग बहुत कम बसा हुआ था, परन्तु कारखानों के निर्माण के साथ उत्तर-पश्चिमी भाग की आबादी बढ़ने लगी और दक्षिण-पूर्वी कृषि-प्रधान भाग की जनसंख्या घटने लगी। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक मानचेस्टर की जनसंख्या ४५,००० के लगभग थी परन्तु १८४० तक उसकी जनसंख्या बढ़कर ३,००,००० तक पहुँच गई थी। जब क्रान्ति का योरोप के अन्य देशों में प्रसार हुआ तो वहाँ भी यही हाल होने लगा।

मजदूरों की दुर्दशा—कारखानों के विकास के साथ देश की जनसंख्या का नया वितरण ही नहीं हुआ, सामाजिक अवस्था पर भी उसका बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। कारखानों में काम करने के लिये गाँवों से हज़ारों की संख्या में मज़दूर लोग पहुँच गये थे परन्तु इनके रहने की वहाँ कोई व्यवस्था नहीं थी। यह आवश्यक था कि मज़दूर कारखानों के पास ही रहें और इसलिये कारखानों के मालिकों ने उनके लिये कुछ मकान बनवा दिये। परन्तु मकान बनवाने में मालिकों ने मज़दूरों की सुविधा का कोई ध्यान नहीं रखा; छोटे-छोटे तंग मकानों में जिनमें हवा, प्रकाश तथा पानी की कोई व्यवस्था नहीं थी, मज़दूर का सारा परिवार रहता था। पड़ोस गन्दा था और सफ़ाई की ओर कोई लक्ष्य नहीं था। कारख़ाने भी गन्दे और स्वास्थ्य के लिये हानि-कर थे। काम के घण्टे नियत नहीं थे और मालिक मज़दूरों से अधिक से अधिक काम लेते थे; उन्हें दिन में १६-१६ घण्टे काम करना पड़ता था। मशीनों की देख-भाल के लिये किसी विशेष दक्षता की आवश्यकता न होने से उनमें स्त्रियाँ और कम उम्र के बच्चे भी काम कर सकते थे और कारखानों के मालिक बहुत बड़ी संख्या में उनको नियुक्त करते थे। मज़दूरों को वेतन बहुत कम मिलता था, स्त्रियों तथा बच्चों को तो और भी कम। बहुत से लोग प्रायः बेकार भी रहते थे। उनका हाल पूछनेवाला कोई न था। कारखानों के मालिकों को तो केवल अधिक से अधिक रुपया कमाने की चिन्ता थी— मज़दूरों के दुःख-सुख से उन्हें कोई मतलब नहीं था; क़ानून का संरक्षण भी उन्हें प्राप्त नहीं था। इस प्रकार गाँव के स्वच्छ, स्वस्थ, स्वतन्त्र वायुमण्डल में सुखी पारिवारिक जीवन बितानेवाले कृषक या कारीगर को अब छोटे, तंग, गन्दे मकानों में और कारखानों के गन्दे व दूषित वायुमण्डल में पशु के तुल्य जीवन बिताना पड़ता था। उसका पारिवारिक जीवन नष्ट हो चुका था।

नया वर्ग-भेद—इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति का सामाजिक जीवन पर बड़ा अनिष्टकारी प्रभाव पड़ा। सामाजिक संगठन पर भी उसने प्रभाव डाला और समाज में नया वर्ग-भेद उत्पन्न हो गया। मध्यकाल में समाज तीन श्रेणियों—सामन्त, पादरी तथा सर्वसाधारण जनता- में विभक्त था। सर्वसाधारण जनता में व्यापारी, कृषक, कारीगर आदि सब शामिल थे। परन्तु अब वह बात नहीं रही। अब सामन्तों का

महत्व घट गया और उनका स्थान कारखानों के मालिकों (पूँजीपतियों) ने ले लिया। बहुत से सामन्त भी अब पूँजीपति हो गये थे। धर्म का महत्व कम हो जाने से पादरियों का भी महत्व कम हो चला था। सर्वसाधारण जनता में अधिकांश कृषक और कारीगर वेतनभोगी मज़दूर बन गये थे। कहने को तो वे स्वतन्त्र थे परन्तु वास्तव में वे पूँजीपतियों की दया पर पूर्णतया आश्रित थे और उनकी दशा गुलामों से किसी भी तरह अच्छी नहीं थी। पूँजीपतियों और मज़दूरों के हित परस्पर विरोधी थे और इस प्रकार समाज में एक नया वर्ग-भेद—पूँजीपतियों और मज़दूरों का—उत्पन्न हो गया था। इसके साथ ही नई परिस्थिति एक नये वर्ग—मध्यम वर्ग—की भी सृष्टि कर रही थी। पूँजीपतियों को अपने अनेक कार्यों के लिये वैज्ञानिकों, कुशल शिक्षित शिल्पियों, प्रबन्धकों, हिसाब रखनेवालों, प्रचारकों, वकीलों आदि की आवश्यकता थी। उनके बिना उनका काम नहीं चल सकता था। इसके साथ ही बढ़ते हुए व्यापार को संभालने के लिये व्यापारियों, महाजनों आदि का महत्व भी बढ़ा। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति ने शिक्षित मध्यम वर्ग को जन्म दिया और समाज में नये तीन वर्ग—पूँजीपति, शिक्षित मध्यम वर्ग तथा मज़दूर—बन गये, जिनमें पूँजीपति वर्ग सबसे अधिक प्रभावशाली था। उसके पास सम्पत्ति थी, सम्पत्ति की शक्ति थी और सरकार का समर्थन प्राप्त था। मध्यम वर्ग उतना प्रभावशाली तो नहीं था परन्तु उसके पास शिक्षा एवं ज्ञान का अपरिमित बल था जिसके आधार पर उसका प्रभाव बढ़ना और निकट भविष्य में समाज का नेतृत्व उसके हाथों में पहुँचना अनिवार्य था। मज़दूरों की दशा अत्यन्त बुरी थी। उनके पास अपने श्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं था जिसे बेचकर वे किसी प्रकार रूखा-सूखा खाकर अपना पेट पालते थे। जो संरक्षण और सुरक्षा पुरानी सामाजिक व्यवस्था में उन्हें प्राप्त थी उससे वे वंचित हो चुके थे। अब वे अपने स्थान से उखड़े हुए, निराधार, असंगठित भीड़ मात्र रह गये थे।

पूँजीवाद का विकास—यह सब पूँजीवाद के विकास का परिणाम था। पूँजीवाद से आशय उस आर्थिक व्यवस्था से है जिसमें उत्पादन तथा विनिमय के मुख्य साधनों का स्वाम्य और नियन्त्रण समाज के थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो। इसका धीरे-धीरे विकास हुआ है। इसका आरम्भिक रूप व्यापारिक पूँजीवाद (Commercial Capitalism) कहा जाता है। बाद में उसने औद्योगिक पूँजीवाद (Industrial Capitalism) और अन्त में राजस्व-पूँजीवाद (Finance Capitalism) का रूप धारण किया।

व्यापारिक पूँजीवाद (Commercial Capitalism)—व्यापारिक पूँजीवाद का विकास औद्योगिक क्रान्ति से बहुत पहले हो चुका था। पूँजी का वास्तविक अर्थ बचत है। इस साधारण अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति, जो अपनी कमाई में से कुछ बचा लेता है, अपनी बचत के अनुसार किसी न किसी अंश में पूँजीपति होता है।

परन्तु जब हम आर्थिक व्यवस्था के रूप में पूंजीवाद की चर्चा करते हैं तो उसका अर्थ इससे भिन्न होता है। पूंजीवाद का इस अर्थ में उस समय जन्म होता है जबकि एक व्यक्ति या कई व्यक्ति शामिल होकर अपनी पूंजी का उपयोग लाभ की दृष्टि से किसी व्यापार या व्यवसाय में करें। मध्य-काल के उत्तरार्द्ध में धर्म-युद्धों के कारण तथा दिग्दर्शक यन्त्र के आविष्कार के फलस्वरूप दूर-दूर की समुद्र-यात्राएं सुगम होने के कारण व्यापार बहुत बढ़ने लगा था और कई साहसिक व्यापारी इसमें लाभ उठाने थे। अधिक लाभ के लिये अधिक पूंजी की आवश्यकता होने के कारण कुछ व्यापारी शामिल होकर कम्पनियां बनाने लगे जो पहले अस्थायी होती थीं और बाद में स्थायी होने लगीं तथा धीरे-धीरे सम्मिलित पूंजीवाली कम्पनियों का रूप धारण करने लगीं। इंगलिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी इसी प्रकार की कम्पनी थी। पहले ये लोग स्वतन्त्र कारीगरों से माल खरीदा करते थे, परन्तु धीरे-धीरे उन्हें यह अधिक लाभदायक मालूम होने लगा कि कारीगरों को कच्चा माल दिया जाय और उनसे इच्छानुसार माल बनवाया जाय। कारीगर अपने घरों में ही काम करते थे, औजार भी उनके अपने ही थे, परन्तु अब पूंजी उनकी नहीं होती थी और वे माल भी पूंजीपति की इच्छानुसार बनाते थे। उन्हें केवल मजदूरी मिलती थी। इस प्रकार व्यवसाय का रूप धीरे-धीरे बदलने लगा था। कहने को तो वह अभी गृह-व्यवसाय था परन्तु उसमें कारखाना-व्यवस्था (Factory System) के मुख्य लक्षण आ गये थे; पूंजीपति बड़े पैमाने पर अपनी ओर से इच्छित वस्तुएं बनवाता था, कारीगर मजदूरी पर काम करता था और लाभ पूंजीपति को होता था।

इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व व्यापारिक पूंजीवाद मौजूद था। समुद्रपार के देशों के व्यापार से योरोप में धन काफ़ी इकट्ठा हो गया था। फ्लोरेन्स, ऑग्ज़बुर्ग, एण्ट्वर्प और बाद में ऐम्स्टर्डम और लन्दन इसके केन्द्र थे। इस पूंजी का उपयोग समुद्री व्यापार को और भी बढ़ाने में तथा कृषि और गृह-व्यवसाय की उन्नति करने में होता था। उस समय के पूंजीपति बड़े-बड़े जमींदार, कुलीन लोग और उच्च मध्यम वर्ग के व्यक्ति होते थे। तब तक योरोप के परम्परागत समाज मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। अठारहवीं शताब्दी तक योरोप के निवासी अधिकतर कृषक थे; वे पूंजीवादी व्यवस्था में लगते जा रहे थे परन्तु वे अपने घर पर ही काम करते थे और साथ-साथ अपनी खेती का काम भी करते थे।

औद्योगिक पूंजीवाद (Industrial Capitalism)—जब मशीनों का उपयोग सफलतापूर्वक होने लगा तो कारखानों का युग आया और कारखानों के विकास के साथ पूंजीवाद ने भी अपना रूप बदला। नई औद्योगिक मशीनें अधिकतर बड़ी मूल्यवान् और भारी होती थीं जिन्हें कृषक या कारीगर न तो खरीद सकता था और न अपनी झोंपड़ियों में खड़ी ही कर सकता था। उन्हें धनी आदमी ही खरीद सकते थे

और वे बड़े, खास तौर पर बने हुए मकानों (कारखानों) में ही खड़ी की जा सकती थीं जिन्हें धनी लोग ही बना सकते थे। इस प्रकार मशीनों के साथ कारखानों की सृष्टि हुई। इसका आशय यह नहीं है कि पहले कारखाने नहीं थे। पहले भी धातु-व्यवसाय के कुछ कारखाने थे परन्तु उनकी संख्या बहुत कम थी। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक कारखाने औद्योगिक उत्पादन के केन्द्र बन चुके थे। तभी से हम 'कारखाना-व्यवस्था' का आरम्भ मानते हैं।* इसका मतलब यह नहीं है कि इसने गृह-व्यवसाय की व्यवस्था को बिलकुल समाप्त कर दिया था; वर्षों तक दोनों व्यवस्थाएं साथ-साथ चलती रहीं और आज तक गृह-व्यवसाय बिलकुल लुप्त नहीं हुआ है।

राजस्व-पूंजीवाद (Finance-Capitalism)— आरम्भ में मशीनों के स्वामी पूंजीपति दो प्रकार के होते थे। कुछ तो वे लोग थे जो व्यापारिक पूंजीवाद के प्रसाद से धन-कुबेर बने हुए थे। कुछ लोग सर्वसाधारण जनता में से आगे आये हुए थे जिन्होंने अपने बुद्धिबल से, अपनी आविष्कार-शक्ति के बल पर या अन्य प्रकार से धन कमाया था। ऐसे पूंजीपतियों में आर्कराइट, जेम्स वाट आदि थे। आरम्भ में औद्योगिक पूंजीपतियों का अपने व्यवसाय से बड़ा निकट सम्पर्क रहता था और पूंजी लगाना, कच्चा माल खरीदना, कारखाने बनवाना, मजदूरों के काम को देखना, तैयार माल को बेचने का प्रबन्ध करना आदि सभी काम वे स्वयं किया या देखा करते थे। परन्तु जब कारखाना-व्यवस्था धीरे-धीरे अधिक पेचीदा होने लगी और रेलवे जैसे बड़े भारी-भारी उद्योग शुरू होने लगे तो पूंजीपति का व्यक्तिगत काम कम होने लगा। तब तक तो पूंजीपति अकेला ही या कुछ लोगों के साथ साझे में काम करता था परन्तु अब सम्मिलित पूंजीवाली कम्पनियां और कार्पोरेशन बनने लगे तथा उद्योगों का स्वाम्य व्यक्तिगत पूंजीपतियों के हाथों से निकल कर उन कम्पनियों के हाथों में पहुंचने लगा। अब समस्त प्रकार के कामों के लिये वेतनभोगी कर्मचारी रखे जाने लगे और पूंजीपतियों का व्यवसाय से सीधा सम्पर्क टूटने लगा। अब उनका काम व्यवसाय के लिये धन जुटाना और आपस में लाभ का वितरण करना तथा अपने लाभ को बैंकों और दलालों द्वारा अन्य उद्योगों में लगा कर अधिकाधिक लाभ प्राप्त करना रह गया। इस प्रकार धीरे-धीरे पूंजीवाद ने व्यापारिक पूंजीवाद से आगे बढ़कर औद्योगिक पूंजीवाद का और अन्त में राजस्व-पूंजीवाद का रूप धारण किया। इसके साथ ही, जैसा हम देख चुके हैं, कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की दशा बिगड़ती गई और सामाजिक संगठन का रूप भी बदलता गया।

साम्राज्यवाद का विकास और अन्तर्राष्ट्रीय विद्वेष— पूंजीवाद के विकास

---

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 31.

से जहाँ देश के अन्दर मजदूरों की दशा बिगड़ी वहाँ उसने साम्राज्य को जन्म दिया और पिछड़े हुए देशों की स्वतन्त्रता का भी अपहरण किया। कारखानों की उन्नति के साथ उत्पादन में वृद्धि हुई। शीघ्र ही उत्पादन इतना बढ़ गया कि देश में उसकी खपत न रही और बचे हुए माल को बेचने के लिये बाहर बाजार तलाश करना पड़ा। इस प्रकार अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया के बाजारों में योरोप के कारखानों का माल बिकने लगा। धीरे-धीरे वहाँ योरोपियनों के उपनिवेश बसने लगे। परन्तु जब विभिन्न योरोपीय देशों में प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी तो उपनिवेशों पर एकाधिकार करने और अधिकाधिक प्रदेशों पर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न होने लगा। इससे दो प्रकार के लाभ थे— किसी की प्रतियोगिता न होने के कारण एक तो उन प्रदेशों में माल निर्बाध रूप में बेचा जा सकता था और दूसरे, वहाँ से इच्छानुसार सस्ता कच्चा माल मिल सकता था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में योरोपीय राज्यों में बड़ी भीषण औपनिवेशिक स्पर्द्धा रही जिसके फलस्वरूप उन्होंने संसार के समस्त पिछड़े हुए देशों को आपस में बाँट लिया और उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण करके उन्हें अपनी अधीनता में कर लिया। इस स्पर्द्धा में इङ्गलैण्ड, फ्रान्स, बेल्जियम तथा हॉलैण्ड ने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित कर लिये। तब तक जर्मनी तथा इटली विभक्त थे और वहाँ उद्योग-धन्धों की उन्नति नहीं हो पाई थी। जब सन् १८७० ई० में उनकी राष्ट्रीय एकता स्थापित हुई और वहाँ उद्योग-धन्धो की उन्नति होने लगी तो उन्हें भी उपनिवेशों की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। परन्तु तब तक संसार के अच्छे अच्छे प्रदेशों पर किसी न किसी शक्ति का अधिकार हो चुका था; अत: अन्तर्राष्ट्रीय मनोमालिन्य और विद्वेष भड़कने लगा और योरोप का अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण अत्यन्त अशान्त एवं क्षुब्ध हो गया।

नये विचार—व्यक्तिवाद (उदारवाद)— इस नई परिस्थिति के कारण विचारों के क्षेत्र में भी क्रान्ति होना अवश्यम्भावी था। अठारहवीं शताब्दी में योरोप में उदारवाद (Liberalism) का प्रचार था जिसका आधार वैयक्तिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त था। अठारहवीं शताब्दी के अनेक दार्शनिकों एवं विचारकों ने इसे जन्म दिया था और फ्रेञ्च क्रान्ति ने इसकी पुष्टि की थी। उदारवाद का सिद्धान्त प्रधानत: राजनीतिक था और उससे साधारणतया निम्नलिखित बातों का बोध होता था - सांविधानिक एकतन्त्र अथवा संविधानवाद (Constitutionalism), जनता का प्रभुत्व, क़ानून के समक्ष सबकी समानता, धार्मिक सहिष्णुता तथा राष्ट्रीयता।* इङ्गलैण्ड में इसके साथ आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप की अवांछनीयता (Laissez faire) का सिद्धान्त भी शामिल हो गया था।

राज्य के हस्तक्षेप की अवांछनीयता के सिद्धान्त का जन्म फ्रान्स में तुर्गो

* Schevill : A History of Europe, p. 515.

(१७२७-१७८१) जैसे विचारकों के प्रभाव में हुआ था जिसका मत था कि चाहे कुछ भी किया जाय, मजदूरी (Wage) की प्रवृत्ति सदा गिर कर उस स्तर पर पहुँचने की रहती है जहाँ वह केवल जीवित रहने के साधन दे सके। उन्नीसवीं शताब्दी में इसी सिद्धान्त का विकास करके एक जर्मन समाजवादी फर्डिनेण्ड लासाल ने 'मजदूरी के लोह-नियम' (Iron-law of Wages) की घोषणा की थी। इङ्गलैण्ड में एडम स्मिथ ने सन् १७७६ ई० में अपनी पुस्तक (The Wealth of Nations) में तुर्गों के कुछ विचारों के आधार पर व्यापार तथा व्यवसाय पर राज्य के नियन्त्रण को व्यर्थ बता कर उन्हें स्वतन्त्र छोड़ना आवश्यक बतलाया था।* इस सिद्धान्त के अनुसार उद्योगों का जिस प्रकार विकास हो रहा था और मजदूरों की जो दशा हो रही थी, वे सब बातें सिद्धान्त के अनुकूल थीं क्योंकि पूंजीपति और मजदूर सब स्वतन्त्र थे और उनके पारस्परिक सम्बन्ध स्वेच्छापूर्वक किये हुए समझौते पर आश्रित थे। मजदूर अपनी इच्छा से नौकरी करते थे और यदि उन्हें उससे कष्ट था तो वे नौकरी छोड़ने को स्वतन्त्र थे। यह तर्क स्पष्टतः हास्यास्पद था, क्योंकि मजदूर के सामने पूंजीपति द्वारा दिये हुए वेतन को स्वीकार करने के अतिरिक्त जीविका का अन्य कोई साधन नहीं था। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह थी कि मजदूरों की दुर्दशा को प्राकृतिक नियमों के अनुसार आवश्यक बतलानेवाले विचारक भी मौजूद थे। उनमें से सबसे प्रख्यात टॉमस माल्थस (Thomas Malthus) था जिसका मत था कि जन-संख्या भोज्य पदार्थों की वृद्धि की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ती है, अतः उसे सीमित रखना आवश्यक है और उसे सीमित रखने के उपाय केवल तीन हैं—नैतिक नियन्त्रण, व्यसन और दरिद्रता। नैतिक नियन्त्रण अधिक नहीं हो सकता और व्यसनों को सहन करना असम्भव है, अतः केवल दरिद्रता का ही साधन बचता है। लोगों के भूख से मरते रहने के कारण ही जनसंख्या सीमा के अन्दर बनी रहती है। अतः जनसंख्या को अधिक न बढ़ने देने के लिये मजदूरों को दरिद्रता की अवस्था में रखना आवश्यक है। यदि उनका वेतन बढ़ाया जायगा तो बड़े-बड़े परिवारों को प्रोत्साहन मिलेगा और आबादी बढ़ेगी।† इसी प्रकार डेविड रिकार्डो (David Ricardo) का भी मत था कि प्रत्येक राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था कुछ अटल नियमों पर आधारित है जिनमें से एक 'मजदूरी का लोह-नियम' है। इस नियम के अनुसार मजदूर के लिये केवल जीविका से अधिक कमा सकना असम्भव है।‡

स्वतन्त्र प्रतियोगिता पूंजीवादी व्यवस्था का आधार-स्तम्भ है और यह स्पष्ट है कि इन अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों से उस व्यवस्था को पूर्ण सैद्धान्तिक समर्थन प्राप्त

---

* Strong : Dynamic Europe, p. 260.

† Ibid, p 261.

‡ Schevill : A History of Europe, p. 516.

होता है । जिन नाना प्रकार की स्वतन्त्रताओं का वे प्रतिपादन करते थे वे सब पूँजीवाद के हित में थीं—जैसे स्वतन्त्र व्यापार, स्वतन्त्र इक़रार (जिसके अनुसार पूँजीपति अपनी इच्छानुसार मजदूरों को नियुक्त कर सकता था और निकाल सकता था), स्वतन्त्र प्रतियोगिता, सरकारी हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता (क्योंकि सरकार मजदूरों के हित में इस भ्रमपूर्ण सिद्धान्त के आधार पर हस्तक्षेप करती थी कि उनकी दुर्दशा पूँजीपतियों के क्रूर स्वार्थ के कारण थी) आदि ।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ज्यों-ज्यों औद्योगिक क्रान्ति का विस्तार होता गया त्यों-त्यों पूँजीपतियों और मध्यम वर्ग का समाज में प्राधान्य भी बढ़ता गया और इसका प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र में पड़े बिना न रहा । तब तक समाज में सामन्तों तथा कुलीनों का प्राधान्य था और राजनीतिक शक्ति भी उन्हीं के हाथों में थी, परन्तु अब यह उदीयमान मध्यम वर्ग उनके प्राधान्य को नहीं सह सकता था । उसके पास सम्पत्ति थी, शिक्षा थी और ज्ञान का बल था । अतः उसने सामन्तों के महत्त्व का विरोध किया और वैयक्तिक स्वतन्त्रता के आधार पर जिससे वास्तव में उन्हीं की स्वतन्त्रता का आशय था, राजनीतिक शक्ति अपने हाथ में ले ली । फ्रेञ्च क्रान्ति तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिन उदारवादी एवं प्रजातन्त्रात्मक आन्दोलनों का वर्णन हमने पढ़ा है, वे सब इसी उद्देश्य से हुए और उन आन्दोलनों में भाग लेनेवाले मुख्यकर मध्यवर्गीय लोग ही थे ।

परन्तु मध्यम वर्ग के इस प्राधान्य का विरोध अवश्यम्भावी थी । दलित मज़दूर वर्ग उनके अत्याचार को अधिक दिनों तक सहन नहीं कर सकता था । आरम्भ में तो वे लोग असंगठित थे और अपने मालिकों का विरोध नहीं कर सकते थे, परन्तु धीरे-धीरे उन्हें यह अनुभव होने लगा कि जब तक वे अपना संगठन नहीं करते तब तक वे अपनी दुर्दशा से मुक्ति नहीं पा सकते । शनैः-शनैः वे अपना संगठन करने लगे । पहले मजदूरों के लिये संगठन करना क़ानून द्वारा निषिद्ध था परन्तु सरकार अधिक दिनों तक उनकी दुर्दशा की उपेक्षा नहीं कर सकती थी । इङ्गलेण्ड में १८२५ में सरकार को मजदूरों का वेतन बढ़वाने तथा काम के घण्टे कम करवाने के लिये संगठन करने का अधिकार स्वीकार करना पड़ा, यद्यपि यह अधिकार बड़ा संदिग्ध था । आगे चलकर धीरे-धीरे मजदूर इस अधिकार को प्राप्त कर सके । योरोप के अन्य देश इस दिशा में इंगलैण्ड से काफ़ी पिछड़े हुए थे और वहाँ मज़दूर इस स्थिति में देर से पहुँचे । फिर भी हम देखते हैं कि वहाँ भी मज़दूरों ने पूँजीपतियों का विरोध आरम्भ कर दिया था । फ्रान्स में तो सन् १८४८ ई० की क्रान्ति में मज़दूरों ने काफ़ी भाग लिया था और क्रान्ति की सफलता के बाद मजदूरों को 'काम का अधिकार' प्राप्त भी हुआ था, यद्यपि मध्यमवर्गीय विरोध के सामने मजदूर अधिक न टिक सके और उनका प्रयत्न विफल हुआ ।

समाजवाद—मजदूरों की दुर्दशा की ओर भी कुछ विचारकों का ध्यान गया

और वैयक्तिक स्वतन्त्रता के मुक़ाबले में समाजवाद का प्रचार होने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में समाजवादी विचारधारा इंगलैण्ड तथा फ़्रान्स के कुछ उदारमना दयालु व्यक्तियों तक ही सीमित रही। उन्होंने मजदूरों की दशा में सुधार करने के लिये कुछ योजनाएं भी बनाई परन्तु उन पर काम न हो सका। ऐसे व्यक्तियों में एक रॉबर्ट ओवेन (Robert Owen) (१७७१-१८५८) था जो स्वयं दरिद्रता की अवस्था में से गुज़रते हुए एक उद्योगपति बन गया था और जिसके कई कारखाने थे। वह अच्छी तरह समझता था कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता पर आधारित व्यवस्था में मजदूर सदैव दुर्दशाग्रस्त रहेगा। वह प्रतियोगिता के आधार पर संगठित समाज के अत्याचारों से व्यक्ति की रक्षा करना चाहता था और उदार पितृतुल्य शासन को इस उद्देश्य की पूर्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझता था।* उसने अपने कारखानों में मजदूरों की आदर्श सहकारी संस्थाएं स्थापित कीं और उनके रहन-सहन, आमोद-प्रमोद, उचित वेतन, बालकों की शिक्षा आदि की व्यवस्था की। उसके कारखानों में मजदूर बड़े सन्तुष्ट थे और अधिक उत्पादन करते थे। वह मालिक और मजदूरों के बीच लाभ के विभाजन का समर्थक था और उद्योग तथा समाज का सहकारिता के सिद्धान्त पर संगठन करना चाहता था। फ़्रान्स में उसी समय संत साइमन (१७६०-१८२५) और फ़ाउरिये (१७७२-१८३७) भी इसी प्रकार की योजनाओं का समर्थन कर रहे थे। संत साइमन वैज्ञानिकों तथा इंजिनियरों द्वारा संचालित सहकारी राज्य का समर्थक था। फ़ाउरिये समाज का सहकारी समुदायों में संगठन करना चाहता था।† परन्तु इन सब लोगों की योजनाएं काल्पनिक थीं, उन पर अधिक व्यवहार न हो सका। व्यवहार में आने योग्य योजना प्रस्तुत करनेवाला फ़्रान्स में लुई ब्लां (१८११-१८८२) हुआ जिसने वैयक्तिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का घोर विरोध किया, मजदूर के 'काम के अधिकार' की मांग की और उस अधिकार की प्राप्ति के लिये 'राष्ट्रीय-कारखानों' की आवश्यकता बतलाई। हम ऊपर देख चुके हैं कि फ़्रान्स में सन् १८४८ की क्रान्ति के बाद इस प्रकार के कारखानों की स्थापना हुई थी।

फ़्रान्स के ये लेखक आधुनिक समाजवाद के अग्रदूत थे और १८४८ तक उन्होंने सभी प्रकार के समाजवादी विचार संसार के सामने प्रस्तुत कर दिये थे। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था तथा उसकी विभिन्न संस्थाओं के दोषों का उद्घाटन किया, आर्थिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की और उसमें निहित विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताओं की कड़ी आलोचना की तथा मजदूरों के संगठन, काम का अधिकार, व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण, मजदूरों का अधिनायकतन्त्र आदि विभिन्न समाजवादी सूत्रों का प्रचार

---

* Maxey : Political Philosophies, pp. 519-520.

† Schevill : A History of Europe, p. 518.

किया। साम्यवाद शब्द तथा उसका प्रतीक लाल झण्डा भी फ़ान्स से ही संसार को प्राप्त हुआ।* इङ्गलैण्ड में व्यावहारिक बातों पर अधिक ज़ोर रहा। वहाँ मजदूर-संस्थाओं तथा हड़ताल एवं धरना देने के अधिकारों की राज्य द्वारा स्वीकृति के लिये और मजदूरों के संरक्षण तथा काम के घण्टों को कम कराने के लिये प्रयत्न हुए। इन प्रारम्भिक समाजवादियों के प्रयत्नों के फलस्वरूप वहाँ चार्टिस्ट आन्दोलन हुआ जो १८३८ से १८४८ तक रहा और जिसका उद्देश्य मजदूरों के लिये पार्लामेण्ट-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त करना था। इस प्रकार समाजवाद के इन अग्रदूतों का महत्व इस बात में था कि उन्होंने फ़ान्स तथा इंगलैण्ड में वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा राज्य के हस्तक्षेप की अवांछनीयता के सिद्धान्तों के कारण जो परवशता एवं असहायता की भावना मजदूरों में व्याप्त होती जा रही थी उसका मुक़ाबला करने के लिये उन्हें प्रेरणा प्रदान की।

मार्क्स—किन्तु, जैसा हम अभी बतला चुके हैं, ये प्रारम्भिक समाजवादी लोग कल्पना-प्रधान थे, क्योंकि उनकी योजनाएँ व्यावहारिक संसार से इतनी दूर थीं कि उनके कोई स्थायी परिणाम नहीं हो सकते थे। इसी समय वह व्यक्ति मंच पर आया जिसने समाजवाद को एक अदम्य गतिशील शक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया। वह व्यक्ति था कार्ल मार्क्स (Karl Marx) (१८१८-१८८३)। वह प्रशा में जर्मनी के एक यहूदी परिवार में पैदा हुआ था। जब उसकी अवस्था ६ वर्ष की थी तभी उसके पिता ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। मार्क्स की बुद्धि बड़ी प्रखर थी। बॉन तथा बर्लिन के विश्वविद्यालय में उसने दर्शनशास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन किया था। युवावस्था में ही उसे उदारवादी आन्दोलन से सहानुभूति हो गई और उसने एक उदार समाचारपत्र का सम्पादन आरम्भ किया परन्तु प्रशा की सरकार ने उनका दमन कर दिया। इसके उपरान्त मार्क्स को जर्मनी छोड़ना पड़ा। वह कुछ दिनों तक पेरिस और ब्रूसेल्ज़ में रहा। जब फ़रवरी १८४८ में फ़ान्स में क्रान्ति हुई उस समय वह पेरिस में ही था। वह उसी समय जर्मनी में होनेवाले आन्दोलन का संचालन करने के लिये जर्मनी लौट गया परन्तु आन्दोलन विफल होने पर उसे भागना पड़ा। अब वह इङ्गलैण्ड चला गया और मृत्यु-पर्यन्त वहीं बना रहा। जिन दिनों यह आन्दोलन चल रहा था, उन्हीं दिनों उसने अपने मित्र फ़ेडरिक एंगल्स (Friedrich Engels) के साथ मिल कर विश्वविख्यात 'साम्यवादी घोषणापत्र' (Communist Manifesto) प्रकाशित किया जो आधुनिक 'वैज्ञानिक समाजवाद' का आधार है।† इस घोषणापत्र में

---

* Strong : Dynamic Europe, p. 264.

† आजकल प्राय: साम्यवाद को समाजवाद का उग्र रूप माना जाता है किन्तु मार्क्स ने इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं किया था। इस शब्द का प्रयोग करने में उसका आशय अपने वैज्ञानिक समाजवाद का पूर्वगामी कल्पना-प्रधान समाजवाद से भेद स्थापित करना था।

मार्क्स के वे समस्त विचार बीजरूप में विद्यमान हैं जिनका बाद में उसने अपनी महान् कृति 'डास केपिटल' (Das Capital) में प्रतिपादन किया। यह महान् ग्रन्थ तीन खण्डों में है जिसका केवल प्रथम खण्ड उसके जीवन-काल में प्रकाशित हो सका था (१८६७); शेष दो खण्ड बाद में एंगल्स के सम्पादन के साथ प्रकाशित हुए।

इतिहास की भौतिक व्याख्या—मार्क्स का सबसे मुख्य सिद्धान्त है—इतिहास की भौतिक व्याख्या (Materialistic Interpretation of History)। उसका मत था कि इतिहास एक तार्किक एवं क्रमबद्ध विकास है। समाज की विभिन्न संस्थाओं में परिवर्तन भौतिक अवस्थाओं के कारण अर्थात् उत्पादन एवं वितरण के तरीक़ों में परिवर्तन होने के कारण होते हैं, किसी अटल सत्य तथा न्याय के अमूर्त विचारों या भगवान् की इच्छा के कारण नहीं। राजनीतिक संस्थाओं, क़ानून, धर्म, दर्शन, मनुष्य का समाज के विविध वर्गों में स्थान आदि सब बातों का निर्णय मुख्यकर किसी भी समय समाज में प्रचलित उत्पादन तथा वितरण की प्रणाली द्वारा होता है। जब इस प्रणाली में परिवर्तन हो जाता है तो उसके साथ ही समाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक संस्थाओं में भी परिवर्तन हो जाते हैं। इस प्रकार समाज का विकास होता है। अब तक का ऐतिहासिक विकास चार युगों में विभक्त है। प्रथम युग आदिम साम्यवाद का युग था जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। व्यक्तिगत सम्पत्ति के जन्म के पश्चात् दास-युग का आरम्भ हुआ और आर्थिक आधार पर समाज दो वर्गों में विभक्त हो गया—एक वर्ग तो आर्थिक साधनों के स्वामियों का और दूसरा दासों का। इसके उपरान्त सामन्तवादी युग आया। इसमें भी इसी प्रकार समाज दो वर्गों—सामन्तों और कृषकों—में विभक्त था। इस युग के बाद पूँजीवादी युग का उदय हुआ जो अभी तक चल रहा है। इसमें भी दो वर्ग—पूँजीपति और मज़दूर—विद्यमान हैं।

वर्ग-संघर्ष—मार्क्स का दूसरा मुख्य सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त है। उसके मतानुसार समाज का विकास वर्ग-संघर्ष के द्वारा होता है। किसी भी युग में, जैसा हम अभी देख चुके हैं, दो वर्ग होते हैं जिनमें से एक आर्थिक साधनों का स्वामी होता है और दूसरा उसके आश्रित होता है। इन दोनों वर्गों के हित परस्पर विरोधी होते हैं। किसी भी युग में सम्पत्तिशाली वर्ग सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि समस्त संस्थाओं को अपने अनुकूल बना लेता है और उनके द्वारा सम्पत्तिहीन वर्ग का शोषण करता है। अन्त में दलित वर्ग अपने स्वामियों के विरुद्ध उठ खड़ा होता है और उन पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार दास-युग में दासों ने स्वामियों के विरुद्ध संघर्ष किया, सामन्त-युग में कृषकों ने सामन्तों के विरुद्ध और आजकल मज़दूर पूँजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। मार्क्स का मत है कि यह वर्ग-संघर्ष समाज के विकास में स्वाभाविक है और तब तक चलता रहेगा जब तक समाज दो विरोधी वर्गों में बँटा रहेगा। पूँजीपतियों के विरुद्ध मज़दूरों का संघर्ष अन्तिम संघर्ष है। अन्त में मज़दूर

सर्वत्र विजयी होंगे और पूँजीपतियों का तथा उसके साथ उनकी समस्त संस्थाओं का विनाश करके अपनी सत्ता स्थापित कर लेंगे।

मूल्य का श्रम-सिद्धान्त तथा अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त—इस वर्ग-विद्वेष का आधुनिक युग में मुख्य कारण यह है कि पूँजीपति मजदूर के श्रम का पूर्ण पारिश्रमिक उसे नहीं देते। किसी भी वस्तु का मूल्य उस पर सामाजिक दृष्टि से हितकर जितना श्रम खर्च किया जाता है उससे निर्धारित होता है। न्यायानुसार मजदूर के श्रम का पूर्ण मूल्य मजदूर को ही मिलना चाहिये, परन्तु पूँजीपति मजदूर को उतना ही पारिश्रमिक देता है जितना उसे केवल जीवित रहने के लिये पर्याप्त होता है। वह मजदूर से उसके पारिश्रमिक के बदले उचित समय से अधिक काम लेता है और उसके इस अतिरिक्त समय में किये हुए श्रम के मूल्य—'अतिरिक्त मूल्य'—को मुनाफे के रूप में ले लेता है। इस प्रकार मुनाफा वह श्रम है जिसका पारिश्रमिक पूँजीपति मजदूर को न देकर स्वयं अन्यायपूर्वक हड़प लेता है।

अनिवार्य क्रान्ति—पूँजीपति अधिक मुनाफा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और इस दृष्टि से नई-नई व्यवस्थाएँ करते हैं। मार्क्स का मत था कि अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने की कोशिश में प्रतियोगिता बढ़ती जायगी जिसमें छोटे-छोटे पूँजीपति मिटते जायँगे और पूँजी बड़े-बड़े पूँजीपतियों के हाथों में केन्द्रित होती जायगी। इस प्रकार पूँजीपतियों की संख्या कम होती जायगी और छोटे-छोटे पूँजीपति मजदूर वर्ग में मिलते जायँगे जिससे मजदूरों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी। इसके साथ ही उनकी दरिद्रता और दुर्दशा भी बढ़ती जायगी। किन्तु इसके साथ ही अधिकाधिक लाभ के लिये पूँजीपति कारखानों का विस्तार करेंगे जिससे हजारों की संख्या में मजदूर एक ही जगह रहने लगेंगे, उनमें वर्ग-चेतना उत्पन्न होगी और वे अपना संगठन कर सकेंगे। पूँजीपति यातायात के साधनों में उन्नति करेंगे जिससे मजदूरों के लिये भी दूर-दूर के अपने सहवर्गियों से सम्पर्क स्थापित करना और अपने संगठन का विस्तार करना सरल हो जायगा। इस प्रकार पूँजीपति स्वयं अपने विनाश के बीज बोएँगे। अन्त में एक समय ऐसा आयगा जबकि बहुसंख्यक मजदूर वर्ग उठ खड़ा होगा और क्रान्ति द्वारा पूँजीवाद का अन्त कर देगा। जिस प्रकार मध्यम वर्ग ने सामन्तशाही पर विजय प्राप्त की, उसी प्रकार मजदूर वर्ग भी मध्यम वर्ग पर विजय प्राप्त करेगा। मजदूरों की विजय अनिवार्य है।

मजदूर वर्ग का अधिनायकतन्त्र—क्रान्ति के बाद कुछ अवधि तक मजदूर वर्ग राज्य की समस्त दमनकारी शक्ति का प्रयोग पूँजीपतियों के बचे हुए विरोध का दमन करने एवं उन्हें उत्पादन के समस्त साधनों से वंचित कर सम्पत्तिविहीन कर देने के लिये करेगा। इस प्रकार उत्पादन के समस्त साधन राज्य के नियन्त्रण में आ जायँगे,

सभी लोगों को परिश्रम करने के लिये विवश किया जायगा और इस प्रकार समाज में केवल एक ही वर्ग रह जायगा और वर्ग-भेद मिट जायगा। उस समय समस्त वर्गीय संघर्ष का अन्त हो जायगा और उसके साथ ही राज्य का भी अन्त हो जायगा, क्योंकि मार्क्स के मत में राज्य एक ऐसी दमनकारी संस्था है जिसके द्वारा एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता है।

नया समाज—नया समाज राज्यविहीन एवं वर्गविहीन होगा जिसमें उत्पादन उपभोग के लिये होगा, मुनाफ़े के साथ बिक्री के लिये नहीं। सभी काम ऐच्छिक सहयोग से होंगे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार काम करेगा और अपनी आवश्यकतानुसार अपने उपयोग की वस्तुएँ प्राप्त करेगा; उसे किसी प्रकार की कमी नहीं होगी। नया समाज ऐसा होगा जिसमें सबके स्वतन्त्र विकास का आधार प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास होगा।

कार्यक्रम—इस प्रकार वर्ग-संघर्ष की प्रक्रिया द्वारा समाज के ऐतिहासिक विकास के सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स ने अन्त में मजदूर वर्ग की विजय सुनिश्चित बतलाकर उसके सामने एक अत्यन्त आकर्षक लक्ष्य रखा और अपनी दुर्दशा से मुक्ति पाने के लिये प्रेरणा दी। उसने उसके सामने केवल एक आदर्श ही प्रस्तुत नहीं किया, उस आदर्श की प्राप्ति के उपाय भी बतलाये। साम्यवाद को उसने अस्त-व्यस्त दशा में पाया था परन्तु उसने उसे गतिशील आन्दोलन का रूप दे दिया।* प्रत्येक देश में मज़दूर किस प्रकार साम्यवादी क्रान्ति के लिये तैयारी करें, इसके ढंग भी उसने बतलाये। मज़दूरों को ट्रेड यूनियन और पार्लमिण्टरी पार्टियाँ बना कर अपना सङ्गठन करना चाहिये, राजनीतिक उपायों द्वारा 'प्रजातन्त्र के युद्ध में विजय' प्राप्त करनी चाहिये और पार्लामेण्ट में बहुमत प्राप्त कर शासन अपने हाथ में लेना चाहिये। यदि विरोधी शक्तियाँ इन सांविधानिक प्रक्रियाओं में बाधा डालें तो मज़दूर वर्ग को बल का प्रयोग करना चाहिये और शासन पर बलपूर्वक अधिकार करके अपने उद्देश्य की पूर्ति करनी चाहिये। मार्क्स ने मज़दूर वर्ग के लिये कोई एक सुनिश्चित कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं किया और न उसके विभिन्न लेखों से यही स्पष्ट होता है कि वह क्रान्तिवादी था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आरम्भ से वह क्रान्ति पर ज़ोर देता था।

मार्क्स का प्रभाव—मार्क्स राष्ट्रवादी नहीं था। वह समस्त राष्ट्रों के पूँजीपतियों का एक वर्ग मानता था और उसी प्रकार समस्त राष्ट्रों के मज़दूरों का भी एक ही वर्ग मानता था और उन सबको एक हो जाने को कहता था। १८४८ के बाद मार्क्स का प्रभाव योरोप में धीरे-धीरे बढ़ने लगा और सर्वत्र मज़दूर लोग उसे अपना

---

* Laski : Communism, p. 22.

मार्ग-दर्शक समझते रहे । १८६४ तक उसके अनुयायियों की संख्या इतनी हो गई थी कि उसने एक अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संस्था का निर्माण किया । यह संस्था बाद में 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' (First International) कहलाई । परन्तु इस संस्था के द्वारा मार्क्स की समस्त देशों के मज़दूरों को एक करने की आशा पूरी न हो सकी । वह आन्तरिक मतभेदों के कारण निर्बल रही और अन्त में १८७६ में भंग हो गई । मार्क्स की मृत्यु के उपरान्त १८८६ में जो दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनाई गई । उसमें भी मज़दूरों में कोई अन्तर्राष्ट्रीय भावना दिखाई नहीं देती थी और प्रत्येक देश से आनेवाले मज़दूर प्रतिनिधि अपने आपको अपने राष्ट्रीय समाजवादी दल के प्रतिनिधि समझते थे । मार्क्स का विश्वास था कि साम्यवादी क्रान्ति सर्वप्रथम सर्वाधिक औद्योगिक उन्नतिवाले देश में होगी और बाद में शीघ्र ही वह विश्व क्रान्ति का रूप धारण कर लेगी । मार्क्स की वह भविष्यवाणी पूरी तो नहीं हुई परन्तु उसका प्रभाव अनेक प्रकार के लोगों पर पड़ा । उसके विचारों से केवल क्रान्तिकारी समाजवादी लोग ही प्रभावित नहीं हुए, उनका प्रभाव अनेक संस्थाओं और राजनीतिक दलों पर भी पड़ा, जो सामाजिक संगठन को अधिक अच्छा और न्यायपूर्ण बनाने का प्रयत्न करने लगे । उसने मज़दूरों में अपूर्व जागृति उत्पन्न की और वे अपनी दशा सुधारने का प्रयत्न करने लगे ।

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, औद्योगिक क्रान्ति की प्रगति योरोप के देशों में बहुत धीरे-धीरे हुई और १८७० तक उसने कोई विशेष प्रगति नहीं की थी । इसी कारण १८७० तक मार्क्स के विचारों का और मजदूर संगठनों के प्रयत्नों का योरोप के राजनीतिक इतिहास पर विशेष प्रभाव नहीं दिखाई देता । उस समय तक योरोप के देशों में हम मध्यम वर्गीय विचारधारा का प्रभाव देखते हैं और सर्वत्र निरंकुश एकतन्त्रों के विरुद्ध राष्ट्रीय एकता तथा प्रजातन्त्र के पक्ष में संघर्ष दिखाई देता है । केवल इंगलैण्ड में, जहाँ मार्क्स का प्रभाव अधिक नहीं रहा, मज़दूरों के संगठन ने प्रगति की और १८६७ में शिल्पियों को पार्लामिण्ट के लिये मताधिकार प्राप्त हुआ तथा १८७१ में पार्लामिण्ट को ट्रेड यूनानियों की क़ानूनी स्थिति स्वीकार करनी पड़ी ।

राष्ट्रीयता तथा उदारवाद की विजय

(१८५०—१८७१)

अध्याय २५

तृतीय नेपोलियन और द्वितीय फ्रेंच साम्राज्य

दिसम्बर १८४८ में फ्रेंच जनता ने लुई नेपोलियन को विशाल बहुमत से राष्ट्रपति चुन कर महान् नेपोलियन की स्मृति के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की थी। महान् नेपोलियन का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। अपने जीवनकाल में तो उसने फ्रेंच जनता पर एक विचित्र मोहनी डाल ही रखी थी, मृत्यु के बाद भी जनता पर उसके व्यक्तित्व का जादू बना रहा और लुई नेपोलियन ने उस जादू से पूरा-पूरा लाभ उठाया।

लुई नेपोलियन—इस युग के योरोपीय राजनीतिज्ञों में लुई नेपोलियन सबसे अद्भुत था। उसके जीवनचरित्र तथा उसके साम्राज्य की कथा का उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहास में केन्द्रीय स्थान है।* उसका जन्म १८०८ में पेरिस में तुइलरी के राजमहल में हुआ था। उसका शैशव बड़े लाड़-प्यार और वैभव में बीता, परन्तु जब १८१५ में फ्रान्स में बूर्बों वंश की पुनः स्थापना हुई तो बोनापार्ट वंश के दुर्दशा के दिन आये। सारा परिवार फ्रान्स से निर्वासित हो गया और लुई अपनी माता के साथ स्विट्ज़रलैण्ड चला गया। उसके यौवन का अधिकांश स्विट्ज़रलैण्ड तथा जर्मनी में बीता और उसकी शिक्षा भी वहीं हुई। वह अपने परिवार की परम्पराओं तथा १७८९ की फ्रेञ्च क्रान्ति की परम्परा को एक ही मानता था और उसे यह विश्वास था कि एक दिन ऐसा अवश्य आयगा जबकि वह फ्रान्स के राजसिंहासन पर आसीन होगा। १८३० में दसवें चार्ल्स के पतन के बाद लुई फ़िलिप का शासन बहुत शीघ्र स्थापित हो गया, नहीं तो वह अपना अधिकार पेश करने फ्रान्स अवश्य पहुँचता। वह साहसिक प्रवृत्ति का था। उसने इटली की कार्बोनारी नामक क्रान्तिकारी समिति से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया और पोप के राज्य में जब १८३१ में कार्बोनारियों ने विद्रोह किया तो वह उनकी ओर से उसमें शामिल हो गया। ऑस्ट्रियावालों ने उसे पकड़ लिया किन्तु उसकी माता के अनुनय-विनय पर उसे छोड़ दिया। इसके बाद भी वह एक ओर तो फ्रान्स के गणतन्त्रवादियों के साथ तथा दूसरी ओर पोलैण्ड के देशभक्तों के साथ मिलकर षड्यन्त्र

---

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 124.

करता रहा परन्तु लुई फिलिप की सतर्कता तथा जार की दृढ़ता के कारण उसे उपद्रव मचाने का कहीं मौक़ा नहीं मिला।

महान् नेपोलियन के विचार—जब अपनी तलवार के लिये उसे कोई काम नहीं मिला तो उसने क़लम उठाई ; वह बड़ा अच्छा लेखक था और अनेक लेखों में उसने अपने राजनीतिक विचार प्रकट किये। कुछ वर्षों से फ्रान्स में नेपोलियन-गाथा (Napoleonic Legend) का निर्माण हो रहा था जिसका आरम्भ स्वयं महान् नेपोलियन सेंट हेलेना के कारावास में कर चुका था। उसने अपने संस्मरणों में, जो बाद में प्रकाशित हुए, अपने आपको क्रान्ति का सच्चा पुत्र एवं उत्तराधिकारी प्रकट किया जिसे फ्रेञ्च जनता ने अपनी इच्छा से अपना शासक इसलिये चुना था कि उसके द्वारा वह स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व के क्रान्तिकारी आदर्शों को प्राप्त कर सके। उसने बतलाया कि वह सदा शान्ति तथा दलित लोगों का मित्र रहा और उस समय तक जनता के हित-कार्य में लगा रहा जब तक कि शत्रुओं ने उसके कार्य को उसे युद्ध में फँसाकर विफल न कर दिया। उसके अनुसार जिन सिद्धान्तों पर उसका साम्राज्य आधारित था और जिन विचारों को वह जीवन भर कार्यान्वित करने का प्रयत्न करता रहा, वे थे प्रजातन्त्र, राष्ट्रीयता, शान्ति एवं धर्म। यदि वह इन सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने में सदैव सफल न हो सका तो उसका कारण था कपटी इंगलैण्ड तथा उसके धन-क्रीत सहायकों का निरन्तर विरोध। यह गाथा शीघ्र ही बड़ी लोकप्रिय बन गई और थीयर, विक्टर ह्यूगो, लामार्तीन तथा लुई नेपोलियन के लेखों के फलस्वरूप तो उसने नेपोलियन-पूजा का रूप धारण कर लिया। महान् नेपोलियन ने अपने जो चार सिद्धान्त प्रकट किये थे उनमें उसने चार नये सिद्धान्त और जोड़ दिये—गौरव, कुशलता, सामाजिक सुधार तथा १८१५ की सन्धियों का विरोध।* लुई नेपोलियन ने अपने विचार एक पुस्तक—'नेपोलियन के विचार' (Ideas of Napolean)—में प्रकट किये (१८३६) जिसमें उसने महान् नेपोलियन को मनुष्यमात्र का प्रेमी तथा जनता की स्वतन्त्रता का समर्थक बतलाया और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उसका साम्राज्य फ्रेञ्च क्रान्ति के मूल आदर्शों का मूर्त्त रूप था। १८४० में जब महान् नेपोलियन के अवशेष सेंट हेलना से फ्रान्स पहुँचे और वह अवसर देखकर लुई फिलिप के विरुद्ध विद्रोह भड़काने के लिये बोलोन में उतरा तथा पकड़े जाने पर उस पर अभियोग चलाया गया तो उसने अपनी राजनीतिक स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा, "सज्जनो, मैं एक अन्तिम बात और कहूँगा। मैं आपके सामने एक सिद्धान्त, एक प्रयोजन तथा एक पराजय के प्रतिनिधि के रूप में खड़ा हुआ हूँ। सिद्धान्त है—जनता के संप्रभुत्व का, प्रयोजन है—सम्राज्य का, और पराजय है—वाटरलू की। आप लोग इस सिद्धान्त को स्वीकार

* Hearnshaw : Main Currents of European History, p. 215.

कर चुके हैं, इस प्रयोजन की आप सिद्धि कर चुके हैं और इस पराजय का आप प्रतिशोध करना चाहते हैं।"* इस प्रकार उसने जनता के सामने उनके लाड़ले महान् नेपोलियन के पद-चिह्नों के अनुयायी की तरह खड़े होकर उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। आठ वर्ष बाद १८४८ में उसकी आशा पूर्ण हुई और जनता ने उसे अपना राष्ट्रपति चुन लिया।

लुई नेपोलियन को अपने जीवन-कार्य के विषय में लेशमात्र भी सन्देह नहीं था। उसने एक बार कहा था—"मेरा विश्वास है कि समय-समय पर कुछ व्यक्ति ईश्वर की इच्छा के अनुकूल उत्पन्न होते हैं जिनके हाथों में उनके देश का भाग्य सौंप दिया जाता है। मुझे विश्वास है कि मैं उन्हीं में से एक हूँ।"† राष्ट्रपति के पद पर आसीन होने के समय से ही नेपोलियन साम्राज्य की पुन: स्थापना के प्रयत्न में लग गया।

लोकप्रियता प्राप्त करने के यत्न अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये जनता के विभिन्न वर्गों में अपनी लोकप्रियता बढ़ाना उसके लिये अत्यन्त आवश्यक था। उसने जनता के सामने अपने उद्देश्यों को रखते हुए कहा—"नेपोलियन का नाम स्वयं एक पूर्ण कार्यक्रम है। उसका अर्थ है—देश के अन्दर व्यवस्था, राजसत्ता (Authority), धर्म तथा लोक-कल्याण और देश के बाहर राष्ट्रीय गौरव।"‡ वह सब वर्गों को, विशेषकर कृषक वर्ग, पादरी वर्ग तथा सेना को प्रसन्न करना चाहता था। कृषक वर्ग तो उसके नाम के जादू से ही उसकी ओर पूरी तरह से आकर्षित था; बहुत से कृषक तो उसे महान् नेपोलियन ही समझते थे। सेना तथा पादरी वर्ग को सन्तुष्ट करने का अवसर भी उसे शीघ्र ही मिल गया, जबकि फ़रवरी १८४९ में इटली के क्रान्तिकारियों ने मेजिनी के नेतृत्व में रोम में विद्रोह करके पोप को निकाल दिया और गणतन्त्र स्थापित कर दिया। नेपोलियन ने एक सेना भेज कर गणतन्त्रियों को परास्त करके नवें पायस को फिर से रोम के सिंहासन पर बिठला दिया। सेना विजय-गौरव प्राप्त कर सन्तुष्ट हो गई और पोप की सहायता के फलस्वरूप पादरी वर्ग भी उसके पक्ष में हो गया। पादरी वर्ग को विशेष सन्तुष्ट करने के लिये उसने १८५० में एक शिक्षा-क़ानून बना कर उन्हें शिक्षा-सम्बन्धी जो विशेष अधिकार दसवें चार्ल्स के समय में प्राप्त थे, पुनः प्रदान कर दिये। फ्रान्स की अधिकांश जनता रोमन केथोलिक थी, वह भी इस प्रकार सन्तुष्ट हो गई। मज़दूरों को सन्तुष्ट करने के लिये उसने 'ऐच्छिक वृद्धावस्था-बीमा' की योजना विधान-सभा से स्वीकार करवाई और पूँजीपतियों का

---

* Fisher : Bonapartism, pp. 132-133.

† Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 163.

‡ Fisher : Bonapartism, p. 143.

समर्थन प्राप्त करने के लिये उसने व्यापार एवं व्यवसाय के संरक्षण एवं प्रोत्साहन की भी व्यवस्था की ।*

नया निर्वाचन-क़ानून—उसने इटली में तथा शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रतिक्रियावादी काम किये थे उनसे समस्त देश के प्रगतिवादी लोगों के असन्तुष्ट होने का बड़ा डर था, परन्तु इस समय उसके भाग्य से विधान-सभा ने एक ऐसा काम किया जिसका उसने पूरा-पूरा लाभ उठाया। विधान-सभा में नगरों का मजदूर वर्ग अल्पमत में था और बहुमत पूंजीपतियों तथा कृषकों का था। वे लोग उग्र प्रजातन्त्र से घृणा करते थे और १८४८ की फरवरी तथा जून के दृश्य अभी भूले नहीं थे। अपने बहुमत से लाभ उठाकर उन्होंने मई १८५० में एक निर्वाचन-क़ानून बनाया जिसके अनुसार कोई भी ऐसा व्यक्ति जो उसी निर्वाचन-क्षेत्र में तीन वर्ष तक न रहा हो और कर अदा न करता रहा हो, मत नहीं दे सकता था। इसका आशय बड़े नगरों के शिल्पियों एवं मज़दूरों को, जो प्राय स्थान बदलते रहते हैं, वस्तुतः मताधिकार से वंचित करना था। इसके अनुसार तीस लाख मतदाता मताधिकार से वंचित हो गये। इस निर्वाचन-क़ानून के साथ विधान-सभा ने समाचार-पत्रों पर भी बड़े-बड़े नियन्त्रण लगाये।

संविधान में परिवर्तन की तैयारी—फ्रान्स के नगरों ने, विशेषकर पेरिस ने, इसका विरोध किया और नेपोलियन ने उनके साथ सहानुभूति प्रकट करके विधान-सभा को अपने आपको भङ्ग करने के लिये कहा। इस प्रकार नेपोलियन एक विचित्र रीति से प्रजातन्त्र का समर्थक बन गया। जब विधान-सभा राज़ी नहीं हुई तो उसने नवम्बर १८५१ में उसे अन्तिम बार सार्वलौकिक मताधिकार की पुनः व्यवस्था करने का आदेश दिया, किन्तु विधान-सभा ने उसके आदेश का पालन करने से इन्कार कर दिया। इस पर नेपोलियन ने वही काम किया जो महान् नेपोलियन ने १७९९ में फ्रान्स के प्रथम गणतन्त्र को पलटने के लिये किया था। २ दिसम्बर १८५१ को, जो महान् नेपोलियन की अभिषेक-तिथि थी, सूर्योदय से बहुत पहले ही फ्रान्स के अनेक सैनिक एवं नागरिक नेता, जो गणतन्त्रीय या राजसत्तावादी थे, सोते ही में गिरफ्तार कर लिये गये और विधान-सभा के भवन को सेना ने घेर लिया। पेरिस की दीवारों पर घोषणापत्र लगा दिये, जिनमें विधान-सभा के भंग, अस्थायी अधिनायकतन्त्र की स्थापना तथा सार्वलौकिक मताधिकार की पुनः व्यवस्था की घोषणा की गई और यह इच्छा प्रकट की गई कि शीघ्र ही स्वयं राष्ट्रपति को ही एक नवीन गणतन्त्रीय संविधान का निर्माण करने का अधिकार देने के लिये एक प्रस्ताव जनमत के लिये प्रस्तुत किया जायगा। सेना ने नेपोलियन का साथ दिया और जहाँ कहीं थोड़ा-बहुत उपद्रव हुआ

---

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 127.

उसे शीघ्र ही उसने दबा दिया। हजारों आदमी गिरफ्तार कर लिये गये। अखबारों पर कड़ा नियन्त्रण लगा कर उन्हें प्रचार करने से रोक दिया गया और पुलिस की कड़ी कार्यवाही से कोई विरोधी आन्दोलन न हो सका। इस प्रकार नेपोलियन का षड्-यन्त्र पूरा हुआ। कहा जाता है कि समस्त फ्रान्स में कोई एक लाख आदमी इस सम्बन्ध में गिरफ्तार हुए थे। जो नेपोलियन को खतरनाक दिखाई दिये, वे सब देश-निर्वासित कर दिये गये या कैद में डाल दिये गये। इस सख्ती का प्रभाव सबसे अधिक गण-तन्त्रियों पर पड़ा जो वर्षों के लिये इस प्रकार चुप कर दिये गये।* इस तरह समस्त विरोध का अन्त करके नेपोलियन ने २० दिसम्बर १८५१ को जनता के सामने निम्न-लिखित प्रस्ताव रखा—"फ्रेञ्च जनता चाहती है कि लुई नेपोलियन का आधिपत्य कायम रहे और वह उसे २ दिसम्बर १८५१ की घोषणा के आधार पर एक नवीन संविधान का निर्माण करने का अधिकार देती है।" इस प्रस्ताव पर सार्वलौकिक मता-धिकार के आधार पर मत लिये गये। प्रस्ताव के पक्ष में कोई ७५ लाख और विपक्ष में ६½ लाख मत प्राप्त हुए और जनता ने इस प्रकार नेपोलियन को संविधान निर्माण करने का अधिकार दे दिया।

नया संविधान— अपनी घोषणा में नेपोलियन ने कान्सयुलेट के समय में महान् नेपोलियन ने जो संविधान बनाया था उसके गुणों और लाभों की ओर संकेत किया था। उसने उसी का अनुकरण करके एक नया संविधान बनाया। उसके अनुसार सार्वलौकिक मताधिकार की व्यवस्था की गई, राष्ट्रपति की अवधि ४ वर्ष से बढ़ाकर १० वर्ष कर दी गई। कानून बनाने के कार्य के लिये तीन सभाएँ रहीं—(१) राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त राज्य-सभा (Council of State) जिसका कार्य कानून के मसौदे बनाना था; (२) सार्वलौकिक मताधिकार के आधार पर निर्वाचित विधान-सभा जिसका कार्य कानूनों के मसौदों पर मत देना था और (३) सीनेट (Senate) जो वर्त-मान कानूनों का संशोधन कर सकती थी या नये कानूनों का प्रस्ताव कर सकती थी और संविधान की व्याख्या कर सकती थी। अन्तिम अधिकार केवल उसी का था। विधान-सभा को अपनी ओर से कानून बनाने या मसौदों में संशोधन करने का अधिकार नहीं था; वह मन्त्रियों की नियुक्ति में भी हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी। अपने मन्त्रियों तथा समस्त सैनिक एवं नागरिक सेवाओं के पदाधिकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति के हाथों में रही।

सम्राट् नेपोलियन—द्वितीय साम्राज्य की स्थापना—इस प्रकार नेपोलियन ने समस्त शक्ति अपने हाथों में कर ली, परन्तु अभी उसकी आकांक्षा की पूर्ति नहीं हुई थी; वह सम्राट् बनना चाहता था और धीरे-धीरे इसके लिये तैयारी करता रहा।

---

* Hazen : Modern European History, p 320.

राष्ट्रीय सिक्कों पर उसका चेहरा अंकित होने लगा; राष्ट्रीय भवनों तथा सेना में महान् नेपोलियन के समय के समस्त चिह्न फिर से दिखाई देने लगे। वह भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बड़ी धूमधाम के साथ यात्रा करने लगा और समस्त वर्गों को मीठी-मीठी बातों से प्रसन्न करके उसने देश को अन्तिम क़दम के लिये तैयार कर लिया। उसने सीनेट के सामने सम्राट् की पदवी से विभूषित होने की इच्छा प्रकट की। सीनेट ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। प्रस्ताव पर जनमत-संग्रह हुआ जिसमें कोई ७८ लाख मत पक्ष में और २½ लाख विपक्ष में आये। २ दिसम्बर १८५२ को नेपोलियन 'फ्रेञ्च जनता का सम्राट्' घोषित हुआ। द्वितीय गणतन्त्र समाप्त हुआ और उसके स्थान पर द्वितीय साम्राज्य की स्थापना हुई। नेपोलियन ने गणतन्त्र की रक्षा की शपथ लेकर राष्ट्रपति-पद स्वीकार किया था, परन्तु तीन वर्ष में ही उसने स्वयं उसकी हत्या कर दी और चौथे वर्ष उसका नामोनिशान भी मिटा दिया।

फ्रान्स की जनता नेपोलियन के इस कार्य से अप्रसन्न नहीं हुई। उसने जान-बूझ कर उसे विशाल बहुमत से सम्राट् बनाया था। फ्रान्स में अभी राज-सत्ता के प्रति भक्ति विद्यमान थी। देहात के लोग उसके नाम से बड़े आकर्षित और सन्तुष्ट थे। मध्यम वर्ग के व्यापारी एवं व्यवसायी लोग नगरों में जोर पकड़ते हुए साम्यवाद से डरते थे तथा लोकतन्त्र को साम्यवाद को प्रोत्साहन देनेवाला समझकर राजसत्ता के समर्थक थे और नेपोलियन के निर्बन्ध शासन में ही अपना हित समझते थे। देश की बहुसंख्यक केथोलिक जनता भी उसके पक्ष में थी। देश में इतना समर्थन प्राप्त होते हुए भी उसके विरोधी कम नहीं थे। बूर्बों और ओर्लिएँ वंश के पक्षपाती अभी फ्रान्स में विद्यमान थे परन्तु उसके सबसे कट्टर शत्रु गणतन्त्रवादी लोग थे जिनके अनुयायी नगरों में लाखों की संख्या में थे और जो धोखे से गणतन्त्र की हत्या कर देने के उसके अपराध को सहन नहीं कर सकते थे तथा सदैव उसका विरोध करने के लिये उद्यत रहते थे।

कार्यक्रम— लुई नेपोलियन यह सब समझता था और वह महान् नेपोलियन के पद चिह्नों पर चल कर उसी प्रकार जनता का प्रेमपात्र बन जाना चाहता था। उसका कार्यक्रम पहले से ही निश्चित था। ३१ अक्टूबर १८४९ को उसने कहा था— "नेपोलियन का नाम स्वयं एक पूर्ण कार्यक्रम है। उसका अर्थ है—देश के अन्दर व्यवस्था, राजसत्ता (Authority), धर्म तथा लोक-कल्याण और देश के बाहर राष्ट्रीय गौरव।" उसको जनता ने निर्वाचित किया था। वह स्वयं अपने आपको जनता का समझता था और उसकी इच्छा पर अपने विशेषाधिकारों को छोड़ने के लिये तैयार था। वह यह आवश्यक समझता था कि आरम्भ में जनता उस राजनीतिक स्वतन्त्रता से वंचित रखी जाय जो उसके विचार में वाटरलू के बाद से फ्रांस के लिये अत्यन्त

अनिष्टकारी प्रमाणित हो चुकी थी । बाद में वह अपने विशेषाधिकारों को सीमित कर राष्ट्र को शासन में शामिल करने के लिये तैयार था । अपने शासन काल के आरम्भ में वह राजनीतिक स्वतन्त्रता का नाश करना नहीं, वरन् उसे केवल स्थगित करना चाहता था ताकि जनता को स्वशासन के साथ व्यवस्था और प्रगति को शामिल करने की कला की शिक्षा दी जा सके ।* वह कहता था कि साम्राज्य का अर्थ युद्ध नहीं, शान्ति है । ९ अक्टूबर १८५२ को बोर्दो में भाषण देते समय उसने अपने कार्यक्रम का बड़ा आकर्षक चित्र खींचा था—"महान् नेपोलियन के समान मुझे भी अनेक विजयें करनी हैं । उसके समान, मुझे महान् जन-सरिता की धारा में उन सब विरोधी छोटी-छोटी पार्श्ववर्ती धाराओं को शामिल करना है जिनकी प्रवृत्ति किसी को भी साथ लिए बिना नष्ट हो जाने की है । मुझे जनता के उस विशाल भाग को विजय करके धर्म, नैतिकता एवं समृद्धि के क्षेत्र में ले आना है जो धर्म एवं आस्था के देश में रहते हुए भी ईसा मसीह की शिक्षाओं से अनभिज्ञ है, संसार की सबसे उपजाऊ भूमि में रहते हुए भी अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति से भी वंचित है । हमें ऐसे विशाल भूमि-खण्ड को कृषि के काम में लाना है जो अभी तक काम में नहीं आया है, सड़कों का निर्माण करना है, बन्दरगाह तैयार करने हैं, नदियों को नाव्य बनाना है, नहरें समाप्त करना है और अपनी रेलों के जाल को पूरा करना है । मार्सेल्स के दूसरी तरफ़ एक विशाल प्रदेश है जो फ्रान्स के साथ एकीकरण की प्रतीक्षा कर रहा है । व्यापार की प्रगति को तेज़ करके हमें अपने पश्चिमी बन्दरगाहों को अमेरिका के निकट ले जाना है । हमें सर्वत्र खण्डहरों की मरम्मत करना है, झूठे देवताओं को निकालना है और सत्यों की विजय-मन्दिर में प्रतिष्ठा करनी है । यदि साम्राज्य की पुनः स्थापना आवश्यक है तो साम्राज्य से मेरा आशय इन्हीं बातों से है ।"†

इस प्रकार नेपोलियन ने जनता के सामने एक बड़ा आकर्षक कार्यक्रम रखा । वह समझता था कि उसका निर्वाचन उसके नाम के कारण हुआ है और जनता उससे नाम के अनुरूप कार्य की आशा करती है । उसकी स्थिरता सफलता पर निर्भर थी । जनता देश के अन्दर व्यवस्था तथा सुरक्षा की कामना करती थी और चाहती थी कि पहले योरोप में जो उसका प्राधान्य था—जो गौरव था—वह उसे पुनः प्राप्त हो ।‡ पिछले वर्षों में उसे इनमें से एक भी वस्तु प्राप्त नहीं हुई थी । साम्यवाद के बढ़ने से अराजकता का भय बढ़ रहा था और लुई फ़िलिप ने राष्ट्र के गौरव को बिलकुल गिरा

---

* Fisher : Bonapartism, pp. 143-144.

† Ibid., pp. 144-145.

‡ Hearnshaw : Main Currents of European History, p. 286.

दिया था। अतः नेपोलियन ने अपनी गृह्य तथा वाह्य नीतियों का जनता की आकांक्षा के अनुकूल निर्माण किया और कुछ वर्षों तक उसे सफलता भी प्राप्त हुई।

गृह्य नीति— जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, वह महान् नेपोलियन के समान समझता था कि फ्रेञ्च जनता स्वतन्त्रता की अपेक्षा सुशासन एवं व्यवस्था अधिक चाहती है। अतः उसने आरम्भ से ही जनता की राजनीतिक स्वतन्त्रता को दबा कर सुशासन एवं जनता की समृद्धि की आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिया। अपने चाचा के समान उसने निरंकुश शासन स्थापित किया परन्तु उसका शासन भी महान् नेपोलियन के शासन के समान उदार था और जनहित उसका लक्ष्य था। जो गणतन्त्रीय संविधान उसने १८५१ में जनता से स्वीकार करवाया था, उसे उसने क़ायम रखा। कहने को तो वह सार्वलौकिक मताधिकार के ऊपर आश्रित था परन्तु वास्तव में उस पर इतनी रुकावटें लगी हुई थीं कि लोग स्वतन्त्र निर्वाचन बिलकुल नहीं कर पाते थे। कार्यपालिका की समस्त शक्तियाँ उसके हाथों में थीं। सेना तथा नौ-सेना उसके अधिकार में थी, वही युद्ध अथवा शान्ति का निर्णय करता था, क़ानून का प्रस्ताव करना और उस पर अमल करवाना उसी का काम था। सारा शासन केन्द्रित था। मन्त्रियों को वह स्वयं नियुक्त करता था और वे उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। वे विधायिका के सदस्य नहीं होते थे और इस प्रकार उन पर विधायिका का कोई अंकुश नहीं था। समस्त शासन सम्राट् के आदेशानुकूल होता था। प्रान्तों में स्वशासन का चिह्न भी नहीं था। प्रिफ़ेक्ट, मेयर आदि समस्त कर्मचारी सम्राट् द्वारा नियुक्त होते थे और उसी के आदेशों का पालन करते थे। उसने बड़ी सुदक्ष पुलिस की व्यवस्था की जो अत्यन्त स्वेच्छाचारी थी और जनता की स्वतन्त्रता तथा समाचारपत्रों को कठोर नियन्त्रण में रखती थी। न्यायाधीश सम्राट् के आज्ञाकारी सेवक थे। विधायिका भी, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, एक अत्यन्त शक्तिहीन संस्था थी। इस प्रकार नेपोलियन फ़्रान्स का निरंकुश शासक था। क़ानूनी दृष्टि से तो उसकी शक्ति जनता की इच्छा पर आधारित थी क्योंकि उसका जनता ने निर्वाचन किया था, किन्तु वास्तव में उसका आधार सेना थी।*

इस प्रकार समस्त शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित करके उसने निरंकुश शासन आरम्भ किया। उसने समाचारपत्रों पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये, साम्यवादियों का अत्यन्त कठोरता से दमन किया और उसके जितने विरोधी थे, उन्हें या तो कारागार में डाल दिया या देश से निर्वासित कर दिया। उसने इस प्रकार कठोर शासन किया, परन्तु इसके साथ ही उसने उग्र-पन्थियों तथा प्रतिक्रियावादियों दोनों को सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न भी किया। उग्र-पन्थियों को तो उसने सार्वलौकिक मताधिकार के दिखावे से

* Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, pp. 31-32.

सन्तुष्ट रखा और प्रतिक्रियावादियों को अपने दरबार की शान-शौक़त से मुग्ध कर लिया।*

आर्थिक क्षेत्र में उसने अपने पूर्ववर्ती मध्यमवर्गीय एकतन्त्र की नीति जारी रखी और व्यवसाय-प्रधान मध्यम वर्ग के हित में आर्थिक उदारवाद की नीति का प्रयोग किया। उसने निजी व्यवसायों पर सरकारी नियन्त्रण धीरे-धीरे कम कर दिया और व्यवसाय एवं व्यापार को प्रोत्साहन दिया। कारखानों की उन्नति में उसने सहायता की, सेविंग्ज बैंक की व्यवस्था की और आयात-कर धीरे-धीरे कम करके तथा १८६० में इङ्गलैण्ड के साथ एक व्यापारिक सन्धि करके दोनों के बीच मुक्त व्यापार को प्रोत्साहित किया। अनेकों नये बैंक खोले गये जिससे व्यवसायों को पूँजी मिलना सरल हो गया। रेलों, सड़कों, नहरों आदि का निर्माण किया गया, जिससे मज़दूरों को काम मिला और व्यापार-व्यवसाय को भी प्रोत्साहन मिला। जङ्गलों का विकास किया गया, दलदलों को सुखाने की व्यवस्था की गई, नदियों पर पुल बनाये गये और अनेक सार्वजनिक भवनों का निर्माण किया गया। विशेषकर उसने पेरिस को बड़ी-बड़ी चौड़ी सुन्दर सड़कों तथा भव्य-भवनों का निर्माण करके संसार का सबसे सुन्दर एवं आकर्षक नगर बना दिया।

व्यावसायिक मज़दूरों को सन्तुष्ट करने का भी उसने उद्योग किया। वह अपने आपको 'मज़दूरों का सम्राट्' कहने में गर्व करता था। उनके हित में उसने कुछ क़ानून बनाये और उनका कुछ हित भी किया, किन्तु इतना ही जिससे वे प्रोत्साहित हों और साथ ही मध्यमवर्गीय उदारवादी लोग अप्रसन्न न हों। सामूहिक क्रय-विक्रय के लिये उसने मज़दूरों को सहकारी समितियाँ खोलने की अनुमति दी, ट्रेड यूनियनों का क़ानूनी रूप स्वीकार किया और मज़दूरों को हड़ताल करने का अधिकार भी प्रदान किया। मृत्यु तथा आकस्मिक घटनाओं के लिये राज्य की गारण्टी सहित ऐच्छिक बीमे की भी उनके लिये व्यवस्था की गई।

कृषकों के हित का भी उसे ध्यान था। कृषि की शिक्षा के लिये उसने कृषि-विद्यालय स्थापित किये, अच्छे अनाज, फल तथा पशुओं के प्रदर्शन तथा उनके लिये पारितोषिक देने की व्यवस्था की, कृषि-सभाओं का सङ्गठन किया और भाँति-भाँति के उपायों से कृषि की उन्नति का प्रयत्न किया गया जिसके परिणाम-स्वरूप उसके समय में फ्रान्स ने कृषि में बहुत उन्नति की और किसानों की दशा में बहुत सुधार हुआ।

इस प्रकार नेपोलियन ने जनता के सभी वर्गों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया

---

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 130.

श्रौर जनहित के कार्यों द्वारा राजनीतिक स्वतन्त्रता की हानि का प्रतिकार किया। प्रथम नेपोलियन के मञ्च पर आने के बाद से पहली बार ऐसा मालूम होता था कि फ्रान्स में ऐसी सरकार थी जो दलीय झगड़ों से ऊपर उठ कर राष्ट्र के विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक हितों में सामञ्जस्य स्थापित कर सकती थी। उसने बोर्दों के भाषण में किये हुए बहुत से वायदे पूरे कर दिये थे।*

इस प्रकार अपने साम्राज्य के प्रथम वर्षों में जनता को जो उससे आशाएं थीं उन्हें वह सन्तुष्ट करने में सफल हुआ। अपनी बाह्य नीति में भी, जैसा हम आगे देखेंगे, उसे सफलता मिली। परन्तु १८६० के आस-पास उसकी स्थिति में कमजोरी आने लगी। उसने आरम्भ में ही पोप की सहायता करके और केथोलिक पादरियों को शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार पुनः प्रदान करके देश की बहुसंख्यक केथोलिक जनता को सन्तुष्ट कर लिया था परन्तु १८५९ में, जैसा हम आगे देखेंगे, उसने इटली के स्वातन्त्र्य-संग्राम में सार्डिनिया के राजा की केथोलिक आस्ट्रिया के विरुद्ध सहायता की। सार्डिनिया के नेतृत्व में इटली की स्वतन्त्रता का अर्थ था पोप की लौकिक शक्ति का विनाश। इसको देखकर फ्रान्स की केथोलिक जनता नेपोलियन का विरोध करने लगी। इसके अतिरिक्त उसने इङ्गलैण्ड से व्यापारिक सन्धि करके वहां से आनेवाली वस्तुओं पर कर कम कर दिया था, जिससे फ्रान्स का व्यापारी वर्ग भी असन्तुष्ट हो गया। इस प्रकार सम्राट् को दो प्रबल वर्गों के विरोध का सामना करना पड़ा, अतः उसे सहायता के लिये अन्य वर्गों की ओर मुड़ना पड़ा। वह स्वयं आगे चल कर जनता को राजनीतिक अधिकार लौटा देने का विचार प्रकट कर चुका था। उसके सलाहकारों ने भी यही सलाह दी और १८६० में उसने सीनेट तथा विधान-सभा को वर्ष में एक बार साम्राज्य की नीति पर बहस करने तथा उसकी आलोचना करने का अधिकार देकर उत्तरदायी शासन की ओर पहला क़दम उठाया। पहले पूरे बजट पर एक साथ मत लिया जाता था, अब उसको अलग-अलग मदों पर मत देने का अधिकार विधान-सभा को मिल गया। १८६७ में मन्त्रियों से प्रश्न पूछने का अधिकार भी उसे प्राप्त हो गया और अगले वर्ष समाचारपत्रों तथा छापाखानों पर से बहुत से नियन्त्रण हटा लिये गये और सार्वजनिक सभाएं करने की अनुमति भी दे दी गई। परन्तु ऐसा मालूम होता था मानो सम्राट् ने राष्ट्र के बढ़ते हुए विरोध से दब कर ये सब रियायतें दी हैं और उनसे जनमत सन्तुष्ट न हो सका। उल्टे, उसके शत्रुओं ने उन सब रियायतों को उसके पतन का साधन बना लिया। उस समय तक सम्राट् की परराष्ट्र-नीति

---

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 131.

भी गौरवपूर्ण नहीं रही थी। निदान देश के विभिन्न असन्तुष्ट तत्वों—बूर्बों वंश के समर्थकों, श्रोर्लिएँ वंश के समर्थकों, उदारवादियों, गणतन्त्रियों, केथोलिकों एवं संरक्षणवादियों (Protectionists)—के सम्मिलित विरोध के सामने नेपोलियन का स्वेच्छाचारी शासन डगमगाने लगा। विरोध बढ़ गया और अन्त में अपनी परराष्ट्र-नीति की भयंकर भूलों के कारण उसका पतन हो गया।

अध्याय २६

तृतीय नेपोलियन—परराष्ट्र-नीति—क्रीमियन युद्ध

परराष्ट्र-नीति – सम्राट् बनने के पहले नेपोलियन ने साम्राज्य का अर्थ शान्ति बतलाया था परन्तु उसके कार्यक्रम का एक अंग राष्ट्रीय गौरव भी था और वह अपने परराष्ट्र-सम्बन्धों में दृढ़ एवं उत्साह-सम्पन्न नीति को अपना कर फ़ान्स की राष्ट्रीय गौरव-भावना के सन्तोष का महत्व अच्छी तरह समझता था। वह जानता था कि नेपोलियन के नाम से जिन राष्ट्रीय-गौरव सम्बन्धी भावनाओं को उसने जागृत किया था, वे यदि सन्तुष्ट नहीं हुईं और योरोपीय राजनीति में फ़ान्स को पुनः प्रतिष्ठित पद पर आसीन न कर सका तो जनता उसके समस्त भौतिक उपकारों को भूल कर उससे असन्तुष्ट हो जायगी और उसका साम्राज्य स्थिर न रह सकेगा। वह लुई फ़िलिप की भाँति अत्यधिक शान्तिप्रिय नीति का अवलम्बन करके अपना पतन नहीं चाहता था। उसने अंग्रेज़ राजदूत से कहा था "मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि फ़ान्स की आन्तरिक प्रवृत्तियाँ सैनिक एवं प्राधान्य-प्रिय हैं और उनको सन्तुष्ट करने का मेरा दृढ़ निश्चय है।"* परन्तु स्वभावतः वह शान्तिप्रिय था। उसमें जन्मजात सैनिक का जोश नहीं था; उसे बारूद की गन्ध तथा रक्त से घृणा थी। वह शस्त्रों का प्रदर्शन पसन्द करता था परन्तु उनका प्रयोग करने में झिझकता था; वह वास्तव में भीरु था।† स्थिति देखते हुए उसके लिये बड़ी सावधानी से चलना आवश्यक था। महान् नेपोलियन और उसके साम्राज्य की स्मृतियाँ अभी लोगों के मस्तिष्क से मिटी नहीं थीं। १८१५ में योरोपीय राज्यों ने फ़ान्स के सिंहासन से नेपोलियन के वंश को दूर रखने का निश्चय किया था और इस प्रकार उसकी स्थिति वियना-व्यवस्था के विपरीत थी। वह अपनी ओर से योरोप में किसी प्रकार का सन्देह उत्पन्न नहीं करना चाहता था और यह बात शान्ति द्वारा ही हो सकती थी। फ़ान्स की भौतिक समृद्धि के लिये भी शान्ति आवश्यक थी। परन्तु उसके साथ फ़ान्स की गौरव-कामना को पूर्ण करने के लिये युद्ध अनिवार्य था। वह राष्ट्रीयतावादी था और योरोप के दलित राष्ट्र अपने उद्धार के लिये उसी प्रकार उसका मुँह ताकते थे, जिस प्रकार पहले प्रतिक्रियावादी लोग मेटरनिख की ओर

---

* Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 36.

† Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 132.

ताकते थे। वह स्वयं भी समझता था कि बाहर राष्ट्रीयता की सहायता करने से फ़ान्स की प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी और सहायता के बदले कुछ प्रदेश भी फ़ान्स को प्राप्त हो सकेंगे जिससे जनता में देशाभिमान बढ़ सकेगा और उसके साम्राज्य को स्थिरता प्राप्त हो सकेगी। इस प्रकार जिस रीति से उसने सत्ता प्राप्त की थी और जिस नीति के अनुसार वह सत्ता को पकड़े रहना चाहता था, उन दोनों के कारण उसके लिये एक प्रदर्शनप्रिय एवं उत्साह-सम्पन्न आक्रामक बाह्य नीति का अवलम्बन आवश्यक था। इस कारण उसने केथोलिक धर्म तथा राष्ट्रीयता का समर्थक बन कर योरोपीय राजनीति में प्रमुख भाग लेना आरम्भ किया।

पोप की सहायता—हम ऊपर देख चुके हैं कि राष्ट्रपति पद पर आसीन होने के बाद शीघ्र ही उसने मेज़िनी के रोमन गणतन्त्र को पलट कर पोप को पुनः सिंहासन पर बिठलाया था (१८४९) जिससे उसे कई प्रकार से लाभ पहुंचा था—फ़ान्स की केथोलिक जनता तथा शक्तिशाली पादरी वर्ग को इस कार्य से बड़ा सन्तोष हुआ, सेना को विजय-गर्व की अनुभूति का अवसर मिला और जनमत यह देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ कि फ़ान्स योरोपीय राजनीति में अपना उचित स्थान लेने के लिये आगे बढ़ रहा है। किन्तु आरम्भ में ही उसकी नीति का अन्तर्विरोध प्रकट हो गया। वह केथोलिक धर्म तथा राष्ट्रीयता दोनों का समर्थन करना चाहता था परन्तु ये दोनों बातें इस मामले में साथ-साथ असम्भव थीं। उसने केथोलिक मत की तो सहायता की परन्तु ऐसा करने में उसे राष्ट्रीयता की शक्ति का विरोध करना पड़ा।

क्रीमिया का युद्ध

तुर्क साम्राज्य के ईसाई तीर्थस्थानों का प्रश्न—इसके अगले वर्ष ही उसने केथोलिकों को प्रसन्न करने तथा उनका समर्थन प्राप्त करने के लिये तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत पेलेस्टाइन में स्थित जेरूसलम तथा बेथलेहम के ईसाई तीर्थस्थानों को पुनः लेटिन साधुओं के अधिकार में लाने के लिये टर्की के सुल्तान को लिखा। १५३५ की एक सन्धि के अनुसार टर्की के सुल्तान ने फ़्रेञ्च व्यापारियों को अपने साम्राज्य में कई विशेषाधिकार दिये थे, जो फ़्रेञ्च लोग वहाँ बसते थे उन्हें पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी, पवित्र ईसाई तीर्थस्थानों की सालसम्हाल तथा उनके संरक्षण का अधिकार भी फ़्रेञ्च केथोलिक पादरियों को सौंपा गया था और टर्की के साम्राज्य में होते हुए भी इन सब पर फ़ान्स का संरक्षण स्वीकार किया गया था। इस सन्धि की बाद में १५८१, १५८७, १६०७ तथा १७४० में पुष्टि की गई थी और इस प्रकार टर्की के साम्राज्य में फ़ान्स की एक विशिष्ट स्थिति थी।* रोमन केथोलिक (लेटिन)

* Ketelbey : A History of Modern Times, p. 203.

साधुओं के अतिरिक्त ग्रीक चर्च के साधु भी तुर्क साम्राज्य में रहते थे जो उसी प्रकार रूस के ज़ार के संरक्षण में रहे आये परन्तु क्रान्ति के समय से फ्रान्स को इस मामले में कोई रुचि नहीं रही, लेटिन साधु भी अपने कर्तव्य-पालन में ढील करने लगे और धीरे-धीरे ईसाई तीर्थस्थानों पर ग्रीक चर्च के साधुओं का अधिकार हो गया। १८५० में लुई नेपोलियन ने, जो अपने चाचा के समान समझता था कि गौरव पूर्व दिशा से प्राप्त होता है, केथोलिक दल को प्रसन्न करने के लिये इस ओर ध्यान दिया और टर्की के सुलतान को लेटिन साधुओं को उनके प्राचीन अधिकार लौटा देने के लिये लिखा। इसमें उसे कई लाभ दिखाई देते थे। उसने सोचा कि इस कार्य से प्राचीन धर्म-युद्धों के समय की परम्पराएं पुनः जाग्रत होंगी और ग्रीक चर्च के साधुओं से होनेवाले संघर्ष के कारण उनके संरक्षक रूस के ज़ार से युद्ध छिड़ गया तो मॉस्को की पराजय तथा १८४० के लुई फ़िलिप के समय के राष्ट्रीय अपमान का बदला लेने का बड़ा सुन्दर मौक़ा हाथ लगेगा।* १८५२ में उसने अपनी माँग फिर दुहराई और ऑस्ट्रिया तथा अन्य केथोलिक राजाओं ने भी उसका समर्थन किया। इस पर कुछ हीलाहवाला करने के बाद सुलतान ने नेपोलियन की माँग स्वीकार कर ली।

रूस का हस्तक्षेप—परन्तु इस बात से ज़ार निकोलस बड़ा रुष्ट हुआ, उसने ग्रीक साधुओं का समर्थन किया और उनके अधिकार उन्हें वापिस देने के लिये सुलतान को लिखा। सुलतान की स्थिति बड़ी कठिन हो गई परन्तु उसने एक चाल खेली। उसने एक पत्र तो फ्रेन्च राजदूत को लेटिन साधुओं को दिये हुए अधिकारों की पुष्टि करते हुए लिखा और जेरूसलम के प्रमुख ग्रीक साधु को भी एक फ़र्मान प्रदान किया। दोनों लेखों की भाषा भिन्न थी। फ़ान्स तो सन्तुष्ट हो गया परन्तु निकोलस को इससे सन्तोष नहीं हुआ। उसने मार्च १८५३ में अत्यन्त उद्धत स्वभाववाले कूटनीतिज्ञ मेन्शिकॉफ़ (Prince Menschikoff) को विशेष दूत नियुक्त कर कॉन्स्टेण्टीनोपल भेजा और उसके द्वारा तीर्थस्थानों के सम्बन्ध में पूर्णतया सन्तोषप्रद व्यवस्था की ही माँग नहीं की, बल्कि केनार्डजी की सन्धि के आधार पर समस्त तुर्क साम्राज्य में जितने ग्रीक चर्च के अनुयायी थे उन पर ज़ार के संरक्षण की माँग की।

निकोलस की नीति—इस समय निकोलस ने टर्की के साम्राज्य को बनाये रखने की नीति का त्याग कर उसे समाप्त करने की नीति अपना ली थी। उसे अपनी योजनाओं में इंगलैण्ड के सहयोग की आशा थी। १८४४ में वह इंगलैण्ड गया था और उसने लॉर्ड एबर्डीन से टर्की के साम्राज्य के अङ्ग-भङ्ग का प्रस्ताव भी किया था जिसमें इंगलैण्ड का भाग इजिप्ट रखा गया था। उसका विचार था कि एबर्डीन ने उसकी योजना स्वीकार

---

* Marriott : The Eastern Question, pp. 93-142.

कर ली थी।* जनवरी १८५३ में उसने सेण्टपीटर्सबर्ग में स्थित अंग्रेज़ी राजदूत हेमिल्टन सेमूर से भी इसी योजना पर बातचीत की। परन्तु इङ्गलैण्ड को यह योजना स्वीकार नहीं थी। वह टर्की के साम्राज्य को उतना निर्बल नहीं समझता था जितना निकोलस, और उसे बनाये रखना चाहता था। वह निकोलस की ईसाइयों के संरक्षण की माँग का भी समर्थन नहीं कर सकता था, क्योंकि उसे भय था कि निकोलस इस स्थिति से आगे बढ़कर योरोपीय टर्की पर अधिकार कर लेगा, जिससे पूर्वी भूमध्य-सागर में ब्रिटिश व्यापार को तथा भारत को जानेवाले मार्ग को भयङ्कर खतरा उत्पन्न हो जायगा। इधर कुछ दिनों से इङ्गलैण्ड का फ्रान्स से भी सम्बन्ध अच्छा था जिसकी टर्की-सम्बन्धी नीति भी इङ्गलैण्ड जैसी ही थी। उसने ऑस्ट्रिया तथा फ्रान्स को छोड़कर किये जानेवाले समझौते पर आपत्ति की और बड़ी शिष्टता किन्तु दृढ़ता के साथ ज़ार की योजना को अस्वीकार कर दिया।†

मेन्शिकाफ़ ने बड़ी उद्धतता के साथ अपनी माँग पेश की। इस समय कॉन्स्टेण्टीनोपल में इङ्गलैण्ड का राजदूत स्ट्रेटफोर्ड रेडक्लिफ़ (Stratford de Redcliffe) था जिसका सुल्तान पर बड़ा प्रभाव था। वह स्वयं रूस से बहुत नाराज़ था। उसकी सलाह से सुल्तान ने तीर्थस्थानों के सम्बन्ध में तो रूस को रियायतें दे दीं परन्तु दूसरी माँग को ठुकरा दिया। इस पर क्रुद्ध होकर और इस निर्णय का विरोध करके मेन्शिकॉफ़ और उसके साथ ही रूसी दूतावास के लोग कॉन्स्टेण्टीनोपल छोड़कर चले गये (मई १८५३)। ऐसा मालूम होने लगा मानो युद्ध छिड़कर ही रहेगा।

तुर्की साम्राज्य में रूसी सेनाओं का प्रवेश—यह आशंका शीघ्र ही सत्य हो गई। रूस की सेना जुलाई १८५३ में प्रुथ नदी को पार कर तुर्की साम्राज्य में घुस पड़ी और उन्होंने मोल्डेविया तथा वालेशिया प्रान्तों पर अधिकार कर लिया। इससे स्थिति काफ़ी गम्भीर हो गई, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता था कि युद्ध छिड़ गया क्योंकि इन प्रदेशों में रूस को कुछ अधिकार प्राप्त थे। ज़ार ने योरोपीय राज्यों को सूचना दी कि इन प्रान्तों पर अधिकार करने का अर्थ युद्ध नहीं, वरन् अपनी न्याय-युक्त माँग की पूर्ति के लिये गारण्टी प्राप्त करना था।

इंगलैण्ड और फ्रान्स का रुख—इङ्गलैण्ड, फ्रान्स तथा ऑस्ट्रिया इस स्थिति को बड़े ध्यानपूर्वक देख रहे थे। रूसी सेनाओं द्वारा प्रुथ नदी पार किये जाने की सूचना के साथ ही इङ्गलैण्ड तथा फ्रान्स का सम्मिलित बेड़ा बेसिका की खाड़ी को रवाना किया जा चुका था और इङ्गलैण्ड का विदेश मन्त्री पामर्स्टन तो यह प्रकट

* Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 213.

† Marriott : The Eastern Quesion, p, 259.

करने के लिए कि इङ्गलैण्ड रूस की इन हरकतों को सहन करने को बिलकुल तैयार नहीं था, इस सम्मिलित बेड़े को कालेसागर तक में भेज देने को तैयार था। नेपोलियन को, जैसा हम देख चुके हैं, युद्ध से कई स्पष्ट लाभ दिखाई दे रहे थे और इसी दृष्टि से उसने अपना बेड़ा इंगलैण्ड के बेड़े के साथ टर्की को 'नैतिक' समर्थन प्रदान करने के लिये पूर्व की ओर रवाना कर दिया था। ऑस्ट्रिया को भी इस मामले में दिलचस्पी थी क्योंकि यह संघर्ष उसके बिलकुल निकट हो रहा था और ऐसे प्रदेश में हो रहा था जिस पर उसकी आँखें लगी हुई थीं।

युद्ध रोकने के प्रयत्न—नेपोलियन तो युद्ध चाहता था परन्तु इंगलैण्ड का प्रधान मन्त्री एवर्डीन युद्ध से झिझकता था और ऑस्ट्रिया भी युद्ध को रोकना चाहता था। अतः इङ्गलैण्ड, फ्रान्स, ऑस्ट्रिया तथा प्रशा के प्रतिनिधियों का जुलाई १८५३ में वियना में एक सम्मेलन हुआ और सर्वसम्मति से एक पत्र रूस तथा टर्की दोनों को भेजा गया जिसके द्वारा दोनों से 'ईसाई मत के संरक्षण से सम्बन्धित' केनार्डजी तथा एड्रियानोपोल की सन्धियों की भाषा एवं उनके भावों को स्वीकार करने का अनुरोध किया गया। वियना में एकत्रित राजनीतिज्ञों का विश्वास था कि इस प्रकार समस्या हल हो जायगी। परन्तु समस्या हल न हुई। रूस का पहले से दावा था कि उन सन्धियों के अनुसार ईसाइयों के संरक्षण का अधिकार उसी का था और इस पत्र में यही आशय समझ कर उसने उसे स्वीकार कर लिया। परन्तु वास्तव में पत्र की भाषा संदिग्ध थी। अंग्रेज़ राजदूत स्ट्रेटफ़ोर्ड रेडक्लिफ़ ने सुल्तान से पत्र का आशय स्पष्ट करवाने का आग्रह किया और उसके प्रभाव में उसने 'संरक्षण' के साथ 'सुलतान द्वारा' जोड़ कर पत्र को स्वीकार कर लिया। रूस ने इस संशोधन को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया परन्तु स्ट्रेटफ़ोर्ड के प्रोत्साहन पर सुल्तान अड़ गया और जो समस्या यदि सुलझती नहीं तो स्थगित अवश्य हो जाती वह और भी तीव्र हो गई और युद्ध अवश्यम्भावी दिखाई देने लगा। इस परिस्थिति को उत्पन्न करने की ज़िम्मेदारी स्ट्रेटफ़ोर्ड की थी।*

रूस के विरुद्ध युद्ध का प्रारम्भ—सुल्तान को इंगलैण्ड तथा फ़्रान्स की सहायता की पूर्ण आशा थी और उनकी सहायता से वह रूस की धमकी को समाप्त कर देने की आशा करता था। उसने रूस को मोल्डेविया तथा वोलेशिया खाली कर देने को कहा और युद्ध छेड़ दिया (अक्टूबर १८५३)। इंगलैण्ड तथा फ़ान्स का सम्मिलित बेड़ा टर्की को नैतिक सहायता देने के लिये डार्डेनेलीज के जल-संयोजक में घुस गया और जब वह कॉन्स्टेण्टीनोपल के निकट था उसी समय रूसी बेड़े ने साइनोप के निकट टर्की के बेड़े पर आक्रमण करके उसे नष्ट कर दिया। इंगलैण्ड और फ़्रान्स में रूस की कार्यवाही पर क्रोध बढ़ता जा रहा था। इङ्गलैण्ड में इस समय पामर्स्टन का प्रभाव

---

* Marriott : The Eastern Question, p. 293.

बढ़ रहा था। 'साइनोप के हत्याकाण्ड' पर जनमत उबल पड़ा और रूस के विरुद्ध, जिससे भारत में ब्रिटिश हितों को खतरा था युद्ध छेड़ने की मांग जोरदार हो गई। परन्तु ऐबर्डीन अब भी झिझक रहा था। नेपोलियन टर्की की सहायता करना चाहता था परन्तु इंगलैण्ड के सहयोग के बिना आगे बढ़ना नहीं चाहता था। जनवरी १८५४ के प्रारम्भ में इंगलैण्ड तथा फ्रान्स का सम्मिलित बेड़ा काले सागर में प्रवेश कर गया। इस समय नेपोलियन ने भी युद्ध रोकने की दृष्टि से निकोलस को स्वयं एक व्यक्तिगत पत्र लिखा जिसमें उसने यह प्रस्ताव किया कि रूसी सेना टर्की के प्रदेशों से हट जाय और इंगलैण्ड तथा फ्रान्स का बेड़ा काले सागर से हट जाय, जिसके बाद सन्धि के लिये बातचीत आरम्भ हो। परन्तु निकोलस ने बड़ी हेकड़ी से उत्तर दिया कि 'रूस यह प्रमाणित कर देगा कि वह १८५४ में भी वैसा ही है जैसा १८१२ में था।'* इस उत्तर से शान्ति की आशा मिट गई और मार्च १८५४ में फ्रान्स तथा इंगलैण्ड ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। आॅस्ट्रिया और प्रशा तटस्थ रहे। निकोलस को आशा थी कि पुराने उपकारों के बदले में आॅस्ट्रिया उसका साथ अवश्य देगा परन्तु उसने श्वार्जेनबर्ग की यह भविष्यवाणी सत्य करदी कि आॅस्ट्रिया अपनी कृतघ्नता से संसार को चकित कर देगा।† वह केवल तटस्थ ही नहीं रहा, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, उसने कई बार रूस को धमकाया और उसके साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार भी किया।

आॅस्ट्रिया का रुख—रूसी सेनाओं ने २३ मार्च को वालेशिया से बढ़कर डेन्यूब नदी को पार किया और सिलिस्ट्रिया का घेरा डाला, परन्तु तुर्की सेनाओं ने बड़ी दृढ़ता से उनका विरोध किया और रूसी सेनाएं सिलिस्ट्रिया न ले सकीं। मई के अन्त में अंग्रेज़ी और फ्रेन्च सेनाएं तुर्की सेनाओं की सहायता करने के लिये वार्ना में उतरीं और आगे बढ़ने लगीं। इसके एक सप्ताह के अन्दर ही आॅस्ट्रिया ने रूस से मोल्डेविया तथा वालेशिया से अपनी सेना हटाने की मांग की। निकोलस को ऐसी स्थिति में दबना पड़ा। रूसी सेनाओं ने सिलिस्ट्रिया से हट कर डेन्यूब नदी को पार किया और धीरे-धीरे दोनों प्रदेश खाली कर दिये। ज्योंही उन प्रदेशों से रूसी सेनाएं हटीं त्योंही आॅस्ट्रिया ने टर्की से बातचीत करके वहां अपनी सेनाएं भेज दी।

मोल्डेविया और वालेशिया से रूसी सेनाओं के हट जाने के बाद युद्ध बन्द हो जाना चाहिये था क्योंकि युद्ध का कारण रूस द्वारा इन प्रदेशों पर अधिकार कर लेना ही था परन्तु मित्र-राष्ट्र इतने से ही सन्तुष्ट न होकर उसे नीचा दिखाना चाहते थे।

---

* Rene Arnaud : The Second Republic and Napoleon III, pp. 96-97.

† Ketelbey : A History of Modern Times, p. 206.

उन्होंने रूस के सामने चार प्रस्ताव रखे और उन्हें स्वीकार करने का उसे आदेश दिया—(१) मोल्डेविया तथा वालेशिया के प्रदेशों पर रूस का संरक्षण समाप्त कर दिया जाय, (२) डेन्यूब नदी में सब राष्ट्रों के जहाज़ निर्बन्ध आ-जा सकें, (३) टर्की को (जो अभी तक अयोरोपीय एवं असभ्य समझा जाता था) योरोपीय राज्य-समाज में सम्मिलित किया जाय और (४) रूस टर्की के ग्रीक चर्च की अनुयायिनी प्रजा पर अपने संरक्षण का अधिकार त्याग दे। रूस को इन माँगों को स्वीकार करने में संकोच हुआ और बड़े हीले-हवाले के बाद नवम्बर में उसने अपनी स्वीकृति दी; परन्तु इंगलैण्ड और फ्रान्स उतनी देर सहन न कर सके और उन्होंने सितम्बर में ही अपनी सेनाएँ वार्ना से क्रीमिया प्रायद्वीप को सिवेस्टोपोल पर अधिकार करने के लिये लॉर्ड रेगनल तथा सेण्ट अर्नोद (St. Arnaud) के नेतृत्व में रवाना कर दी।

क्रीमिया पर आक्रमण—सेनाएँ १४ सितम्बर को यूपेटोरिया में उतरीं। २० सितम्बर को आलमा की लड़ाई में रूसी सेना हारी और सिबेस्टोपोल के गढ़ का

रास्ता आक्रामकों के लिये खुल गया। यदि सेनाएँ दृढ़ता के साथ रूसी सेना का पीछा करतीं तो गढ़ उनके हाथों में आ जाता परन्तु ऐसा नहीं हुआ। उन्होंने देर की और

* Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 215.

अन्त में गढ़ का घेरा डाला। इस देरी का रूसी जनरल टोडलबेन (Todleben) ने लाभ उठाया और गढ़ की रक्षा की पूरी तैयारी कर ली। इतने ही में जाड़ा बढ़ गया और अंग्रेजों तथा फ्रेञ्च सेनाओं को सर्दी के साथ-साथ रसद, औषधि आदि के कुप्रबन्ध से बड़ी परेशानी होने लगी। रूसियों ने दो बार घेरा तोड़ने का प्रयत्न किया, परन्तु दोनों बार—२५ अक्टूबर को बेलाक्लावा की लड़ाई में और ५ नवम्बर को इन्करमैन की लड़ाई में—बुरी तरह से हारे। अंग्रेजी और फ्रेञ्च सेना की भी भारी हानि हुई। टोडलबेन शत्रुओं के आक्रमणों का मुक़ाबला करता रहा और गढ़ की रक्षा करता रहा। १४ नवम्बर को समुद्र में एक भारी तूफ़ान उठा जिससे बेलाक्लावा के बन्दरगाह में अंग्रेजों के कई सामान ढोनेवाले जहाज़ नष्ट हो गये। जाड़े भर अंग्रेजी और फ्रेञ्च सेनाएँ भयङ्कर कष्ट उठाती रहीं। रसद का पहुँचना बन्द हो गया और बीमारी फैलने लगी। घायलों एवं बीमारों की देखभाल का कोई प्रबन्ध नहीं था। अस्पतालों में घायलों तथा बीमारों की भीड़ लगी हुई थी, उनके लिये न कपड़ों की, न दवाई की, न बिस्तर की और न ठीक-ठीक खानेपीने की ही व्यवस्था थी। सफ़ाई का तो नाम भी न था। इसी दशा में हैज़ा फैल गया और असंख्य लोग बेमौत मरने लगे। परन्तु धीरे-धीरे स्थिति सुधरने लगी। इङ्गलैण्ड में फ़्लोरेन्स नाइटिंगेल (लालटेनवाली महिला) अपने स्वयंसेवकों सहित पहुँची और उसने बीमारों एवं घायलों की सेवा का प्रबन्ध किया। लॉर्ड एबर्डीन के स्थान पर पामर्स्टन प्रधान मन्त्री बना और उसने ठीक-ठीक व्यवस्था की। जनवरी १८५५ में सार्डीनिया के राजा द्वितीय विक्टर इमेन्युएल ने भी रूस से युद्ध छेड़ कर १८,००० सैनिक अंग्रेजी और फ्रेञ्च सेनाओं की सहायता के लिये भेजे जो बड़े अच्छे मौक़े पर पहुँचे।

निकोलस की मृत्यु—मार्च १८५५ में ज़ार प्रथम निकोलस की मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर द्वितीय एलेक्ज़ेण्डर ज़ार बना। वह शान्तिप्रिय था और शीघ्र ही सन्धि कर लेता परन्तु फ्रेञ्च और अंग्रेजी सेनाएँ सिवेस्टोपोल पर अधिकार करने पर तुली हुई थीं। बसन्त आने पर युद्ध की सरगर्मी फिर से शुरू हो गई। सिवेस्टोपोल पर अधिकार करने के लिये अंग्रेजी सेना ने रीडन और फ्रेञ्च सेना ने मेलेक्रॉफ पर आक्रमण किया परन्तु रूसियों ने दोनों आक्रमणों को विफल कर दिया (१८ जून)। अगस्त में रूसियों ने आक्रमण किया परन्तु सार्डीनिया की सेना ने उन्हें मार भगाया। इसी बीच में अंग्रेजी और फ्रेञ्च दोनों सेनाओं के कमाण्डर बदल गये। सितम्बर मे फिर आक्रमण हुआ। फ्रेञ्च सेनाओं ने मेलेकॉफ़ पर अधिकार कर लिया। अंग्रेज़ों ने भी रीडन तो ले लिया पर वे पीछे हटा दिये गये। किन्तु अब सिवेस्टोपोल की रक्षा असम्भव हो गई। रूसियों ने अपने बारूद में आग लगा दी और गढ़ छोड़ दिया (१० सितम्बर)।

युद्ध का अन्त—नेपोलियन फ्रेञ्च सफलता से सन्तुष्ट होकर अब सन्धि करने के लिये उत्सुक था। उधर रूस ने एशिया में टर्की से कार्स नामक प्रदेश छीन लिया था जिससे उसे अपमानजनक सन्धि करने पर विवश किये जाने का भय न रहा। इसी समय ऑस्ट्रिया ने दोनों पक्षों को मान्य सन्धि कराने का प्रस्ताव किया। दोनों पक्षों ने प्रस्ताव स्वीकार किया और युद्ध बन्द हो गया।

पेरिस की सन्धि—सन्धि-सम्मेलन पेरिस में हुआ जहाँ ३० मार्च को सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। उसके अनुसार (१) टर्की के सुल्तान ने अपनी ईसाई प्रजा के विशेषाधिकारों की पुनः पुष्टि की और रूस सहित सभी सत्ताओं ने सुल्तान तथा उसकी प्रजा के बीच हस्तक्षेप करने का अधिकार त्याग दिया; (२) टर्की योरोपीय राज्यमण्डल में सम्मिलित कर लिया गया अर्थात् उसकी गणना योरोप के बड़े राज्यों में होने लगी और सभी सत्ताओं ने उसे उसके साम्राज्य की स्वतन्त्रता की गारण्टी दी; (३) मोलडेविया तथा वालेशिया पर से रूस का संरक्षण समाप्त कर दिया गया; इन प्रदेशों पर टर्की की संप्रभुता बनी रही और सब सत्ताओं ने उसके विशेषाधिकारों की गारण्टी दी; (४) सर्बिया की स्वतन्त्रता की भी इसी प्रकार गारण्टी दी गई; (५) डेन्यूब नदी में सभी देशों के जहाजों का यातायात निर्बन्ध हो गया और बेसरेबिया का प्रदेश मोलडेविया को देकर रूस को डेन्यूब नदी के किनारे से हटना स्वीकार करना पड़ा; (६) कार्स का प्रदेश टर्की को तथा क्रीमिया रूस को वापस मिल गया और (७) काला सागर तटस्थ बना दिया गया। उसमें किसी भी देश के, यहाँ तक कि रूस तथा टर्की के भी, लड़ाई के जहाजों का आना-जाना निषिद्ध ठहराया गया और उसके तट पर शस्त्रागारों के निर्माण का निषेध कर दिया गया।*

युद्ध में भाग लेनेवाले विभिन्न राज्यों के उद्देश्य—इस प्रकार साधुओं के अधिकार के प्रश्न को लेकर एक अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध हुआ जिसमें हजारों व्यक्ति हताहत हुए और जिसमें शस्त्रों की अपेक्षा बीमारी से मृत्यु अधिक हुई। जैसा हम देख चुके हैं साधुओं के अधिकार की रक्षा का तो बहाना था, सन्धि में उसकी कोई चर्चा नहीं हुई, वास्तव में युद्ध में भाग लेनेवाले राष्ट्रों के भिन्न भिन्न लक्ष्य थे जिनकी पूर्ति के लिये वे लड़ रहे थे। निकोलस टर्की पर अपना प्राधान्य जमाना चाहता था। इंगलैण्ड टर्की की रक्षा करना चाहता था क्योंकि उसे रूस के प्राधान्य से पूर्वी भूमध्यसागर में अपने हितों को तथा भारतवर्ष के मार्ग को भयङ्कर खतरा नजर आता था। नेपोलियन फ्रान्स में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाना चाहता था, और केथोलिक साधुओं के लिये लड़कर फ्रान्स की बहुसंख्यक केथोलिक जनता का समर्थन प्राप्त करना तथा रूस को हरा कर मॉस्को की पराजय का बदला लेकर फ्रान्स के अन्तर्राष्ट्रीय गौरव को बढ़ाना चाहता था। सार्डीनिया को युद्ध में शामिल करनेवाला उसका योग्य प्रधान मन्त्री कावूर था

* Marriott : The Eastern Question, pp. 276-277.

जो इस युद्ध में सार्डीनिया को शामिल करके इटली के स्वातन्त्र्य-युद्ध में किसी शक्ति का समर्थन प्राप्त करना चाहता था। ऑस्ट्रिया ने इस युद्ध में सीधा तो कोई भाग नहीं लिया परन्तु वह तटस्थ नहीं था। बाल्कन प्रायद्वीप की ओर उसकी आँखें लगी थीं और वह उस प्रदेश में रूस के प्राधान्य को अपने लिये अनिष्टकारी समझता था। मोल्डेविया तथा वालेशिया पर रूस का अधिकार तात्कालिक दृष्टि में भी उसके लिये हानिकारक था क्योंकि उसके द्वारा उसके डेन्यूब नदी के यातायात को खतरा पहुँचता था और ऑस्ट्रिया का अधिकांश व्यापार डेन्यूब नदी द्वारा ही होता था। उसकी मनोवृत्ति रूस के प्रति सदा शत्रुतापूर्ण बनी रही और उसने दो बार धमकाया भी। जब अन्त में रूस सन्धि करने के लिये तैयार हुआ तो उसका कारण भी ऑस्ट्रिया की धमकी ही था।*

समीक्षा—इस युद्ध की बुद्धिमता के सम्बन्ध में तो बड़ा विषम मतभेद है; उसमें अपार धन-जन की हानि हुई, परन्तु यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि यह युद्ध बिलकुल ही निरुद्देश्य एवं निष्फल हुआ। रूस की दक्षिण की ओर प्रगति कम से कम अस्थायी रूप में रुक गई और तुर्क साम्राज्य को नया जीवन प्राप्त हो गया। इसके साथ ही योरोपीय सत्ताओं ने रूस के पूर्वी समस्या को स्वयं अकेले ही सुलझाने के अधिकार को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया।† किन्तु यदि जरा ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ये लाभ बिलकुल निस्सार थे। पेरिस का शान्ति-सम्मेलन पूर्वी समस्या को सुलझाने के लिये हुआ था किन्तु उसने उसे और भी कठिन बना दिया। तुर्की की स्वतन्त्रता और उसके साम्राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टी मिल गई जिसका अर्थ था कि उस अशान्त प्रदेश में योरोपीय सत्ताओं की सम्मति के बिना कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था। इस तरह एक प्रकार से परिवर्तन असंभव हो गया, क्योंकि जैसा हम देख चुके हैं, इस विषय पर योरोप की महान् सत्ताओं का एकमत होना असम्भव था।‡ मित्र राष्ट्रों का अनुमान था कि टर्की का सुल्तान सुधार की नीति का अवलम्बन करके अपनी ईसाई प्रजा को सन्तुष्ट करेगा और टर्की अन्य सभ्य राज्यों की कोटि में आ जायगा, परन्तु सुल्तान ने अपने वचन का पालन नहीं किया और उसकी ईसाई प्रजा की स्थिति और भी खराब हो गई।§ काले सागर को तटस्थ बनाना रूस को अपमानित करना ही नहीं उसे अत्यन्त निर्बल कर देना था और यह निश्चित था कि रूस इस स्थिति में

---

* जब रूस ने मोल्डेविया तथा वालेशिया से अपनी सेनाएँ हटाई थीं तब तुरन्त ही ऑस्ट्रिया ने अपनी सेना भेजकर इन प्रान्तों को अपने अधिकार में कर लिया था। १८५६ में सन्धि हो जाने पर ही उसने उन्हें खाली करके टर्की को लौटाया था। Thompson : Europe since Napoleon, p 223.

† Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 168.

‡ Muir : A Short History of the British Commonwealth, Vol. II, p. 477.

§ Hazen : Modern European History, p. 452.

चुप बैठा नहीं रह सकेगा तथा आगे चलकर मौक़ा देखकर इस अपमान को धोने का प्रयास करेगा। १४ वर्ष बाद उसे यह अवसर मिला और बिस्मार्क से समझौता करके उसने उसकी तटस्थता भंग करदी और अपने लड़ाई के जहाज़ उसमें रखना शुरू कर दिया। १८७८ में उसने बेसरेबिया को भी फिर अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया। रूस की दक्षिण की ओर प्रगति तो इस व्यवस्था द्वारा रुक गई परन्तु इस दिशा में रोके जाने पर उसने मध्य एशिया में बढ़ना आरम्भ किया और वह वर्षों तक इङ्गलैण्ड के लिये उधर परेशानी का एक कारण बना रहा। निकोलस की टर्की के साम्राज्य के बटवारे की योजना को अस्वीकार करके इङ्गलैण्ड ने कहाँ तक लाभ उठाया यह नहीं कहा जा सकता। निकोलस योरोप से तुर्की को निकालकर बालकन प्रायद्वीप को कई ईसाई राज्यों में विभक्त करना चाहता था। इंगलैंण्ड ने इसको रोकने का प्रयत्न किया परन्तु बाद में चलकर ऐसा ही हुआ। जो बाद में हुआ उसे रूस पहले ही कर देना चाहता था। इससे बालकन प्रायद्वीप में उसका प्रभाव बढ़ जाता, इस शङ्का के लिये उस समय भी कोई विशेष कारण नहीं मालूम होता था। ग्रीस को स्वतन्त्र होने में मुख्य सहायता रूस से प्राप्त हुई थी, परन्तु स्वतन्त्र होने के बाद ग्रीस का जो रवैया रहा उससे ज़ार को यह आशा नहीं हो सकती थी कि जिन लोगों को वह स्वतन्त्र होने में सहायता करेगा वे सब सदा उसके प्रति कृतज्ञ बने रहेंगे। यदि उसकी योजना सफल हो जाती तो एक निर्बल तुर्क साम्राज्य के स्थान पर कई सशक्त एवं परस्पर लड़ते हुए ईसाई राज्य स्थापित हो जाते।* इङ्गलैण्ड और फ़ान्स टर्की के साम्राज्य को बनाये रखना चाहते थे परन्तु बाद में उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी भूल महसूस की और प्रथम महायुद्ध के पहले तक वह साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। इस प्रकार वास्तव में जिन उद्देश्यों को सामने रखकर यह युद्ध लड़ा गया था उनकी दृष्टि से यह युद्ध बिलकुल व्यर्थ सिद्ध हुआ। इङ्गलैण्ड को इससे कोई लाभ नहीं हुआ, उल्टे उसका राष्ट्रीय ऋण बढ़ गया। फ़ान्स को भी इस युद्ध से कोई लाभ नहीं हुआ। नेपोलियन की नीति व्यक्तिगत थी, राष्ट्रीय नहीं।† जो कुछ लाभ हुआ वह नेपोलियन का व्यक्तिगत लाभ था। १८५३ में उसकी स्थिति योरोप में सुनिश्चित नहीं थी, परन्तु १८५६ में उसने योरोप की सबसे महान् शक्ति रूस को पराजित करके महान् नेपोलियन की मॉस्को की पराजय का बदला ले लिया था और फ़ान्स को योरोप में सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य बनाकर उसका गौरव बढ़ा लिया था। शान्ति-सम्मेलन भी उसी के नेतृत्व में पेरिस में हुआ था और कई वर्षों बाद फ़ान्स का सम्राट् फिर योरोप का भाग्य-निर्णायक बन रहा था।

---

* Philips : Modern Europe, p. 450.

† Schevill : A History of Europe, p. 530.

इटली पर युद्ध का प्रभाव—टर्की को छोड़ कर, इस युद्ध से सबसे अधिक लाभ इटली को पहुँचा। कावूर ने युद्ध में सम्मिलित होने के पूर्व जो आशाएँ बाँधी थीं वे पूरी हुईं। पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में वह, ऑस्ट्रिया का प्रबल विरोध होते हुए भी, केवल सार्डिनिया का ही नहीं, वरन् इटली के प्रतिनिधि की हैसियत से शामिल हुआ और उसने सम्मेलन के सामने इटली की दुर्दशा का चित्र रखा। उसे इंगलैण्ड की सहानुभूति तथा नेपोलियन का सक्रिय समर्थन प्राप्त हुआ। इस प्रकार क्रीमिया के युद्ध में भाग लेने से सार्डिनिया को योरोपीय राज्य-समाज में स्थान प्राप्त हो गया और उसे इटली की स्वतन्त्रता का समर्थक बनने का अधिकार एवं अवसर प्राप्त हो गया। पेरिस की काँग्रेस में कावूर का नेपोलियन से समझौता हो गया, जिसकी दो वर्ष बाद प्लॉम्बियर्स की सन्धि में पुष्टि हुई और १८५९ के युद्ध में उसका फल मिल गया। इस प्रकार इटली के स्वातन्त्र्य-संग्राम को आवश्यक सहायता प्राप्त हो गई, और अन्त में इटली की एकता तथा स्वतन्त्रता सम्भव हो सकी।

जर्मनी पर प्रभाव—अप्रत्यक्ष रूप से इस युद्ध ने जर्मनी की एकता के प्रयत्न को भी सहायता पहुँचाई। इस युद्ध का ऑस्ट्रिया के भाग्य पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। ऑस्ट्रिया के व्यवहार से रूस चिढ़ गया और उसका सदा के लिये शत्रु बन गया। मध्य-योरोप में ऑस्ट्रिया का प्राधान्य बहुत कुछ रूस के सहयोग पर निर्भर था। १८४९ में हंगरी का विद्रोह रूस की सहायता से ही दबाया जा सका था और १८५० में ऑस्ट्रिया रूस की सहायता से ही प्रशा को नीचा दिखा सका था। योरोप में नेपोलियन के पतन के बाद से जो प्रतिक्रिया का राज्य चल रहा था उसके आधार-स्तम्भ रूस, ऑस्ट्रिया और प्रशा ही थे। जब तक इन तीनों राज्यों में सहयोग बना रहा तब तक योरोप में प्रतिक्रिया क़ायम रही और समय-समय पर लगनेवाले उदारवादी एवं राष्ट्रीयतावादी धक्कों को सहती रही। परन्तु इस युद्ध के फलस्वरूप इस प्रतिक्रियावादी गुट में फूट पड़ गई। रूस ऑस्ट्रिया से रुष्ट हो गया और प्रशा की ओर झुकने लगा। प्रशा इस युद्ध में तटस्थ रहा परन्तु उसकी स्थिति रूस के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रही, क्योंकि उसका सुयोग्य प्रधान मन्त्री बिस्मार्क इस स्थिति को अच्छी तरह समझ कर आगे के लिये ऑस्ट्रिया के बहिष्कार तथा प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण की अपनी योजना बना रहा था जिसमें उसे रूस की सहायता की आवश्यकता थी। रूस और प्रशा के सम्बन्ध उत्तरोत्तर घनिष्ठ होते गये और जब १८६६ में प्रशा ने ऑस्ट्रिया से युद्ध छेड़ा तो रूस तटस्थ रहा। ऑस्ट्रिया अकेला पड़ गया और प्रशा ने उसे सरलता से परास्त कर दिया। १८६६ में समस्त उत्तरी जर्मनी का एकीकरण हो गया और १८७० में जब बिस्मार्क ने अन्तिम कदम उठाया, उसमें रूस ने तटस्थ रह कर और ऑस्ट्रिया पर आक्रमण का डर बैठाकर सहायता की। इस प्रकार जर्मनी का एकीकरण सम्भव हो सका। यदि क्रीमिया का युद्ध न होता तो 'अगली दो शताब्दियों में संयुक्त इटली तथा

संयुक्त जर्मनी की सृष्टि न हो पाती।'* 'क्रीमिया की कीचड़ में से नवीन इटली तथा अप्रत्यक्ष रीति से नवीन जर्मनी का निर्माण हुआ।'†

रूस पर प्रभाव—रूस पर भी इस युद्ध का हितकर प्रभाव पड़ा। इस युद्ध ने रूसवालों की आँखें खोल दीं। १८१२ के बाद से रूस की जो सैनिक प्रतिष्ठा बनी हुई थी वह नष्ट हो गई। निकोलस का शासन अत्यन्त प्रतिक्रियावादी तो था ही, इस युद्ध ने उसकी अयोग्यता तथा भ्रष्टता को भी प्रमाणित कर दिया। शासन का विरोध बढ़ने लगा और सुधारों की आवश्यकता स्पष्ट प्रतीत होने लगी। द्वितीय एलेक्ज़ेण्डर के समय में सुधार का कार्य आरम्भ हुआ और रूस के इतिहास में एक नये युग का प्रवेश हुआ।

युगान्तरकारी युद्ध—'क्रीमिया का युद्ध सामान्य अर्थ में योरोपीय इतिहास में एक युगान्तरकारी युद्ध था।'‡ रूस में तो इससे प्रतिक्रिया के युग का अन्त और सुधारयुग का आरम्भ हुआ ही, योरोप में अन्यत्र भी इस युद्ध के बाद नये युग का आरम्भ हुआ। हमने ऊपर मेटरनिख़ के पतन के साथ प्रतिक्रिया के युग का अन्त होना बतलाया है। वास्तव में प्रतिक्रिया के युग का अन्त पेरिस की सन्धि (१८५६) के साथ माना जाना चाहिये, क्योंकि इसी समय प्रतिक्रिया के प्रधान समर्थकों में फूट उत्पन्न हुई और उसके फलस्वरूप इटली तथा जर्मनी दोनों जगह से ऑस्ट्रिया का बहिष्कार सम्भव हो सका, राष्ट्रीयता एवं उदारवाद को सफलता प्राप्त हो सकी और विएना की प्रतिक्रियावादी व्यवस्था समाप्त हो सकी। इसके बाद ही बाल्कन प्रायद्वीप में राष्ट्रीयता ने जोर पकड़ा और पेरिस की सन्धि के बाद ६ वर्ष के अन्दर ही मोल्डेविया तथा वालेशिया के प्रदेशों ने संयुक्त होकर स्वतन्त्र रूमानिया का निर्माण कर लिया। पेरिस में सन्धि होने के उपरान्त नेपोलियन ने इन दोनों प्रदेशों को संयुक्त करके एक स्वतन्त्र राज्य बनाने का प्रस्ताव किया था। रूस इस योजना से सहमत था परन्तु इंगलैण्ड, जो सुल्तान की शक्ति को कम करना नहीं चाहता था और ऑस्ट्रिया, जो ट्रान्सिल्वेनिया के रूमानियन कृषकों पर इस योजना के अनिष्टकारी प्रभाव से डरता था, राजी नहीं हुए।§ परन्तु स्वतन्त्र रूमानिया के जन्म को ये दोनों राज्य न रोक सके और राष्ट्रीयता के समर्थक नेपोलियन ने योरोपीय राज्यों को समझाकर नये राज्य को उनकी स्वीकृति दिलवाकर एक नवीन राष्ट्रीय राज्य की सृष्टि में सहायता की।**

* Lord Fitzmaurice quoted in Marriott : The Eastern Question, p. 284.

† Ketelbey : A History of Modern Times, p. 210.

‡ Ibid, p. 296.

§ Phillips : Modern Europe, p. 360.

** Hayes and Cole : History of Europe, Vol. II, p. 244.

इस प्रकार क्रीमिया के युद्ध में भाग लेकर नेपोलियन ने मॉस्को की पराजय का बदला लिया, फ्रान्स का राष्ट्रीय गौरव बढ़ाया और अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। रूमानिया को स्वतन्त्र होने में सहायता देकर उसने योरोप में उदारवादियों एवं राष्ट्रीयतावादियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और वे अपनी सफलता के लिये उसकी सहायता की आशा करने लगे।

———

अध्याय २०

तृतीय नेपोलियन—विदेश-नीति (क्रमशः)

इटली-सम्बन्धी नीति—प्लॉम्बियर्स की सन्धि—क्रीमिया के युद्ध में नेपोलियन ने अपने चाचा के एक कट्टर शत्रु रूस को हराया था। उसे शीघ्र ही उसके दूसरे शत्रु ऑस्ट्रिया को अपमानित करने और १८१५ की व्यवस्था को भंग करने का अवसर भी मिला। हम देख चुके हैं कि पेरिस के शान्ति-सम्मेलन के समय कावूर ने इटली की आकांक्षाओं के प्रति नेपोलियन की सहानुभूति प्राप्त करली थी और इटली से ऑस्ट्रिया को निकालकर उसे स्वतन्त्र करने में सहायता देने के लिये राज़ी कर लिया था। नेपोलियन कई कारणों से उसे सहायता देने को तैयार था। वह कार्बोनारी संस्था का सदस्य रहकर इटली की स्वतन्त्रता के लिये युद्ध कर चुका था और उसे इटली के स्वातन्त्र्य-संग्राम से स्वाभाविक सहानुभूति थी। उसके चाचा ने 'इटली राज्य' का निर्माण किया था और वह उसके पद-चिह्नों पर चलने के लिये उत्सुक था। सबसे बड़ी बात यह थी कि इसमें उसे इटली से ऑस्ट्रिया को निकालकर स्वतन्त्र इटली के निर्माण द्वारा नेपोलियन-वंश तथा फ़्रान्स के अपमान की सूचक १८१५ की सन्धियों को भंग करने और साथ ही इटली में ऑस्ट्रिया की जगह फ़्रान्स का प्रभाव स्थापित करके फ़्रान्स की प्रतिष्ठा बढ़ाने की अपनी प्रबल आकांक्षा की पूर्ति की सम्भावना दिखाई देती थी। उसे इस प्रकार फ़्रान्स के उदारवादियों को सन्तुष्ट करने का अवसर भी मिल रहा था और इसके साथ ही फ़्रेञ्च सहायता के बदले कुछ प्रदेश प्राप्त करके वह फ़्रान्स के देशभक्तों को भी प्रसन्न कर सकता था। फिर भी वह कावूर को सहायता देने में झिझकता था। ऑस्ट्रिया काफ़ी शक्तिशाली था और उसके साथ युद्ध में खतरा था। इसके अतिरिक्त संयुक्त स्वतन्त्र इटली बन जाने से उसे अपनी सैनिक शक्ति के लिये खतरा दिखाई देता था।* फ़्रेञ्च होने के नाते वह संयुक्त इटली के विचार को उसी प्रकार सहन नहीं कर सकता था जिस प्रकार संयुक्त जर्मनी का विचार उसे असह्य था।† इसके साथ ही फ़्रान्स की केथोलिक जनता इटली के स्वातन्त्र्य-संग्राम की गति-विधि को देखकर चिन्तित थी

---

* Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 179.

† Trevelyan : Garibaldi and The Thousand, p. 77.

क्योंकि सार्डिनिया के नेतृत्व में इटली की एकता का अर्थ था पोप के राज्य का अन्त। वह समझता था कि वह कुछ भी करे फ्रान्स का एक दल उससे अवश्य अप्रसन्न होगा। सार्डिनिया की सहायता करने से केथोलिकों के नाराज़ होने का भय था और यदि वह सहायता नहीं करता तो उदारवादी उससे अप्रसन्न होंगे। निदान उसने सहायता देने का ही निश्चय किया और जुलाई १८५८ में प्लॉम्बियर्स (Plombiers) के स्थान पर एक समझौता करके सेवॉय तथा नीस के बदले में लोम्बार्डी तथा वेनेशिया से ऑस्ट्रिया को निकालने में तथा उत्तरी इटली का एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सार्डिनिया की सहायता करने का वचन दिया।*

ऑस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध—नेपोलियन की सहायता का आश्वासन पाकर सार्डिनिया ने युद्ध की तैयारी शुरू की। यह देखकर अप्रेल १८५९ में ऑस्ट्रिया ने सार्डिनिया को अपनी सैन्य तैयारी को भंग करने के लिये लिखा। सार्डिनिया ने इन्कार कर दिया और युद्ध शुरू हो गया। नेपोलियन ने अपना वचन पूरा किया। फ्रेञ्च सेना पायडमॉण्ट में पहुँच गई और सार्डिनिया की सेना के साथ लोम्बार्डी में प्रवेश कर गई। मेगेन्टा (Magenta) के युद्ध के फलस्वरूप मिलान पर उनका अधिकार हो गया (जून)। सॉलफ़ेरिनो (Solferion) के युद्ध में ऑस्ट्रिया की सेना फिर हारी और लोम्बार्डी ख़ाली करके वेनेशिया के सुदृढ़ क़िलों में जा डटी।

नेपोलियन का विश्वासघात—विलाफ़्रेङ्का की सन्धि—इस सफलता से प्रभावित होकर इटली में राष्ट्रीय जोश भड़क उठा और राष्ट्रीयताप्रेमी लोग पोप के राज्य सहित समस्त मध्य-इटली को सार्डिनिया के अन्तर्गत शामिल करके संयुक्त इटली के निर्माण की माँग करने लगे। परन्तु नेपोलियन इसके लिये न तो तैयार ही था और न उसने यह वचन ही दिया था। जैसा हम अभी देख चुके हैं, वह संयुक्त इटली के पक्ष में नहीं था। इसके अतिरिक्त वह अन्य कई कारणों से भी चिन्तित था। वेनेशिया में ऑस्ट्रिया की सेना की स्थिति काफ़ी मज़बूत थी और उसे ऑस्ट्रिया से सहायता प्राप्त हो रही थी। इसके साथ ही उसे यह भी सूचना मिली कि प्रशा राइन नदी के तट पर सेना एकत्रित कर रहा है और युद्ध में हस्तक्षेप करने का विचार कर रहा है। युद्ध में फ़्रान्स की हानि भी बहुत हो चुकी थी और उसमें ऑस्ट्रिया तथा प्रशा की सम्मिलित

---

* इस सन्धि का विस्तृत हाल अगले अध्याय में देखिये। नेपोलियन ने एक सन्धि के द्वारा इटली में किये जानेवाले परिवर्तनों के लिये १८५६ की पेरिस की सन्धि के संशोधन में सहायता देने का वचन देकर रूस का समर्थन प्राप्त कर लिया था। वह जानता था कि इंगलैण्ड में लोक-सहानुभूति इटली के पक्ष में थी और इस कारण उसे इस मामले में इंगलैण्ड के हस्तक्षेप की सम्भावना नहीं दिखाई दी। प्रशा के सम्बन्ध में उसका विचार था कि उसे ऑस्ट्रिया को पराजित और अपमानित होते देखकर प्रसन्नता ही होगी। Thomson : Europe since Napolean, p. 276.

सेना से युद्ध करने की सामर्थ्य नहीं थी।* इसके अतिरिक्त पोप पर संकट आया देख कर फ़ान्स में केथोलिक दल विरोधी हो रहा था। इन सब कारणों से कावूर को सूचना दिये बिना ही नेपोलियन ने जुलाई १८५९ में ऑस्ट्रिया के साथ विला.फ्रेंका (Villafranca) नामक स्थान पर अस्थायी सन्धि करके युद्ध बन्द कर दिया। ऑस्ट्रिया का सम्राट् फ़ान्सिस जोज़ेफ़ भी सन्धि करने के लिये उत्सुक था। उसकी सेना पराजित हो चुकी थी और इसके साथ ही हंगरी में भी उसे परेशानी हो रही थी। इसके अतिरिक्त वह यह भी नहीं चाहता था कि प्रशा उसकी रक्षा करे, क्योंकि ऐसी दशा में प्रशा को जर्मनी में वह प्राधान्य प्राप्त हो जायगा जो अभी तक ऑस्ट्रिया को प्राप्त था। वह सार्डिनिया को लोम्बार्डी देने के लिये राज़ी हो गया। वेनेशिया ऑस्ट्रिया के पास ही बना रहा। नेपोलियन ने मध्य-इटली के राजाओं को उनके राज्य वापस दिलवाने का वचन दिया और यह निश्चय हुआ कि समस्त इटली का एक संघ-राज्य बने जिसका अध्यक्ष पोप हो।

ज़ूरिख़ की सन्धि—यह सरासर विश्वासघात था और इसके लिये इटली के देशभक्तों तथा फ़ान्स के उदारवादियों ने नेपोलियन की बड़ी निन्दा की। कावूर ने इस सन्धि को मानने से इन्कार करके त्यागपत्र दे दिया। सार्डिनिया का राजा विक्टर इमेन्युएल इस प्रकार धोखा दिये जाने पर दुःखी तो बहुत हुआ, परन्तु वह बड़ा गम्भीर और समझदार था; जो कुछ मिल रहा था उसी को स्वीकार कर लेने में उसने बुद्धिमानी समझी। नवम्बर में ज़ूरिख़ (Zurich) नामक स्थान पर फ़ान्स और ऑस्ट्रिया के बीच स्थायी सन्धि हुई जिसमें विला.फ्रेंका की अस्थायी सन्धि की शर्तों की पुष्टि की गई।

सेवॉय और नीस—परन्तु इटली के देशभक्त इस प्रकार चुप बैठनेवाले नहीं थे। अपने उग्रवादी नेताओं तथा विक्टर इमेन्युएल के इशारे से मध्य-इटली के राज्यों की जनता ने अपने राजाओं को पुनः स्वीकार करने से इन्कार कर दिया तथा पोप की अध्यक्षता में इटली के संघ की योजना को ठुकरा दिया और पार्मा, मोडीना, टुस्कनी तथा रोमान्या (पोप का एक राज्य) की प्रजा ने जनमत द्वारा अपने-अपने राज्यों को सार्डिनिया में शामिल करने का निर्णय किया।† नेपोलियन ने जनता के इस राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार को अस्वीकार कर दिया। किन्तु इस समय तक कावूर अपने पद पर वापस लौट आया था। उसने नेपोलियन को समझाया और सेवॉय तथा नीस (जो सन्धि का पूर्णतया पालन न होने के कारण उसने माँगे नहीं थे) का लोभ देकर इन राज्यों के सार्डिनिया में सम्मिलित हो जाने की उससे स्वीकृति प्राप्त कर ली।

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 138.

† Phillips : Modern Europe, pp. 375-379.

ट्यूरिन में नेपोलियन के साथ विक्टर इमेन्युएल की सन्धि हुई (मार्च १८६०) जिसके अनुसार सेवॉय तथा नीस फ़्रान्स को मिले* और इसके बदले में नेपोलियन ने लोम्बार्डी के साथ-साथ टुस्कनी, पार्मा, मोडीना तथा रोमान्या का सार्डिनिया में शामिल होना जनमत का बहाना लेकर स्वीकार कर लिया।

पतन का सूत्रपात—इस प्रकार तृतीय नेपोलियन ने अपने चाचा महान् नेपोलियन के समान नवीन इटली का निर्माण किया। १७९७ के गौरव के दिन लौट आये थे। १८१५ की घृणित सन्धियाँ, जिनके अनुसार इटली को पुनः विभक्त दशा में पहुँचा दिया गया था तथा सेवॉय फ़्रान्स से छीन कर पायडमाण्ट को दे दिया गया था, भंग हो चुकी थी और फ़्रान्स एक बार फिर योरोप का भाग्य-निर्णय कर रहा था। १८६० में नेपोलियन की शक्ति एवं प्रतिष्ठा चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी तथा कई लोग तो तृतीय नेपोलियन को प्रथम नेपोलियन के समान महान् और द्वितीय साम्राज्य को प्रथम साम्राज्य के समान ही शक्तिशाली समझने लगे। परन्तु वास्तव में उसकी इटली-सम्बन्धी नीति में अन्तर्विरोध था और उसकी कठिनाइयाँ शीघ्र ही प्रकट होने लगीं। उसकी नीति से कोई सन्तुष्ट नहीं हुआ और इसी के फलस्वरूप उसके साम्राज्य के पतन का सूत्रपात हो गया।† रूस तो पहले से नाराज़ था ही, अब ऑस्ट्रिया भी अप्रसन्न हो गया और उसके हौसलों को देख कर प्रशा भी चौकन्ना हो गया। उसके विश्वासघात से सार्डिनियावालों की कृतज्ञता भी लुप्त हो गई और सेवॉय तथा नीस को हड़प लेने से इंगलैण्ड भी सशंक हो गया। इस प्रकार फ़्रान्स अकेला पड़ गया और योरोप में वह लोभी षड्यन्त्रकारी की तरह बदनाम हो गया। इसके साथ ही इटली-वालों को उसने जो सहायता दी उसे देखकर रूमानियन, पोल तथा जर्मन देशभक्तों को भी उसकी सहायता की आशा बँधी और १८६० के बाद से वे भी उससे सहायता की प्रार्थना करने लगे जिससे उसकी विदेश-नीति में बड़ी उलझनें पैदा हो गईं।

साम्राज्य को 'उदार' बनाने के प्रयत्न—इटली के युद्ध का फ़ान्स के अन्दर की राजनीतिक स्थिति पर भी बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। १८५९ तक नेपोलियन ने राष्ट्रीय अपीलों द्वारा सब प्रकार के दलों को बड़ी सफलतापूर्वक एक विशाल 'राष्ट्रीय दल' में संयुक्त कर रखा था परन्तु अब 'राष्ट्रीय दल' में फूट पड़ गई। कैथोलिक लोग पोप को हानि पहुँचती देखकर उससे अप्रसन्न हो गये और उदारवादी लोग इटली

---

* इन प्रदेशों को माँग कर नेपोलियन ने बड़ी घातक भूल की। यदि वह यह ग़लती न करता तो १८७० का वज्रपात शायद न होता। Grant and Temperley: Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 229.

† Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 39-

की स्वतन्त्रता को इस प्रकार मँझधार में छोड़ देने के कारण उससे बिगड़ गये। धीरे-धीरे इन दोनों दलों के बीच की खाई चौड़ी होती गई। नेपोलियन ने दोनों को अपने काबू में रखने का प्रयत्न किया किन्तु व्यर्थ। जैसा हम देख चुके हैं, १८६० के बाद उसने उदारवादियों को प्रसन्न करने के लिये कुछ सुधार किये और अपने साम्राज्य को 'उदार' बनाने का प्रयत्न किया। इसके साथ ही केथोलिकों को सन्तुष्ट करने के लिये उसने पोप की ऐहिक प्रभुता (Temporal Sovereignty) की रक्षा करने तथा इटलीवालों को रोम पर कभी अधिकार न करने देने की घोषणा की। किन्तु इन रियायतों का कोई परिणाम नहीं निकला और दोनों दलों में से कोई भी सन्तुष्ट नहीं हुआ।* इनके साथ ही देश के अन्य दल भी उससे अप्रसन्न हो गये। नेपिल्स के राजतन्त्र तथा अन्य डचियों के विनाश से राजतन्त्रवादी नाराज़ हो गये और देशभक्त लोग यह देखकर बड़े अप्रसन्न हुए कि दक्षिण-पूर्व में एक सशक्त राज्य बनता जा रहा था जिससे उनके देश की सुरक्षा को खतरा पैदा हो रहा था।

इस प्रकार फ़ान्स के अन्दर नेपोलियन की स्थिति में निर्बलता आने लगी, विदेशी सम्बन्धों में भी उसकी नीति के अन्तर्विरोध तथा उसकी पेचीदगियों के कारण उसे जो सफलता अब तक प्राप्त हुई थी वह मिलना बन्द हो गई और उसकी स्थिति उत्तरोत्तर कठिन होने लगी। १८६० से आगे का नेपोलियन का इतिहास निरन्तर विफलता का इतिहास है। यदि इस समय में उसे कहीं सफलता और उसके साथ ही प्रतिष्ठा प्राप्त हुई तो केवल रूमानिया के सम्बन्ध में, जिसे स्वतन्त्रता दिलाने में, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, तथा इस प्रकार एक और आधुनिक राष्ट्रीय राज्य के निर्माण में उसने सहायता की (१८६१-१८६२)।†

पोल लोगों का विद्रोह—इटली और रूमानिया की घटनाओं से प्रोत्साहित होकर तथा नेपोलियन से सक्रिय सहायता पाने की आशा करके १८६३ में पोल लोगों ने भी अपनी स्वतन्त्रता के लिये रूस के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। पोल लोगों को सहायता देने के लिये फ़ान्स के केथोलिक तथा उदार दोनों दलों ने नेपोलियन से अनुरोध किया। पोल लोग केथोलिक थे, इस कारण केथोलिक दल को उनकी आकांक्षाओं के साथ सहानुभूति थी। उदार लोग इसलिये उन्हें सहायता देना चाहते थे क्योंकि वे आत्म-निर्णय के उदार सिद्धान्त के लिये लड़ रहे थे। पोल लोगों को सहायता देकर फ़ान्स के दोनों प्रमुख दलों को सन्तुष्ट करने का बड़ा अच्छा अवसर नेपोलियन को प्राप्त था परन्तु इस समय अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति उसके प्रतिकूल थी। ऑस्ट्रिया तथा प्रशा दोनों राज्यों में पोल लोग

---

* Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vol. II, p. 140.

† पृष्ठ ३४८ देखिये।

काफी संख्या में थे और यदि वह विद्रोही पोलों का पक्ष लेकर रूस से युद्ध छेड़ता तो ऑस्ट्रिया तथा प्रशा दोनों अवश्य रूस का साथ देते और इन तीनों राज्यों से एक साथ लड़ना फ्रान्स तथा स्वयं नेपोलियन के लिये घातक होता। अतः उसने इंगलैण्ड तथा ऑस्ट्रिया के साथ मिलकर पोलों के साथ मौखिक सहानुभूति प्रकट करने और पोलों पर किये जानेवाले अत्याचार का ज़ार के सम्मुख निर्बल विरोध प्रकट करने के अतिरिक्त कुछ नहीं किया।* असहाय पोल निर्दयतापूर्वक कुचल दिये गये और रूस की नाराज़ी बढ़ गई। इधर फ्रेञ्च जनता में भी, जिसे पोल लोगों के प्रति स्वाभाविक सहानुभूति थी, नेपोलियन के प्रति बड़ा रोष उत्पन्न हुआ। इस घटना ने द्वितीय साम्राज्य की प्रतिष्ठा को बड़ी गहरी चोट पहुँचाई। इस प्रकार साम्राज्य की प्रतिष्ठा बड़ी शीघ्रता से गिरती जा रही थी; शीघ्र ही मेक्सिको के मामले ने उसे बिलकुल समाप्त कर दिया।†

फ्रेञ्च साम्राज्य का विस्तार—योरोप में अपनी प्रतिष्ठा को नष्ट होते देख नेपोलियन ने योरोप के बाहर गौरव प्राप्त करने की चेष्टा की। कुछ वर्षों से वह फ्रेञ्च साम्राज्य के पुनर्निर्माण तथा विस्तार के लिये प्रयत्न कर रहा था। लुई फ़िलिप के समय से एल्जीरिया में अशान्ति मची हुई थी। नेपोलियन ने उस ओर ध्यान दिया और १८५७ तक वहाँ पूर्णतया शान्ति स्थापित करके सम्पूर्ण एल्जीरिया को फ्रेञ्च साम्राज्य में शामिल कर लिया और उसके समुचित शासन की व्यवस्था की। इन्हीं दिनों उसने प्रशान्त महासागर के द्वीपों पर अधिकार करने के लिये जहाज़ भेजे और १८५३ में न्यू केलेडोनिया पर अधिकार कर लिया। १८५६ में उसने चीन के विरुद्ध फ़ौजी कार्रवाई में इङ्गलैण्ड के साथ सहयोग किया और १८६० में टीन्ट्सिन की सन्धि के अनुसार चीन के कई बन्दरगाहों में योरोपीय लोगों को व्यापार करने का अधिकार प्राप्त हो गया। १८५८ में कुछ फ्रेञ्च मिशनरियों की हत्या का बदला लेने के लिये उसने चीन के दक्षिण में स्थित अनाम तथा कोचीन चाइना को अपनी सेनाएँ भेजीं और १८६३ में कम्बोडिया को फ्रेञ्च संरक्षण में लेकर पूर्वी एशिया में फ्रेंच साम्राज्य की स्थापना की।‡

मेक्सिको की दुर्घटना—इन सफलताओं से प्रोत्साहित होकर और योरोप में नष्ट होती हुई अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिये उसने अमेरिका में फिर से फ्रेंच साम्राज्य स्थापित करने की योजना बनाई। इन दिनों मेक्सिको में गड़बड़ मच रही थी और अमेरिका के संयुक्त राज्य में भी गृह-युद्ध (१८६१-६५) चल रहा था जिससे

* Lodge and Horn : A History of Europe (1789-1920), p. 337.

† Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 40.

‡ Hayes and Cole : A History of Europe, Vol. II, p. 244.

उसकी योजना में संयुक्त राज्य द्वारा बाधा पहुँचने का कोई भय नहीं था। १८६१ में बेनिटो ज्वारेज़ नामक एक व्यक्ति पुरोहितों एवं राजतन्त्रवादियों की केथोलिक सरकार को, जिसका नेता मिरामन था, पदच्युत करके मेक्सिको का सर्वेसर्वा बन गया। मिरामन ने योरोप के केथोलिक राज्यों से सहायता माँगी। उधर ज्वारेज़ ने कई केथोलिक-विरोधी सुधार किये और इसके साथ ही पहले शासन ने विदेशियों से जो ऋण लिये थे उन्हें अदा करने से इन्कार कर दिया। ये ऋण इङ्गलैण्ड, स्पेन तथा फ़ान्स के पूँजीपतियों ने दिये थे। नेपोलियन ने इंगलैण्ड तथा स्पेन को समझा-बुझाकर ज्वारेज़ पर विदेशी ऋणों को स्वीकार करने के लिये दबाव डालने की दृष्टि से मेक्सिको पर आक्रमण करने के लिये तैयार कर लिया और तीनों देशों की सम्मिलित सेना ने मेक्सिको के चुङ्गीघर छीन लिये। चार महीनों तक बातचीत चलती रही जिसमें इङ्गलैण्ड तथा स्पेन के साथ तो सन्तोषजनक समझौता हो गया और इन दोनों देशों को सेनाएँ वापस लौट गईं, परन्तु फ़्रेञ्च सेना मेक्सिको में ही बनी रही। नेपोलियन ने १८६२ में अतिरिक्त सेना भेजी, जिसने जून १८६३ में मेक्सिको सिटी (राजधानी) पर अधिकार कर लिया। ज्वारेज़ भाग कर पहाड़ों में जा छिपा। नेपोलियन का विचार मेक्सिको को फ़्रेञ्च उपनिवेश बनाने का नहीं था क्योंकि ऐसा करने पर अन्य राज्य अवश्य विरोध करते; वह उस पर परोक्ष रीति से अपना अधिकर जमाना चाहता था।* अतः उसने ऑस्ट्रिया के सम्राट् फ़ासिन्स जोज़ेफ के भाई आर्चड्यूक मेक्सिमिलियन को मेक्सिको का सम्राट् बनने के लिये राज़ी कर लिया (१८६४) और उसे सेना तथा धन की सहायता दी। इस योजना से उसे अनेक लाभ दिखाई दे रहे थे। मेक्सिमिलियन हाप्सबुर्ग वंश का था और उसे सम्राट् बनाकर स्पष्टतः नेपोलियन योरोपीय राज्यों की शंका से बच सकता था। वह केथोलिक भी था और इससे फ़्रेञ्च केथोलिक प्रसन्न होते। इसके साथ ही उसे यह आशा थी कि मेक्सिमिलियन फ़्रेंच पूँजीपतियों को रियायतें देगा, वे लोग मेक्सिको की खानों, रेलों, खेती आदि में पूँजी लगा कर लाभ उठा सकेंगे और इस प्रकार उससे सन्तुष्ट हो जायेगे। परन्तु उसकी यह महान् योजना सफल न हो सकी। मेक्सिमिलियन विदेशी था और इस कारण वह आरम्भ से ही अत्यन्त अलोकप्रिय था। वह फ़्रेंच सेना की सहायता पर निर्भर था। परन्तु उसे भी नये देश में होने के कारण तथा यातायात के साधनों की कमी के कारण मेक्सिको के गेरिला-योद्धाओं के सामने बड़ी परेशानी उठानी पड़ रही थी। उधर १८६५ में संयुक्त राज्य का गृह-कलह समाप्त हो गया और वहाँ की सरकार ने मॉनरो-सिद्धान्त का हवाला देते हुए फ़्रेंच सेनाओं की मेक्सिको में उपस्थिति का विरोध किया। इस पर नेपोलियन को विवश होकर अपनी सेनाओं को हटाना पड़ा। उसने धीरे-धीरे फ़रवरी १८६७ तक सारी

* Hayes and Cole : A History of Europe, Vol. II. p, 245.

सेनाएँ हटा लीं। मेक्सिमिलियन वहीं बना रहा परन्तु वह पकड़ कर मार डाला गया और नेपोलियन की महान् योजना का अत्यन्त अपमानपूर्ण ढंग से अन्त हो गया। इसका फ्रेञ्च जनता पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। फ्रान्स को संयुक्त राज्य के सामने अपमानित होना पड़ा और इसके साथ ही एक विदेशी राजकुमार को बहका कर वहाँ ले जाने तथा बाद में उसे वहाँ असहाय छोड़ आने से फ्रान्स के गौरव की भी हानि हुई। इसके अतिरिक्त इस शेखचिल्ली जैसी योजना से फ्रेञ्च जन-धन की अपार हानि हुई और राष्ट्रीय ऋण बहुत बढ़ गया। यह अभियान नेपोलियन के लिये उतना ही अनिष्टकारी हुआ जितना स्पेन का युद्ध महान् नेपोलियन के लिये हुआ था। अब फ्रान्स में उदारवादी तथा कैथोलिक दोनों ही नेपोलियन का अधिकाधिक विरोध करने लगे और उसकी स्थिति अत्यन्त कठिन हो गई।

नेपोलियन और बिस्मार्क—ऑस्ट्रिया की पराजय—जिन दिनों नेपोलियन की मेक्सिको-योजना गड़बड़ हो रही थी, उन्हीं दिनों प्रशा का प्रधान-मन्त्री बिस्मार्क उसकी निर्बलताओं से लाभ उठा कर उसे मूर्ख बना रहा था और उसके साम्राज्य की क़ब्र खोद रहा था। बिस्मार्क जर्मनी से ऑस्ट्रिया को निकाल कर प्रशा की अध्यक्षता में एक अखिल-जर्मन साम्राज्य के निर्माण की योजना बना रहा था। इस योजना की सफलता के लिये उसे ऑस्ट्रिया से युद्ध करना था परन्तु वह चाहता था कि ऑस्ट्रिया को उस युद्ध में किसी ओर से सहायता न मिले। रूस तो ऑस्ट्रिया से नाराज़ था ही, बिस्मार्क को भय था कि कहीं नेपोलियन उसकी सहायता को तैयार न हो जाय। वह उसे तटस्थ रखना चाहता था। अतः उसने नेपोलियन से बियारित्स (Biarritz) नामक स्थान पर भेंट की (१८६५) और भावी युद्ध में तटस्थ रहने के लिये उसे राजी कर लिया। इस तटस्थता के पुरस्कारस्वरूप राइन नदी के पास कोई प्रदेश (बेल्जियम अथवा अन्य कोई प्रदेश) प्राप्त होने की उसने उसे कुछ अस्पष्ट आशा भी बँधाई।* नेपोलियन समझता था कि जर्मनी और ऑस्ट्रिया दोनों के समान शक्तिशाली होने के कारण युद्ध लम्बा होगा और आगे चल कर उसे मध्यस्थ बनने तथा कुछ अपना लाभ करने का अवसर मिल सकेगा।† परन्तु नेपोलियन की आशा व्यर्थ रही। १८६६ में युद्ध शुरू हो गया और प्रशा ने ऑस्ट्रिया को सात सप्ताह में ही पूर्णतया परास्त

---

* Ketelbey : A History of Modern Times, p. 251.

† Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p 257. नेपोलियन का रुख अन्त तक बड़ा अनिश्चित था। युद्ध के प्रारम्भ होने के समय वह पूरी तरह से ऑस्ट्रिया की तरफ झुक गया था और जून १८६६ में उसने ऑस्ट्रिया से एक सन्धि भी कर ली थी, जिसमें उसने स्वयं तटस्थ रहने तथा इटली को भी तटस्थ रखने का प्रयत्न करने का वचन दिया था और ऑस्ट्रिया ने वेनिस इटली को सौंपना स्वीकार कर लिया था।

कर दिया। अन्तिम लड़ाई सेडोवा (Sadowa) में हुई जिसके परिणामस्वरूप ऑस्ट्रिया ने सन्धि की प्रार्थना की। इस युद्ध में प्रशा के साथ इटली भी लड़ रहा था। ऑस्ट्रिया को जर्मनी पर से अपना प्राधान्य त्यागना पड़ा और वेनेशिया इटली को देना पड़ा। प्रशा ने कुछ छोटे-छोटे जर्मन राज्य अपने राज्य में शामिल कर लिये, मेन नदी के उत्तर की ओर के अन्य राज्यों को मिलाकर अपनी अध्यक्षता में 'उत्तरी-जर्मन-राज्य-संघ' का निर्माण किया और अखिल-जर्मन साम्राज्य के निर्माण की ओर एक बहुत बड़ा महत्वपूर्ण क़दम उठाया।

तटस्थता का पुरस्कार पाने का प्रयत्न—नेपोलियन को यह स्वप्न में भी आशंका नहीं हुई थी कि इतनी महत्वपूर्ण घटना इतनी शीघ्रता और सरलता से हो जायगी। फ्रान्स के द्वार पर ही एक शक्तिशाली राज्य क़ायम हो गया और वह देखता ही रहा। इतना बड़ा काम हो गया था और उसमें उसका कोई हाथ नहीं था, यद्यपि वह अपने आपको योरोप का भाग्य-निर्णय करनेवाला माने बैठा था।* उसने अपनी तटस्थता का पुरस्कार प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु उसमें भी बिस्मार्क ने उसे उल्लू बनाया। नेपोलियन ने पहले पेलेटिनेट माँगा परन्तु बिस्मार्क ने यह हँस कर कह दिया कि पेलेटिनेट तो बेवेरिया का था। फिर उसने बेल्जियम की माँग की। बिस्मार्क बेल्जियम को दे ही कैसे सकता था? उसने उसकी यह माँग १८७० में संसार के सामने प्रकट कर दी जिसके परिणामस्वरूप नेपोलियन की बड़ी बदनामी हुई और वह इङ्गलैण्ड की सहानुभूति भी खो बैठा। तब उसने लुक्सेमबर्ग प्राप्त करना चाहा। लुक्सेमबर्ग की स्थिति बड़ी विचित्र थी। वह जर्मन राज्य-संघ का सदस्य था परन्तु उसमें शासन हॉलैण्ड के राजा का था और सेना प्रशा की रहती थी। उसने हॉलैण्ड के राजा से उसे मोल लेने की बातचीत की। डच राजा तो राज़ी हो गया परन्तु बिस्मार्क ने इस सौदे पर आपत्ति की। पर इस समय न नेपोलियन और न बिस्मार्क ही युद्ध के लिये तैयार था। अतः इस मामले पर लण्डन के एक सम्मेलन में निर्णय हुआ (मई, १८६७)। लुक्सेमबर्ग योरोपीय गारण्टी के साथ तटस्थ घोषित कर दिया गया, जर्मनी से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा परन्तु डच राजा के हाथों में उसकी संप्रभुता बनी रही। लुक्सेमबर्ग के क़िले तोड़ दिये गये और वहाँ से प्रशा की सेना हटा ली गई। नेपोलियन को निराशा, बदनामी और अपमान के अतिरिक्त कुछ न मिला। "१८६६ के युद्ध से फ्रेञ्च साम्राज्य के लिये उतना ही बड़ा सङ्कट खड़ा हो गया जितना ऑस्ट्रियन साम्राज्य के लिये।"† मार्शल राँदों (Randon) ने ऑस्ट्रिया के युद्ध पर

* Fisher : Bonapartism, p. 188.

† Quoted in Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 220.

अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि सेडोवा की लड़ाई में आस्ट्रिया नहीं वरन् फ्रांस पराजित हुआ है ।* बिस्मार्क ने बड़ी चतुराई के साथ उसे युद्ध से अलग रखा था। और बाद में उसे अपमानित करने में उसने कोई कसर नहीं छोड़ी । उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिल गई और उसका कोई साथी नहीं रहा । बिस्मार्क की पूरी योजना तैयार थी । वह जानता था कि ऑस्ट्रिया के बाद फ्रान्स से युद्ध करना पड़ेगा । उस युद्ध में उसे परास्त करने की तैयारी उसने उसे निर्बल बना कर अभी से प्रारम्भ कर दी थी ।

विषम स्थिति—अब नेपोलियन के बुरे दिन आ गये थे । वह वृद्ध होता जा रहा था और थक गया था । योरोप में सर्वत्र उसके प्रति अविश्वास व्याप्त हो रहा था और फ्रान्स के अन्दर भी उसका विरोध बढ़ रहा था । वह इटली में बड़ी बुरी तरह उलझ रहा था । जो कुछ १८५९-६० में हुआ था उससे, जैसा हम देख चुके हैं, सार्डिनिया तो नाराज़ हुआ ही था, फ्रान्स में भी उदारवादी तथा केथोलिक दोनों नाराज़ थे । केथोलिकों को प्रसन्न करने के लिये १८६७ में जब गेरिबाल्डी ने रोम पर अधिकार कर लिया तो पोप की सहायता के लिये उसने सेना भेजी थी जो गेरिबाल्डी के साथियों को परास्त करने के बाद पोप की सहायता के लिये वहीं बनी हुई थी । रोम में फ्रेञ्च सेना की उपस्थिति से वह बड़ी उलझन में फँस गया । सेना को वहाँ से हटाने का अर्थ केथोलिकों को नाराज़ करना तथा उसको वहीं बनाये रखने का अर्थ था इटली को अधिक अप्रसन्न करना और प्रशा के साथ होनेवाले युद्ध में इटली की सहायता से वंचित रहना । देश के अन्दर भी उसकी स्थिति बड़ी विकट होती जा रही थी । उसके प्रति असन्तोष बढ़ता जा रहा था और १८६७ के बाद से बहुत से प्रतिक्रियावादी लोग, जो उसका पहले से समर्थन कर रहे थे, फिर राजवंश के किसी व्यक्ति को सिंहासन पर बिठाने की बात सोचने लगे थे । बहुत से मध्यमवर्गीय उदारवादी लोग गणतन्त्रीय बनते जा रहे थे । पार्लामेण्ट के १८६९ के निर्वाचन में समस्त सरकारी प्रयत्नों के विपरीत ५० राजसत्तावादी तथा ४० गणतन्त्रवादी चुने गये थे । यह देख कर अपना अधिकार क़ायम रखने के लिये उसने कई उदारवादी रियायतें दीं । प्रेस पर से कड़े नियन्त्रण हटा लिये, मन्त्रियों की विधायिका के प्रति जिम्मेदारी स्वीकार कर ली और एक उग्र उदारवादी एमिली ऑलिविए (Emile Olivier) को जो सदा उसकी आलोचना किया करता था, अपना प्रधान मन्त्री बनाया । ऑलिविए की सहायता से उसने साम्राज्य के लिये एक नया उदार संविधान भी बनाया जिसे जनता के बहुमत ने स्वीकार भी कर लिया (१८७०)।† परन्तु इन बातों से उसकी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ, उसका विरोध बढ़ता ही रहा ।

---

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 220.

† Hayes and Cole : A History of Europe, Vol. II, p. 252.

स्थिति सुधारने का अन्तिम प्रयत्न—नेपोलियन एक महान् जुआरी था। अपनी स्थिति को निरन्तर बिगड़ते देखकर उसने एक बहुत बड़ा दाँव खेलने का विचार किया। समस्त फ्रेञ्च जनता को अपने साथ लाने की एक तरकीब थी—प्रशा की अध्यक्षता में जर्मनी के राजनीतिक एकीकरण से फ्रान्स के लिये उत्पन्न होनेवाले सङ्कट की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करना। फ्रान्स के उदारवादी लोग प्रशा को प्रतिक्रियावादी समझ कर उससे घृणा करते थे। केथोलिक लोग उसके प्रोटेस्टेण्ट होने के कारण उससे अप्रसन्न थे। देशभक्त लोग अपने द्वार पर एक शक्तिशाली राज्य खड़ा होता हुआ देख कर सशङ्क हो रहे थे। शताब्दियों से जर्मनी विभक्त था और उसका विभक्त रहना ही वे फ्रान्स के हित में समझते थे। संयुक्त जर्मनी से फ्रान्स की सुरक्षा को उन्हें खतरा नज़र आता था, परन्तु नेपोलियन में प्रशा से युद्ध करने का साहस नहीं था। वह अपने आपको अकेला पा रहा था। रूस, ऑस्ट्रिया तथा इटली उससे नाराज़ थे, इङ्गलैण्ड के राजनीतिज्ञों को उसमें विश्वास नहीं था और ब्रिटिश जनमत उसके विरुद्ध हो रहा था। दक्षिणी जर्मनी के राज्यों, विशेषकर बेवेरिया, से उसे सहायता की आशा थी परन्तु उन्हें भी उसकी ओर से शङ्का उत्पन्न हो गई थी और प्रशा से उनकी मित्रता थी। पेलेटिनेट के प्रश्न पर बेवेरिया नेपोलियन से असन्तुष्ट हो गया था। ऐसी अवस्था में प्रशा से युद्ध छेड़ना जुआ खेलना था, परन्तु फ्रान्स के अन्दर बढ़ते हुए विरोध को रोकने तथा योरोप में नष्ट होती हुई राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने का उसके सामने यही एकमात्र उपाय था। यदि फ्रान्स युद्ध में सफल रहा और प्रशा को जर्मनी का एकीकरण करने से रोक सका तो योरोप में फ्रान्स का प्राधान्य और फ्रान्स में नेपोलियन का राज्य सुनिश्चित हो जाने की सम्भावना थी।

एम्स का तार—उधर बिस्मार्क जर्मनी की एकता के लिये फ्रान्स की पराजय को आवश्यक समझता था और फ्रान्स को भड़का कर उससे युद्ध छिड़वाने के प्रयत्न में था। उसके लिये अवसर भी शीघ्र ही मिल गया। १८६८ में स्पेन के उदारवादियों ने क्रान्ति करके अपनी रानी द्वितीय इसाबेला को सिंहासनच्युत कर दिया था और वे अपने लिये एक नया सांविधानिक शासक खोज रहे थे। कई जगह से इन्कार होने के बाद उन्होंने प्रशा के राजा के एक सम्बन्धी हॉहेनत्सॉलर्न-सिगमेरिञ्जन के राजकुमार लिओपोल्ड को पसन्द किया। उसने पहले तो इन्कार कर दिया परन्तु जब बिस्मार्क ने कह-सुन कर फिर उसे निमन्त्रण दिलवाया तो उसके समझाने पर वह राजी हो गया (४ जुलाई १८७०)। नेपोलियन को इस प्रकार जर्मनी तथा स्पेन के राजवंश एक हो जाने से फ्रान्स की सुरक्षा को खतरा दिखाई दिया और उसने प्रशा तथा स्पेन से इसका तीव्र विरोध किया (६ जुलाई)। झगड़ा खड़ा होता हुआ देखकर लिओपोल्ड ने स्वयं अपनी स्वीकृति वापस ले ली (१२ जुलाई)। इस पर झगड़ा समाप्त हो जाता, परन्तु अपने सलाहकारों के दबाव में आकर नेपोलियन ने प्रशा पर कूटनीतिक पराजय का

अपमान लादना चाहा। उसने बर्लिन में स्थित फ्रान्स के राजदूत बेनेडिटी के द्वारा प्रशा के राजा से भविष्य में कभी स्पेन के सिंहासन के लिये हहिन्जोलर्न वंश के किसी भी व्यक्ति का समर्थन न करने का स्पष्ट वचन माँगा।*

फ्रेडरिक विलियम उन दिनों एम्स (Ems) नामक नगर में था। फ्रेञ्च राजदूत ने वहाँ उससे भेंट की। पहली भेंट में उसे कुछ निश्चयात्मक उत्तर नहीं मिला। जब उसने दूसरी भेंट की प्रार्थना की तो फ्रेडरिक विलियम ने उसको उत्तर भेज दिया कि मैं आज रात्रि को एम्स से रवाना हो रहा हूँ, इस कारण दूसरी भेंट सम्भव नहीं होगी। इस बात की सूचना तार द्वारा बिस्मार्क को भेज दी गई। बिस्मार्क ने, जो इस समय अपने सैनिक कर्मचारियों से परामर्श कर रहा था, उनसे इस बात का आश्वासन पाकर कि युद्ध की तैयारी पूरी थी, उस तार के शब्दों में कुछ परिवर्तन करके समाचार पत्रों के सम्वाददाताओं को दे दिया। तार में इस प्रकार संशोधन किया गया था कि जर्मनी में तो लोग समझें कि फ्रेञ्च राजदूत ने उनके राजा को अपमानित किया और फ्रान्स में लोग समझें कि प्रशा के राजा ने फ्रान्स के राजदूत का अपमान किया।‡ इस चाल से बिस्मार्क दोनों देशों में युद्ध की मनोवृत्ति उत्पन्न करना और विशेषकर फ्रान्स को भड़काना चाहता था। चाल सफल हो गई। एम्स का तार पेरिस के समाचारपत्रों में १४ जुलाई को प्रकाशित हुआ और सारे नगर में प्रशा के प्रति भयंकर

---

* वास्तव में यह काम फ्रेञ्च विदेशी मन्त्री ग्रेमोंत के ड्यूक (Duke of Gramont) का था। फ्रेञ्च सरकार को भय था कि लिओपोल्ड कहीं फिर स्पेन जाने का प्रयत्न न करे। प्रधान मन्त्री ओलिविए तथा विदेश मन्त्री ग्रेमोंत को प्रशा के राजा तथा बिस्मार्क का विश्वास नहीं था और वे प्रशा के राजा से स्पष्ट वचन ले लेना चाहते थे। इस प्रकार उनका इरादा प्रशा के राजा तथा बिस्मार्क का वैयक्तिक तथा कूटनीतिज्ञ अपमान करने का था। ग्रेमोंत ने नेपोलियन, प्रधान मन्त्री या किसी मध्य व्यक्ति को सूचना दिये बिना अपने ही उत्तरदायित्व पर बेनेडिटी के द्वारा प्रशा के राजा से स्पष्ट वचन की माँग की। Robertson : Bismarck, pp. 268-269.

शापिरो इस युद्ध का दोष नेपोलियन पर ही आरोपित करता है। उसका कथन है कि यदि कभी कोई निरर्थक युद्ध हुआ तो वह १८७० का फ्रान्स और प्रशा का युद्ध था। यह फ्रान्स का युद्ध नहीं, वरन् नेपोलियन का युद्ध था, जिसका उद्देश्य अपने गौरव की वृद्धि एवं अपने वंश की सुरक्षा था। दोनों राज्यों के बीच झगड़े के लिये कोई आर्थिक अथवा प्रादेशिक कारण नहीं थे। नेपोलियन ने अपने स्वार्थ को ही फ्रान्स का हित मान रखा था। उसके कोष में फ्रान्स और नेपोलियन पर्यायवाची थे। Schapiro : Modern and Contemporary European History, pp. 243-44.

‡ फ्रेडरिक विलियम के तार तथा उसके संशोधित रूप की नक़लें Robertson : Bismarck में पृष्ठ ४६६-७ पर दी हुई हैं। Ketelbey : A History of Modern Times, p. 275 पर पादटिप्पणी में भी बिस्मार्क के संशोधित संवाद की नक़ल दी हुई है।

क्रोध फैल गया। सब तरफ से प्रशा से युद्ध छेड़ने की माँग होने लगी। नेपोलियन युद्ध के लिये तैयार नहीं था; परन्तु उसने जनता की माँग तथा अपने मन्त्रियों की सलाह को स्वीकार करके युद्ध छेड़ने का निर्णय कर लिया और दूसरे ही दिन (१५ जुलाई) युद्ध की घोषणा कर दी गई।

जर्मनी से युद्ध—युद्ध की घोषणा १६ जुलाई को बर्लिन पहुँची। वहाँ युद्ध की पूरी-पूरी तैयारी थी। २० जुलाई को वेवेरिया प्रशा के साथ शामिल हो गया। प्रशा की ५ लाख सुशिक्षित तथा सुसज्जित सेना फ्रान्स के लिये रवाना हो गई और आवश्यकता पड़ने पर काम आने के लिये उतनी ही सेना पीछे तैयार रही। सेना फ्रान्स में घुस पड़ी और २ अगस्त को युद्ध आरम्भ हो गया।

फ्रान्स में केवल युद्ध का जोश ही था, तैयारी बिलकुल नहीं थी।* वह अकेला था। उसे ऑस्ट्रिया से सहायता की आशा थी और उसके लिये बातचीत भी हुई थी परन्तु कुछ भी निश्चय होने के पहले युद्ध आरम्भ हो गया। उधर बिस्मार्क ने रूस को पेरिस की सन्धि की काले सागर से सम्बन्ध रखनेवाली शर्तों को तोड़ने के लिये प्रोत्साहित करके अपनी ओर मिला लिया था और उसे तटस्थ रहकर ऑस्ट्रिया को चुप रखने के लिये तैयार कर लिया था। नेपोलियन को दक्षिणी जर्मनी के राज्यों से भी आशा थी परन्तु वे सब प्रशा से मिल गये। इटली और इंगलैण्ड तटस्थ रहे।

पराजय और द्वितीय साम्राज्य का अन्त—प्रशा की सेनाओं ने बड़ी तेज़ी से आक्रमण किया। फ्रेञ्च सैनिकों ने बड़ा साहस और बड़ी वीरता

---

* फ्रान्स ऊपर से देखने में बड़ा शक्तिशाली था परन्तु वास्तव में पलड़ा प्रशा का भारी था। प्रशा के पास संसार की सर्वश्रेष्ठ सेना थी, सर्वश्रेष्ठ सेनापति (मोल्टके) था और सर्वश्रेष्ठ कूटनीतिज्ञ (बिस्मार्क) था तथा इसका प्रयोजन (राष्ट्रीय एकता) भी उत्तम था। उधर फ्रान्स की सेना असंगठित थी यद्यपि उसके सिपाही वीर थे, उसके सेनापति अयोग्य थे और उसका शासक नेपोलियन दुर्बल एवं अस्थिरचित्त था तथा उसका प्रयोजन—एक पड़ोसी देश के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप—क्षुद्र था। Schapiro : Modern and Contemporary European History, p. 243

युद्ध के लिये किसी भी प्रकार की तैयारी का आश्चर्यजनक अभाव था। पहले ही दिन से प्रत्येक वस्तु की कमी दिखाई देने लगी। कहीं सेना के लिये रोटी नहीं थी तो कहीं डेरे नहीं थे; डेरे थे तो डेरों को गाड़ने के लिये मेखें नहीं थीं; तोपें थीं तो उनके लिये गोला-बारूद नहीं था; घोड़े थे तो उनके लिये जीन नहीं थीं; मशीनगनें थीं तो उन्हें चलानेवाले नहीं थे। कोई योजना नहीं थी, कोई नक्शे नहीं थे। सिपाहियों की एक टुकड़ी एक जगह पहुँचती थी तो उसका अफसर दूसरी जगह पहुँच जाता था। २१ जुलाई को जनरल मिकेल ने तार भेजा—"मैं बेल्फोर्ट पहुँच गया हूँ, परन्तु मुझे मेरी ब्रिगेड नहीं मिल रही। डिविजन का जनरल भी मुझे नहीं मिल रहा। मैं क्या करूँ? मुझे पता नहीं मेरी रेजिमेंट कहाँ है?" Quoted in Hazen : Europe since 1815, p. 251.

प्रदर्शित की परन्तु उनकी संख्या कम थी और अफसर भी अयोग्य थे। कोई संगठन नहीं था, युद्ध-संचालन की कोई योजना नहीं थी और शस्त्रादि युद्ध-सामग्री की भी कमी थी।* मार्शल मेकमेहॉ को, जो युद्ध-संचालन के लिये जल्दी से एल्जीरिया से वापस बुला लिया गया था, स्ट्रासबुर्ग के निकट आरम्भ में ही जर्मनी के युवराज ने इसे बुरी तरह हराया कि उसे अपनी अधिकांश सेना को अल्सास से हटा कर शालों में आश्रय लेना पड़ा (६ अगस्त)। मार्शल बेज़ेन की कमाण्ड में दूसरी फ्रेञ्च सेना को जर्मनों ने लोरेन में ग्रेवलोत (Gravelotte) नामक स्थान पर हराया और वह मेत्स के गढ़ में बन्द हो गया। कुछ जर्मन सेना को मेत्स का घेरा डालने के लिये छोड़कर जर्मन युवराज पेरिस की ओर बढ़ा। मेकमेहॉ मेत्स में बन्द बेज़ेन की सहायता के लिये आगे बढ़ा। नेपोलियन भी उसके साथ था। परन्तु मार्ग में

ही सीडान (Sedan) के निकट उसकी १,३०,००० सेना को जर्मनों ने घेर लिया। फ्रेंच सेना बड़ी वीरता से लड़ी, परन्तु २ सितम्बर को उसकी पराजय हुई। नेपोलियन ने प्रशा के राजा को आत्म-समर्पण कर दिया और १,०४,००० सैनिकों के साथ युद्ध-बन्दी हो गया। इस प्रकार डेढ़ महीने के अन्दर ही नेपोलियन परास्त होकर

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 225.

बन्दी हो गया और द्वितीय फ्रेञ्च साम्राज्य का अन्त हो गया। सीडान के समाचार जब पेरिस पहुँचे तो वहाँ राजनीतिक क्रान्ति हो गई। साम्राज्ञी भाग कर इंगलेण्ड चली गई। पेरिस की जनता ने जूल्स फ़ेवर (Jules Favre) के नेतृत्व में नेपोलियन को सिंहासनच्युत करके गणतन्त्र की घोषणा कर दी (४ सितम्बर १८७०) और शान्ति होने तक के लिये राष्ट्रीय रक्षा के लिये जनरल ट्रोचू (Trochu), जूल्स फ़ेवर (Jules Favre) तथा गेम्बेता (Leon Gambetta) की एक अस्थायी सरकार नियुक्त की गई जिसने कुछ दिनों तक युद्ध जारी रखा।* युद्ध के अन्त तक नेपोलियन क़ैद रहा। युद्ध की समाप्ति पर वह मुक्त होकर इङ्गलेण्ड चला गया, जहाँ १८७३ में उसकी मृत्यु हो गई।

समीक्षा—इस प्रकार तृतीय नेपोलियन की सत्ता का अन्त हुआ जिसके लिये किसी ने एक आंसू तक न बहाया। आश्चर्य की बात तो यह थी कि चार महीने पहिले ही फ्रेञ्च जनता के विशाल बहुमत ने उसके द्वारा प्रतिपादित नवीन संविधान को और उसके द्वारा उसकी सत्ता को फिर से स्वीकार किया था। नेपोलियन का पतन वास्तव में सीडान की पराजय के कारण नहीं हुआ था, उसके पतन का सूत्रपात तो १८६० में ही हो चुका था। नेपोलियन बोनापार्टवाद (Bonapartism) का प्रतीक था और, जैसा हम देख चुके हैं, बोनापार्ट के विचारों को जनता के सामने रख कर और बोनापार्ट के नाम से जनता को आकर्षित करके उसने सत्ता प्राप्त की थी। उसने बतलाया कि नेपोलियन के सिद्धान्त थे—प्रजातन्त्र, राष्ट्रीयता, शान्ति और धर्म। इन सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए उसने उनमें चार सिद्धान्त और जोड़े थे—गौरव, निपुणता, सामाजिक सुधार तथा १८१५ की सन्धियों का विरोध। उसने कहा था कि नेपोलियन का नाम स्वयं एक पूर्ण कार्यक्रम था। उसका अर्थ था—देश के अन्दर व्यवस्था, सत्ता, धर्म तथा लोक कल्याण और बाहर राष्ट्रीय गौरव। उसने साम्राज्य का अर्थ शान्ति बतलाया था और जो कुछ वह देश के लिये करना चाहता था उसका एक मनोहारी चित्र जनता के सामने प्रस्तुत किया था।

सफलताएँ उसने जनता को जितनी आशाएं दिलाई थीं उनमें से अपने साम्राज्य के प्रथम आठ वर्षों में उसने बहुत सी पूरी कीं। उसने लोक-कल्याण के लिये बहुत से काम किये, ग़रीबों के लिये घरों की व्यवस्था की और उन्हें औषधि-सम्बन्धी, क़ानूनी, व्यावसायिक तथा आर्थिक सुविधाएँ दीं। उसने कृषि, उद्योग-धन्धों, शिक्षा तथा कला को प्रोत्साहन दिया, बन्दरगाह बनवाये, नहरें खुदवाईं और सड़कों तथा रेलों का निर्माण करवाया। उसने पेरिस की उन्नति की और उसे एक अत्यन्त सुन्दर नगर

* Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centnries, p. 273.

बना कर उसे फ्रान्स का गौरव बनाया। उसने फ्रान्स के अन्दर विभिन्न वर्गों को अपने भेदों को भुला कर एक विशाल राष्ट्रीय दल बनाने का प्रयत्न किया और कुछ वर्षों तक उसे इसमें सफलता भी प्राप्त हुई। उसने फ्रान्स के औपनिवेशिक साम्राज्य में वृद्धि की और अपनी विदेश-नीति में भी फ्रान्स के लिये गौरव प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। उसने क्रीमिया के युद्ध में रूस को परास्त करके मॉस्को की पराजय की कालिमा को धो दिया और फ्रान्स को योरोप का प्रमुख राष्ट्र बना दिया। रूमानिया को स्वतन्त्र होने में सहायता देकर तथा इटली में ऑस्ट्रिया को परास्त करके वियना की व्यवस्था को भंग करने में उसने सफलता प्राप्त की। द्वितीय गणतन्त्र को समाप्त करके सम्राट् बन कर और अपने साम्राज्य के लिये समस्त योरोपीय राज्यों का अनुमोदन प्राप्त करके १८१५ की संधियो को भङ्ग करना तो उसने पहले से ही आरम्भ कर दिया था, क्योंकि १८१५ की सन्धियों का एक प्रमुख सिद्धान्त फ्रान्स के सिंहासन से बोनापार्ट वंश को दूर रखना था।

असफलताएँ—इन सब बातों में सफल होते हुए भी वह कई बातों में असफल रहा। वह देश के विभिन्न दलों के बीच मध्यस्थ बन कर सब में समझौता कराना चाहता था, परन्तु इस नीति में उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। वह अपने लिये कोई शक्तिशाली दल न बना सका। सभी दल उससे नाराज़ रहे। समाजवादी और गणतन्त्रवादी उसके निरंकुश शासन से असन्तुष्ट रहे, केथोलिक दल उसकी इटली-सम्बन्धी नीति से रुष्ट रहा और व्यावसायिक एवं व्यापारिक वर्ग इङ्गलैण्ड के साथ उसकी मुक्त व्यापार की नीति के कारण उससे खिंचा रहा। इतने प्रकार के परस्पर विरोधी वर्गों में सामञ्जस्य स्थापित करना उसकी ही क्या, अच्छे से अच्छे राजनीतिज्ञ की सामर्थ्य से बाहर था। उसका निरंकुश शासन जनता अधिक सहन न कर सकी। उसने आरम्भ में 'द्वितीय साम्राज्य' को इस कारण स्वीकार कर लिया था कि अराजकता और समाजवाद से बचने का वही एक उपाय उसे दिखाई देता था।* किन्तु शान्ति एवं व्यवस्था की इच्छुक होते हुए भी फ्रेञ्च जनता अब निरंकुश शासन से सन्तुष्ट नहीं रह सकती थी और ऐसा शासन चाहती थी जो जनता की इच्छा को व्यक्त कर सकता। वह बड़े-बड़े काम करके फ्रान्स को चकित कर देना चाहता था, जनता की इच्छा के अनुकूल शासन नहीं।† कुछ दिनों तक जनता देश के अन्दर तथा बाहर उसकी योजनाओं की सफलता को देख कर चकित रही और उसकी निरंकुशता को सहन करती रही, परन्तु जब उसकी विदेश-नीति असफल होने लगी और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का ह्रास होने लगा तो वह उसके किये हुए भौतिक उपकारों को भूल गई और उसकी निरंकुशता का विरोध उत्तरोत्तर

* Fisher : Bonapartism, p. 201.

† Ketelbey : A History of the Modern Times, p. 284.

बढ़ता गया। इस बढ़ते हुए विरोध को शान्त करने के लिये उसने जब अपने निरंकुश साम्राज्य को उदारवादी सुधारो से धीरे-धीरे 'उदार' साम्राज्य में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया तब भी उदारवादियों को सन्तोष नहीं हुआ और विरोध बन्द नहीं हुआ, बल्कि भाषण तथा लेखन की स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने से विरोध अधिक और खुल्लम-खुल्ला होने लगा। उसके शत्रु जिनमें गेम्बेता मुख्य था, जनता के सामने उसका पिछला इतिहास रखने लगे और जिस जनतन्त्र की स्थापना करने की शपथ लेकर वह राष्ट्रपति बना था, उसी को धोखे से समाप्त कर देनेवाला हत्यारा कह कर उसकी निन्दा करने लगे और जनता में उसके प्रति जरा भी सहानुभूति न रही।

पतन के कारण—उसके पतन का मुख्य कारण, जैसा ऊपर के विवरण से मालूम होता है, उसकी विदेश-नीति की विफलता थी। उसकी विदेश-नीति में स्वयं अन्तर्विरोध था और उसकी गृह-नीति तथा विदेश-नीति में भी विरोध था। ऐसे विरोध के कारण उसकी विफलता आरम्भ से ही निश्चित थी। वह शान्ति और लोक-कल्याण चाहता था तथा इसके साथ ही फ्रान्स को योरोप में पुनः गौरव प्रदान करने की कामना भी करता था। फ्रान्स को पुनः गौरव प्रदान करने का अर्थ था युद्ध परन्तु युद्ध तथा शान्ति दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। उसकी विदेश-नीति के आधार थे—केथोलिक धर्म का समर्थन तथा राष्ट्रीयता की सहायता। परन्तु इटली में इन दोनों उद्देश्यों की एक साथ पूर्ति नहीं हो सकती थी। इटली की राष्ट्रीय एकता की आकांक्षा की पूर्ति के लिये उसने सार्डिनिया को सहायता का वचन दिया, परन्तु केथोलिक धर्म-गुरु पोप को हानि न पहुँचाने के उद्देश्य से उसने साथ में केवल ऑस्ट्रिया को इटली से बाहर निकाल कर उत्तरी इटली को सार्डिनिया के साथ शामिल करने तथा समस्त इटली का पोप की अध्यक्षता में एक संघ बनाने की ही शर्त रखी, परन्तु पोप की अध्यक्षता में इटली की एकता असम्भव थी, फिर भी वह अपनी असम्भव नीति का ही अवलम्बन करता रहा और समय-समय पर पोप की रक्षा करता रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे कई असङ्गत काम करने पड़े। द्वितीय गणतन्त्र का राष्ट्रपति बनते ही उसने रोम में मेज़िनी द्वारा स्थापित गणतन्त्र को नष्ट करके पोप की सहायता की। एक गणतन्त्र का राष्ट्रपति दूसरे गणतन्त्र को नष्ट करे यह कितनी असङ्गत बात थी। बाद में उसने सार्डिनिया को सहायता दी, परन्तु अन्य अनेक कारणों के साथ-साथ फ्रान्स के केथोलिकों को अप्रसन्न न करने की इच्छा से उसने विक्टर इमेन्युएल के साथ विश्वास-घात किया जिससे उसकी बड़ी निन्दा हुई और इटलीवाले, जिन्होंने उसका एक उद्धारक के रूप में स्वागत किया था, उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने की जगह उसे विश्वासघाती कह कर उससे घृणा करने लगे। इस प्रकार उसने इटलीवालों की कृतज्ञता तो खो ही दी, साथ ही ऑस्ट्रिया को भी अप्रसन्न कर लिया। इसके बाद जब पार्मा, मोडीना, टुस्कनी तथा रोमान्या की प्रजा ने जनमत द्वारा अपने-अपने राज्यों को

सार्डीनिया के साथ शामिल करने की इच्छा प्रकट की तो उसने सेवॉय और नीस फ़ान्स के लिये स्वीकार कर अपनी अनुमति दे दी, यद्यपि रोमाग्न्या पोप के राज्य में था और इससे पोप की हानि होती थी। इस कार्य से फ़ान्स का कैथोलिक दल तो अप्रसन्न हुआ ही, साथ ही इंगलैण्ड भी जो अभी तक उसका मित्र बना हुआ था, उसके प्रति सशंक हो गया। इस प्रकार इटली-सम्बन्धी नीति के कारण फ़ान्स के अन्दर और बाहर सब जगह उसकी स्थिति बड़ी अलोकप्रिय हो गई। इस नीति ने उसे 'साँप-छछूँदर' वाली स्थिति में डाल दिया था। राष्ट्रीयता से उसे स्वाभाविक सहानुभूति थी और वह इटली की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति चाहता था, परन्तु इसके लिये कार्य करने में फ़ान्स का कैथोलिक दल नाराज़ होता था। वह उससे अलग नहीं रह सकता था क्योंकि उसे फ़ान्स के उदारवादियों के कोप का डर था। वह किसी एक ओर निर्णय नहीं कर पाया। उसने दोनों पक्षों को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जिसका परिणाम यह हुआ कि वह किसी पक्ष को भी प्रसन्न न कर सका और दोनों ही उससे असन्तुष्ट बने रहे।

उसे जर्मन राष्ट्रीयता से भी सहानुभूति थी और यद्यपि जर्मनी में उसे इटली जैसी कोई कठिनाई नहीं थी, फिर भी उसके प्रति भी उसका व्यवहार असंगत रहा। उसने प्रशा की राष्ट्रीय एकीकरण की योजना को प्रोत्साहन दिया, श्लेस्विग-हॉल्स्टाइन की डचियों को प्रशा में सम्मिलित करने की सलाह दी और ऑस्ट्रिया के साथ होनेवाले प्रशा के युद्ध में वह तटस्थ रहा, हालाँकि इस तटस्थता के पुरस्कारस्वरूप उसे प्रशा से कुछ प्रदेश प्राप्त करने की आशा थी। अभी तक उसे प्रशा की शक्ति का पूरा-पूरा पता न था और वह यह नहीं समझता था कि प्रशा को इतनी जल्दी और इतनी आशातीत सफलता प्राप्त हो जायगी। जब ऑस्ट्रिया पराजित हो गया और प्रशा की अध्यक्षता में समस्त उत्तरी जर्मनी एक राज्य बन गया, तब उसकी आँखें खुलीं और उसने देखा कि फ़ान्स के द्वार पर ही उसी के प्रोत्साहन से एक बड़ा सशक्त प्रतिद्विन्दी राज्य उत्पन्न हो गया जिससे फ़ान्स की सुरक्षा को खतरा रहेगा। फ़ान्स की जनता ने उसकी अकर्मण्यता को ही इसके लिये उत्तरादायी ठहराया, क्योंकि उसकी दृष्टि में यह तटस्थता नहीं, अकर्मण्यता थी। जनता को सन्तुष्ट करने के लिये जब उसने प्रशा से कुछ प्रदेश लेने का प्रयत्न किया तो बिस्मार्क ने उसे और भी उल्लू बनाया। इसके परिणामस्वरूप उसकी स्थिति अत्यन्त निर्बल हो गई और अपनी तथा अपने साम्राज्य की रक्षा के लिये उसे प्रशा से युद्ध करना पड़ा जिसने उसका और उसके साम्राज्य दोनों का अन्त कर दिया।

दुर्बलताएँ—वास्तविक बात यह थी कि वह अपने नाम से लाभ उठा कर और बोनापार्टवाद की दुहाई देकर सत्तारूढ़ हुआ था, परन्तु अपने नाम के अनुरूप कार्य करने की उसमें योग्यता नहीं थी। वैसे वह योग्य था, उसमें राजनीतिज्ञ के उपयुक्त गुण

थे और व्यक्तिगत साहस भी था परन्तु इसके साथ ही वह बड़ा दीर्घसूत्री था। वह दृढ़-निश्चयी भी था और कोई उसे उसके निश्चय से हटा नहीं सकता था, किन्तु कोई यह नहीं कह सकता था कि वह अपने निर्णय के अनुसार कब काम करेगा। वह विरोध नहीं सह सकता था और अपने साथ आज्ञाकारी सेवक ही रखता था। यही कारण था कि गिज़ो और थियर जैसे व्यक्ति उसके साथ काम करने को तैयार नहीं हुए। युवावस्था में उसका गुप्त षड्यन्त्रकारियों से घनिष्ठ सम्पर्क रहा था और उसने षड्यन्त्र करने में कुशलता प्राप्त कर ली थी। जिस प्रकार उसने सत्ता प्राप्त की थी उससे उसकी षड्यन्त्र-कुशलता का प्रमाण मिलता है। इसी कारण वह किसी पर सरलता से विश्वास नहीं करता था। वह स्वभाव से सुस्त था और काम करना उसे अच्छा नहीं लगता था, परन्तु इसके साथ ही वह दूसरों पर विश्वास करके अपनी ओर से उन्हें काम भी नहीं करने देता था। यही कारण था कि उसका शासन बड़ा निकम्मा और दोषयुक्त रहा। प्रशा के साथ होनेवाले युद्ध में इसकी पोल खुली और वह अपने साथ अपने साम्राज्य को भी ले डूबा। इसी कारण उसकी कूटनीति भी असफल रही और अपने शासन के आरम्भ में उसने जो सफलता प्राप्त की थी वह विफलता में परिणत हो गई। उसके समय में फ़ान्स योरोप में प्रमुख था और फ़ान्स में उसकी स्थिति केन्द्रीय थी। यदि उसमें योग्यता होती तो वह योरोप का मार्ग-दर्शन करता, परन्तु उसने योरोप को मार्ग-दर्शन करने की जगह उसे भ्रम में डाल दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अन्त में न तो उसे कोई समझ पाया और न कोई उस पर विश्वास ही कर सका।* आरम्भ में उसका इंगलैण्ड के साथ बड़ा अच्छा सम्बन्ध था परन्तु धीरे-धीरे उसने उसे नाराज़ कर लिया। क्रीमियन युद्ध के बाद उसने रूस से भी अपना सम्बन्ध सुधार लिया था परन्तु पोलैण्ड के विद्रोह के साथ सहानुभूति प्रकट करके उसने रूस के साथ अपने सम्बन्ध फिर बिगाड़ लिये। वह दूसरों की सहायता करता था परन्तु ऐसे ढंग से कि वे कृतज्ञ मित्र बनने की जगह उसके शत्रु बन जाते थे। १८६६ में उसने प्रशा की सहानुभूति खो दी परन्तु ऑस्ट्रिया को वह अपना मित्र नहीं बना सका। प्रशा के विरुद्ध युद्ध करते समय उसे सहायता की आवश्यकता थी; ऑस्ट्रिया से उसकी बातचीत चल रही थी और कुछ दिनों में उसकी सहायता उसे प्राप्त हो सकती थी, परन्तु उसने जल्दी की और प्रशा से युद्ध करके अपना विनाश कर लिया।† उसकी अनेक असफलताओं के कारण वह प्रायः मूर्ख कहा जाता है। मेक्सिको में उसने जिस ढंग से कार्य किया और जिस प्रकार बिस्मार्क ने उसे उल्लू बनाया उन बातों से वह स्पष्टतः मूर्ख मालूम होता है। परन्तु अपने शासन के प्रथम आठ वर्षों में उसने जो कुछ किया उससे उसकी राज-

* Ketelbey : A History of Modern Times, p. 285.

† Fisher : Bonapartism, 203.

नीतिज्ञता में सन्देह नहीं हो सकता। षड्यन्त्रकुशल होने के कारण कभी-कभी वह महान् खल भी कहा जाता है। विक्टर ह्यूगो उसे बड़े तिरस्कारपूर्वक 'लघु नेपोलियन' (Napoleon the Little) कहा करता था। यह बात सत्य भी थी। नेपोलियन नामधारी होते हुए और उसका अनुकरण करने का दावा करते हुए भी उसमें उसके जैसे गुण बिलकुल नहीं थे। महान् नेपोलियन बड़ा दूरदर्शी था और बहुत पहले से पूरी योजनाएँ बना रखता था, किन्तु वह कभी दूर की योजनाएँ नहीं बनाता था और जिस समय जैसी आवश्यकता देखता था वैसा ही करता था।* उसके हौसलों, हितों तथा सिद्धान्तों में विरोध था परन्तु उसमें महान् नेपोलियन के समान सामञ्जस्य स्थापित करने की योग्यता नहीं थी। भाग्यवादिता तथा आत्म-विश्वास-हीनता से उसकी शक्तियाँ कुण्ठित हो गई थीं। उसे विश्वास था कि जिस प्रकार भाग्य से उसे साम्राज्य मिला था उसी प्रकार सब बातें ठीक होती रहेंगी। अपने समय में वह एक पहेली बना रहा।† वास्तव में उसका सच्चा चरित्र-चित्रण कठिन है।

———

* Ketelbey : A History of Modern Times, p. 285.

† Lodge and Horn : A History of Europe (1789-1920), p. 297.

अध्याय १८

राष्ट्रीयता की विजय—इटली का एकीकरण

पूर्व प्रयत्नों के परिणाम—इटली के राष्ट्रीवादियों एवं उदारवादियों ने १८४८-४६ में इटली को ऑस्ट्रिया से मुक्त करने और समस्त प्रायद्वीप का एकीकरण करके एक लोकप्रिय राष्ट्रीय शासन निर्माण करने का जो महान् प्रयत्न किया था वह, जैसा हम देख चुके हैं, असफल हो चुका था। सार्डिनिया परास्त हो चुका था, लुई नेपोलियन की तलवार ने रोमन गणतन्त्र का अन्त करके पोप को पुनः सिंहासन पर बिठला दिया था। उत्तर में ऑस्ट्रिया का प्राधान्य पुन: स्थापित हो चुका था, दक्षिण में द्वितीय फर्डिनेण्ड ने पुनः अपनी शक्ति प्राप्त करली थी और इस तरह समस्त इटली में प्रतिक्रिया का अखण्ड राज्य स्थापित हो चुका था। इस अन्धकार में यदि कहीं कुछ प्रकाश दिखाई देता था तो सार्डीनिया के राज्य में। फिर भी यह प्रयत्न बिलकुल निष्फल नहीं हुआ था। इस असफलता ने कई बातें स्पष्ट कर दी थीं। अभी तक राष्ट्रीय एकता तो सब प्रकार के प्रतिवादियों का समान लक्ष्य था परन्तु उस लक्ष्य की प्राप्ति के उपायों के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद था। इस सम्बन्ध में तीन स्पष्ट मत थे। मेज़िनी ऑस्ट्रिया को इटली से निकाल कर और निरंकुश शासन को समाप्त कर एक प्रजातन्त्रीय गणतन्त्र की स्थापना करना चाहता था। एक दल राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण केथोलिकों का था जो नियोगेल्फ़ (Neo-Guelfs) कहलाता था जिसका नेता विन्सेन्ज़ो जिओबर्टी था जिसने अपने विचार 'प्राइमेटो' नामक अपनी पुस्तक में प्रकट किये थे। जिओबर्टी राष्ट्रीयता, उदारवाद तथा परम्परागत धर्म को शामिल करके समस्त इटली का पोप की अध्यक्षता में एक संघ बनाना चाहता था। १८४६ में, जब सोलहवें ग्रेगरी की मृत्यु के उपरान्त नवां पायस पोप बना जो ऑस्ट्रिया-विरोधी एवं उदारवादी था, इस दल को अपनी आशा पूरी होती हुई दिखाई दी थी। पायस के पोप बनने पर मेज़िनी ने उसका स्वागत किया था और चार्ल्स एल्बर्ट ने भी ऑस्ट्रिया से युद्ध छिड़ने पर उसकी सहायता करने का वचन दिया था, परन्तु पायस का उदारवाद अधिक दिनों तक नहीं निभा और १८४६ तक वह लुप्त हो गया। तीसरा दल पायडमॉण्ट के उदारवादियों का था जिनका विश्वास था कि ऑस्ट्रिया का बहिष्कार सार्डिनिया का राजा ही कर कर सकता था और उसी के द्वारा राष्ट्रीय एकता प्राप्त हो सकती थी। ये तीनों दल समझते थे

कि इटली की मुक्ति स्वयं इटली के निवासी ही कर सकते थे। १८४८-४९ की विफलता से यह स्पष्ट हो चुका था कि मेज़िनी तथा जिओबर्टी की योजनाओं की सफलता की कोई आशा नहीं थी। १८५१ में जिओबर्टी ने स्वयं स्वीकार किया था कि पायडमॉण्ट के युवक शासन को छोड़ अन्य कोई व्यक्ति मुझे ऐसा नहीं दिखाई देता जो इटली को मुक्त कर सके।* यह भी स्पष्ट हो चुका था कि इटली की मुक्ति की कोई भी योजना बाहर से सहायता प्राप्त हुए बिना सफल नहीं हो सकती थी। इस बात को सबसे पहले समझनेवाला काउण्ट कावूर (१८१०-१८६१) था जिसे विक्टर इमेन्युएल ने १८५२ में अपना प्रधान मन्त्री बनाया था।

कावूर—कावूर का पूरा नाम काउण्ट केमिलो डि कावूर (Camillo de Cavour) था। उसका जन्म १८१० में पायडमॉण्ट के एक कुलीन परिवार में हुआ था। उसे सैनिक शिक्षा दी गई थी और आरम्भ में वह सेना में इंजीनियर नियुक्त हुआ था। परन्तु बचपन से ही उस पर उदारवादी आन्दोलन का काफ़ी प्रभाव पड़ा चुका था और वह एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन का विरोधी बन गया था। वह अपने उदार विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करता था जिससे उसके अफ़सर उससे रुष्ट हो गये और कुछ समय तक वह क़रीब-क़रीब क़ैदी-सा रहा। अन्त में १८३१ में उसने सेना से त्यागपत्र दे दिया और अपनी ज़मींदारी पर रहने लगा। उन दिनों अवकाश होने से वह कई बार फ़्रान्स तथा इङ्गलैण्ड गया। उसने इङ्गलैण्ड के संविधान तथा वहाँ की स्थिति का बड़ा अच्छा अध्ययन किया। उसके आर्थिक एवं राजनीतिक विचार इसी निरीक्षण तथा ग्रे और पील के कामों के अध्ययन पर आधारित थे। वह नागरिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता में बड़ा विश्वास करता था और स्वतन्त्रतापूर्वक निर्वाचित पार्लामेण्ट को शासन का आवश्यक अंग समझता था।† अतः वह पायडमॉण्ट में उदारवादी सुधार चाहता था और सदा उसके लिये माँग करता रहा। जब १८४८ में चार्ल्स एल्बर्ट ने पायडमॉण्ट को संविधान प्रदान किया और पार्लमिण्ट की स्थापना की तो उसने उसका बड़े हर्ष से स्वागत किया। उसके एक वर्ष पहले उसने एक पत्र 'रिसॉर्जिमेण्टो' (Risorgimento) का सम्पादन आरम्भ किया था जिसके द्वारा वह जनता को सांविधानिक विचारों की शिक्षा दिया करता था। १८४८ में वह पायडमॉण्ट की पार्लामेण्ट का ट्यूरिन की ओर से सदस्य निर्वाचित हुआ और १८५० में वाणिज्य तथा कृषि-मन्त्री नियुक्त हुआ। आर्थिक एवं राजस्व-सम्बन्धी सिद्धान्तों का उसका बड़ा अच्छा ज्ञान था जिसकी सहायता से उसने पायडमॉण्ट की भौतिक समृद्धि की वृद्धि में बड़ा योग दिया। १८५१ में वह अर्थ-मन्त्री बना और दूसरे वर्ष (१८५२) उसकी प्रतिभा

---

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 182.

† Trevelyan : Garibaldi and the Thousand, p. 27.

से प्रभावित होकर विक्टर इमेन्युएल ने उसे प्रधान मन्त्री बनाया जिस पद पर वह मृत्युपर्यन्त बना रहा।

इटली की आवश्यकताएँ—कावूर अपने कर्तव्य को अच्छी प्रकार समझता था। उसे इटली को स्वतन्त्र करना और उसका राजनीतिक एकीकरण करना था। वह मेज़िनी की तरह काल्पनिक प्रकृति का नहीं था। वह व्यावहारिक था और प्रत्येक बात को व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखता था। वह भी ऑस्ट्रिया से घृणा करता था, परन्तु उसकी शक्ति को अच्छी प्रकार समझता था। वह समझता था कि ऑस्ट्रिया को इटली से निकाले बिना इटली का एकीकरण नहीं हो सकता, परन्तु मेज़िनी की तरह उसे विश्वास नहीं था कि इटलीवाले बिना बाहरी सहायता के स्वयं इस कार्य में सफल हो सकेंगे। वह देख चुका था कि उस समय तक जो उपाय प्रयुक्त हुए थे वे अनुपयुक्त थे और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक था कि ऑस्ट्रिया के समान ही किसी शक्तिशाली राज्य की सहायता प्राप्त की जाय। वह बहुत पहले से समझ रहा था कि इस कार्य में फ़्रान्स से ही सहायता मिल सकेगी। एक बार उसने कहा भी था, "हम चाहें या न चाहें, हमारा भाग्य फ़्रान्स पर निर्भर है।"*

वह यह भी अच्छी प्रकार समझता था कि इटली के स्वातन्त्र्य-संग्राम का नेतृत्व सार्डिनिया ही कर सकता था और सफल नेतृत्व के लिये यह आवश्यक था कि वह सब प्रकार से उन्नत दशा में हो तथा उसका शासन भी ऐसा हो जिससे समस्त इटली उसे आदर्श राज्य समझकर उसके नेतृत्व को स्वीकार कर सके और अन्त में उसमें शामिल हो सके। पायडमॉण्ट में १८४८ से सांविधानिक शासन चला आ रहा था। उसने सार्डिनिया-पायडमॉण्ट को पूर्णतया सांविधानिक राज्य बनाने का प्रयत्न किया। उसने प्रत्येक काम पार्लामेण्ट के द्वारा करके उसकी शक्ति बढ़ाई और राज्य के अन्दर स्वशासन एवं स्वतन्त्र संस्थाओं को प्रोत्साहित किया। उसने राज्य की आर्थिक उन्नति की ओर ध्यान दिया और वाणिज्य, व्यापार तथा व्यवसाय की उन्नति के लिये विशेष प्रयत्न किये। मुक्त व्यापार की नीति का अवलम्बन करके उसने विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन दिया, कारखानों को सरकारी सहायता दी और रेलों, सड़कों तथा नहरों का विस्तार किया। उसने कृषि की भी उन्नति की और दलदलों तथा ऊजड़ प्रदेशों को भी खेती के काम में लाना शुरू किया। उसने शिक्षा की भी उन्नति की। कैथोलिक लोग इटली की एकता के शत्रु थे। अतः उनका उसने दमन किया, चर्च के अनेक विशेषाधिकार छीन लिये और कई मठों को तोड़ दिया। सार्डिनिया को सैनिक दृष्टि से भी सुदृढ़ बनाना आवश्यक था, इस कारण उसने एक अनुभवी जनरल ला मारमोरा

---

* Robinson and Beard : The Development of Modern Europe, Vol. II, p. 94.

(La Marmora) को इस कार्य के लिये नियुक्त किया जिसने सेना के संगठन में सुधार करके उसको शक्तिशाली बना दिया। वह पायडमॉण्ट की उन्नति तो कर रहा था परन्तु इसके साथ ही शेष इटली के सहयोग की आवश्यकता को भी वह महसूस करता था। इटली के अन्य राजाओं का सहयोग प्राप्त करना तो कठिन था परन्तु अन्य राज्यों के प्रगतिवादी लोगों का सहयोग प्राप्त किया जा सकता था। अतः उसने इटली की गुप्त या प्रकट रूप में काम करनेवाली समस्त संस्थाओं से, जो इटली की स्वतन्त्रता के लिये कार्य कर रही थीं, निकट सम्पर्क स्थापित किया।* मेज़िनी जैसे गणतन्त्रवादी, गेरिबाल्डी जैसे क्रान्तिकारी तथा सम्पूर्ण इटली के समझदार लोग उसकी सहायता के लिये तैयार हो गये और कार्बोनारी, युवक इटली आदि संस्थाएं भी उसके साथ सहयोग करने के लिये तैयार हो गईं।

गेरिबाल्डी—गेरिबाल्डी (Garibaldi) का जन्म १८०७ में नीस नगर में हुआ था। उसका पिता एक व्यापारी जहाज़ का कप्तान था। उसके पिता ने उसे अच्छी शिक्षा देने का प्रयत्न किया परन्तु पढ़ने में उसकी तबियत नहीं लगी। वह बचपन ही से बड़ा साहसिक प्रवृत्ति का था। युवक होने पर वह भी तटीय व्यापार में लग गया और अपने दस वर्ष के इस साहसिक जीवन में उसे भूमध्यसागर का बड़ा अच्छा ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त हुआ। तीन बार वह समुद्री डाकुओं के चंगुल में भी फँस गया था। इन यात्राओं में कई इटालियन देशभक्तों तथा प्रवासियों से उसकी भेंट हुई जिनके सम्पर्क से उसके चित्त में स्वदेश-प्रेम उत्पन्न हुआ और उसे इटली की स्वतन्त्रता की ऐसी लगन लगी कि वह उसके लिये अपना सर्वस्व अर्पित करने के लिये तैयार हो गया। वह शीघ्र ही मेज़िनी के सम्पर्क में आया जो उससे केवल दो वर्ष बड़ा था। मेज़िनी के उच्च आदर्श, नैतिक उत्साह तथा स्वदेश-प्रेम से वह बड़ा प्रभावित हुआ और 'युवक इटली' समिति का सदस्य बन गया। १८३३ में वह मेज़िनी के एक षड्यन्त्र में जो सेवॉय में किया गया था, सम्मिलित हुआ, परन्तु षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ हो गया और वह पकड़ लिया गया। उस पर मुक़दमा चला परन्तु वह क़ैद से निकल भागा। सार्डिनिया की सरकार ने उसके वास्ते मृत्यु-दण्ड घोषित किया। इस पर वह इटली छोड़ कर दक्षिणी अमेरिका चला गया और १८३६ से १८४८ तक वहीं बना रहा। वहाँ उन दिनों लेटिन अमेरिकन लोग अपनी स्वतन्त्रता के लिये लड़ रहे थे। वह उस युद्ध में शामिल हो गया और जब तक वहाँ रहा स्वातन्त्र्य-संग्राम में भाग लेता रहा। १८४८ में वह इटली लौट आया। उसने सुना था कि रोम में एक नया पोप आ गया था जो इटली की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्न कर रहा था। उसका विचार पोप को अपनी सेवाएँ अर्पित करने का था, परन्तु वहाँ आकर जब उसने देखा कि सार्डिनिया ने

* Strong : Dynamic Europe, p. 284.

आॅस्ट्रिया से युद्ध छेड़ दिया है तो उसने तीन हज़ार स्वयंसेवक एकत्रित करके सार्डिनिया के राजा की सहायता की। सार्डिनिया के हार जाने पर जब रोमवालों ने क्रान्ति की और फ्रान्स ने रोमन गणतन्त्र पर आक्रमण किया तो उसकी रक्षा का भार मेज़िनी ने उसे सौंपा। गेरिबाल्डी ने बड़ी वीरता से युद्ध किया, परन्तु उसके बहुत से साथी मारे गये, वह भी अपनी पत्नी के साथ भागा और इधर-उधर भटकता फिरा। इसी भगदड़ में उसकी पत्नी मर गई और वह किसी प्रकार बचकर टुस्कनी पहुँचा। वहाँ से वह पायडमॉण्ट गया और अन्त में फिर अमेरिका चला गया। इस बार उसने न्यूयॉर्क में कुछ काम शुरू किया जिसमें उसने काफ़ी धन कमाया। १८५४ में वह फिर इटली लौट आया और सार्डिनिया के पास केप्रेरा नामक द्वीप खरीद कर तथा एक मकान बना कर वहीं रहने लगा। परन्तु वहाँ भी वह शान्ति से नहीं रह सकता था। उसका ध्यान सदा इटली की ओर लगा रहता और वह इटली में होनेवाले आन्दोलनों की पूरी-पूरी खबर रखता था। अभी तक वह पूर्णतया मेज़िनी के प्रभाव में था और उसके विचार गणतन्त्रीय थे, परन्तु १८५६ में उसकी कावूर से प्रथम बार भेंट हुई और इस भेंट में उसके विचारों में परिवर्तन हो गया। कावूर ने उसे अपने पक्ष में कर लिया। यह घटना गेरिबाल्डी के जीवन में ही नहीं, इटली के इतिहास में बड़ी महत्वपूर्ण थी क्योंकि इस परिवर्तन से गणतन्त्रवादियों और सार्डिनिया के पक्षपातियों में समझौता हो गया और जो शक्तियाँ परस्पर एक-दूसरे का विनाश कर देतीं तथा इटली की एकता के समान उद्देश्य को विफल कर देतीं, वे संयुक्त होकर कार्य करने लगीं।* गेरिबाल्डी में यह परिवर्तन तो हो गया परन्तु हृदय से वह फिर भी गणतन्त्रवादी बना रहा और कई बार कावूर के साथ उसका बड़ा मतभेद रहा। किन्तु वह विक्टर इमेन्युएल का बड़ा आदर करता था और उसके प्रति उसकी भक्ति में कमी कभी नहीं हुई। जब १८५९ में कावूर ने नेपोलियन से सन्धि की तो गेरिबाल्डी के कहने से अनेक देशभक्त भी जो १८४९ से ही नेपोलियन को अपना घोर शत्रु समझने लगे थे, कावूर के साथ सहयोग करने के लिये तैयार हो गये।

विदेशी सहायता प्राप्त करने के प्रयत्न—इस प्रकार कावूर ने भावी स्वातन्त्र्य-संग्राम के लिये तैयारी की। परन्तु यह उसकी तैयारी का एक भाग था। पूरी तैयारी के लिये किसी विदेशी शक्ति की सहायता प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक था और वह इसके लिये उपयुक्त अवसर देख रहा था। केवल दो राज्य ऐसे थे जो उसकी सहायता कर सकते थे—इङ्गलैंड और फ्रान्स। उसने सबसे पहले इंगलैण्ड से ही सम्पर्क स्थापित किया, परन्तु उसे शीघ्र ही मालूम हो गया कि ब्रिटिश जनता में तथा पामर्स्टन, ग्लेड्स्टन, रसेल जैसे बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों में इटली

---

* Ketelbey : A History of Modern Times, p. 222.

जर्मन राज्य-संघ
फ्रान्स
आस्ट्रिया का साम्राज्य
स्विट्ज़रलैण्ड
सेवॉय
सार्डिनिया का राज्य
टयूरिन
मिलान
लोम्बार्डी-वेनीशिया आस्ट्रिया में
वेनिस
ट्रीस्ट
हंगरी का राज्य
तुर्की का साम्राज्य
पार्मा की डची
रोमान्या
जिनेवा
नीस
टुस्कनी की ग्रांड डची
चर्च के राज्य
एड्रियाटिक सागर
कॉर्सिका (फ्रान्स में)
रोम
नेपिल्स
सार्डिनिया (सार्डिनिया राज्य का भाग)
नेपिल्स
सिसिलियों का राज्य
पालर्मो
सिसिली
माल्टा
टयूनिस
इटली १८५६ में
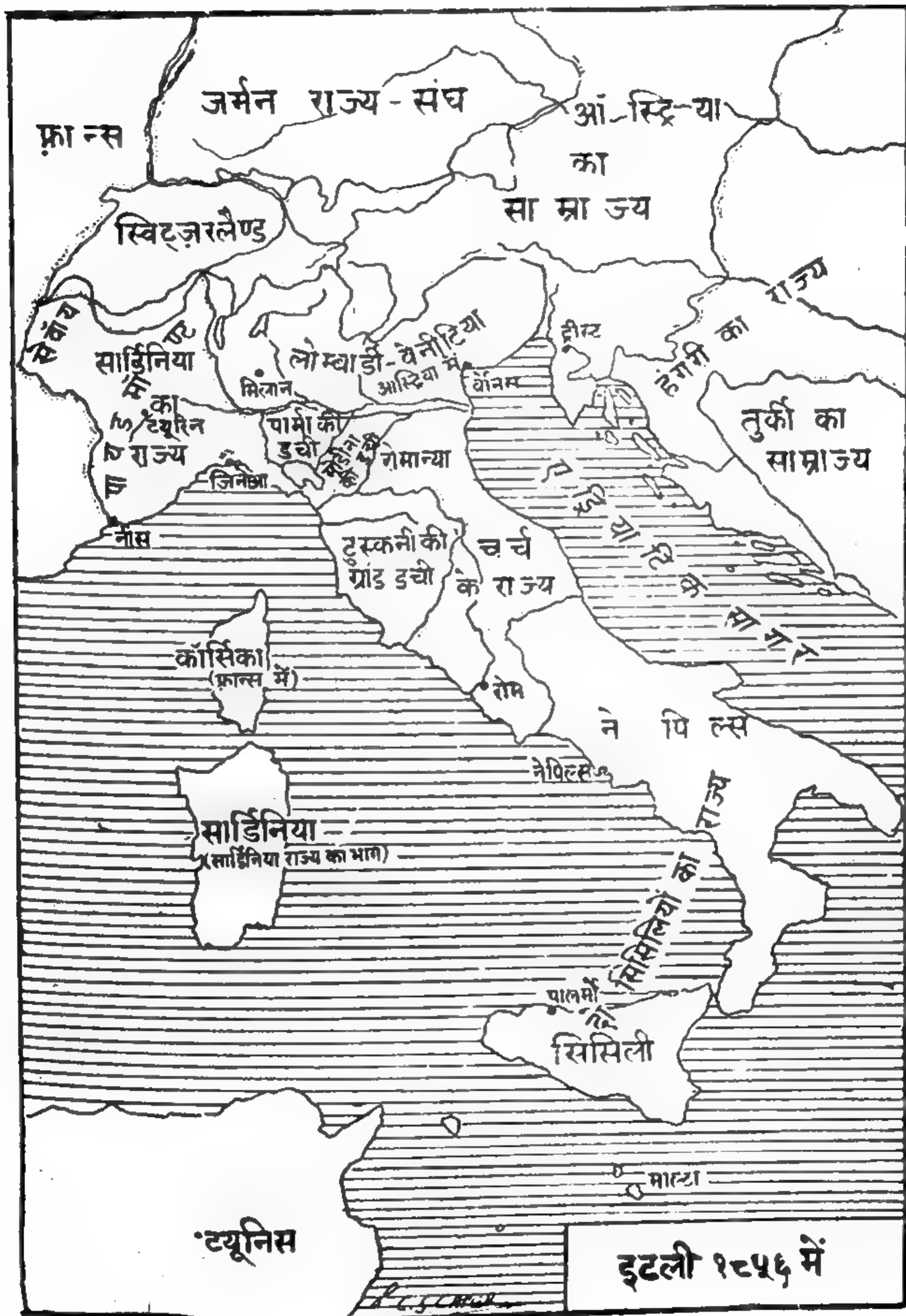
के साथ सहानुभूति होते हुए भी इंगलैण्ड से किसी सक्रिय सहायता की आशा नहीं हो सकती।* इसके विपरीत फ़ान्स की सेना उस समय योरोप में सर्वोत्तम समझी जाती थी और तृतीय नेपोलियन राष्ट्रीयता का समर्थक भी था। अतः उसने नेपोलियन की सहायता प्राप्त करने का निश्चय किया। इसके लिये उसे अवसर भी शीघ्र ही मिल गया। फ़ान्स और इंगलैण्ड उस समय क्रीमिया में रूस के विरुद्ध लड़ रहे थे और उनकी स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। उसने इस युद्ध में फ़ान्स तथा इंगलैण्ड की सहायता करने का निश्चय किया। मन्त्रिमण्डल में उसका सबने विरोध किया परन्तु विक्टर इमेन्युएल ने उसका समर्थन किया।† जनवरी १८५५ में उसने बिना किसी शर्त के इङ्गलेण्ड और फ़ान्स को सहायता देने का वचन दिया और मारमोरा की कमाण्ड में १८,००० सैनिक क्रीमिया भेजे जिन्होंने बड़ी वीरता से युद्ध किया और शत्रु को परास्त करने में बड़ी अमूल्य सहायता दी। सार्डिनिया तथा इटली के इतिहास में कावूर का यह क़दम निर्णायक सिद्ध हुआ। कावूर की जितनी आशाएँ थीं वे सब पूरी हुईं। इङ्गलैण्ड और फ़ान्स ने सार्डिनिया के प्रति कृतज्ञता प्रकट की। युद्ध के बाद पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में अन्य राज्यों के साथ सार्डिनिया को भी स्थान मिला और अपने राज्य की ओर से कावूर उसमें उपस्थित हुआ। अपनी उपस्थिति से उसने पूरा-पूरा लाभ उठाया। ऑस्ट्रिया का विरोध होते हुए भी उसने सम्मेलन का ध्यान इटली में ऑस्ट्रिया के कुशासन एवं अत्याचार की ओर आकर्षित किया और इटली की दुर्दशा के लिये ऑस्ट्रिया को पूरी तरह से जिम्मेदार ठहराया। सम्मेलन ने इस प्रश्न पर विचार तो नहीं किया परन्तु कावूर का उद्देश्य पूरा हो गया। इटली का प्रश्न, जिसे अब तक ऑस्ट्रिया अपना घरेलू प्रश्न समझ रहा था, अब अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में आ चुका था और अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बन चुका था। वह इसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बनाना चाहता था क्योंकि उसकी योजना १८१५ की अन्तर्राष्ट्रीय योजना के प्रतिकूल थी और योरोपीय राज्य १८१५ की व्यवस्था को भङ्ग करने के लिये तैयार नहीं दिखाई देते थे। सार्डिनिया को अन्य योरोपीय राज्यों के समकक्ष स्थान प्राप्त हुआ था और इस प्रकार योरोपीय राज्य समाज का सदस्य बन जाने से उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई थी। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह हुई कि उसे समस्त योरोप की सहानुभूति के साथ इंगलैण्ड तथा फ़ान्स का समर्थन मिल गया। इंगलैण्ड का समर्थन तो केवल नैतिक रहा परन्तु नेपोलियन से उसे अधिक आशा थी। १८५५ में ही उसने कावूर से यह पूछ कर कि इटली के लिये क्या किया जा सकता है, इटली के सम्बन्ध में अपने विचारों की झलक दे दी थी।‡ कावूर ने नेपोलियन की भावनाओं एवं आकांक्षाओं से पूरा लाभ उठा कर उसे अपने पक्ष में कर लिया और वह सहायता देने के लिये उद्यत हो गया।

* Hearnshaw : Main Currents of European History, p 220.

† Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 183.

‡ Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 177.

नेपोलियन से सन्धि—कावूर नेपोलियन से सन्धि करने का उपयुक्त अवसर देख रहा था परन्तु इसी बीच में ऑर्सिनी (Orsini) नामक एक व्यक्ति ने नेपोलियन की हत्या करने के लिये उस पर एक बम फेंका (जनवरी १८५८)।* नेपोलियन तो बाल-बाल बच गया परन्तु इस घटना से फ्रान्स में इटली के विरुद्ध बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ, किन्तु नेपोलियन पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ और जब मृत्यु-दण्ड पाने के पहले ऑर्सिनी ने उससे इटली के साथ किये जानेवाले अत्याचार का अन्त करने की अपील की तो उसने इटली को सहायता देने का निश्चय कर लिया और कावूर को प्लाम्बियर्स नामक स्थान पर बुला कर उससे गुप्त मन्त्रणा करके उससे सन्धि करली (जुलाई १८५८)। सन्धि के अनुसार नेपोलियन ने २,००,००० सैनिकों के साथ सार्डिनिया को ऑस्ट्रिया के विरुद्ध सहायता देना और पोप की अध्यक्षता में इटली का चार राज्यों के संघ के रूप में पुनर्निर्माण करना स्वीकार किया—(१) लोम्बार्डी तथा वेनीशिया सहित सार्डिनिया-पायडमॉण्ट का राज्य, (२) मध्य-इटली की डचियों से निर्मित मध्य इटली का राज्य जिसके सिंहासन पर उसके चचेरे भाई जेरोम बोनापार्ट (प्रथम नेपोलियन के भाई जेरोम का पुत्र) को बिठलाना निश्चित हुआ, (३) पोप के राज्य तथा (४) नेपिल्स का राज्य। † इसके बदले में नेपोलियन को सेवॉय तथा नीस के प्रदेश मिलना तथा विक्टर इमेन्युएल की कन्या का राजकुमार जेरोम से विवाह होना निश्चित हुआ।‡ विक्टर इमेन्युएल तथा कावूर को नेपोलियन की सहायता के बदले में ये कड़ुए घूँट पीने पड़े परन्तु उन्होंने अपनी विवशता देख कर इन अप्रिय शर्तों के साथ भी सन्धि स्वीकार कर ली। यह ध्यान देने योग्य बात है कि कावूर के मस्तिष्क में इस समय तक संयुक्त इटली की योजना परिपक्व नहीं हो पाई थी। §

ऑस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की तैयारी—सन्धि हो जाने के बाद कावूर का काम युद्ध की तैयारी करना और नेपोलियन के विचारों में कोई परिवर्तन हो उसके पहिले ही युद्ध छेड़ देना था। युद्ध का आरम्भ भी इस प्रकार होना चाहिये था जिसमें ऑस्ट्रिया आक्रामक हो ताकि नेपोलियन को युद्ध में शामिल होने का बहाना मिल सके। उसने अपनी सेना की तैयारी आरम्भ कर दी और अनेक प्रकार से ऑस्ट्रिया को भड़काने का प्रयत्न शुरू किया। उसने अपने राज्य में अपनी सेना को इधर-उधर इस प्रकार भेजना आरम्भ किया जिससे ऑस्ट्रिया को भय मालूम हो, समाचारपत्रों में

* ऑर्सिनी इटालियन षड्यन्त्रकारियों के एक दल का नेता था। ये षड्यन्त्रकारी मेजिनी के समर्थक थे, परन्तु इस षड्यन्त्र से मेजिनी का कोई सम्बन्ध नहीं था। Thomson : Europe since Napoleon, p. 276.

† Ketelbey : A History of Modern Times, p. 214.

‡ Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 229.

§ Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, p. 177.

ऑस्ट्रिया पर आक्रमण होने लगे, ऑस्ट्रियन साम्राज्य से आनेवाले माल पर भारी कर लिये जाने लगे और लोम्बार्डी तथा वेनीशिया में विद्रोहियों को सहायता दी जाने लगी। समस्त योरोप को यह स्पष्ट मालूम होने लगा कि युद्ध होनेवाला है जिसमें ऑस्ट्रिया के विरुद्ध फ़ान्स सार्डिनिया की सहायता करेगा। नेपोलियन ने भी १ जनवरी १८५९ को ऑस्ट्रिया के राजदूत से यह कह कर स्थिति स्पष्ट कर दी कि "मुझे खेद है कि हमारे सम्बन्ध अब पहले जैसे सन्तोषजनक नहीं रहे।" उधर १० जनवरी को ट्यूरिन में पार्लमिण्ट का उद्घाटन करते हुए विक्टर इमेन्युएल ने कहा कि "स्थिति खतरे से खाली नहीं है। हमें सन्धियों का पूरा लिहाज़ है परन्तु इटली के कोने-कोने से आनेवाली पीड़ा की पुकार की हम उपेक्षा नहीं कर सकते।"* राजा का आशय स्पष्ट था। उसके शब्दों का समस्त इटली में बड़ा स्वागत हुआ और जब हज़ारों स्वयंसेवक पायडमॉण्ट पहुँचने लगे तो उसे देख कर यह स्पष्ट हो गया कि ऑस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध में समस्त इटली सार्डिनिया के झण्डे के नीचे एक हो जायगी।

कावूर की कठिनाई और ऑस्ट्रिया की भूल—इस प्रकार फ़ान्स और सार्डिनिया के इरादे स्पष्ट थे परन्तु युद्ध का बहाना अभी खोजना था। दोनों बहाने की तलाश में थे, परन्तु नेपोलियन ढीला पड़ने लगा था। उसे अपने ही देश में कैथोलिकों का डर था और प्रशा की ओर से उसे ऑस्ट्रिया का साथ देने की शङ्का हो रही थी। ऑस्ट्रिया का रुख कड़ा था परन्तु वह चुप था। इंगलैण्ड युद्ध रोकने का प्रयत्न कर रहा था और इस प्रश्न को किसी मध्यस्थ या योरोपीय कांग्रेस के सामने रखने पर जोर दे रहा था। रूस के कहने से स्वयं नेपोलियन ने यह प्रस्ताव किया कि इटली का प्रश्न योरोप के पाँचों प्रमुख राज्यों की कांग्रेस के सामने प्रस्तुत किया जाय।† कावूर को इसमें अपनी योजना का विनाश दिखाई दे रहा था, क्योंकि वह जानता था कि कोई भी योरोपीय कांग्रेस १८१५ की व्यवस्था को स्वयं भङ्ग नहीं करेगी। उसने नेपोलियन से प्रार्थना की और उसे धमकाया, परन्तु नेपोलियन उसे यही समझाने की कोशिश करता रहा कि युद्ध होकर रहेगा, कांग्रेस उसे रोक नहीं सकेगी। ऑस्ट्रिया ने कांग्रेस में इस शर्त पर सम्मिलित होना स्वीकार किया कि सार्डिनिया अपनी सेना बरखास्त कर दे और सम्मेलन में उसे स्थान न मिले। परन्तु कावूर ने दोनों बातें मानने से इन्कार कर दिया। जब ऑस्ट्रिया और सार्डिनिया दोनों ही अपनी-अपनी बात पर अड़ गये तो कांग्रेस का विचार त्याग दिया गया और इंगलैण्ड ने प्रस्ताव किया कि तीनों राज्य एक साथ निःशस्त्रीकरण करें तथा इटली के राज्य अपना-अपना मामला योरोपीय शक्तियों के सामने प्रस्तुत करें। कावूर यह देखकर निराश हो गया और निःशस्त्रीकरण के लिये तैयार हो गया।‡ परन्तु इसी समय ऑस्ट्रिया उसके हाथों में खेल गया। उसने

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 185,
† Phillips : Modern Europe, p. 368,
‡ Ibid, p. 369.

सार्डिनिया को तुरन्त निःशस्त्रीकरण करने का आदेश दिया और निःशस्त्रीकरण न होने पर युद्ध की धमकी दी। कावूर की आकांक्षा पूर्ण हो गई। ऑस्ट्रिया अब स्पष्ट आक्रामक था। सार्डिनिया ने २६ अप्रैल को युद्ध की स्थिति की घोषणा की और तीन दिन बाद नेपोलियन ने भी ऑस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया।

विला फ्रैंका की सन्धि—ऑस्ट्रिया भूल कर चुका था। इस भूल का पहला दुष्परिणाम तो यह हुआ कि वह अकेला पड़ गया और उसे अकेले ही फ्रान्स तथा सार्डिनिया की सम्मिलित सेनाओं का सामना करना पड़ा। जैसा हम देख चुके हैं, ऑस्ट्रिया परास्त हुआ और उसे लोम्बार्डी खाली करना पड़ा, परन्तु नेपोलियन ने बीच ही में विश्वासघात किया और ६ जुलाई को विला फ्रैंका के स्थान पर ऑस्ट्रिया से सन्धि कर ली।*

एकीकरण की ओर पहला क़दम—विला फ्रैंका की सन्धि से इटलीवालों पर वज्रपात हो गया। यह सन्धि जले पर नमक छिड़कने के समान थी क्योंकि सन्धि करने के पहले नेपोलियन ने सार्डिनिया से परामर्श तक नहीं किया था। कावूर तो यह देखकर पागल-सा हो गया। उसने विक्टर इमेन्युएल को सन्धि अस्वीकार करके अकेले ही युद्ध जारी रखने की सलाह दी, परन्तु जब राजा ने उसकी सलाह नहीं मानी तो उसने अपना पद त्याग दिया। विक्टर इमेन्युएल भी पहले तो अकेले ही युद्ध जारी रखने का विचार करता था परन्तु बाद में उसने अपनी व्यावहारिक बुद्धि से काम लिया। वह अच्छी तरह देख रहा था कि जिस वियना-व्यवस्था ने इटली को ऑस्ट्रिया के साथ सम्मिलित कर रखा था वह भंग हो चुकी थी और योरोप की महान् सत्ताओं ने उसे स्वीकार करके एक प्रकार से वेनीशिया पर उसका नैतिक दावा भी स्वीकार कर लिया था। वह यह भी समझ रहा था कि अब स्थिति बदल गई थी और इटली का भाग्य-निर्णय राजनीतिज्ञों के हाथ से निकल कर जनता के हाथों में पहुँच गया था।† इटली की प्रगति अब रुक नहीं सकती थी। उसने ज़ूरिख (Zurich) के स्थान पर विला फ्रैंका की सन्धि की शर्तें स्वीकार कर लीं और लोम्बार्डी का प्रदेश सार्डिनिया के राज्य में शामिल करके इटली के एकीकरण की ओर प्रथम और अत्यन्त महत्वपूर्ण क़दम उठाया।

दूसरा क़दम—युद्ध के दिनों में पार्मा, मोडीना तथा टुस्कनी के लोगों ने अपने अपने राजाओं को निकाल दिया था और रोमान्या की जनता ने भी पोप से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था। इस सन्धि की एक शर्त यह भी थी कि इन डचियों के शासकों को पुनः उनके राज्य दिलाये जायँगे। परन्तु इन राज्यों की जनता ने अपने

---

* पृष्ठ ३५२ देखिये।

† Hearnshaw : Main Currents of European History, p. 224.

शासकों को पुनः स्वीकार करने या पोप की अध्यक्षता में किसी संघ में शामिल होने से इन्कार करके जनमत द्वारा इटली के नये राज्य में सम्मिलित होने की घोषणा करदी (१८६०) और कावूर ने राजा की ओर से इन प्रदेशों को सम्हालने के लिये अपने कर्मचारी वहाँ भेज दिये। यह बात ज़ूरिख़ की सन्धि के प्रतिकूल थी और नेपोलियन इस स्थिति को देखकर बड़े असमंजस में पड़ गया। इसका अनुमोदन करना सन्धि-भंग करना था। इसके साथ ही वह इन डचियों पर दबाव भी नहीं डाल सकता था क्योंकि पामर्स्टन तथा रसेल को इन प्रदेशों की जनता के साथ सहानुभूति थी और वे चाहते थे कि इटली के लोग अपना भाग्य-निर्णय स्वयं करें। इस समय तक कावूर अपने पद पर लौट आया था। उसने नेपोलियन को सेवॉय तथा नीस का लोभ दिखाकर राज़ी कर लिया और नेपोलियन ने भी जनमत की आड़ लेकर ट्यूरिन के स्थान पर सन्धि करके (मार्च १८६०) अपनी अनुमति दे दी। ज़ूरिख़ की सन्धि के अनुसार लोम्बार्डी तो सार्डिनिया में शामिल हो ही गया था। अब पार्मा, मोडीना, टुस्कनी तथा रोमान्या भी उसके साथ मिल गये। इटली के एकीकरण की दिशा में यह दूसरा क़दम था। वेनी-शिया को छोड़ समस्त उत्तरी इटली तथा मध्यवर्ती डचियों के एक शक्तिशाली इटालियन राज्य का निर्माण हो चुका था। २ अप्रेल १८६० को एक क़रोड़ दस लाख इटालियनों की प्रतिनिधि-पार्लामेण्ट का विक्टर इमेन्युएल ने ट्यूरिन में उद्घाटन करके इटली के नये राज्य के जन्म की घोषणा की। सेवॉय तथा नीस फ़ान्स को सौंपना किसी को अच्छा नहीं लगा।* सेवॉय इटालियन तो नहीं था परन्तु विक्टर इमेन्युएल का वंश सेवॉय का ही था। नीस गेरिबाल्डी का जन्म-स्थान था और वह अपने जन्म-स्थान के बलिदान से बड़ा रुष्ट हुआ। कावूर गेरिबाल्डी से कम देशभक्त नहीं था परन्तु वह स्थिति की कठिनाई समझता था और उसे विवश होकर ऐसा करना पड़ा।

सिसिली में विद्रोह—अभी तक तो कावूर की कूटनीति काम कर रही थी परन्तु उसे पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। वह क्रान्तिकारी उत्साह के खतरों को सम-झता था, परन्तु अब उसे यह प्रतीत होने लगा था कि कूटनीतिक चालों की अपेक्षा शायद क्रान्ति अधिक प्रभावकारी हो सके। विलाफ्रैंका के विश्वासघात के बाद उसने कहा था—"उन्होंने मुझे कूटनीति के द्वारा उत्तर की ओर से इटली का निर्माण नहीं करने दिया है। मैं उसका निर्माण दक्षिण की ओर से क्रान्ति द्वारा करूँगा।"† दक्षिण की ओर नेपिल्स में बूर्बों राजा द्वितीय फ़र्डिनेण्ड का अत्याचार असह्य हो उठा था। १८५६ में उसकी मृत्यु हो गई और उसकी जगह द्वितीय फ़ान्सिस राजा बना, परन्तु

* सेवॉय और नीस में जनमत लिया गया और जनता ने फ़ान्स में सम्मिलित होने का निर्णय दिया। Hazen : Europe since 1815, p. 201.

† Phillips : Modern Europe, p. 379.

इस परिवर्तन से स्थिति में किसी प्रकार भी सुधार नहीं हुआ। १८६० में अत्याचार से तंग आकर सिसिलीवालों ने मेज़िनी से प्रोत्साहन पाकर पालर्मो, मेसिना तथा केटेनिया में विद्रोह कर दिया और गेरिबाल्डी से सहायता माँगी। उसने इस शर्त पर सहायता देना स्वीकार किया कि विद्रोह विक्टर इमेन्युएल तथा सार्डीनिया के पक्ष में हो। गेरिबाल्डी समझता था कि बिना सार्डीनिया की सरकार की सहायता के सफलता दुर्लभ होगी, अतः उसने राजा और कावूर दोनों से सहायता माँगी। कावूर क्रान्ति से लाभ उठाना चाहता था परन्तु प्रत्यक्ष में कोई आपत्तिजनक क़दम नहीं उठाना चाहता था। अतः उसने गेरिबाल्डी को खुली सहायता देने से इन्कार कर दिया परन्तु छिपे-छिपे उसे पूर्ण सहायता दी और उसके लिये सब प्रकार की सुविधाएँ कर दीं।* इस प्रकार गेरिबाल्डी को मनोवांछित अवसर मिला। वह इटली के स्वातन्त्र्य-संग्राम का सूत्रधार बना और उसके जीवन का अत्यन्त रोमांचकारी अध्याय आरम्भ हुआ।

गेरिबाल्डी की विजय—गेरिबाल्डी ने अपने प्रसिद्ध 'एक हज़ार' लाल कुर्ती-वालों के साथ जिनोआ से ५ मई को प्रस्थान किया और दो महीनों के अन्दर सिसिली पर अधिकार कर लिया। इसके बाद वह इटली पहुँचा।† वहाँ उसका कोई विरोध नहीं हुआ और वह सीधा नेपिल्स जा पहुँचा (७ सितम्बर)। फ्रांसिस नेपिल्स छोड़कर गेटा (Gaeta) में जा छिपा। गेरिबाल्डी विक्टर इमेन्युएल की ओर से दोनों सिसिलियों का डिक्टेटर बन गया और उसने घोषित किया कि नेपिल्स इटली के राज्य में उसी समय शामिल किया जायगा जबकि वह रोम को विजय करके विक्टर इमेन्युएल को रोम में ही संयुक्त इटली का राजा घोषित कर सकेगा।

गेरिबाल्डी की विजय से उत्पन्न कठिनाई और कावूर की कूटनीति—गेरिबाल्डी की विजयों और उसकी घोषणाओं से कावूर के सामने बड़ी पेचीदा स्थिति आ खड़ी हुई। उसे डर था कि कहीं मेज़िनी के अनुयायियों के प्रभाव में आकर दक्षिणी

---

* Ibid., p. 382.

† नेपोलियन, जैसा हम देख चुके हैं, इटली की एकता के विरुद्ध था और ऑस्ट्रिया के साथ प्रशा तथा रूस भी इटली का एकीकरण नहीं चाहते थे। नेपोलियन गेरिबाल्डी को सिसिली से इटली नहीं पहुँचने देना चाहता था और उसकी इच्छा थी कि फ्रेञ्च तथा अंग्रेज़ी बेड़ा सिसली जाकर गेरिबाल्डी को रोके। परन्तु इंगलैण्ड, जिसकी मनोवृत्ति इस समय बदल कर इटली के प्रति सहानुभूतिपूर्ण हो गई थी, नेपोलियन के साथ सहयोग करने के लिये तैयार न हुआ। नेपोलियन के साथ इंगलैण्ड का असहयोग निर्णायक हुआ और गेरिबाल्डी सफल हो सका। इंगलैण्ड के कूटनीतिक समर्थन के बिना गेरि-बाल्डी को सफलता नहीं मिल सकती थी और सम्भव था कि योरोपियन राज्य भी हस्तक्षेप करते। Trevelyan : British History in the 19th Century and After, p. 328 ; Muir : A Short History of the Commonwealth, Vol. II, p. 478.

इटलीवाले गणतन्त्र के पक्षपाती न बन जायँ, नहीं तो बना हुआ काम बिगड़ जायगा। इससे भी अधिक भय उसे अन्तर्राष्ट्रीय कठिनाई खड़ी हो जाने का था। गेरिबाल्डी कूटनीति से घृणा करता था और रोम पर आक्रमण करने के लिये उत्सुक था। अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बड़ी अनुकूल थी। इंगलैण्ड पूरी तरह से अनुकूल था, फ्रेञ्च सरकार चिन्तित हो रही थी, परन्तु नेपोलियन का रुख अब भी सहानुभूतिपूर्ण था और किसी भी हालत में इंगलैण्ड के सहयोग के बिना कोई क़दम उठाने के लिये तैयार नहीं था। ऑस्ट्रिया अन्य शक्तियों के सहयोग के बिना शस्त्र उठाने के लिये तैयार नहीं था और उसे हंगरीवालों के विद्रोह का भी डर था। रूस की धमकियों से कावूर को कोई विशेष डर नहीं था। फ्रान्सिस ने योरोपीय सत्ताओं से अपील की थी, किन्तु अभी तक कोई भी उसकी सहायता के लिये तैयार नहीं हुआ था।* परन्तु यदि गेरिबाल्डी रोम पर आक्रमण करता तो अवश्य ही नेपोलियन से युद्ध छिड़ जाने का डर था क्योंकि रोम में इस समय फ्रान्स की सेना पोप की रक्षा के लिये मौजूद थी। कावूर इस खतरे को ख़ूब अच्छी तरह समझ रहा था और उसने बड़ी समझदारी से काम लिया। उसने कहा कि "मुझे इटली की विदेशियों, अनिष्टकारी सिद्धान्तों (गणतन्त्रवाद) तथा पागलों (गेरिबाल्डी) से रक्षा करनी है।"† गेरिबाल्डी रोम पर आक्रमण करे इसके पहले ही वह पोप के राज्यों में अपनी सेना भेज देना चाहता था। इसके लिये उसे बहाना भी मिल गया।

तीसरा क़दम—कुछ ही दिन पहले पोप ने रोमान्या पर पुनः अधिकार करने के लिये धर्म-युद्ध की घोषणा करके बाहर से स्वयंसेवकों की एक सेना एकत्रित की थी। कावूर ने रोमान्या की रक्षा के लिये स्वयं विक्टर इमेन्युएल की कमाण्ड में सेना रवाना की। सेना भेजने में उसका एक उद्देश्य गेरिबाल्डी को रोम पर आक्रमण करने से रोकना भी था। सार्डिनिया की सेना बढ़ी, पोप की सेना केसिल फिडेरो (Castle Fidaro) पर परास्त हुई और पन्द्रह दिन के अन्दर रोम को छोड़ कर पोप का समस्त राज्य (अम्ब्रिया और मार्चेज़) सार्डिनिया के हाथ में आ गया (सितम्बर)। उधर गेरिबाल्डी रोम की तरफ़ चल पड़ा था परन्तु मार्ग में केपुआ (Capua) नामक स्थान पर कड़े विरोध के कारण वह आगे न बढ़ सका था। विक्टर इमेन्युएल ने पोप के राज्य से आगे बढ़कर १८ अक्टूबर को नेपिल्स के राज्य में प्रवेश किया। गेरिबाल्डी रोम में विक्टर इमेन्युएल को राजा घोषित करके ही नेपिल्स का राज्य उसे सौंपने की घोषणा कर चुका था। परन्तु वह राजभक्त था, उसने अपना अधिकार और अपनी सेना राजा को समर्पण कर दी। नेपिल्स की जनता ने जनमत-संग्रह द्वारा इटली के

---

* Ketelbey : A History of Modern Times, p. 224.

† Phillips : Modern Europe, p. 365.

राज्य में शामिल होने की इच्छा प्रकट की और नेपिल्स उसमें शामिल कर लिया गया। अब विक्टर इमेन्युएल तथा गेरिबाल्डी की संयुक्त सेनाएँ केपुआ की ओर बढ़ीं। २ नवम्बर को उस पर अधिकार हो गया। फ्रान्सिस गीटा में मुकाबला करता रहा और अन्त में फ़रवरी १८६१ में उसने आत्मसमर्पण कर दिया। इसी बीच में ७ नवम्बर को गेरिबाल्डी के साथ-साथ इमेन्युएल ने नेपिल्स में प्रवेश किया, जहाँ गेरिबाल्डी ने विधिपूर्वक अपने अधिकार का त्याग कर विक्टर इमेन्युएल को राजा घोषित किया (६ सितम्बर) और अपनी सेवा का कोई भी पुरस्कार ग्रहण करने से इन्कार करके अपने द्वीप केप्रेरा को चला गया। इस प्रकार गेरिबाल्डी की तलवार तथा कावूर की कूटनीति के प्रताप से इटली के एकीकरण की दिशा में तीसरा क़दम पूरा हुआ और रोम तथा वेनिस को छोड़कर समस्त इटली एक हो गया। कावूर को विश्वास था कि वह रोम और वेनिस को भी इटली के राज्य में सम्मिलित करके अपने संयुक्त इटली के स्वप्न को सत्य कर सकेगा परन्तु उसके भाग्य में वह सुदिन देखना नहीं बदा था। ६ जून १८६१ को ५१ वर्ष की अवस्था में ही उसकी मृत्यु हो गई।

गेरिबाल्डी का रोम पर असफल आक्रमण—अब वेनिस और रोम रह गये थे। वेनिस आस्ट्रिया के पास था और रोम फ्रान्स के संरक्षण में पोप के हाथों में था। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से रोम की स्थिति बड़ी जटिल थी। कावूर ने पोप को समझाने का बहुत प्रयत्न किया था। वह चाहता था कि पोप 'स्वतन्त्र राज्य में स्वतन्त्र चर्च' का सिद्धान्त स्वीकार कर ले और रोम इटली के राज्य को सौंप कर केवल धार्मिक प्राधान्य से सन्तुष्ट रहे, परन्तु पोप इसके लिये तैयार नहीं हुआ। कावूर शायद इस समस्या को कूटनीतिज्ञ उपायों से हल कर सकता परन्तु वह चल बसा और वह समस्या वैसी ही रह गई। ऐसा मालूम होता था कि बल-प्रयोग से ही इस समस्या का हल हो सकेगा और गेरिबाल्डी ने, जिसकी अधीरता बढ़ती जा रही थी, बल-प्रयोग से ही काम करना चाहा। बिना रोम के इटली शिर-रहित शरीर के समान था और वह इस स्थिति को सहन नहीं कर सकता था। जुलाई १८६२ में वह सिसिली से अपने स्वयंसेवकों के साथ फिर इटली में उतरा, परन्तु इटली की सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा। उसने उन्हें रोका, गेरिबाल्डी स्वयं घायल हुआ और पकड़ा गया। विक्टर इमेन्युएल इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं था। वह रोम की समस्या को सुलझाना चाहता था परन्तु जब तक फ्रांस की सेना रोम में थी तब तक उसका सुलझना कठिन था। अतः उसने नेपोलियन से बातचीत की और उसके आग्रह पर रोम पर आक्रमण न करने तथा अपनी राजधानी को फ्लोरेन्स हटा लेने का वचन दिया। यह वचन लेकर नेपोलियन ने दो वर्ष के अन्दर अपनी सेना हटाना स्वीकार कर लिया (सितम्बर १८६४)।*

* Grant and Temperley : Europe in the 19th and 20th Centuries p. 255.

चौथा क़दम—इटली के एकीकरण की ओर अगला क़दम उठाने में प्रशा से सहायता मिली। बिस्मार्क ऑस्ट्रिया को जर्मनी से निकालना चाहता था और १८६५ तक ऑस्ट्रिया तथा प्रशा के बीच युद्ध अनिवार्य दिखाई देने लगा था। इस स्थिति से लाभ उठाने के लिये विक्टर इमेन्युएल ने ऑस्ट्रिया को वेनिस के बदले में प्रशा के विरुद्ध

सहायता देने का प्रस्ताव किया परन्तु फ्रान्सिस जोजेफ ने बड़ी घातक भूल की और उसका प्रस्ताव ठुकरा दिया।* १८६६ में बिस्मार्क ने विक्टर इमेन्युएल से समझौता कर लिया और ऑस्ट्रिया से युद्ध छेड़ दिया। ऑस्ट्रिया जर्मनी में तो हारा परन्तु उसने इटली की सेनाओं को परास्त कर दिया। किन्तु बिस्मार्क ने अपना वचन पूरा किया और

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 190.

जब ऑस्ट्रिया से सन्धि हुई तो उसने उससे वेनिस ले लिया और विक्टर इमेन्युएल को सौंप दिया। वेनिस की जनता ने जनमत-संग्रह द्वारा इटली के राज्य में शामिल होना स्वीकार किया और वेनिस इटली में सम्मिलित हो गया (अक्टूबर १८६६)। इस प्रकार इटली के एकीकरण की दिशा में चौथा कदम पूरा हुआ। अब अकेला रोम इटली के राज्य से बाहर रह गया था। उसकी समस्या की कठिनता भी कुछ कम हो गई थी क्योंकि इसी समय फ्रेन्च सेना रोम से हट गई थी और इटली की भूमि पर एक भी विदेशी सैनिक नहीं रह गया था।

पांचवां तथा अन्तिम कदम—गेरिबाल्डी का धीरज अब तक बिलकुल छूट चुका था और वह किसी भी प्रकार से रोम को इटली में शामिल करने के लिये तड़प रहा था। जब फ्रान्स की सेना वहाँ से हट गई तो वह फिर अपने स्वयंसेवक सहित लेघॉर्न में उतरा और रोम की तरफ बढ़ा। यह देख कर फ्रेन्च सेना लौट आई। उसने रोम पर फिर अधिकार कर लिया और गेरिबाल्डी को मेण्टाना के स्थान पर बुरी तरह से परास्त कर दिया (नवम्बर १८६७)। गेरिबाल्डी को सरकार ने पकड़ लिया और केप्रेरा भेज दिया। परन्तु इटली के पूर्ण एकीकरण की घड़ी अब बहुत दूर नहीं थी। १८७० में फ्रान्स का प्रशा से युद्ध छिड़ गया और नैपोलियन को सब तरफ से अपनी सेनाएँ बुलाकर युद्ध में लगानी पड़ीं। उसने रोम से भी अपनी सेना वापिस बुला ली। अब पोप अरक्षित रह गया। विक्टर इमेन्युएल ने एक बार फिर पोप को समझाया परन्तु जब वह न माना तो इटली की सेना रोम की ओर बढ़ी। पोप की तरफ से नाममात्र का विरोध हुआ और २० सितम्बर १८७० को रोम इटली की सेना के अधिकार में पहुँच गया। जनता की इच्छा जानने के लिये जनमत लिया गया। पोप के पक्ष में केवल ४६ मत आये और ४०,७८८ मत विक्टर इमेन्युएल के पक्ष में प्राप्त हुए।* रोम इटली में शामिल हो गया और संयुक्त इटली की राजधानी बनाया गया। २ जून १८७१ को विक्टर इमेन्युएल ने एक शानदार जुलूस के साथ रोम में प्रवेश किया और जनता को सम्बोधित करते हुए उसने घोषणा की कि "हम रोम में आ गये हैं और यहीं रहेंगे।" १८७१ की पार्लामेण्ट का उद्‌घाटन करते हुए और स्वतन्त्र इटली के निर्माण पर जनता को बधाई देते हुए उसने कहा कि "अब हमारा काम अपने देश को महान् और सुखी बनाना रह गया है।"† इस प्रकार एक लम्बे संघर्ष के बाद मेज़िनी के नैतिक बल, गेरिबाल्डी की तलवार, काव्हूर की कूटनीति, विक्टर इमेन्युएल की समझदारी और व्यावहारिक बुद्धि तथा असंख्य देशभक्तों के बलिदान से इटली के एकीकरण का महायज्ञ सम्पूर्ण हुआ और इटली, जिसको १८१५

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 891,

† Robinson and Beard : The Development of Modern Europe, Vol. II, p. 100.

में वियना में एकत्रित राजनीतिज्ञ तिरस्कार-पूर्वक एक भौगोलिक शब्दमात्र कह कर उसका उपहास करते थे, एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया।*

कावूर—इटली की एकता का निर्माता—किन्तु इस महान् कार्य की सफलता का सबसे अधिक श्रेय कावूर को ही दिया जा सकता है। एक राष्ट्र के रूप में इटली कावूर की देन है। कई लोगों ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की वेदी पर अपना सर्वस्व अर्पण किया परन्तु उसे सम्भव बनाना वही जानता था। उसने राष्ट्रीय मुक्ति के कार्य को दलीय भावनाओं से मुक्त और निष्फल काल्पनिक स्वर्गों की दुनिया से दूर रखा, विचारहीन षड्यन्त्रों से उसकी रक्षा की और क्रान्ति तथा प्रतिक्रिया की चट्टानों के बीच से उसकी नौका को लेकर उसे संगठित शक्ति, ध्वजा, शासन और विदेशी मित्र प्रदान किये।† पामर्स्टन ने हाउस ऑफ कॉमन्स के सामने कावूर की प्रशंसा करते हुए कहा कि 'वह एक शिक्षा देने और एक कहानी को अलंकृत करने के लिये एक नाम छोड़ गया। शिक्षा तो यह है कि अलौकिक बुद्धि, अदम्य उत्साह तथा अजेय देशभक्ति से युक्त मनुष्य दुस्तर कठिनाइयों पर भी विजय प्राप्त कर सकता है और अपने देश की अतुलित सेवा कर सकता है। जिस कहानी से उसकी स्मृति अभिन्न रहेगी वह संसार के इतिहास में अत्यन्त असाधारण तथा रोमांचकारी है। एक राष्ट्र जो बिलकुल मृतक मालूम होता था, उस मोहनमन्त्र से मुक्त होकर जिसने उसे मोह-निद्रा में सुला रखा था, अपने आपको एक नवीन एवं वैभवशाली भाग्य के योग्य प्रकट करता हुआ एक नवीन ओजस्वी जीवन प्राप्त कर चुका है।"‡ निस्सन्देह कावूर इटली की एकता का निर्माता था।

कुशल राजनीतिज्ञ—हम ऊपर देख चुके हैं कि कावूर के ऐतिहासिक मञ्च पर पदार्पण करने के पूर्व इटली को विदेशी प्रभाव से मुक्त करने के कई प्रयत्न हुए थे परन्तु वे सब निष्फल रहे थे, यद्यपि वे प्रयत्न मेज़िनी जैसे नेताओं और गेरिबाल्डी जैसे देश के लिये सर्वस्व होम देने वाले निर्भीक देशभक्तों द्वारा किये जा रहे थे। इटली की स्थिति बड़ी जटिल थी, किन्तु मेज़िनी, गेरिबाल्डी आदि उसकी जटिलता को समझ नहीं पा रहे थे और इसी कारण उनके प्रयत्न विफल होते थे। कावूर प्रथम व्यक्ति था जिसने इटली की समस्या को सभी पहलुओं से देखा और उसकी जटिलता को भली प्रकार समझा। समस्त देशवासियों में राष्ट्रीय एकता की भावना को तो मेज़िनी और गेरिबाल्डी भर चुके थे और उनमें राष्ट्र को स्वतन्त्र करने की उत्कट अभिलाषा भी

---

* इटली के दो छोटे प्रदेश अब भी बाहर रह गये थे—(१) एल्प्स पर्वत में ट्रेण्ट की घाटी तथा (२) ट्रीस्ट का बन्दरगाह और उसके आस-पास का प्रदेश। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद ये प्रदेश इटली को प्राप्त हुए।

† Phillips : Modern Europe, p. 389.

‡ Quoted in Hazen : Modern European History, p. 339.

उत्पन्न कर दी थी परन्तु राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का महान् कार्य कैसे सम्पन्न हो सकता था यह वे नहीं जानते थे। गुप्त षड्यन्त्र और विद्रोह ही उनके उपाय थे। कावूर ने इन उपायों की व्यर्थता को देखा और समस्या को हल करने के उपाय सोचे। वह यथार्थ-वादी था। वह सम्भव असम्भव में अच्छी प्रकार भेद कर सकता था और किसी भी समस्या की व्यावहारिक कठिनाइयों को भलीभाँति समझ सकता था। वह देख चुका था कि पिछले सभी प्रयत्न इस कारण असफल रहे थे कि प्रतिक्रियावादी ऑस्ट्रिया जो उत्तरी इटली के आधे से अधिक का स्वामी था, इटली के अन्य प्रतिक्रियावादी राजाओं की सहायता के लिये सदा तत्पर रहता था। अतः जब तक ऑस्ट्रिया इटली से नहीं निकाल दिया जाता तब तक इटली की स्वतन्त्रता के प्रयत्न सफल नहीं हो सकते। इटली के लोग समझते थे कि अपने लक्ष्य को वे स्वयं बिना किसी की सहा-यता से प्राप्त कर लेंगे और सार्डिनिया ने इसके लिये प्रयत्न भी किया, परन्तु वह व्यर्थ गया। कावूर समझता था कि उस कार्य की सफलता के लिये किसी बाहरी शक्ति के सहयोग की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त इटली को एक करने का अर्थ था पोप तथा अनेक राजाओं के राज्यों का विनाश, अर्थात् वियना-कांग्रेस द्वारा की हुई व्यवस्था का विनाश। इसकी सफलता के लिये योरोप के अन्य राज्यों की सहानुभूति तथा सहयोग प्राप्त करना आवश्यक था। इस प्रकार इटली की समस्या का अच्छी प्रकार अध्ययन करके कावूर इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि ऑस्ट्रिया के प्राधान्य, विभिन्न राजाओं के हित तथा पोप की शक्ति की समस्या केवल उत्साह, फुटकर जन-विद्रोहों अथवा अकेले सार्डिनिया के प्रयत्नों से नहीं बल्कि योरोपीय कूटनीति, अन्तर्राष्ट्रीय सह-योग तथा युद्ध द्वारा हल हो सकेगी।

चतुर कूटनीतिज्ञ—परन्तु सार्डिनिया जैसे नगण्य राज्य के प्रधान मन्त्री के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सदिच्छा, सहानुभूति और सहयोग प्राप्त करना बड़ा कठिन था। इसके लिये उच्च कोटि की कूटनीतिक योग्यता की आवश्यकता थी। भाग्य से कावूर कूट-नीति में पारङ्गत था और उसने बड़ी चतुराई से क्रीमिया के युद्ध में फ्रान्स और इङ्गलेण्ड की सहायता करके इङ्गलेण्ड की सहानुभूति तथा नेपोलियन की सहायता प्राप्त कर ली और पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में इटली के प्रश्न को प्रस्तुत कर उसे योरोपीय प्रश्न बना दिया। हम देख चुके हैं कि उसने किस प्रकार नेपोलियन की सक्रिय सहायता प्राप्त की और ऑस्ट्रिया से लोम्बार्डी लेकर इटली के एकीकरण की दिशा में पहला महत्वपूर्ण क़दम उठाया। नेपोलियन की ओर से जो विश्वासघात हुआ उससे कावूर की कठिनाइयों का पता चलता है। एक बार तो उसने निराश हो कर अपना पद भी त्याग दिया था। उसके बाद जो घटनाएँ हुईं उनमें पग-पग पर कावूर की चतुराई और कूटनीतिज्ञ योग्यता का परिचय मिलता है। जब उसने देखा कि केवल कूटनीति से काम नहीं चलता तो उसने जनता के क्रान्तिकारी जोश से भी लाभ

उठाया और पार्मा, मोडीना, टुस्कनी तथा रोमान्या की जनता को उकसा कर विद्रोह करवा दिया तथा उन्हें सार्डिनिया में शामिल करवा लिया।* उसने गेरिबाल्डी को सिसिली पर आक्रमण करने में गुप्त रूप से सहायता दी, परन्तु जब उसने देखा कि गेरिबाल्डी सिसिली को इटली के राज्य में शामिल करने को तैयार नहीं है और वहाँ गणतन्त्रीय आन्दोलन शुरू हो जाने का डर है तो काम बिगड़ता हुआ देखकर उसने चाणक्य की तरह गेरिबाल्डी के विरुद्ध सिसिली में षड्यन्त्र करना शुरू किया और जनता में सार्डिनिया में शामिल होने के लिये गुप्त प्रचार आरम्भ किया। गेरिबाल्डी के नेपिल्स में पहुँचने के पूर्व नेपिल्स की जनता में भी कावूर के गुप्तचर असन्तोष फैला रहे थे और सार्डिनिया के साथ शामिल होने के पक्ष में लोगों को जोश दिला रहे थे। उसने नेपिल्स के जहाजी बेड़े को अपनी ओर फोड़ लेने के लिये एडमिरल परसानो को भेजा। इस प्रकार अपने उद्देश्य की सफलता के लिये वह गेरिबाल्डी के विरुद्ध भी षड्यन्त्र करने से नहीं चूका। परन्तु उस परिस्थिति में यह सब आवश्यक था और वह जो कुछ भी करता था उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ की गन्ध भी नहीं थी। अपने कारनामों के सम्बन्ध में स्वयं एक बार उसने कहा था कि जो कुछ हम इटली के लिये कर रहे हैं यदि वही हम अपने लिये करने लगें तो हम बड़े नीच कहे जायेंगे।† जब गेरिबाल्डी ने नेपिल्स पर भी अधिकार कर लिया और रोम पर आक्रमण करने का इरादा प्रकट किया तो स्थिति बड़ी विकट हो गई। कावूर बड़ी कठिनाई में पड़ गया। एक ओर तो गेरिबाल्डी, जिसका हृदय तो सिंह के हृदय के समान था परन्तु मस्तिष्क एक बैल के मस्तिष्क की तरह था, रोम पर आक्रमण करके फ्रान्स से युद्ध मोल लेने की बात सोच रहा था, दूसरी ओर कई योरोपीय राज्य कावूर से शिकायत कर रहे थे और उसे बुरा-भला कह रहे थे।‡ ऐसी अवस्था में कावूर यदि ज़रा भी चूकता तो अनर्थ हो सकता था। परन्तु कावूर ने बड़ी बुद्धिमानी से विक्टर इमेन्युएल को सेना के साथ भेज कर गेरिबाल्डी के जोश पर अंकुश लगा दिया और न केवल नेपिल्स के राज्य को इटली के राज्य में शामिल कर लिया, अपितु एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय सङ्कट को भी दूर हटा दिया। इस प्रकार कावूर ने अनेक प्रकार की कठिनाइयों का बड़े धैर्य और साहस से मुक़ाबला करते हुए वेनिस और रोम को छोड़ समस्त इटली को एक कर लिया। यदि वह न होता तो मेज़िनी की प्रेरणा और गेरिबाल्डी की शक्ति व्यर्थ जाती। मेज़िनी की प्रेरणा, गेरिबाल्डी की तलवार, क्रान्तिकारियों के जोश तथा नेपोलियन के हौसले का एक साथ एक सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिये उपयोग करना कावूर का ही काम था। वह अपने युग का सबसे महान् कूटनीतिज्ञ था। §

* Ketelbey : A History of Modern Times, p. 218.

† Phillips : Modern Europe, pp. 383-385.

‡ Ketelbey : A History of Modern Times, p. 225,

§ Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 189.

उच्च कोटि का शासक—कावूर उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ एवं कूटनीतिज्ञ होने के साथ-साथ बड़ा अच्छा शासक भी था। उस पर इंगलैण्ड के उदारवाद का बड़ा प्रभाव था* और वह पहले सार्डिनिया को और एकीकरण के बाद समस्त इटली को सांविधानिक एकतन्त्र बनाना चाहता था। वह सार्डिनिया को आदर्श सांविधानिक एकतन्त्र बनाना चाहता था और उसने इस दिशा में काफ़ी सफलता प्राप्त की। वह प्रत्येक कार्य पार्लमिण्ट के द्वारा करता था। इससे पार्लमिण्ट की शक्ति बढ़ी और सार्डिनिया में उत्तरदायी शासन जड़ पकड़ गया। वह अच्छी तरह जानता था कि उत्साही बाह्य नीति का एकमात्र सुदृढ़ आधार जनता का सन्तोष और उसकी समृद्धि है। इङ्गलैण्ड के समान उसने सार्डिनिया में मुक्त व्यापार की नीति का अवलम्बन करके वाणिज्य-व्यापार की उन्नति की और रेलें, सड़कें आदि बनाकर तथा कारखानों को सहायता देकर सार्डिनिया की आर्थिक उन्नति में योग दिया। उसके आन्तरिक सुधारों के फल-स्वरूप सार्डिनिया ने आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा शासन-सम्बन्धी क्षेत्रों में आशातीत उन्नति की और तत्कालीन इटली के लिये वह वास्तव में एक आदर्श राज्य बन गया। उसकी कूटनीतिक ख्याति के सामने उसके आन्तिरिक सुधारों का महत्व नहीं भूलना चाहिये। जो महान् आर्थिक एवं शासन-सम्बन्धी सुधार उसने किये उनके बिना उसकी बाह्य नीति कभी सफल नहीं हो सकती थी।

इटली के एकीकरण की विशेषता—कावूर के नेतृत्व के कारण इस स्वातन्त्र्य-संग्राम में एक विशेषता दिखाई देती है। यद्यपि आरम्भ में ऑस्ट्रिया के साथ युद्ध हुआ और बाद में भी कुछ संघर्ष हुआ, तो भी इटली के राष्ट्रीय आन्दोलन की विजय शस्त्रबल से नहीं, बल्कि जनता की भावनाओं की सच्ची अभिव्यक्ति के कारण हुई जिसके कारण प्रतिक्रियावादी शक्तियों के लिये मुकाबला करना असम्भव हो गया। एकीकरण की दिशा में जितने क़दम उठाये गये उन सबको जनता के विशाल बहुतम का समर्थन प्राप्त हुआ और संयुक्त राज्य ने आरम्भ से ही उदारवादी पार्लामेण्टरी राज्य का रूप ग्रहण किया। इटली की एकता उदारवादी एवं राष्ट्रीयतावादी विचारों की विशुद्ध विजय थी।†

---

* Fisher : A History of Europe, 949.

† Muir : A Short History of the British Commonwealth, Vol. II, p. 479.

अध्याय २६

राष्ट्रीयता की विजय—जर्मनी का एकीकरण

जर्मनी की स्थिति—वियना की कांग्रेस के बाद पेंतीस वर्ष का जर्मनी का इतिहास पूर्ण प्रतिक्रिया का इतिहास रहा। राष्ट्रीयतावादियों तथा उदारवादियों के सभी प्रयत्न प्रायः निष्फल हो चुके थे। १८४८ का फ्रैंकफुर्ट पार्लामेण्ट द्वारा किया हुआ राष्ट्रीय एकता का प्रयत्न विफल हो चुका था; प्रशा की योजना केवल व्यर्थ ही नहीं हुई थी, उसे ऑस्ट्रिया की ओर से भर्त्सना और अपमान भी सहना पड़ा था; हाप्सबुर्ग वंश की अध्यक्षता में संघीय विधायिका पुनः स्थापित हो गई थी और जर्मनी फिर १८१५ की अवस्था में पहुँच गया था। १८४८ से १८५० तक की घटनाओं ने जर्मन समस्या को स्पष्ट कर दिया था। जर्मनी का राष्ट्रीय एकीकरण संघीय विधायिका के द्वारा, जिसमें ऑस्ट्रिया का प्राधान्य था, नहीं हो सकता था। इटली की राष्ट्रीय एकता के समान जर्मनी की राष्ट्रीय एकता का भी प्रधान शत्रु ऑस्ट्रिया था। राष्ट्रीय एकता की योजना का जर्मनी के अन्य राज्य भी समर्थन नहीं करते थे क्योंकि उसके द्वारा उनकी स्वतन्त्रता की हानि होती थी। फ्रैंकफुर्ट पार्लामेण्ट की विफलता से यह भी प्रकट हो गया था कि किसी शासक की सहायता के बिना केवल जन-आन्दोलनों द्वारा नवीन जर्मनी का निर्माण असम्भव था। अतः नवीन जर्मनी के निर्माण की समस्या स्पष्ट हो चुकी थी। जर्मनी में ऑस्ट्रिया के प्राधान्य का अन्त आवश्यक था। इसके साथ ही जर्मनी की १८१५ की व्यवस्था को भंग कर उसके विभिन्न राज्यों के बीच नवीन सम्बन्ध स्थापित करना भी आवश्यक था। इसके अतिरिक्त यह भी अत्यन्त आवश्यक था कि जर्मनी का कोई एक राज्य जर्मनी के नव निर्माण के कार्य का नेतृत्व करे। यद्यपि प्रशा भी प्रतिक्रियावादी था, तो भी इस कार्य के लिये वही उपयुक्त था। नेपोलियन के विरुद्ध प्रशा में ही राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न हुई थी और जर्मन मुक्ति के युद्ध का नेतृत्व भी प्रशा ने किया था। १८१५ में राइन नदी के किनारे के प्रदेश प्रशा को प्राप्त हो जाने से वह फ्रान्स के विरुद्ध जर्मन हितों का संरक्षक बन चुका था और इस प्रकार ऑस्ट्रिया के स्थान पर राष्ट्रीय नेतृत्व का भार उस पर पहले ही आ चुका था। आर्थिक क्षेत्र में अनेक जर्मन राज्य आर्थिक संघ में सम्मिलित होकर प्रशा के नेतृत्व में पहले ही एकत्रित हो चुके थे। इन सब बातों के अतिरिक्त प्रशा में सांविधानिक

शासन था जो वास्तव में था तो बड़ा असन्तोषजनक परन्तु फिर भी सांविधानिक था और जर्मनी के उदारवादियों में उसके द्वारा कुछ आशा का संचार होता था।

जर्मन राज्य-संघ में प्रशा
१८१५-१८६६
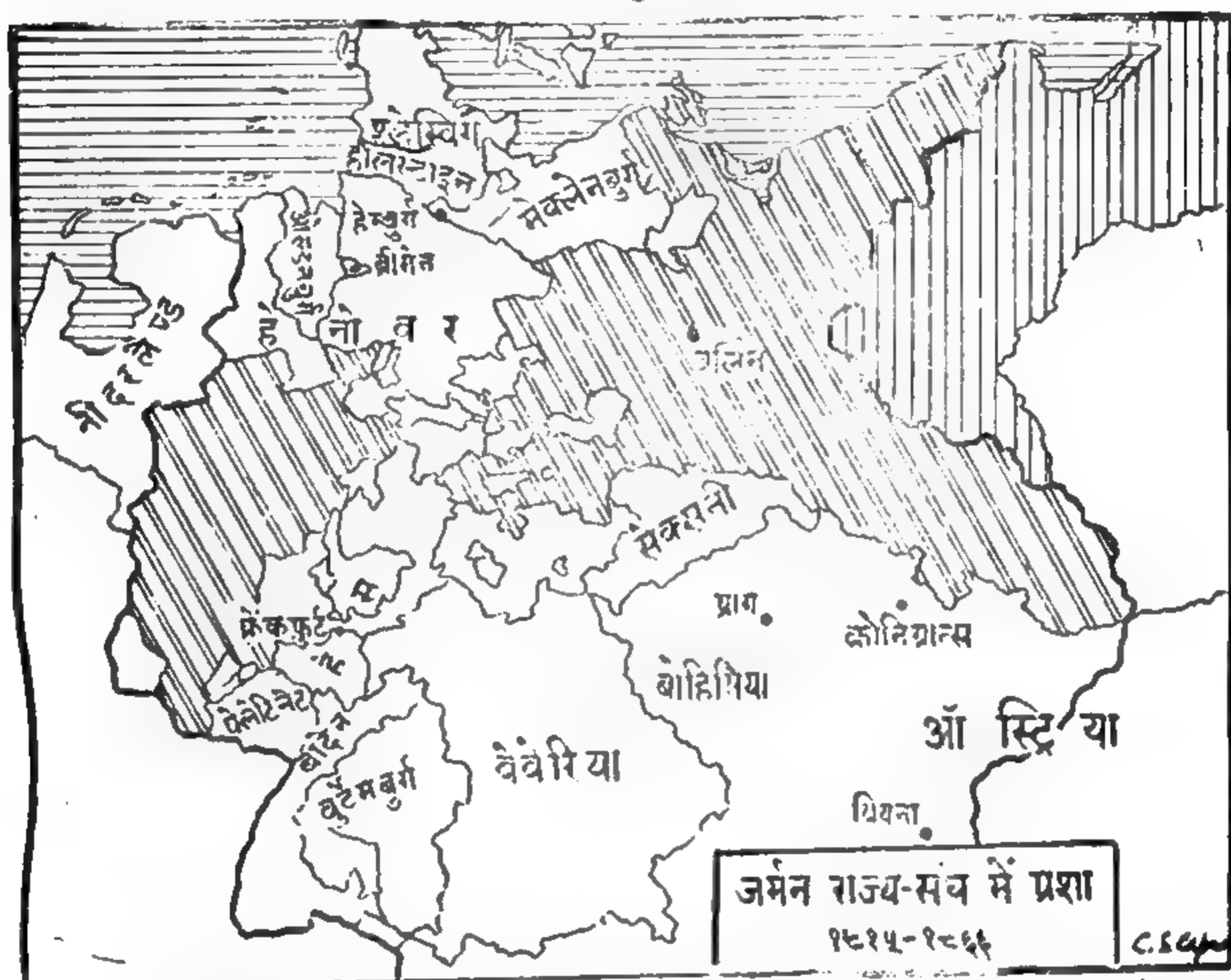
इटली तथा जर्मनी की समस्याओं की तुलना—इस प्रकार इटली और जर्मनी की समस्याओं में ऊपर से बहुत कुछ समानता दिखाई देती है। दोनों देशों में राष्ट्रीय एकता की भावना बड़ी प्रबल थी, उसके लिये किये गये प्रयत्न विफल हो चुके थे और दोनों जगह उसका प्रधान शत्रु ऑस्ट्रिया था। दोनों देशों में नव-निर्माण के लिये यह आवश्यक था कि ऑस्ट्रिया का बहिष्कार हो और नव-निर्माण का नेतृत्व कोई एक सुसंगठित राज्य करे। जो काम इटली में सार्डिनिया तथा कावूर ने किया, वही कार्य जर्मनी में प्रशा तथा बिस्मार्क को करना था। परन्तु यह समानता इन्हीं मोटी-मोटी बातों तक सीमित थी। कई बातों में दोनों देशों की समस्याओं में बड़ा अन्तर था। इटली की समस्या जर्मनी की समस्या से अधिक जटिल थी। जर्मनी राजनीतिक दृष्टि से पहले से एक था, यद्यपि यह एकता एक शिथिल संघ के रूप में ही विद्यमान थी; जब कि इटली में अनेक राज्य थे जिनमें विदेशी ऑस्ट्रिया का शासन भी था और पोप का राज्य था जो समस्त ईसाई जगत का धर्मगुरु था, जिसके कारण इटली के सामने किसी भी समय अन्तर्राष्ट्रीय संकट उपस्थित हो सकता था और जो इटली की एकता में सबसे बड़ा बाधक था। इसके अतिरिक्त इटली के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेता सार्डिनिया

केवल एक छोटा सा राज्य था जिसके नेतृत्व को अन्य राज्यों द्वारा स्वीकार करवाना बड़ा कठिन था और जिसे नेतृत्व के योग्य बनाना भी सरल नहीं था। इसके विपरीत प्रशा पहले से ही एक शक्तिशाली राज्य था और १८१५ के बाद से जर्मनी में प्रमुख स्थान प्राप्त कर चुका था; आर्थिक क्षेत्र में तो उसका नेतृत्व स्थापित हो ही चुका था। निर्बल होने के कारण सार्डिनिया को विदेशी शक्ति की सहायता की आवश्यकता लेनी पड़ी, जिसके लिये उसे बलिदान भी करना पड़ा, परन्तु प्रशा को, जैसा हम देखेंगे, किसी बाहरी शक्ति की सहायता की आवश्यकता नहीं हुई। उसने अपनी योजनाएँ स्वयं ही पूर्ण कर लीं। हाँ, अन्य राज्यों को उसने तटस्थ बनाये रखने का अवश्य प्रयत्न किया।

किन्तु कई बातों में जर्मनी की स्थिति अधिक पेचीदा थी। इटली में तो मेजिनी तथा गेरिबाल्डी जैसे नेताओं के कारण जन-जागृति काफ़ी हो चुकी थी और यद्यपि कावूर को राजाओं से कोई सहायता नहीं मिली फिर भी उसे जनता के क्रान्तिकारी जोश से बड़ी अमूल्य सहायता प्राप्त हुई और उसका कार्य सरल हो गया। परन्तु जर्मनी में यह बात नहीं थी। वहाँ प्रान्तीय एवं स्थानीय भावनाएँ अधिक प्रबल थीं और बिस्मार्क को, जैसा आगे चलकर प्रकट होगा, कई बार जनता की इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक कार्य करना पड़ा। इटली में ऑस्ट्रिया के प्रति बड़ी गहरी घृणा व्याप्त थी और उसकी नैतिक स्थिति बड़ी दुर्बल थी परन्तु जर्मनी में उसकी स्थिति बड़ी प्रबल थी और कई छोटे-छोटे राजा उसके समर्थक थे। इन्हीं बातों के कारण दोनों देशों के राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधि भिन्न रही।

ऑल्मुत्स के बाद के दस वर्ष भी जर्मनी में शान्त प्रतिक्रिया के ही रहे। श्वार्ज़ेनबर्ग के प्रयत्नों के फलस्वरूप ऑस्ट्रिया अपनी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करके अपनी पूर्व स्थिति को पहुँच चुका था, यद्यपि हंगरी के विद्रोह के कारण उसकी शक्ति को क्षति अवश्य पहुँची थी। प्रशा में देखने को तो शासन सांविधानिक था परन्तु वास्तव में वह पूर्णतया निरंकुश और प्रतिक्रियावादी था। उदारवाद की दिशा में प्रगति स्थगित हो गई थी परन्तु अन्य दिशाओं में, विशेषकर शासन तथा सैनिक व्यवस्था में, प्रशा काफ़ी उन्नति कर रहा था। अन्य राज्यों में भी कोई प्रगति नहीं दिखाई दे रही थी। परन्तु १८६० के बाद, जिस वर्ष इटली में कावूर ने राष्ट्रीय एकीकरण की दिशा में पहला महत्वपूर्ण क़दम उठाया, जर्मनी के शान्त वातावरण में हलचल आरम्भ हुई और दस वर्ष के अन्दर जर्मनी का कायाकल्प हो गया।

प्रथम विलियम—चतुर्थ फ़्रेडरिक विलियम, जिसका मस्तिष्क कुछ वर्षों से विकृत हो रहा था, १८६१ में मर गया और उसका भाई प्रथम विलियम, जो १८५८ से राजप्रतिनिधि का कार्य कर रहा था, प्रशा का राजा बना। राज्याभिषेक के समय उसकी अवस्था ६४ वर्ष की थी। उसका सारा जीवन सेना में व्यतीत हुआ था जिसके

साथ उसे बड़ा प्रेम था। वह १८१४ में नेपोलियन के विरुद्ध लड़ चुका था। सैनिक मामलों में उसके परिपक्व ज्ञान तथा उसकी सैनिक योग्यता को सभी स्वीकार करते थे। उसे यह दृढ़ विश्वास था कि प्रशा का भाग्य उसकी सेना की शक्ति पर निर्भर था। वह प्रशा को जर्मनी का सरताज बनाना चाहता था और इसके लिये एक शक्तिशाली सेना की आवश्यकता को ख़ूब समझता था। वह राजा के दैवी अधिकार में भी विश्वास करता था परन्तु इसके साथ ही वह यह भी आवश्यक समझता था कि राजा को प्रजा का हितेच्छु, ईमानदार और दयालु होना चाहिये किन्तु वह शासन में जनता को कोई भाग नहीं देना चाहता था। वह निरंकुश शासन में विश्वास करता था।

सेना को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिये वह उसकी संख्या दुगुनी करना चाहता था, परन्तु चेम्बर ऑफ़ डिप्युटीज़ ने उसका विरोध किया और उसके लिये आवश्यक धनराशि स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। कई दिनों तक दोनों पक्षों में तनातनी रही और एक बार तो दबने की जगह विलियम राज्य त्याग करने के लिये तैयार हो गया,* परन्तु बाद में कुछ सोचकर उसने एक व्यक्ति को अपना प्रधान मन्त्री बनाया जो अपने साहस तथा अपनी स्वतन्त्रता एवं राजा के प्रति अपनी भक्ति के लिये प्रसिद्ध था (२३ सितम्बर १८६२)। वह व्यक्ति था ऑटो फ़ान विस्मार्क।

विस्मार्क—विस्मार्क का जन्म १८१५ में ब्रेण्डनबुर्ग के कुलीन जागीरदार (Junker) के परिवार में हुआ था। उसकी जागीर पोमरेनिया में थी। प्रशा के कुलीन जागीरदार लोग जनता के अधिकारों के बड़े कट्टर विरोधी थे और जन्म से ऐसे वातावरण में पल कर विस्मार्क जनता के अधिकारों का विरोधी और निरंकुश शासन का समर्थक बन गया। उसकी शिक्षा गॉटिञ्जन तथा बर्लिन के विश्वविद्यालयों में हुई थी, परन्तु पढ़ने-लिखने में उसका ध्यान नहीं लगता था। वह सदा मदिरापान, कुश्ती तथा उद्दण्डता में ही लगा रहता था। वह अनुशासन बिलकुल नहीं सह सकता था और अनुशासन भंग के लिये उसे प्रायः दण्ड मिला करता था। उसके लिये जीवन ही ऐसा शिक्षक था जिससे वह शिक्षा ग्रहण करने के लिये तैयार था। शिक्षा समाप्त करने पर वह प्रशा की सरकारी नौकरी में न्याय-विभाग में प्रविष्ट हुआ, परन्तु सरकारी कर्मचारी—'क़लम हाथ में लिये हुए पशु'—के जीवन से उसे घृणा थी। १८३६ में माता के देहान्त हो जाने पर तथा आर्थिक कठिनाइयों के कारण उसने नौकरी छोड़ दी और अपने पिता की जागीर का प्रबन्ध सम्हाला।† आठ वर्ष तक वह अपनी जागीर का प्रबन्ध करता रहा, इधर-उधर भ्रमण करता रहा, स्थानीय राजनीति में सक्रिय भाग लेता रहा और ख़ूब पढ़ता रहा। जन्म से प्रतिक्रियावाद वातावरण में पले हुए

---

* Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 249.

† Robertson : Bismarck, p. 52.

होने पर भी विद्यार्थी-जीवन में उसे राजनीति में गणतन्त्रवाद के प्रति कुछ सहानुभूति हो गई थी, परन्तु इन वर्षों में उसका सम्पर्क कुछ ऐसे लोगों से हुआ जिनका बर्लिन के प्रतिक्रियावादी दल के प्रमुख व्यक्तियों से सम्बन्ध था, जिसके फलस्वरूप वह गणतन्त्रवाद को तिलाञ्जलि देकर कट्टर प्रतिक्रियावादी हो गया और जीवन भर ऐसा ही बना रहा।*

राजनीति में प्रवेश - अपनी जागीर से निकल कर उसने १८४७ में राजनीति में और उसके साथ ही इतिहास में प्रवेश किया। उस वर्ष फ्रेडरिक विलियम ने उदारवादियों के सामने झुक कर संयुक्त प्रशियन डायट (United Prussian Diet) आमन्त्रित की और बिस्मार्क उसका सदस्य निर्वाचित हुआ। इस सभा में वह क्रान्ति तथा उदारवाद का कट्टर विरोधी रहा। वह संविधान को बड़ी घृणा से 'रद्दी कागज़ का टुकड़ा' कहा करता था और संविधान द्वारा राजा की शक्ति को सीमित करने की योजनाओं का घोर विरोधी था। वह फ्रेडरिक विलियम को उग्र जनतन्त्रवादियों तथा स्वयं उसके ही क्षणिक उदारवादी आदेशों से बचाने का प्रयत्न करता रहा। इन विचारों में वह कावूर से बहुत भिन्न था। कावूर तो स्वयं उदारवादी था और अपने सार्डिनिया के राज्य को इंगलैण्ड के ढाँचे पर ढालना चाहता था। परन्तु बिस्मार्क का जनता में बिलकुल विश्वास नहीं था। वह कहा करता था कि प्रशा को राजाओं ने बड़ा बनाया है, जनता ने नहीं। राजा की शक्ति को कम करना राज्य की शक्ति को क्षीण करना है। १८४८-४९ के आन्दोलनों में उसने उदारवादियों का कड़ा विरोध किया और जब प्रशा में विद्रोह हुआ तो उसने फ्रेडरिक विलियम की रक्षा के लिये किसानों की सेना संगठित की। जब फ्रेडरिक विलियम ने संविधान प्रदान करने का वचन दिया और प्रशा की विधायिका सभा ने राजा को धन्यवाद दिया, तब धन्यवाद देने से इन्कार करनेवाले दो व्यक्तियों में एक वह भी था।† वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अव्यवस्थित स्वार्थपरता समझता था। पार्लमेण्टरी संस्थाओं को वह अज्ञानी एवं अनुत्तरदायी समझकर उन्हें वह शासन के अङ्ग के रूप में व्यर्थ समझता था। उदारवाद, प्रजातन्त्र एवं समाजवाद से उसे घृणा थी। वह इनके स्थान पर कर्तव्य-भावना, सेवा-भावना, व्यवस्था और ईश्वर के भय की भावना को प्रतिष्ठित करना चाहता था।‡ १८४८ में जर्मन एकता के लिये जितने प्रयत्न हुए उन सबका उसने घोर विरोध किया क्योंकि उसके विचार में जर्मनी के भाग्य और उसकी संस्थाओं का निर्णय जनता द्वारा नहीं, राजाओं द्वारा होना चाहिये था। फ्रैंकफ़ुर्ट की राष्ट्रीय महासभा का वह उपहास करता था और जब उसने उसकी असफलता का समाचार सुना तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ। १८५० के प्रशा के संविधान को उसने बड़ी अनिच्छापूर्वक

* Ketelbey : A History of Modern Times, p. 235
† Hayes and Cole : History of Europe, Vol. II, p. 257.
‡ Palmer : A History of the Modern World, p. 521.

स्वीकार तो किया परन्तु उसके साथ ही उसने उदारवाद का विरोध करने और राज-सत्ता, कृषि-सम्बन्धी हितों तथा सेना की रक्षा के लिये एक अनुदार दल का संगठन किया। इस प्रकार वह राजा से भी अधिक राजसत्तावादी था। अतः वह राजा का विश्वासपात्र बन गया और १८५१ में फ्रेंकफुर्ट की नई संघीय महासभा में प्रशा का प्रतिनिधि बना कर भेजा गया। यह उसके जीवन की दिशा बदलनेवाली घटना थी। इस महासभा में वह आठ वर्ष तक प्रशा का प्रतिनिधित्व करता रहा और इस अवधि में उसने कूटनीति की बड़ी अच्छी शिक्षा प्राप्त की। उसे जर्मनी के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों तथा शासकों का परिचय प्राप्त हुआ, उनके चरित्र और इरादों की तथा जर्मन राजनीति के दांव-पेचों की बड़ी अच्छी जानकारी हुई। उसने वहां अच्छी तरह देख लिया कि आॅस्ट्रिया प्रशा के साथ बराबरी का व्यवहार नहीं करना चाहता। जर्मनी के छोटे राज्य प्रशा की जर्मन एकता की नीति के कारण उसे शंका की दृष्टि से देखते थे और आॅस्ट्रिया का आश्रय ताकते थे। उसने देख लिया कि आॅस्ट्रिया की नीति की मुख्य बात प्रशा के साथ ईर्ष्या थी और प्रत्येक छोटा राज्य प्रशा के साथ शत्रुता करके आॅस्ट्रिया का कृपापात्र बन सकता था।* यह सब देख कर उसे विश्वास हो गया कि जर्मन संघ की सदस्यता प्रशा के लिये हानिकर तथा कमज़ोरी का कारण थी और उससे अपना सम्बन्ध तोड़ लेने में ही प्रशा का हित था। १८५३ में ही उसने अपनी सरकार को कह दिया था कि जर्मनी में आॅस्ट्रिया तथा प्रशा दोनों के लिये स्थान नहीं है, उसमें दोनों में से कोई एक ही रह सकता है। आरम्भ में आॅस्ट्रिया तथा उसकी नीति के लिये उसके हृदय में बड़ा आदर था परन्तु यह सब देख कर उसका रुख धीरे-धीरे आॅस्ट्रिया-विरोधी होता गया और आॅस्ट्रिया उससे अप्रसन्न हो गया। फ्रेडरिक विलियम आॅस्ट्रिया को अप्रसन्न नहीं करना चाहता था, इस कारण उसने उसे वापस बुला लिया और १८५९ में उसे सेंटपीटर्सबर्ग को अपना राजदूत बना कर, अथवा 'नीवा के तट पर दिमाग़ ठण्डा करने के लिये' भेज दिया।† वहां उसे रूसी भाषा सीखने तथा ज़ार से मित्रता करने का अलभ्य अवसर प्राप्त हुआ। १८६२ में वह पेरिस को राजदूत बना कर भेजा गया। वह वहां कुछ महीने ही रहा परन्तु इसी अवधि में उसे नेपोलियन के चरित्र को समझने का अच्छा मौक़ा मिल गया। पेरिस से वह शीघ्र ही वापस बुला लिया गया और २३ सितम्बर १८६२ को प्रशा का प्रधान मन्त्री बनाया गया। इस प्रकार प्रधान मन्त्री बनने के पहले उसे जर्मनी की तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था की दुर्बलताओं का तथा योरोपीय राजनीति का बड़ा अच्छा अनुभव प्राप्त हो चुका था जिससे उसने आगे चल कर खूब लाभ उठाया।

पार्लमेण्ट से संघर्ष—प्रथम विलियम ने आरम्भ से ही सेना को बढ़ाने और

* Marriott : The Remaking of Modern Europe, p 208.

† Hazen : Modern European History, p. 344.

उसे शक्तिशाली बनाने का काम युद्ध-मन्त्री फ़ॉन रून (Von Roon) तथा सेना विभाग के अध्यक्ष फ़ॉन मोल्ट्के (Von Moltke) की सहायता से आरम्भ कर दिया था परन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, इस कार्य में उसे लोकसभा (चेम्बर ऑफ़ डिप्युटीज़) के विरोध का सामना करना पड़ रहा था जो उसके लिये आवश्यक बजट को स्वीकार नहीं कर रही थी। बिस्मार्क ने पहले तो अपनी नीति-कुशलता से लोकसभा से सैनिक सुधार की योजना को स्वीकार कराने का प्रयत्न किया, परन्तु जब इसमें उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई तो उसने असांविधानिक ढंग से कार्य करना आरम्भ किया। चार वर्ष तक संघर्ष चलता रहा। पार्लमिण्ट सदा आमंत्रित की जाती थी, लोक-सभा सदा बजट को अस्वीकार करती थी, परन्तु अकेली राज्य-सभा की स्वीकृति को ही पर्याप्त और वैध मानकर वह कर वसूल करता रहा और इस प्रकार उसने अपने सैनिक सुधार की योजना को पूरी करके सेना को सुसंगठित एवं अत्यन्त शक्तिशाली बना लिया। उसने राज्य की आवश्यकता के सामने संविधान की बिलकुल परवाह नहीं की और एक प्रकार से पार्ला-मेण्टरी शासन को स्थगित करके अधिनायकतन्त्र स्थापित कर लिया। उसका कथन था "यदि बजट स्वीकार न हो, तो विधि क्या है इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये जाते हैं। उनके औचित्य के विषय में मैं कुछ नहीं कहना चाहता। मेरे लिये तो राज्य की आवश्यकता ही काफ़ी है; आवश्यकता ही विधि है।"* पार्लमिण्ट में उदारवादी लोग प्रशा में एक उदार, स्वतन्त्र, उत्तरदायी शासन स्थापित करने पर ज़ोर देते थे ताकि जर्मनी के लोग अपने-अपने राज्यों को छोड़ उसी प्रकार प्रशा के झण्डे के नीचे खड़े हो सकते जिस प्रकार इटली के लोग सार्डिनिया के झण्डे के नीचे एकत्रित हुए थे। १८६३ में उदारवादियों के इस तर्क का उत्तर देते हुए उसने कहा कि "जर्मनी की आँखें प्रशा की उदारवादिता पर नहीं, उसकी शक्ति पर लगी हुई हैं। प्रशा को अपनी शक्ति अनुकूल अवसर के लिये सुरक्षित रखनी चाहिये। प्रशा ऐसा अवसर पहले चूक चुका है। बड़ी-बड़ी समस्याएँ व्याख्यानों तथा बहुमत के प्रस्तावों से नहीं सुलझतीं —१८४८ और १८४९ में यही सबसे बड़ी ग़लती हुई थी—बल्कि रक्त-प्रवाह तथा शस्त्र-प्रयोग से सुलझती हैं।"† इससे उसका आशय था कि प्रशा के भविष्य का निर्णय पार्लमिण्ट नहीं, बल्कि उसकी सेना करेगी।

उद्देश्य तथा कार्यक्रम—इस प्रकार बिस्मार्क ने अपनी नीति की व्याख्या की और समस्त विरोध की उपेक्षा करके अपनी नीति पर कार्य जारी रखा। राजा उसके साथ था। कभी-कभी उसके स्वेच्छाचार से वह भी घबड़ा उठता था परन्तु बिस्मार्क उसे समझा लिया करता था। प्रशा के प्रगतिवादी लोग शिकायत करते थे

---

* Schapiro : Modern and Contemporary European History, p. 237.

† Robertson : Bismarck, p. 122.

और अन्य राज्यों के उदारवादी लोग भी उसकी निन्दा करते थे, परन्तु वह समझता था कि उदारवादी लोग बातें ही अधिक करते हैं, उनसे कोई खतरा नहीं है। अपनी सेना की सहायता से उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति की पूर्ण आशा थी। उसका उद्देश्य था—प्रशा के द्वारा और उसी के हित के लिये जर्मन एकता का निर्माण। जिस प्रकार संयुक्त इटली में सार्डिनिया का पृथक् अस्तित्व नहीं रहा था वह पूर्णतया इटली में विलीन हो गया था, उस प्रकार वह प्रशा को जर्मनी में विलीन नहीं करना चाहता था। कावूर तो पहले इटली का था और बाद में सार्डिनिया का, परन्तु बिस्मार्क पहले, अन्त में और सदा प्रशा का ही बना रहा। वह कहा करता था कि हम प्रशा के हैं और सदा प्रशा के ही रहेंगे।* उसे अपनी सफलता द्वारा अपने विरोधियों का मुँह बन्द कर सकने का पूरा विश्वास था। उसका कार्यक्रम भी उसके मस्तिष्क में स्पष्ट था—प्रशा की सैनिक शक्ति को अजेय एवं अद्वितीय बनाकर उसकी सहायता से प्रशा का विस्तार करना और युद्ध में पराजित करके ऑस्ट्रिया को जर्मन संघ से बाहर निकाल कर समस्त जर्मन राज्यों का प्रशा के नेतृत्व में नवीन रूप से सङ्गठन करना तथा जर्मनी को योरोप में प्रमुख शक्ति बनाना।

लक्ष्य-प्राप्ति की तैयारी—अपने उद्देश्य तथा अपनी नीति निर्धारित करके बिस्मार्क अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये सब प्रकार से प्रयत्न करने लगा। उसने सेना की तैयारी पूरी कर ली थी और चूँकि उसे ऑस्ट्रिया को जर्मनी से निकालना था इसलिये वह ऑस्ट्रिया को निर्बल करने की तैयारी करने लगा। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति प्रशा के अनुकूल थी। जर्मनी की राष्ट्रीयता के शत्रु ऑस्ट्रिया और रूस थे जिनमें पहले परस्पर मित्रता थी परन्तु क्रीमिया के युद्ध के परिणामस्वरूप रूस निर्बल हो चुका था और ऑस्ट्रिया के साथ उसका मनमुटाव हो गया था। बिस्मार्क ने इस स्थिति से लाभ उठाना चाहा और रूस को अपनी तरफ़ मिलाने का प्रयत्न किया। १८६३ में जब पोलैण्डवालों ने विद्रोह किया तो उसने विद्रोह-दमन में रूस की सहायता की, यद्यपि जर्मनी में लोकमत पोल लोगों के पक्ष में था और इंगलैण्ड, फ़ान्स तथा ऑस्ट्रिया की सहानुभूति भी उनके साथ थी।† इस प्रकार उसने रूस की सहानुभूति प्रशा के लिये प्राप्त कर ली। ऑस्ट्रिया का रुख़ पोल लोगों के पक्ष में होने के कारण रूस उससे और भी अधिक अप्रसन्न हो गया। उधर फ़ान्स में नेपोलियन था जो १८५९ में ऑस्ट्रिया के विरुद्ध सार्डिनिया की सहायता कर चुका था और जिसका रुख़ राष्ट्रीयता के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था। उसने फ़ान्स के साथ व्यापारिक सन्धि करके उससे भी मित्रता कर ली। इस प्रकार उसने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जिसमें आवश्यकता के समय

* Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 250.

† Ketelbey : A History of Modern Times, p. 242.

ऑस्ट्रिया को कोई सहायता प्राप्त न हो सके।

ऑस्ट्रिया का विरोध—बिस्मार्क की चालों को देख कर ऑस्ट्रिया चिन्तित था और जर्मनी में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न कर रहा था। इसी दृष्टि से १८६३ में सम्राट् फ्रान्सिस जोज़ेफ ने जर्मनी के संघीय संविधान में संशोधन करने के प्रश्न पर विचार करने के लिये फ्रेङ्कफुर्ट में जर्मनी के राजाओं का एक सम्मेलन आमन्त्रित किया। बिस्मार्क ऑस्ट्रिया की चाल समझ गया। उसने विलियम को सम्मेलन में शामिल न होने दिया और ऑस्ट्रिया को उत्तर दिया कि ऑस्ट्रिया की योजना प्रशा की उचित स्थिति तथा जर्मन जनता के हितो के अनुकूल नहीं है और इस कारण प्रशा के लिये उसमें सहयोग करना सम्भव नहीं है।* बिस्मार्क के रुख ने ऑस्ट्रिया की योजना को विफल कर दिया। वह उसे चुनौती समझता था और उसे स्वीकार भी कर लेता परन्तु इसी समय एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न उनके सामने आ खड़ा हुआ।†

श्लेस्विग-हॉल्स्टाइन की समस्या—डेन्मार्क का राजा सप्तम फ्रेडरिक १८६३ में मर गया, जिससे एक बड़ी पेचीदा स्थिति पैदा हो गई। फ्रेडरिक डेन्मार्क का राजा होने के साथ ही श्लेस्विग (Schleswig), हॉल्स्टाइन (Holstein) तथा लावेनबुर्ग (Lauenburg) की जर्मन डचियों का भी शासक था। ये डचियाँ डेनमार्क और जर्मनी के बीच में स्थित थीं। हॉल्स्टाइन की जनता तो प्रायः समस्त जर्मन थी और श्लेस्विग में भी दो-तिहाई जनता जर्मन थी।‡ १४६० में इन डचियों का ड्यूक उसी प्रकार डेन्मार्क का राजा बन गया था जिस प्रकार हेनोवर का राजा जॉर्ज इंगलैण्ड का राजा हो गया था और तभी से इन डचियों का डेन्मार्क के राजा से व्यक्तिगत सम्बन्ध था। डेन्मार्क का राजा इनका भी शासक होता था परन्तु वे डेन्मार्क के भाग नहीं थे और उनका शासन भी अलग था। हॉल्स्टाइन जर्मन परिसंघ में सम्मिलित था। श्लेस्विग जर्मन परिसंघ का सदस्य तो नहीं था परन्तु उसका

---

* विलियम फ्रान्सिस जोजेफ को सम्मेलन में शामिल होने का वचन दे चुका था और बिस्मार्क उसे बड़ी कठिनाई से उससे दूर रखने के लिये राजी कर सका। बिस्मार्क ने एक पत्र द्वारा सम्मेलन में शामिल होने के लिये निम्नलिखित शर्तें रखीं—(१) परिसंघ के युद्ध की घोषणा करने के अधिकार पर ऑस्ट्रिया के समान ही प्रशा का भी निषेधाधिकार होना चाहिये, (२) परिसंघ में प्रशा की स्थिति ऑस्ट्रिया के समकक्ष होनी चाहिये, (३) प्रशा परिसंघ के कामों में ऐसी कोई वृद्धि सहन नहीं कर सकता जिससे प्रशा की स्वतन्त्रता सीमित होती हो और (४) एक जर्मन पार्लामेण्ट की स्थापना होनी चाहिये जो जर्मन राष्ट्र की प्रतिनिधि हो और प्रत्यक्ष रीति से उसी के द्वारा निर्वाचित हो। फ्रान्सिस जोजेफ ने इन शर्तों को स्वीकार नहीं किया। Robertson: Bismarck, pp 146-147.

† Marriott: The Remaking of Modern Europe, p. 212.

‡ Hazen: Modern European History, p. 346.

हॉल्स्टाइन से अविच्छेद्य सम्बन्ध था और वह डेन्मार्क के राजा की एक जागीर (Fief) था। इन डचियों में सेलिक लॉ (Salic Law) प्रचलित था जिसके अनुसार उन पर कोई स्त्री शासन नहीं कर सकती थी। फ्रेडरिक के कोई सीधा पुरुष उत्तराधिकारी नहीं था। इस कारण जब १८६३ में उसकी मृत्यु हो गई तो इन डचियों का डेन्मार्क के साथ सम्बन्ध टूट गया। डेन लोग वर्षों से इन डचियों को डेन्मार्क में शामिल करना चाहते थे परन्तु उनकी जर्मन जनता जर्मनी में शामिल होना चाहती थी। जनवरी १८४८ में जब सप्तम फ्रेडरिक डेन्मार्क के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ तो उसने डेनिश राष्ट्रीयता के सामने झुक कर इन दोनों डचियों को शामिल करते हुए समस्त राज्य के लिये एक नवीन संविधान जारी किया। इस पर विद्रोह हो गया और प्रशा विद्रोहियों की सहायता पर पहुँच गया। डेन लोग परास्त हो जाते परन्तु इंगलैण्ड, रूस, स्वीडन और ऑस्ट्रिया ने डेन्मार्क का नैतिक समर्थन किया। प्रशा को दबना पड़ा और इन डचियों की समस्या को हल करने के लिये लण्डन में योरोपीय राज्यों का एक सम्मेलन किया गया। एक सन्धि के द्वारा इस प्रश्न का निर्णय हुआ जिसके अनुसार दोनों डचियाँ पहले की तरह डेन्मार्क के पास बनी रहीं और उन्हें डेन्मार्क में सम्मिलित करने का निषेध किया गया। ऑगस्टेनबुर्ग के जर्मन ड्यूक का इन डचियों पर अधिकार था। उसने उन पर अपना अधिकार छोड़ दिया (या ऐसा समझा गया कि उसने अपना अधिकार त्याग दिया था) और अपनी डेनिश जागीरें डेन्मार्क को बेच दीं।* डेन्मार्क के राजा को इन डचियों की जर्मन प्रजा का ध्यान रखने का भी आदेश दिया गया।

परन्तु फ्रेडरिक ने इस आदेश की उपेक्षा की और १८५५ में फिर एक नया संविधान जारी किया जिसके द्वारा ये दोनों डचियाँ डेन्मार्क में शामिल कर ली गईं। हॉल्स्टाइन ने प्रशा से अपील की और जब प्रशा ने इसका विरोध किया तो फ्रेडरिक हॉल्स्टाइन को नई व्यवस्था से अलग रखने को राज़ी हो गया। कुछ वर्षों तक स्थिति ऐसी ही बनी रही परन्तु फ्रेडरिक पर डेनिश दल का दबाव पड़ता रहा और अन्त में उसने मार्च १८६३ में अपना वचन भंग करके श्लेस्विग को डेन्मार्क में शामिल कर लिया और हॉल्स्टाइन का सम्बन्ध भी डेन्मार्क के साथ घनिष्ठ कर लिया। इस प्रकार उसने लण्डन की सन्धि को भङ्ग किया और इसके साथ ही हॉल्स्टाइन तथा श्लेस्विग का जो प्राचीन अविच्छेद्य सम्बन्ध था उसका भी विच्छेद कर दिया। डचियों की जर्मन जनता तथा जर्मन सभा (Diet) ने इसका बड़ा विरोध किया परन्तु फ्रेडरिक ने उस पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। जब नवम्बर १८६३ में फ्रेडरिक की मृत्यु के बाद लण्डन के निर्णय के अनुसार नवाँ क्रिश्चियन सिंहासन पर बैठा तो उसने भी फ्रेडरिक की व्यवस्था को स्वीकार कर लिया।

हॉल्स्टाइन तथा श्लेस्विग की जनता ने इसका घोर विरोध किया, जर्मनी की

* Ketelbey : A History of Modern Times, p. 245.

ओर से भी विरोध हुआ और ऑगस्टेनबुर्ग के ड्यूक के पुत्र फ्रेडरिक ने उन पर अपना अधिकार पेश किया। वह डचियों में जा पहुँचा और विरोध का नेतृत्व करने लगा। जर्मन डायट ने उसका समर्थन किया और एक संघीय सेना ने हॉल्स्टाइन पर अधिकार कर लिया।*

ऑस्ट्रिया से सहयोग—बिस्मार्क की आँखें इन डचियों पर लगी हुई थीं। प्रशा के नाविक विकास की योजना का इन प्रदेशों में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था और वह किसी प्रकार भी उनको प्रशा में सम्मिलित करना चाहता था। परन्तु अभी वह बल का प्रयोग कर सकने की स्थिति में नहीं था। यदि वह अकेला ही डेन्मार्क पर आक्रमण करता तो ऑस्ट्रिया अवश्य उसका विरोध करता। इसलिये उसने ऑस्ट्रिया को मिलाकर उसकी सहायता से अपना काम निकालना चाहा। इस समय ऑस्ट्रिया के नये प्रधान मन्त्री काउन्ट रेकबर्ग से बिस्मार्क के सम्बन्ध अच्छे थे और नेपोलियन की नई चाल से फ्रान्सिस जोज़ेफ भी घबड़ा रहा था। नेपोलियन ने कुछ ही दिन पहिले कहा था कि १८१५ की सन्धियाँ रद्द हो चुकी हैं और समस्त समस्याओं पर नये सिरे से विचार करने के लिये योरोपीय राज्यों के एक सम्मेलन की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में ऑस्ट्रिया प्रशा की ओर झुक रहा था और दोनों के सम्बन्ध सुधर रहे थे।† बिस्मार्क ने काउन्ट रेकबर्ग को, जो अकेले डचियों की सहायता करने का विचार कर रहा था, समझाकर उसके साथ एक गुप्त समझौता किया जिसके अनुसार दोनों राज्यों ने जर्मन डायट अथवा अन्य जर्मन राज्यों के हस्तक्षेप के बिना ही डचियों के मामलों को तै करने का निर्णय किया।

ऑस्ट्रिया तथा प्रशा ने मिल कर डेन्मार्क पर लण्डन की सन्धि को भंग करने का दोष लगाया और ४८ घण्टे के अन्दर नवीन संविधान को रद्द करने की माँग की। नवें क्रिश्चियन ने इंगलैण्ड से सहायता प्राप्त होने की आशा में माँग को स्वीकार नहीं किया। इस पर ऑस्ट्रिया तथा प्रशा की सम्मिलित सेनाओं ने डेन्मार्क पर आक्रमण

---

* अब यहीं से जर्मनी का इतिहास बिस्मार्क की अतुलनीय कूटनीति तथा अदम्य इच्छाशक्ति का इतिहास बन जाता है; जर्मन राष्ट्र का युद्ध-भूमि में अपनी वीरता द्वारा सहायता करने के अतिरिक्त अपने भाग्य-निर्णय में कोई प्रभाव नहीं रहता। १८६४ में समस्त जर्मन राष्ट्र श्लेस्विग-हॉल्टाइन को एक पृथक् राजा के शासन में जर्मन परिसंघ में शामिल करना चाहता था। इसके विपरीत बिस्मार्क इन प्रदेशों को प्रशा में सम्मिलित करने के अतिरिक्त उन्हें परिसंघ के विनाश तथा जर्मनी से ऑस्ट्रिया के बहिष्कार का साधन बनाना चाहता था। जर्मन राष्ट्र एक बात चाहता था और बिस्मार्क उससे बिलकुल भिन्न दूसरी बात। बड़ी दृढ़ता और कुशलता के साथ उसने जनता तथा योरोपीय राज्यों के विरोध पर विजय प्राप्त करके राष्ट्र को जबरदस्ती उस लक्ष्य पर पहुँचा दिया जिसे उसने स्वयं उसके लिये स्थिर किया था। Fyffe : History of Modern Europe, pp. 936-937.

† Ketelbey : A History of Modern Times, p. 127.

कर दिया। डेन्मार्क को कहीं से सहायता प्राप्त नहीं हुई। वह पराजित हो गया और वियना की सन्धि (अक्टूबर १८६४) के अनुसार उसे श्लेस्विग तथा हॉल्स्टाईन के साथ ही लाबेनबुर्ग की डची को ऑस्ट्रिया तथा प्रशा के संयुक्त अधिकार में छोड़ देना पड़ा और उनकी वे जो कुछ व्यवस्था करें उसे स्वीकार करने का वचन देना पड़ा।

गेस्टाइन का समझौता—इस प्रकार बिस्मार्क की योजना का एक अङ्ग पूरा हुआ। परन्तु अब लूट के बटवारे का प्रश्न उपस्थित हुआ। बिस्मार्क की इच्छा इन तीनों डचियों को प्रशा में शामिल करने की थी परन्तु अपनी इच्छा को स्पष्ट व्यक्त न कर वह छल से अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहता था। ऑस्ट्रिया को इन डचियों पर अधिकार करने की कोई इच्छा नहीं थी, वह उन्हें ऑगस्टेनबुर्ग के ड्यूक फ्रेडरिक को दे देना चाहता था।* प्रशा इसके लिये तैयार तो हो गया परन्तु उसने ऐसी शर्तें पेश कीं जिनसे वह बिलकुल प्रशा के अधीन हो जाता। ड्यूक ने उन शर्तों को स्वीकार नहीं किया और ऑस्ट्रिया ने भी उनका विरोध किया। कुछ दिनों तक समस्या हल न हो सकी और ऐसा मालूम होने लगा मानो दोनों राज्यों में युद्ध छिड़ जायगा। बिस्मार्क ऑस्ट्रिया से युद्ध करना तो चाहता था परन्तु अभी उसकी कूटनीतिक तैयारी पूरी नहीं हो पाई थी और विलियम भी ऑस्ट्रिया से युद्ध नहीं करना चाहता था। अतः गेस्टाइन (Gastein) के स्थान पर विलियम और फ्रान्सिस जोज़ेफ ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि लाबेनबुर्ग की डची प्रशा को बेच दी जाय, श्लेस्विग प्रशा के पास रहे और हॉल्स्टाइन ऑस्ट्रिया के अधिकार में रहे (१८६५)।† दोनों डचियों पर ऑस्ट्रिया तथा प्रशा का संयुक्त प्रभुत्व बना रहा परन्तु प्रशा को हॉल्स्टाइन में स्थित कील बन्दरगाह पर अधिकार मिल गया तथा एक नहर बनाने का अधिकार भी मिला। इसके साथ ही हॉल्स्टाइन को प्रशा के आर्थिक संघ में सम्मिलित करने की स्वीकृति भी प्राप्त हो गई।‡ इसके साथ ही यह भी तै हुआ कि डचियों का प्रश्न परिसंघीय सभा के सामने न ले जाया जायगा।

ऑल्मुत्स का प्रतिशोध—गेस्टाइन का समझौता बिस्मार्क की एक महान् कूटनीतिक विजय थी। यह समझौता ऑल्मुत्स में प्रशा का जो अपमान हुआ था उसका प्रतिशोध था। § उसके द्वारा उसने डचियों का प्रश्न जर्मन परिसंघीय सभा के क्षेत्र

* फ्रेडरिक इन दोनों डचियों को मिलाकर अपने शासन के अन्तर्गत एक नया जर्मन राज्य बनाना चाहता था। बिस्मार्क इसके विरुद्ध था क्योंकि इस प्रकार जर्मन राज्यों की संख्या में वृद्धि हो जाती और ऑस्ट्रिया को एक समर्थक और मिल जाता। Schapiro : Modern and Contemporary European History, p. 239.

† Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 210-11.

‡ Ketelbey : A History of Modern Times, p. 250.

§ Lodge and Horn : A History of Modern Times (1789-1920), p. 315.

से बिलकुल हटा दिया और ऑगस्टेनवुर्ग के ड्यूक को भी अपने मार्ग से अलग करके इन दोनों ओर से जो उलझनें पैदा हो सकती थीं उन्हें दूर कर दिया। इसके साथ ही उसने इसमें ऑस्ट्रिया के साथ संघर्ष की काफी गुञ्जायश रख दी। ऑस्ट्रिया को हॉल्स्टाइन मिला था जो दक्षिण की ओर था और सब ओर से प्रशा से घिरा हुआ था। ऐसी स्थिति में वहाँ ऑस्ट्रिया के विरुद्ध असन्तोष फैलाने और उपद्रव करवाने तथा इस प्रकार ऑस्ट्रिया को भड़काने की बिस्मार्क को अच्छी सुविधा थी। वह गेस्टाइन के समझौते को अस्थायी समझता था और ऑस्ट्रिया से झगड़ा मोल लेने की तैयारी कर रहा था।

ऑस्ट्रिया और प्रशा के बीच तनाव—ऑस्ट्रिया ने उसे बहाना भी शीघ्र दे दिया। जैसा हम देख चुके हैं, ऑस्ट्रिया हॉल्स्टाइन को अपने पास नहीं रखना चाहता था। उसने समाचारपत्रों में ऑगस्टेनवुर्ग के ड्यूक के पक्ष में आन्दोलन को प्रोत्साहित किया और १६ मार्च १८६५ को डचियों के प्रश्न को परिसंघीय सभा के सामने प्रस्तुत करने का विचार प्रकट किया। यह बात गेस्टाइन के समझौते के विरुद्ध थी और बिस्मार्क ने ऑस्ट्रिया पर वचन-भङ्ग का दोष लगाया। दोनों राज्यों में तनाव बढ़ा और युद्ध अनिवार्य हो गया।

युद्ध की तैयारी—युद्ध छेड़ने के पूर्व बिस्मार्क को अपने राजा को युद्ध के लिये तैयार करना था और साथ ही इस बात का प्रयत्न करना था कि ऑस्ट्रिया के पक्ष में कोई विदेशी शक्ति हस्तक्षेप न कर सके। उसकी योजना की सफलता का अर्थ था १८१५ की व्यवस्था का विनाश और ऐसी अवस्था में योरोपीय राज्यों के हस्तक्षेप की बड़ी भारी आशङ्का थी। इङ्गलैण्ड के हस्तक्षेप की उसे कोई सम्भावना नहीं दिखाई देती थी क्योंकि इन दिनों उसकी नीति योरोपीय मामलों से दूर रहने की थी। क्रीमिया के युद्ध तथा पोलिश विद्रोह के दिनों में अपने व्यवहार से उसने रूस को मित्र बना ही लिया था और उसकी ओर से वह निश्चिन्त था, किन्तु फ्रान्स का रुख अनिश्चित था। वैसे तो तृतीय नेपोलियन मेक्सिको में उलझा हुआ था, फ्रान्स के अन्दर उसके प्रति असन्तोष बढ़ रहा था और वह हस्तक्षेप करने की स्थिति में नहीं था, फिर भी उसका निश्चित रुख जानना आवश्यक था। वह अक्टूबर १८६५ में बियारित्स के स्थान पर उससे मिला और उसकी राष्ट्रीयता की भावना को स्पर्श करके तथा बदले में बेल्जियम या राइन नदी के तट पर कोई प्रदेश मिल सकने की आशा दिला कर उससे उसने तटस्थता का वचन ले लिया।* उसने सार्डिनिया के राजा विक्टर इमेन्युएल को भी वेनीशिया दिलाने का वचन देकर सहायता देने के लिये तैयार कर लिया, परन्तु शर्त यह

---

* यह बड़े आश्चर्य की बात है कि नेपोलियन ने बिस्मार्क से अपनी तटस्थता के पुरस्कार की बात स्पष्ट नहीं की। इस प्रश्न का निर्णय उसने भविष्य के लिये

थी कि युद्ध तीन महीने के अन्दर ही आरम्भ हो जाय। बिस्मार्क को अपनी इच्छानुसार युद्ध छेड़ सकने पर पूरा भरोसा था। उसने शर्त मंज़ूर कर ली और विक्टर इमेन्युएल ने सहायता देने का वचन दिया।

इस प्रकार उसने युद्ध के लिये कूटनीतिक तैयारी कर ली परन्तु उसे अभी विलियम को युद्ध के लिये तैयार करना था। कुछ महीने पहले, जब ऑस्ट्रिया ने ऑगस्टेनबुर्ग के ड्यूक के अधिकार का समर्थन करना आरम्भ किया था, वह ऑस्ट्रिया से युद्ध करने के लिये तैयार हो गया था, परन्तु ज्यों-ज्यों युद्ध की सम्भावना निकट दिखाई देने लगी, त्यों-त्यों जर्मनों के रक्त बहाने के विचार से उसे भय लगने लगा। उसकी पत्नी रानी ऑगस्टा तथा युवराज भी युद्ध के विरुद्ध थे। परन्तु बिस्मार्क ने उसे समझाया कि "ऑस्ट्रिया प्रशा का कट्टर शत्रु है और उससे युद्ध अवश्य होगा। अभी तो स्थिति प्रशा के अनुकूल है परन्तु यदि अभी युद्ध नहीं हुआ तो युद्ध बाद में होगा और उस समय स्थिति उतनी अनुकूल नहीं रहेगी। अन्त में राजा ने युद्ध की स्वीकृति दे दी, यद्यपि रानी, युवराज तथा प्रशा का जनमत युद्ध के विरुद्ध थे।"*

इटली तथा फ्रान्स की ओर से चिन्ता—जब विलियम युद्ध के लिये तैयार हो गया तो बिस्मार्क को इटली और फ्रान्स की तरफ से चिन्ता खड़ी हो गई। ऑस्ट्रिया ने नेपोलियन के द्वारा वेनीशिया देने का वचन देकर विक्टर इमेन्युएल को तटस्थ रखने का प्रयत्न किया, परन्तु वह अपने वचन पर दृढ़ बना रहा और प्रशा को धोखा देने के लिये तैयार नहीं हुआ। उधर फ्रान्स में जनमत का एक प्रभावशाली अंश प्रशा की उन्नति को फ्रान्स के लिये हानिकारक समझता था और उसमें बाधा डालना प्रत्येक फ्रेंच देशभक्त का कर्तव्य समझता था। नेपोलियन पर भी उसका प्रभाव पड़ रहा था। उसने पहले तो ऑस्ट्रिया और सार्डिनिया के समझौते की योजना का समर्थन किया और जब वह योजना सफल नहीं हुई तो उसने इंगलैण्ड तथा रूस की सम्मति से झगड़े के समस्त मामलों—श्लेस्विग-हॉलस्टाइन, वेनीशिया तथा जर्मन परिसंघीय सुधार—को योरोपीय कांग्रेस के सामने प्रस्तुत करने का प्रस्ताव किया। बिस्मार्क की वही स्थिति हो गई जो आठ वर्ष पहले कावूर की हुई थी। उसे बड़ी निराशा हुई, परन्तु उसके सामने कांग्रेस के प्रस्ताव को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था। किन्तु इस बार भी ऑस्ट्रिया ने भूल की। उसने कांग्रेस के प्रस्ताव को स्वीकार तो कर लिया

स्थगित कर दिया। वास्तव में राइन प्रदेश अथवा बेल्जियम के विषय में कुछ भी बात करने का उसको साहस नहीं था, क्योंकि राइन प्रदेश की बात से प्रशा अप्रसन्न होता और बेल्जियम की बात से इङ्गलैण्ड नाराज़ होता। अतः उसने सब कुछ भाग्य पर और इस आशा पर छोड़ दिया कि ऑस्ट्रिया तथा प्रशा का युद्ध लम्बा होगा और उसे हस्तक्षेप करने तथा अपना मनोवांछित पुरस्कार प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। Robertson : Bismarck, pp. 195-220.

* Ketelbey : A History of Modern Times, pp. 255-56.

परन्तु इस शर्त के साथ कि कांग्रेस में सम्मिलित होने वाली सत्ताएं पहले से किसी प्रदेश को अपने राज्य में मिलाने का विचार त्यागने की घोषणा करें। इस शर्त से कांग्रेस-सम्मेलन निरर्थक हो गया और इंगलैण्ड तथा रूस उससे अलग हट गये। कांग्रेस का विचार भंग हो गया। इस पर बिस्मार्क के हर्ष का पारावार नहीं रहा।*

आँस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा—१ जून १८६६ को आँस्ट्रिया ने श्लेस्विग तथा हॉलस्टाइन के प्रश्न पर निर्णय करने के लिये परिसंघीय सभा को आमंत्रित किया। इस पर प्रशा ने घोषणा की कि चूंकि आँस्ट्रिया ने इस प्रश्न को परिसंघीय सभा के सामने प्रस्तुत करके गेस्टाइन के समझौते को भंग किया है इस कारण वह समझौता रद्द हो गया है। इस घोषणा के उपरान्त ७ जून को उसने हॉल्स्टाइन पर चढ़ाई कर
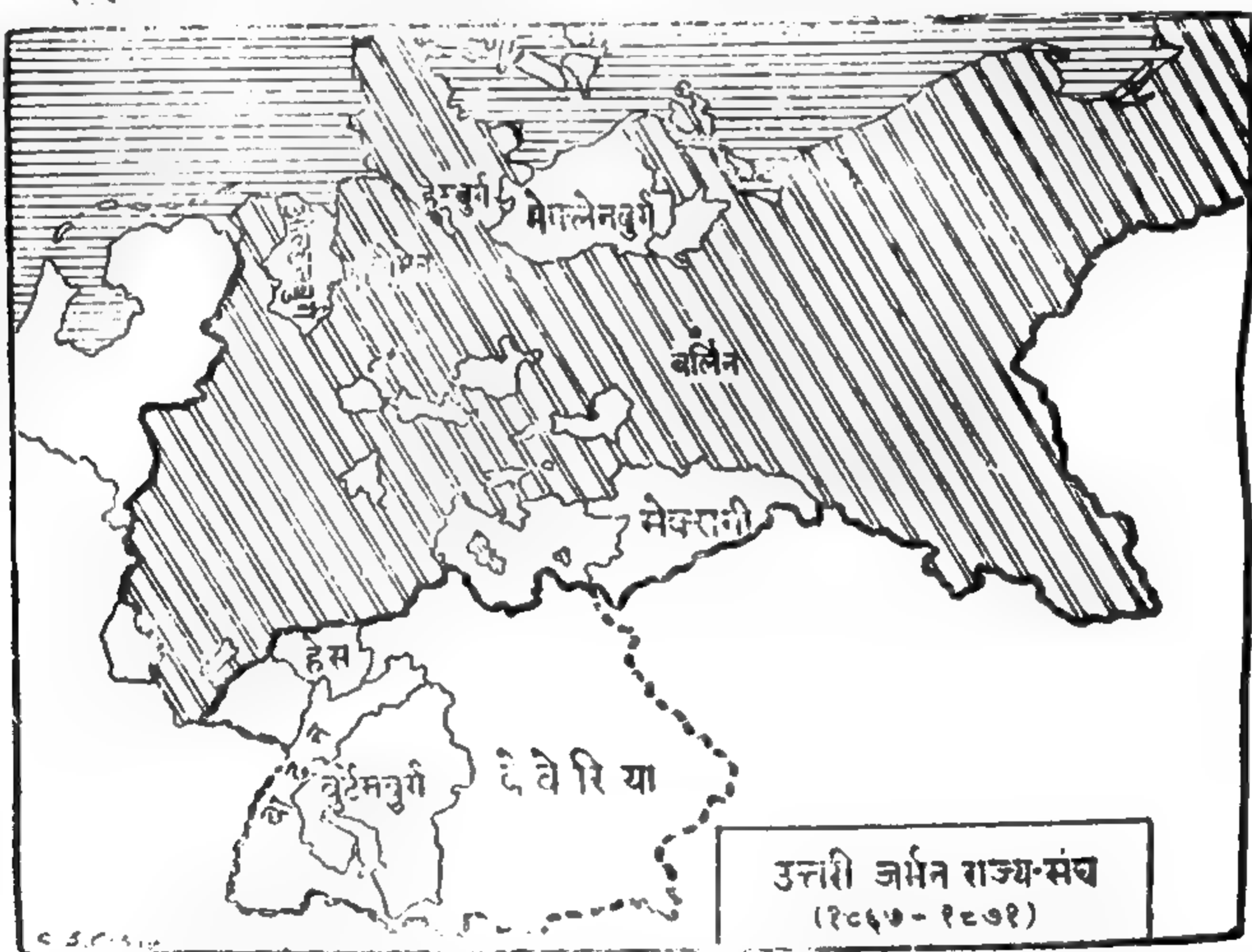
दी। आँस्ट्रिया ने परिसंघीय सभा के सामने प्रशा की इस ज्यादती की शिकायत की और प्रशा के विरुद्ध प्रस्थान करने के लिये परिसंघीय सेनाओं को आदेश देने का सभा के सामने प्रस्ताव पेश किया। कुछ दिनों से बिस्मार्क डचियों के अतिरिक्त युद्ध का एक दूसरा बहाना भी ढूंढ रहा था और जब आँस्ट्रिया ने डचियों के प्रश्न को परिसंघीय सभा के सामने पेश करने का इरादा प्रकट किया था तभी उसने परिसंघ के सुधार के लिये एक योजना सभा को भेज दी थी जिसके अनुसार उसने सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार के

* Robertson : Bismarck p 202.

आधार पर एक जर्मन राष्ट्रीय पार्लामेण्ट की स्थापना तथा आस्ट्रिया को छोड़ कर जर्मन परिसंघ के नवनिर्माण का प्रस्ताव किया था। इस प्रकार वह जर्मनी के सामने जर्मन राष्ट्रीयता के समर्थक की तरह खड़ा हुआ और उसने प्रशा के हित के स्थान पर जर्मन राष्ट्रीयता को ऑस्ट्रिया के साथ युद्ध का कारण बतलाया।* जब ऑस्ट्रिया ने प्रशा के विरुद्ध परिसंघीय सेना के कूच का प्रस्ताव किया तो प्रशा ने भी अपनी सुधार-योजना सभा के समाने रखी और यह माँग की कि डचियों के प्रश्न पर विचार करने के पूर्व जर्मनी का नव-निर्माण हो। सभा ने बहुमत से ऑस्ट्रिया का प्रस्ताव स्वीकृत किया। इस पर प्रशा जर्मन परिसंघ से अलग हो गया तथा यह प्रकट करके कि ऑस्ट्रिया ज़बरदस्ती कर रहा है और उसे आत्म-रक्षा में शस्त्र उठाना पड़ रहा है, आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी (१४ जून)। वाइमर, मेक्लेनबर्ग तथा प्रशा से घिरे हुए अन्य छोटे राज्यों को छोड़ सब राज्यों ने आस्ट्रिया का साथ दिया। प्रशा ने जर्मनी के बड़े राज्यों—हेनोवर, सेक्सनी तथा हेस-केसिल—को अपनी सैन्य तैयारी बन्द करने तथा प्रशा की सुधार-योजना स्वीकार करने के लिये कहा और उनके इन्कार करने पर १५ जून को उनके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी तथा तीन दिन के अन्दर उन राज्यों पर अधिकार कर लिया। १८ जून को उसने जर्मनी के अन्य राज्यों के विरुद्ध भी युद्ध की घोषणा कर दी। २० जून को इटली ने ऑस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

सात सप्ताह का युद्ध—इस प्रकार जर्मन इतिहास का भाग्य-निर्णायक युद्ध आरम्भ हुआ। योरोपवालों को आशा तो यह थी कि युद्ध काफ़ी लम्बा होगा और अन्त में ऑस्ट्रिया की विजय होगी परन्तु प्रशा की सुसज्जित एवं सुसंगठित सेना ने बड़ी आश्चर्यजनक तेज़ी से शत्रुओं को परास्त कर दिया। उत्तरी जर्मन-राज्यों की सेनाएँ सरलता से परास्त कर दी गईं। हेनोवर की सेना ने २८ जून को शस्त्र डाल दिये और हेनोवर का राज्य प्रशा में सम्मिलित कर लिया गया। मुख्य लड़ाई बोहीमिया में ऑस्ट्रिया की सेना के साथ हुई जो ३ जुलाई को सडोवा (Sadowa) अथवा कोनिग्ग्राट्स (Koniggratz) के निकट बुरी तरह से परास्त हुई। प्रशा की सेना आगे बढ़ती गई और जुलाई के अन्त तक वियना के निकट पहुँच गई।†

बिस्मार्क की राजनीतिज्ञता—अब तक तो युद्ध का संचालन सेनापति मोल्टके (Moltke) के हाथों में था परन्तु अब संचालन बिस्मार्क ने अपने हाथों में ले लिया। राजा प्रथम विलियम, मोल्टके आदि की इच्छा आगे बढ़ कर वियना में प्रवेश करके ऑस्ट्रिया का अपमान करने की थी परन्तु बिस्मार्क ने सबकी इच्छा के प्रतिकूल सन्धि करने का निश्चय किया। इस निश्चय के कई कारण थे। प्रशा की सेना ने शत्रुओं को बड़ी तेज़ी से सात सप्ताह के अन्दर ही परास्त कर दिया था परन्तु अभी शत्रुओं की

* Fisher : A History of Europe, p. 976.
† Marriott : The Remaking of Modern Europe, p. 212.

शक्ति भंग नहीं हुई थी। ऑस्ट्रिया ने नेपोलियन से इटली को युद्ध से अलग करने का प्रस्ताव किया था और इसके बदले में वेनिस देने का वचन दिया था। इस पर नेपोलियन ने ऑस्ट्रिया तथा प्रशा दोनों से स्वयं मध्यस्थ बनने के लिये बातचीत शुरू कर दी थी। बिस्मार्क समझता था कि मध्यस्थता का अर्थ हस्तक्षेप हो सकता है। उसकी सम्भावना दूर करने के लिये उसने ऑस्ट्रिया के साथ शीघ्र ही सन्धि कर लेने का विचार किया।* रूस में भी कुछ बेचैनी दिखाई दे रही थी और सम्भव था कि इङ्गलैण्ड भी दूसरी सत्ताओं का साथ देने के लिये तैयार हो जाता। एक ओर योरोपीय कांग्रेस की चर्चा भी होने लगी थी। सैनिक दृष्टि से इटली की मित्रता व्यर्थ प्रमाणित हो चुकी थी। उसकी थल-सेना को ऑस्ट्रिया की सेना ने कस्टोज़ा (Custozza) के युद्ध में और जल-सेना को लिसा (Lissa) के युद्ध में परास्त कर दिया था। प्रशा की सेनाएँ स्वयं भी उस समय तक आगे नहीं बढ़ सकती थीं जब तक कि पीछे से उसका तोपखाना नहीं आ जाता जिसमें कोई दो सप्ताह से कम समय नहीं लगता। यदि युद्ध चलता रहता और प्रशा के विरुद्ध योरोपीय गुट बन जाता तो उसकी विजय का फल उसके हाथ से निकल जाने का डर था।† इस सम्भावना के अतिरिक्त बिस्मार्क ने पहले से ही अपनी पूरी योजना बना रखी थी और परास्त करके भी ऑस्ट्रिया को मित्र बनाये रखने का निश्चय कर लिया था। उसका मुख्य उद्देश्य प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी को एक करना था जो जर्मन सेनाओं के विरुद्ध सैनिक विजय से ही प्राप्त नहीं हो सकता था। दक्षिणी जर्मनी को सन्तुष्ट रखना आवश्यक था और ऑस्ट्रिया के साथ भी ऐसा व्यवहार करना आवश्यक था जिससे वह अपनी पराजय-जनित घृणा को भूलकर आगे चलकर उसका मित्र बन सके, क्योंकि वह जानता था कि उसकी उद्देश्य-पूर्ति के लिये अन्तिम युद्ध फ्रान्स से होगा जिसमें ऑस्ट्रिया की सहायता या कम से कम तटस्थता अत्यन्त आवश्यक थी। १८६६ से १८७६ तक के उसके कामों से जो उच्चकोटि की कूटनीतिज्ञता प्रकट होती है वह उसके अन्य कामों में कहीं नहीं दिखाई देती।‡ उसने युद्ध बन्द कर दिया, राजा को वियना-प्रवेश के विचार से रोक दिया गया तथा शीघ्र ही युद्ध स्थगित करके २६ जुलाई को ऑस्ट्रिया से निकल्सबुर्ग (Nickolsburg) के स्थान पर सन्धि की शर्तों की बातचीत शुरू कर दी और उन शर्तों के आधार पर २३ अगस्त को प्राग (Prague) में सन्धि कर ली।

प्राग की सन्धि—सन्धि के अनुसार ऑस्ट्रिया ने वेनिस इटली को सुपुर्द करना, २० लाख पाउण्ड युद्ध का हर्जाना देना तथा जर्मनी की पुनर्व्यवस्था से अलग हो जाना स्वीकार कर लिया। जर्मन परिसंघ (Bund) भंग कर दिया गया। श्लेस्विग-

* Phillips : Modern Europe, p. 404.

† Ketelbey : A History of Modern Times, pp. 260-261.

‡ Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 260.

हॉल्स्टीइन प्रशा को इस शर्त के साथ मिले कि श्लेस्विग का उत्तरी भाग, यदि जनमत पक्ष में हो, डेन्मार्क को वापस सौंप दिया जाय।*

उत्तरी जर्मन राज्य-संघ का निर्माण—सन्धि के उपरान्त बिस्मार्क ने हेनोवर, हेसकेसिल, लॉबिनबुर्ग, नासो (Naussau) तथा मेन नदी पर स्थित फ्रेंकफोर्ट (Frankfort-on-Maine) का स्वतन्त्र नगर प्रशा में सम्मिलित कर लिये और प्रशा के नेतृत्व में सेक्सनी† तथा मेन नदी के उत्तर की ओर के अन्य राज्यों के एक नये राज्य—उत्तरी जर्मन परिसंघ (North German Confederation) के निर्माण की व्यवस्था की। उसने नये राज्य के लिये एक संविधान तैयार किया जिसे समस्त राजाओं ने स्वीकार कर लिया और १८६७ में सार्वलौकिक मताधिकार के आधार पर निर्वाचित एक संविधान-सभा की स्वीकृति भी प्राप्त हो गई। इस प्रकार उत्तरी जर्मनी का एकीकरण हो गया और जर्मनी के एकीकरण की दिशा में प्रथम मंजिल तै हुई।

मेन नदी के दक्षिण की ओर के राज्य—बेवेरिया, वुर्टमबुर्ग, बादेन तथा हेस-डार्म्सटाट—अलग स्वतन्त्र राज्य बने रहे। उन्हें अपनी इच्छानुसार आपस में संयोग बनाने की और उत्तरी राज्य से सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता दे दी गई।‡

सन्धि के परिणाम—प्रशा का विस्तार—प्राग की सन्धि से प्रशा, ऑस्ट्रिया, जर्मनी तथा योरोप के इतिहास में एक नया अध्याय आरम्भ हुआ।§ उसके फलस्वरूप प्रशा का राज्य राइन नदी से बाल्टिक सागर तक पहुंच गया। जो नये प्रदेश प्रशा में शामिल हुए उनका क्षेत्रफल २५,००० वर्गमील था और जनसंख्या ५० लाख। जनसंख्या तथा क्षेत्रफल दोनों की दृष्टि से प्रशा का विस्तार समस्त जर्मनी के २/३ पर हो गया।‖ इसके अतिरिक्त उसे कील का अत्यन्त महत्वपूर्ण बंदरगाह भी प्राप्त हुआ। इससे योरोप में सत्ता का ऐतिहासिक सन्तुलन बदल गया।

---

* बिस्मार्क ने इस शर्त को पूरा नहीं किया और जनमत लेने से इन्कार कर दिया। Schapiro : Modern and Contemporary European History, p. 241.

† सेक्सनी की स्वतन्त्रता नेपोलियन को प्रसन्न करने के लिये स्वीकार कर ली गई थी। (Ketelbey, p. 365.)। इसी प्रकार नेपोलियन को प्रसन्न करने के लिये ही वेनिस सीधा इटली को देने की जगह नेपोलियन के सुपुर्द किया गया था ताकि वह उसे इटली को सौंप कर कुछ गर्व का अनुभव कर सके। Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 261.

‡ इन दक्षिणी राज्यों को परिसंघ में शामिल न करने का एक कारण शायद नेपोलियन का आग्रह था। Schapiro : Modern and Contemporary European History, p. 248.

§ Robertson : Bismarck, p. 213.

‖ Strong : Dynamic Europe, p. 289.

प्रशा में बिस्मार्कवाद की विजय—अपनी विजय से बिस्मार्क ने केवल अपने बाहरी शत्रुओं को ही परास्त नहीं किया बल्कि भीतरी शत्रुओं को भी परास्त कर दिया। जिस सेना के विस्तार का उदारवादी लोग विरोध कर रहे थे उसने शत्रुओं को परास्त करके पितृभूमि का गौरव बढ़ाया था और बिस्मार्क के सैनिकवाद का औचित्य प्रमाणित कर दिया था। विजयोल्लास में तथा राष्ट्रीय उत्कर्ष से प्रभावित होकर अधिकतर उदारवादी लोग अपना उदारवाद भूल कर उसी बिस्मार्क के, जिससे वे कुछ दिन पहले अत्यन्त घृणा करते थे, भक्त बन गये। केवल थोड़े से उग्रवादी लोग ही उसके विरोधी बने रहे। उदारवाद का पक्ष निर्बल पड़ गया और उसका स्थान जर्मन राष्ट्रीयता ने ले लिया। अब वे लोग स्वशासन की मांग को तिलाञ्जलि देकर समस्त जर्मनी के एकीकरण तथा जर्मनी में प्रशा के नेतृत्व के समर्थक बन गये। उन्होंने मिलकर एक नये राजनीतिक दल—राष्ट्रीय उदारवादी (National Liberal) दल—का निर्माण किया जिसकी रीति अगले बारह वर्षों तक जर्मन राष्ट्रीयता अथवा बिस्मार्कवाद रही।*

ऑस्ट्रिया का बहिष्कार और उत्तरी जर्मनी में प्रशा का प्राधान्य – इस युद्ध के फलस्वरूप जर्मनी से ऑस्ट्रिया का बहिष्कार हो गया, मेन नदी के उत्तर में प्रशा का प्राधान्य स्थापित हो गया और मध्य-योरोप में प्रशा सबसे शक्तिशाली राज्य बन गया। बिस्मार्क की सबसे बड़ी विजय उसकी जर्मन नीति में ही हुई थी। उसने स्वयं उत्तरी जर्मन परिसंघ के लिये एक संविधान बनाया और फरवरी १८६७ में बर्लिन में परिसंघ के समस्त (२२) राज्यों के प्रतिनिधियों की सभा ने उसे स्वीकार किया। समस्त परिसंघ के लिये दो सदनवाली विधायिका स्थापित की गई—समस्त वयस्क पुरुषों द्वारा निर्वाचित लोकसभा (Reichstag) और विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों की परिसंघीय परिषद् (Bundesrath)। प्रशा का राजा परिसंघ का वंशानुगत राष्ट्रपति नियुक्त हुआ जिसकी सहायता के लिये एक संघीय प्रधान मन्त्री (Federal Chancellor) की व्यवस्था की गई। चान्सलर परिसंघीय परिषद का सभापति होता था। परिषद् मुख्य संस्था थी। प्रशा को उसमें ४३ में केवल १७ मत प्राप्त थे। प्रशा के प्रत्यक्षतः अल्पमत में होने से उसका वास्तविक प्राधान्य ढक गया और छोटे-छोटे राज्यों को अपनी हीन दशा में असन्तोष नहीं रहा। परन्तु इन सब रियायतों से कोई सार नहीं था क्योंकि समस्त महत्वपूर्ण मामलों में वास्तविक शक्ति प्रशा के राजा के हाथ में थी। सदस्य राज्यों को कुछ संप्रभुता के अधिकार बने रहे; उनकी स्थानीय विधायिका सभाएँ बनी रहीं, वे स्थानीय कर लगा सकते थे और विदेशी राज-दरबारों में अपने अलग राजदूत

---

* Ketelbey : A History of Modern Times, p. 266

भी रख सकते थे, परन्तु विदेशी नीति का निर्धारण, सेना पर नियन्त्रण तथा युद्ध एवं सन्धि का निर्णय राष्ट्रपति के हाथों में रहा। इस प्रकार समस्त उत्तरी जर्मनी पर प्रशा का प्राधान्य स्थापित हो गया।

किन्तु इस स्थिति से प्रशा के प्राधान्य का चित्र पूरा नहीं होता। मेन नदी के दक्षिण की ओर के राज्य नेपोलियन से डरते थे। नेपोलियन की पेलेटिनेट-सम्बन्धी माँग को उनके सामने प्रकट करके स्वयं बिस्मार्क ने ही उनमें यह भय उत्पन्न कर दिया था। अतः उन्होंने उत्तरी जर्मन परिसंघ से आर्थिक संयोग (Zollverein) कर लिया और प्रशा के साथ एक समझौता कर लिया जिसके द्वारा युद्धकाल में प्रशा उनकी सेनाओं को अपने अधिकार में कर सकता था।*

इटली के एकीकरण में प्रगति—इस युद्ध के फलस्वरूप, जैसा हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, ऑस्ट्रिया से वेनिस प्राप्त हो जाने से इटली ने एकीकरण की दिशा में प्रगति की। अब रोम के राज्य को छोड़कर समस्त इटली एक हो चुका था।

युद्ध का ऑस्ट्रिया पर प्रभाव—सेडोवा की पराजय तथा उत्तरी जर्मन परिसंघ के निर्माण के फलस्वरूप ऑस्ट्रिया का जर्मनी तथा इटली से बहिष्कार हो गया और उसे अपने साम्राज्य में रहनेवाली विभिन्न जातियों, विशेषकर मग्यार लोगों, की शिकायतों की ओर ध्यान देना पड़ा। हम ऊपर देख चुके हैं कि मेटरनिख तथा श्वार्ज़ेनबुर्ग के प्रयत्नों के प्रतिकूल ऑस्ट्रिया के साम्राज्य में उदारवाद प्रवेश कर चुका था और विभिन्न जातियाँ, विशेषकर मग्यार लोग, सांविधानिक शासन तथा सुधारों की माँग कर रहे थे। समस्या हल करने के लिये १८४८ के बाद कोई एक दर्जन प्रयोग हुए परन्तु सब विफल रहे।† सांविधानिक सुधार के सम्बन्ध में दो मत थे। कुछ लोग एक 'केन्द्रीयकृत' साम्राज्य के पक्ष में थे और किसी भी क़ीमत पर साम्राज्य की एकता क़ायम रखना चाहते थे। कुछ लोग विभिन्न प्रान्तों एवं जातियों को स्वशासन का अधिकार देकर 'संघीय' साम्राज्य की स्थापना करना चाहते थे।‡ १८६१ में फ्रान्सिस जोज़ेफ ने जो प्रथम मत के पक्ष में था, वियना में स्थित एक केन्द्रीय पार्लामेण्ट के अधीन अपने विभिन्न प्रदेशों को एक विशाल साम्राज्य में ग्रन्थित करने के लिये प्रयत्न किया था, परन्तु मग्यार लोग हंगरी की स्वतन्त्रता तथा उसकी ऑस्ट्रिया के साथ समानता स्वीकार न करनेवाली किसी भी योजना को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने उस योजना पर विचार करने से इन्कार कर दिया और बोहीमियन, पोल तथा क्रोट लोगों को भी भड़का कर

---

* Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, pp. 74-75. Marriott : The Remaking of Modern Europe, pp 213-234.

† Phillips : Modern Europe, p. 445.

‡ Schevill : A History of Europe, p. 578.

उस योजना को विफल कर दिया। १८६६ के बाद इस समस्या का समाधान करना आवश्यक हो गया और हंगरी के देशभक्त नेता फ्रान्सिस डीक (Francis Deak) तथा ऑस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री काउन्ट ब्यूस्ट (Count Beust) के प्रयत्नों के फलस्वरूप १८६७ में एक समझौता (Ausgleich) हुआ जिसके द्वारा हंगरी को स्वतन्त्रता प्रदान की गई और ऑस्ट्रियन साम्राज्य ऑस्ट्रिया-हंगरी का द्वैध साम्राज्य (Dual Empire) बन गया। अब ऑस्ट्रिया का सम्राट् दो पृथक् और वस्तुतः स्वतन्त्र राज्यों का शासक था। वह ऑस्ट्रियन साम्राज्य का सम्राट् था जिसमें ऊपरी तथा निचला ऑस्ट्रिया, बोहीमिया, मोरेविया, केरिन्थिया, कार्नीयोला आदि कुल मिला कर १७ प्रान्त थे। इसके साथ ही वह हंगरी का सांविधानिक राजा भी था जिसमें क्रोटिया तथा स्लोवेनिया भी शामिल थे। लीथा (Leitha) नदी दोनों राज्यों की सीमा रही। दोनों राज्यों का राजा तो एक था परन्तु दोनों के अपने पृथक् संविधान तथा अपनी पृथक् विधायिकाएँ तथा शासन-व्यवस्थाएँ थीं। दोनों में सांविधानिक शासन, उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल तथा नागरिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था की गई। किन्तु अन्य देशों के समक्ष वे एक ही राज्य के रूप में बने रहे और विदेश-नीति, युद्ध तथा राजस्व के प्रबन्ध के लिये तीन सामान्य मन्त्रियों की नियुक्ति की गई। दोनों राज्यों के इन सामान्य मामलों पर विचार करने के लिये एक संयुक्त पार्लमिण्ट की व्यवस्था की गई जिसके लिये दोनों राज्यों की विधायिका सभाएँ समान संख्या (६०) में अपने-अपने प्रतिनिधि (Delegations) नियुक्त करती थीं। तीनों सामान्य मन्त्री इस संयुक्त पार्लमिण्ट के प्रति उत्तरदायी होते थे और इस पार्लमिण्ट के अधिवेशन बारी-बारी से वियना तथा पेस्ट (हंगरी की राजधानी) में होते थे। दोनों राज्यों के प्रतिनिधि-मण्डल अलग-अलग विचार करते थे, परन्तु मतभेद होने पर दोनों का सम्मिलित अधिवेशन होता था जिसमें भाषा की समस्या की जटिलता के कारण वाद-विवाद के बिना ही मत लिये जाते थे।*

इस प्रकार फ्रान्सिस जोजेफ ने अपने साम्राज्य की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया। यह व्यवस्था बड़ी पेचीदा थी परन्तु सम्राट् की नीतिकुशलता के कारण उसे काफी सफलता मिली और १९१४ तक यह व्यवस्था कायम रही।† किन्तु इस

---

* Phillips : Modern Europe, pp. 446-417.

† इस समझौते ने ऑस्ट्रिया के जर्मनों का हंगरी से उसी प्रकार निष्कासन कर दिया जिस प्रकार बिस्मार्क ने जर्मनी से किया था। नये द्वैध साम्राज्य में हंगरी के जमींदारों का उसी प्रकार प्राधान्य स्थापित हो गया जैसे जर्मन साम्राज्य में पूर्वी प्रशा का प्राधान्य निश्चित हो गया था। मग्यार लोग साम्राज्य के अन्तर्गत अन्य प्रजातियों को रियायतें देने का निरन्तर विरोध करते रहे और सम्मिलित मन्त्रिमण्डल में सदा प्रमुख रूप में प्रभावशाली बने रहे। Parlmer : A History of the Modern World, p. 533.

व्यवस्था से केवल मग्यार लोग ही सन्तुष्ट हो सके। साम्राज्य की समस्या का समाधान 'संघवाद' (Federalism) के द्वारा ही हो सकता था, परन्तु उस स्वाभाविक समाधान की उपेक्षा करके 'द्वैधवाद' (Dualism) का आश्रय लिया गया जिससे आगे चलकर काफी उलझनें उत्पन्न होती रहीं।

प्रशा की उन्नति और फ्रान्स की मनोवृत्ति—प्राग की सन्धि के फलस्वरूप बिस्मार्क ने जर्मनी के एकीकरण की दिशा में प्रथम और अत्यन्त महत्वपूर्ण क़दम उठाया था। इस महान् घटना के प्रति योरोप के विभिन्न राज्यों की भावनाएँ विभिन्न थीं। इंगलैण्ड में इस परिवर्तन से सन्तोष था। रूस में भी इसका विरोध नहीं था।* परन्तु फ्रान्स में प्रशा की विजय एक महान् दुर्घटना समझी जा रही थी क्योंकि इसके फलस्वरूप योरोप में फ्रान्स का प्राधान्य नष्ट हो गया था।† मार्शल रांदों ने कहा था कि सेडोवा में आस्ट्रिया की नहीं, फ्रान्स की पराजय हुई थी। इस घटना की चर्चा करते हुए थियर ने कहा था कि "फ्रान्स के लिये पिछले चार सौ वर्षों में जितने अनर्थ हुए हैं उनमें यह सबसे बड़ा अनर्थ है।" स्वयं नेपोलियन को इस घटना से बड़ा क्षोभ था परन्तु उसे गुप्त रखकर ऊपर से उसे राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की विजय कह कर, जिसका उसने सर्वदा समर्थन किया था, सन्तोष प्रकट किया। परन्तु वह अपने असन्तोष को छिपा न सका। उसे यह देखकर प्रसन्नता थी कि अब जर्मनी तीन स्वतन्त्र खण्डों में विभक्त हो गया था जिनमें से प्रत्येक खण्ड फ्रान्स से छोटा था। इसके साथ ही उसने इन खण्डों को एक होने से रोकने का अपना दृढ़ निश्चय तथा शक्ति-सन्तुलन सिद्धान्त के अनुकूल प्रशा की शक्ति में वृद्धि होने के बदले कुछ प्रदेश प्राप्त करने की आशा प्रकट की।‡ वह स्वयं कूटनीति में कच्चा था और इस समय रोगी भी था। अतः उसे यह कूटनीतिक व्यापार अपने मन्त्रियों द्वारा करना पड़ा जो बिस्मार्क के सामने अत्यन्त तुच्छ थे।

प्रशा और फ्रान्स का युद्ध—बिस्मार्क ने अगला क़दम पहले से ही निश्चित कर लिया था। क्या करना था और किस प्रकार करना था, यह सब वह ख़ूब अच्छी

---

*रूस की सरकार ने यह कह कर कि जब कि परिसंघ वियना की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्थापित किया था, जिसे अकेला प्रशा भंग नहीं कर सकता, शान्ति की शर्तें तय करने के लिये एक नवीन अन्तरराष्ट्रीय कांग्रेस की मांग की परन्तु बिस्मार्क ने इस मांग का तीव्र विरोध किया और युद्ध की धमकी दी, जिसे देखकर रूस दब गया और उसने मांग पर जोर नहीं दिया। Hazen : Europe Since 1815, p. 229, footnote.

† दीर्घकाल से योरोपीय महाद्वीप में फ्रान्स का प्राधान्य इस कारण जमा हुआ था कि उसके कुछ पड़ोसी देश बेल्जियम, स्विट्ज़रलैण्ड तथा स्पेन दुर्बल थे और कुछ (जर्मनी तथा इटली) विभक्त थे। अब जर्मनी के संयुक्त और प्रबल होने की सम्भावना से फ्रान्स के प्राधान्य के लिये एक बड़ा खतरा पैदा हो गया।

‡ Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, p. 261.

तरह समझता था। वह जानता था कि नेपोलियन तथा फ्रान्स जर्मनी की एकता नहीं चाहते और उसमें बाधा डालने का भरसक प्रयत्न करेंगे तथा जर्मनी की एकता फ्रान्स को परास्त करने पर ही सम्पन्न हो सकती थी। वह कहा करता था कि 'ऑस्ट्रियन युद्ध के बाद फ्रान्स के विरुद्ध युद्ध इतिहास के तर्क में ही निहित है', किन्तु वह यह भी जानता था कि इस तर्क की सृष्टि १८६४ या १८६६ के समान कूटनीति द्वारा करनी है।* अब वह फ्रान्स से युद्ध करने की सैनिक तथा कूटनीतिक तैयारी करने लगा। युद्ध की सफलता के लिये उसे चार काम करने थे: (१) उसे रूस को मित्र बनाये रखना था जिससे वह युद्ध में फ्रान्स की सहायता न कर सके। यह कार्य उसने टर्की, फारस तथा अफगानिस्तान के विरुद्ध उसकी योजनाओं को प्रोत्साहन देकर तथा १८५६ की सन्धि की कालासागर-सम्बन्धी शर्तों के उल्लंघन को स्वीकार करने का वचन देकर किया। (२) उसे ऑस्ट्रिया-हंगरी की मित्रता भी प्राप्त करनी थी जिससे वह भावी युद्ध में फ्रान्स का साथ देकर प्रतिशोध का विचार न कर सके। इसकी तैयारी उसने पहले ही उसका अपमान न करके आरम्भ कर दी थी। अब उसने उसके सामने उसके साम्राज्य में बढ़ते हुए अखिल स्लाव-आन्दोलन का भयावह चित्र खींचा और उसे समझाया कि उस भय से मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय यही था कि जर्मनी और ऑस्ट्रिया-हंगरी परस्पर सहयोग करते रहें। (३) उसे इटली की मित्रता भी क़ायम रखनी थी। विक्टर इमैन्युएल के सामने भावी युद्ध में रोम पर अधिकार करने की सम्भावना रखकर उसने उसकी मित्रता भी सुनिश्चित कर ली। (४) वह जानता था कि इंगलैण्ड उस समय तक युद्ध में शामिल नहीं होगा जब तक बेल्जियम की तटस्थता सुरक्षित बनी रहेगी और वह उसकी तटस्थता भंग न करने का निश्चय कर चुका था। इसके अतिरिक्त उसने नेपोलियन की बेल्जियम-सम्बन्धी माँग को प्रकट करके इंगलैण्ड को उसकी ओर से सशंक कर दिया था। (५) इन सब बातों के अतिरिक्त उसे दक्षिणी जर्मनी के राज्यों का भी सहयोग प्राप्त करना था जो फ्रान्स पर विजय प्राप्त करने के लिये अत्यन्त आवश्यक था। यह कार्य बड़ा कठिन था परन्तु बिस्मार्क ने दक्षिणी राज्यों के सामने नेपोलियन की पेलेटिनेट-सम्बन्धी माँग प्रकट करके उन्हें फ्रान्स की ओर से सशंक कर दिया और वे फ्रान्स को शत्रु समझ कर उसके विरुद्ध किसी भी भावी संकट में उत्तरी जर्मनी का साथ देने के लिये तैयार हो गये।†

फ्रान्स की पराजय — फ्रैंकफोर्ट की सन्धि — बिस्मार्क की इन तैयारियों के परिणामस्वरूप फ्रान्स अकेला पड़ गया। अब बिस्मार्क को युद्ध का बहाना तैयार करना था और, जैसा हम देख चुके है, स्पेन के मामले में उसने फ्रान्स को भड़का कर उसे युद्ध की घोषणा करने के लिये विवश कर दिया (१४ जुलाई)। इंगलैण्ड ने दोनों

---

* Robertson : Bismarck, p. 221.

† Hearnshaw : Main Currents of European History, p. 233-234.

जर्मन साम्राज्य १८७१
डेनमार्क
बाल्टिक सागर
उत्तरी सागर
पूर्वी प्रशा
पोमेरेनिया
मक्लनबुर्ग
ब्रैन्डनबुर्ग
बर्लिन
पोसन
पोलैण्ड
रूस
ओडर नदी
साइलेशिया
बोहेमिया
ब्रोमेन
वेस्टफेलिया
कोलोन
राइनलैण्ड
फ्रैंकफुर्ट
थ्युरिंजियन
बेवेरिया
वुर्टेमबुर्ग
स्ट्रासबुर्ग
म्यूनिख
ऑस्ट्रिया
डेन्यूब नदी
बेल्जियम
फ्रान्स
स्विट्ज़रलैण्ड
C S CARL
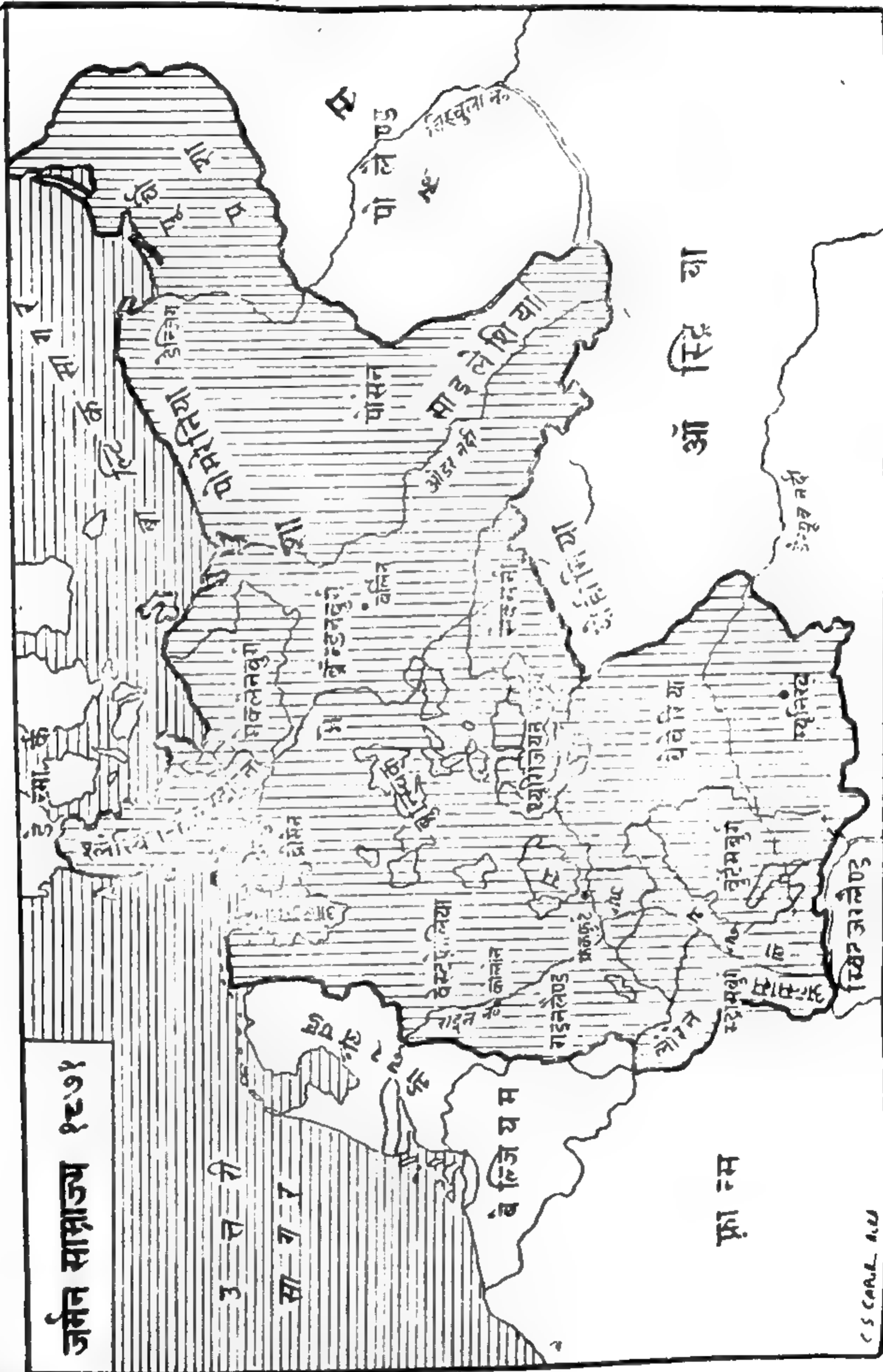
के सामने मध्यस्थता का प्रस्ताव रखकर युद्ध रोकने का प्रयत्न किया, परन्तु दोनों ने प्रस्ताव ठुकरा दिया। बिस्मार्क ने, जैसा हम अभी देख चुके हैं, नेपोलियन की बेल्जियम, सम्बन्धी माँग भी प्रकट करके इङ्गलैण्ड को उसकी ओर से सशङ्क कर दिया था। अतः उसने दोनों से बेल्जियम की तटस्थता की गारण्टी की माँग की और दोनों ने उसकी तटस्थता स्वीकार कर ली। नेपोलियन की ऑस्ट्रिया के साथ बातचीत चल रही थी परन्तु उसने नेपोलियन पर ज़्यादती करने का दोष लगाकर बातचीत समाप्त कर दी और अपनी तटस्थता की घोषणा की (२० जुलाई)। रूस ने भी २३ जुलाई को अपनी तटस्थता की ऐसे शब्दों में घोषणा की जिससे यह स्पष्ट प्रकट होता था कि यदि ऑस्ट्रिया ने फ़्रान्स को सहायता की तो रूस तटस्थ नहीं रह सकेगा। २५ जुलाई को डेन्मार्क तथा इटली ने भी अपनी-अपनी तटस्थता की घोषणा की।* इस प्रकार फ़्रान्स बिलकुल अकेला पड़ गया और, जैसा हम देख चुके हैं, सीडान के युद्ध में परास्त हुआ। नेपोलियन बन्दी हो गया, फ़्रान्स में क्रान्ति हो गई, साम्राज्य समाप्त हो गया और गणतन्त्र की स्थापना हुई। युद्ध-संचालन के लिये एक अस्थायी सरकार की स्थापना की गई परन्तु पेरिस का पतन हो गया। युद्ध स्थगित हो गया और सन्धि की बातचीत आरम्भ हुई। शान्ति की प्रारम्भिक शर्तों पर २६ फरवरी १८७१ को हस्ताक्षर हुए और १० मई को फ़्रैंकफोर्ट के स्थान पर सन्धि हुई। फ़्रान्स को बेल्फोर्ट छोड़कर समस्त अलसास, पूर्वी लोरेन तथा मेत्स और स्ट्रासबुर्ग के क़िले जर्मनी के सुपुर्द करने पड़े और तीन वर्ष के अन्दर २० करोड़ पौण्ड युद्ध की क्षति के रूप में देना स्वीकार करना पड़ा। क्षति-पूर्ति होने तक जर्मन सेना का फ़्रान्स में रहना भी निश्चय हुआ।†

* Phillips : Modern Europe, pp. 467-468. विक्टर इमेन्युएल रोम से फ़्रेंच सेनाएँ हटाने तथा पोप के राज्य को इटली के राज्य में सम्मिलित करने की स्वीकृति की शर्तों पर नेपोलियन को सहायता देने के लिये तैयार था, परन्तु साम्राज्ञी यूजीनी ने इस शर्त को सुनकर क्रुद्ध होकर कहा कि "रोम में पायडमॉण्ट के लोग घुसें इससे तो इच्छा यही है कि पेरिस में प्रशा के लोग घुस पड़ें।" नेपोलियन ने भी पादरी वर्ग के नाराज़ होने के भय से इस शर्त को अस्वीकार कर दिया। Hearnshaw : Main Currents of European History, p. 239.

† आधुनिक योरोप के इतिहास में उस समय तक इतनी भारी क्षतिपूर्ति किसी भी देश पर नहीं लादी गई थी।

फ़्रान्स तथा अल्सास के निवासियों की माँग थी कि अलसास-लोरेन की जनता की इच्छा जानने के लिये जनमत लिया जाय परन्तु बिस्मार्क जानता था कि जनमत फ़्रान्स के पक्ष में होगा; अतः उसने इस माँग को ठुकरा दिया। अलसास-लोरेन छीन लेने से फ़्रान्स जर्मनी का कट्टर शत्रु हो गया और उसके हृदय में प्रतिशोध की तीव्र भावना का उदय हुआ। बिस्मार्क यह जानता था और शायद वह फ़्रान्स के साथ इस सम्बन्ध में कुछ नरम व्यवहार करना चाहता था, परन्तु मोल्ट्के अड़ गया; वह इन

जर्मन साम्राज्य की स्थापना—सीडान के युद्ध ने जहाँ फ्रेञ्च साम्राज्य को नष्ट किया, वहाँ उसने जर्मन-साम्राज्य का निर्माण किया। सन्धि पर अन्तिम स्वीकृति होने के पहले ही बिस्मार्क जर्मन राष्ट्र के एकीकरण-महायज्ञ की पूर्णाहुति कर चुका था। दक्षिणी जर्मनी के राज्यों ने पिछली सन्धि के अनुसार युद्ध में उत्तरी जर्मनी की सहायता की और युद्ध-काल में ही बिस्मार्क ने उन्हें उत्तरी जर्मनी के साथ सम्मिलित होने के लिये तैयार करके सब शर्तें तै कर ली थीं तथा उत्तरी जर्मन परिसंघ की पार्लामेण्ट ने उन्हें स्वीकार भी कर लिया था। वार्साई के राजप्रासाद के शीश भवन (Hall of Mirrors) में १८ जनवरी १८७१ को समस्त जर्मनी की एकता तथा प्रशा के राजा विलियम के प्रथम सम्राट् के पद पर आसीन होने की घोषणा की गई।* तीन महीने के बाद नये संविधान की घोषणा हुई (१६ अप्रैल १८७१) जिसके अनुसार उत्तरी जर्मन परिसंघ का विस्तार किया गया, उसमें जर्मन ऑस्ट्रिया को छोड़ कर दक्षिणी जर्मनी के समस्त राज्य—बवेरिया, वुर्टमबुर्ग, बादेन तथा हेस का मेन नदी के दक्षिण में स्थित भाग—शामिल हो गये और परिसंघ ने संघीय साम्राज्य (Federal Empire) का रूप धारण किया। संसार के इतिहास में बहुत कम घटनाएँ ऐसी हुई हैं जिनके तात्कालिक परिणाम इतने महत्त्वपूर्ण हुए हों जितने सीडान की रण-भूमि में फ्रान्स की पराजय के हुए।† यह युद्ध नेपोलियनवाद तथा नैपोलियन-वंश दोनों के लिये घातक सिद्ध हुआ। फ्रेंच जनता की दोनों में बड़ी श्रद्धा थी परन्तु उनके कारण उसका बड़ा अनिष्ट हुआ और उसने उन्हें तिलांजलि देकर गणतन्त्र की स्थापना की। इस युद्ध ने जर्मन साम्राज्य की सृष्टि करके योरोप का शक्ति-सन्तुलन बिगाड़ दिया और इसके साथ ही इटली के एकीकरण के प्रयत्न को अन्तिम सफलता प्रदान की।

इस प्रकार बिस्मार्क ने अपनी कूटनीतिक कुशलता से अनेक बाधाओं का सामना करते हुए अपना उद्देश्य पूरा किया। तीन शताब्दियों से फ्रान्स और ऑस्ट्रिया

प्रदेशों को जर्मनी की सुरक्षा के लिये अत्यन्त आवश्यक समझता था। बिस्मार्क को झुकना पड़ा। उसने इस आधार पर इन प्रदेशों को जर्मनी में शामिल कर लिया कि ये प्रदेश पहले पवित्र रोमन साम्राज्य के अंग थे जिन्हें चौदहवें लुई ने अन्यायपूर्वक फ्रान्स में शामिल कर लिया था। इसके फलस्वरूप दोनों देशों के बीच ऐसी खाई पैदा हो गई जो पाटी नहीं जा सकती थी। १९१४-१८ के प्रथम विश्वयुद्ध के प्रमुख कारणों में यह घटना भी एक थी। Schapiro : Modern and Contemporary European History, pp. 249-250.

* १७० वर्ष पहले इसी तिथि को ब्रेण्डनबुर्ग के इलेक्टर तथा प्रशा के ड्यूक फ्रेडरिक ने प्रशा के 'राजा' की उपाधि धारण की थी।

† Hearnshaw : Main Currents of European History, p. 236.

योरोपीय राज्य-समाज के माने हुए नेता थे, परन्तु बिस्मार्क से पाँच वर्ष के अन्दर दोनों का विनाश करके जर्मनी को उनके स्थान पर बिठला दिया। वियना-कांग्रेस (१८१५) ने योरोप की शान्ति की रक्षा के लिये योरोपीय राज्यों के लिये सम्मिलित रूप से कार्य करने की व्यवस्था की थी परन्तु बिस्मार्क के दृढ़ निश्चय, अदम्य साहस तथा कूटनीतिक कुशलता के सामने वह व्यवस्था भंग हो गई। समस्त योरोपीय राज्य अपनी की हुई व्यवस्था को भंग होते हुए देखते रहे और किसी ने भी बिस्मार्क को रोकने का प्रयत्न नहीं किया। बिस्मार्क की सफलता ने जर्मन लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया। वे उस पर मुग्ध हो गये और उदारवाद को भूलकर सैनिकवाद के भक्त बन गये।* शस्त्र-प्रयोग एवं रक्तपात, बलप्रयोग तथा कापट्य, जिनका प्रयोग प्रशा के शासक बहुत पहले से करते आये थे, राष्ट्रीय महत्ता के सच्चे साधन माने जाने लगे और जर्मनी के दार्शनिक तथा इतिहासकार प्रशा के इन परम्परागत साधनों को जो बिस्मार्क की नीति में पूर्ण विकास को प्राप्त हुए थे, और भी आदर्श के रूप में जर्मन जनता के सामने रखने लगे।

अतुलित सैन्यबल, नवीन एकता एवं गौरवजनित उल्लास और वर्तमान से भी अधिक गौरवमय भविष्य के विश्वास से सुसज्जित जर्मनी नवीन जीवन में प्रविष्ट हुआ और आधी शताब्दी तक योरोप में अग्रणी बना रहा।† इसके साथ ही नवीन जर्मनी का निर्माता बिस्मार्क अगले युग के प्रथम बीस वर्षों में जर्मनी का कर्णधार और योरोपीय राजनीति का सूत्रधार रहा।

————

* जर्मनी के एकीकरण से जर्मन जनता के १८४८ के उद्देश्य की पूर्ति हुई परन्तु भिन्न ढंग से। उस समय जर्मन लोगों का विश्वास था कि सच्ची राष्ट्रीय एकता जन-प्रयत्न एवं प्रजातंत्रीय ढंग से ही प्राप्त हो सकती थी परन्तु उनकी अभीष्ट एकता युद्ध द्वारा सम्पन्न हुई। इससे उदारवाद की बड़ी भारी क्षति हुई और उसका मध्य योरोप के राजनीतिक वातावरण पर भी अनिष्टकारी प्रभाव हुआ। मध्य योरोप का राजनीतिक वातावरण पश्चिमी योरोप के राजनीतिक वातावरण से १८७१ के बाद भी उतना ही भिन्न बना रहा जितना उससे पहले था। Thomson : Europe Since Napoleon, p. 301.

† Muir : A Short History of the British Commonwealth, Vol. II, pp. 480-482.

अध्याय ३०

उदारवाद की सफलता

प्रथम सुधार-क़ानून के उपरान्त इंगलैण्ड

पिछले अध्यायों में हमने पुरातन व्यवस्था के विरुद्ध राष्ट्रीयता तथा उदारवाद की नवीन भावनाओं के संघर्ष तथा अन्त में उनकी विजय का इतिहास पढ़ा है। १८७० तक वियना-व्यवस्था प्रायः नष्ट हो गई और उसके खण्डहरों पर जर्मनी तथा इटली के शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ। इटली में तो राष्ट्रीयता तथा उदारवाद दोनों की विजय हुई और एक राष्ट्रीय प्रजातन्त्र की स्थापना हुई परन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, जर्मनी में बिस्मार्क की नीति के फलस्वरूप उदारवाद पनप नहीं सका और वहाँ केवल राष्ट्रीयता की ही विजय रही। उत्तरी जर्मन परिसंघ का तथा उसी के विस्तृत रूप जर्मन साम्राज्य का संविधान देखने में तो प्रजातन्त्रीय था, लोक-सभा (Reichstag) जनतन्त्रीय पद्धति के अनुसार निर्वाचित सभा थी परन्तु उसकी कार्य-पद्धति ऐसी थी जिससे वह प्रभावकारी शक्ति से बिलकुल वंचित हो गई थी और वह इंगलैण्ड, फ्रान्स अथवा इटली की लोक-सभाओं की तुलना में एक शक्तिहीन राष्ट्रीय वाद-विवाद-सभा के अतिरिक्त कुछ नहीं थी।* एक वास्तविक जनतन्त्रीय संविधान के मुख्य लक्षण—कार्यपालिका के विधायिका के प्रति उत्तरदायित्व—का उसमें बिलकुल अभाव था। प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त तक उस संविधान में कोई विशिष्ट परिवर्तन नहीं हुआ और वह ज्यों का त्यों बना रहा।

राष्ट्रीयता तथा उदारवाद—पिछले इतिहास से हमें पता चलता है कि राष्ट्रीयता तथा उदारवाद (प्रजातन्त्र) दोनों में कोई आवश्यक आनुकूल्य नहीं है और ये दोनों सिद्धान्त सदा ही परस्पर मिल कर काम नहीं करते रहे। वास्तव में कई जगह इन दोनों में विरोध रहा और इनके विरोध के ही कारण मेटरनिख-युग की क्रान्तियाँ विफल रहीं। राष्ट्रीयता एक जन-समुदाय में देशभक्ति की उत्कट भावना उत्पन्न करके उसे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये प्रेरित कर सकता है और इस प्रकार उस राष्ट्र की स्वतन्त्रता का आधार बन सकती है। फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि उसमें जनता

---

* Strong : Dynamic Enrope, p. 292.

को नागरिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हों और शासन उत्तरदायी हो। उसके विपरीत वैयक्तिक अधिकारों पर ही जोर देने से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता दुर्लभ हो सकती है। ये दोनों बातें जर्मनी के इतिहास से स्पष्ट हो जाती हैं। ऑस्ट्रिया के इतिहास से भी इन दोनों सिद्धान्तों के पारस्परिक विरोध के प्रमाण मिलते हैं। इस विरोध के होते हुए भी हम दोनों सिद्धान्तों की प्रगति इस युग में देखते हैं। राष्ट्रीयता की समस्या मध्य-योरोप, इटली तथा बाल्कन प्रायद्वीप में रही। बिस्मार्क ने जर्मनी में और कावूर तथा विक्टर इमेन्युएल ने इटली में उसे हल कर लिया। बाल्कन प्रायद्वीप में भी राष्ट्रीयता को आंशिक सफलता मिली। उदारवाद की समस्या योरोप में सर्वत्र विद्यमान थी। राष्ट्रीयता की विजय तो बड़े चमत्कारी ढङ्ग से हुई, परन्तु उदारवाद भी धीरे-धीरे कई देशों में प्रगति करता रहा।

उदारवाद और संविधान—उदारवाद का आधार वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं अधिकार का सिद्धान्त है। आधुनिक युग में वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं अधिकारों की प्राप्ति के लिये एक संविधान आवश्यक समझा जाता है जिसके द्वारा जनता के अधिकारों को सुरक्षित किया जा सके और सरकार की सत्ता की सीमाएँ निर्धारित की जा सकें। हम देख चुके हैं कि मेटरनिख-युग की क्रान्तियों की मुख्य माँग संविधान की माँग ही थी। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि संविधान आवश्यक रूप से प्रजातन्त्रीय हुआ करता है और उससे नागरिक स्वतन्त्रता एवं अधिकार अपने आप ही सुरक्षित हो जाते हैं। साधारणतया संविधान से उन आधारभूत नियमों के संग्रह का अर्थ लिया जाता है जिसके अनुसार शासन के विभिन्न अङ्गों, उनकी सत्ताओं, उन सत्ताओं की प्रयोग-विधि तथा उन अङ्गों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण होता है। यह संग्रह लिखित अथवा अलिखित दोनों प्रकार का हो सकता है। उसका किसी एक समय विचारपूर्वक निर्माण किया जा सकता है या उसका धीरे-धीरे विकास भी हो सकता है। संविधानिक शासन का अर्थ है संविधान में प्रतिपादित नियमों के अनुसार शासन-सत्ता का प्रयोग। वह आवश्यक रूप से प्रजातन्त्रीय नहीं होता। संविधान राजा के हाथ में निरंकुश सत्ता सौंप सकता है और राजा का निरंकुश शासन उस दशा में संविधानिक होगा। किन्तु उदारवाद के सम्बन्ध में जब हम संविधानिक शासन की चर्चा करते हैं तो हमारा आशय कैसे भी संविधान से नहीं, वरन् ऐसे संविधान से होता है जिसमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता, जनता के प्रतिनिधियों द्वारा विधायन तथा उनके प्रति शासन के उत्तरदायित्व की व्यवस्था हो। १८२०, १८३० तथा १८४८ की क्रान्तियों में संविधान की माँगें ऐसे ही संविधान के लिये थीं।

विभिन्न देशों में संविधानिक शासन की स्थापना—ऐसे संविधानिक शासन का आदर्श इङ्गलैण्ड रहा है, परन्तु इङ्गलैण्ड के संविधान में १८३२ तक प्रजातन्त्रीयता का

लेशमात्र भी नहीं था। इङ्गलेण्ड का संविधान विकसित है, उसका धीरे-धीरे समय तथा परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुकूल क़ानूनों तथा रिवाजों के निर्माण द्वारा विकास हुआ है। महाद्वीप के अन्य देशों में तो राजनीतिक विकास की प्रक्रिया में मध्ययुगीन सामन्तवादी अराजकता के स्थान पर राजाओं का निरंकुश शासन स्थापित हुआ था परन्तु इंगलेण्ड में प्रगति उससे भिन्न प्रकार से हुई। वहाँ राजा लोग इतने शक्तिशाली तो हो गये थे कि वे सामन्तों का दमन कर सके परन्तु वे बिलकुल निरंकुश नहीं हो सके। उन्हें अपनी सत्ता के प्रयोग में पार्लामेण्ट को शामिल करना पड़ा। आरम्भ में तो पार्लामेण्ट में सदस्यों को राजा को परामर्श देने तथा उससे प्रार्थना करने का ही अधिकार था परन्तु धीरे-धीरे पार्लामेण्ट ने राजा से संघर्ष करके उसकी शक्ति को सीमित कर दिया और अपना प्राधान्य स्थापित कर लिया। उसने क़ानून बनाने तथा कर लगाने का अधिकार प्राप्त कर लिया और अन्त में राजा को पार्लामेण्ट के विश्वासपात्र मन्त्रियों को ही नियुक्त करने के लिये विवश कर दिया। १६८८ की रक्तहीन क्रान्ति तक इङ्गलेण्ड का राजनीतिक एवं संविधानिक विकास इस स्थिति तक पहुंच गया था। उस वर्ष पार्लामेण्ट ने विलियम तथा मेरी को इङ्गलेण्ड के सिंहासन पर आसीन करके और उनसे जनता के अधिकार-पत्र (Declaration of Rights) की स्वीकृति लेकर राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त का अन्त कर उसके स्थान पर अपने सर्वोच्च अधिकार को प्रतिष्ठित कर दिया और इंगलेण्ड में सीमित एकतन्त्र तथा संविधानिक शासन आरम्भ हुआ। इस प्रकार राजनीतिक विधानवाद (Political Constitutionalism) का जन्म इङ्गलेण्ड में हुआ, वह वहीं परिपक्व हुआ और दीर्घकाल तक इङ्गलेण्ड की एक विशेषता बना रहा।* जब योरोप के विभिन्न राष्ट्रों ने क्रान्ति अथवा युद्ध के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त की तो उन्होंने प्रायः इंगलेण्ड के इस संविधान के अनुसार ही संविधान स्वीकार किये। नेपोलियन के पतन के बाद अनेक देशों – नार्वे (१८१४), बेल्जियम (१८३१), हालैण्ड (१८४८), स्विट्ज़रलैण्ड (१८४८), स्वीडेन (१८६३), डेन्मार्क (१८६६), जर्मनी (१८६६ तथा १८७१) और ऑस्ट्रिया-हंगरी (१८६७) में न्यूनाधिक प्रजातन्त्रीय संविधान स्वीकार किये गये, जो उसी रूप में या कुछ संशोधनों के साथ प्रथम विश्वयुद्ध तक और उसके बाद भी क़ायम रहे। १८७० मे फ्रान्स ने भी अनेक संविधानिक प्रयोगों के बाद तृतीय गणतन्त्र स्थापित किया और १८७५ में गणतन्त्रीय संविधान स्वीकार किया जो द्वितीय विश्वयुद्ध तक चलता रहा। इस प्रकार हम देखते हैं कि १८७१ तक पूर्वीय योरोप तथा बाल्कन प्रायद्वीप के अधिकांश को छोड़ योरोप में प्रायः सर्वत्र उदारवाद ने भी काफ़ी प्रगति कर ली थी, हालांकि उसकी सफलता राष्ट्रीयता की सफलता के समान न तो पूर्ण ही थी और न उतनी चमत्कारिक ही थी।

---

* Strong : Dynamic Europe, p. 271.

इंगलैण्ड (१८३२ से १८७० तक)

पार्लमिण्ट का प्रथम सुधार—महाद्वीप में तो, जैसा हम देख चुके हैं, उदारवाद क्रान्ति तथा युद्ध के परिणामस्वरूप सफल हुआ, परन्तु इङ्गलैण्ड में वह धीरे-धीरे और प्रायः शान्त वायुमण्डल में उन्नति करता रहा। योरोपीय देशों के संविधानों में इंगलैण्ड के संविधान का अनुकरण तो किया गया था परन्तु, जैसा हम अभी लिख चुके हैं, उन्नीसवीं शताब्दी की प्रथम तीन दशाब्दियों के अन्त तक भी वह प्रजातन्त्रीय नहीं था। हम पहले देख चुके हैं * कि फ्रेञ्च क्रान्ति का प्रभाव इङ्गलैण्ड पर घोर प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुआ था। नेपोलियन के पतन के बाद भी १८१५ से १८२२ तक इङ्गलैण्ड में प्रतिक्रिया का ही राज्य रहा, यद्यपि वहाँ प्रतिक्रिया महाद्वीप के समान कठोर नहीं रही। उन दिनों इङ्गलैण्ड में सरकार टोरी दल की थी जो अपनी प्रतिक्रियावादी नीति के कारण बड़ी अप्रिय थी। १८२२ में सुधारवादी टोरी मन्त्रिमण्डल बना जिसने कुछ आंशिक सुधार किये, परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप देश में जो महान् परिवर्तन हो रहा था उसके कारण यह आवश्यक हो गया था कि पार्लमिण्ट का सुधार हो, क्योंकि उस समय लोकसभा केवल थोड़े से जमींदारों तथा व्यापारियों का ही प्रतिनिधित्व करती थी। १८३० से १८३२ तक वहाँ जो देशव्यापी सुधार-आन्दोलन हुआ उसके फलस्वरूप १८३२ में प्रथम सुधार क़ानून बना जिससे पुरानी-निर्वाचन पद्धति के कुछ दोष दूर हुए और सत्ता कुलीन वर्ग के हाथों से हटकर मध्यम वर्ग के हाथों में पहुँची। परन्तु साधारण जनता को इससे कोई लाभ नहीं पहुँचा। फिर भी इस सुधार के साथ इंगलैण्ड में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों में काफ़ी सुधार हुए। किन्तु ये सभी सुधार सार्वसाधारण जनता की राजनीतिक अधिकारों की माँग को न रोक सके और १८३८ से १८४८ तक इङ्गलैण्ड में चार्टिस्ट आन्दोलन चलता रहा जिसकी विफलता का हाल हम पढ़ चुके हैं।

चार्टिस्ट आन्दोलन के परिणाम—चार्टिस्ट आन्दोलन तो विफल हो गया परन्तु उसका राष्ट्र पर कई प्रकार से प्रभाव पड़ा। मजदूरों को तो उससे शिक्षा मिली ही, अन्य समृद्ध वर्गों तथा विचारकों को भी उसने प्रभावित किया। उसने वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा आर्थिक क्षेत्र में सरकार के हस्तक्षेप की अवांछनीयता (Laissez faire) के मध्यवर्गीय सिद्धान्त के दोषों का उद्घाटन किया, सत्तायुक्त वर्गों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट होने लगा और अंग्रेज जनता वैयक्तिक स्वतन्त्रता में विश्वास करते हुए भी सबलों से दुर्बलों की रक्षा करना तथा सर्वसाधारण के लिये जीवन की

---

* बीसवाँ अध्याय देखिये।

न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति सुलभ करना सरकार का कर्तव्य समझने लगी।* साहित्य में सर्वसाधारण की दुर्दशा—"इंगलैण्ड की दशा की समस्या" (Condition of England Question)—की चर्चा होने लगी और सरकार भी कई प्रकार से इस कर्तव्य की ओर ध्यान देने लगी। उसने दरिद्रियों की दशा की ओर ध्यान दिया और १८३४ में दरिद्र-नियम में सुधार (Poor Law Reform Act) करके स्वस्थ आदमियों को आलसी एवं परााश्रयी बन जाने से बचाया और काम न कर सकनेवाले अशक्त ग़रीबों की सहायता का प्रबन्ध किया। १८४८ में सार्वजनिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी क़ानून बनाकर जनता के स्वास्थ्य-सुधार की ओर भी उसने ध्यान दिया। १८३३, १८४४, १८४७ तथा १८५० में फैक्टरी क़ानून (Fact ry Act) बना कर छोटी अवस्थावाले बच्चों से कारखानों में काम लेना निषिद्ध ठहराया गया और काम के अधिकतम घण्टे निश्चित किये गये। बच्चों तथा स्त्रियों से खानों में काम लेने का भी निषेध किया गया और छोटे बच्चों से चिमनियाँ साफ़ कराने की पद्धति भी बन्द कर दी गई। इन सुधारों का श्रेय महामना लॉर्ड ऐशले (Lord Ashley) को है जिन्हें बाद में लॉर्ड शेफ्ट्सबरी (Lord Shaftesbury) की उपाधि दी गई और जिनकी लगन ने सरकार तथा पार्लमिण्ट को सुधार करने के लिये प्रोत्साहित किया। इस प्रकार इङ्गलैण्ड की सरकार हस्तक्षेप न करने की नीति का परित्याग कर धीरे-धीरे समष्टिवादी (Collectivist) दिशा की ओर बढ़ने लगी।

डिज़रेली तथा 'टोरी प्रजातन्त्र'—ये समस्त सुधार तो उदारवादी (Liberal) मन्त्रिमण्डलों द्वारा किये गये थे, परन्तु चार्टिस्ट आन्दोलन ने प्रतिक्रियावादी दल को भी प्रभावित किया और उसके एक भावी नेता बेन्जमिन डिज़रेली द्वारा उसे अपनी दक़ियानूसी नीति के त्याग की आवश्यकता के साथ प्रगति की नई दिशा बतलाई। डिज़रेली चार्टर का तो विरोधी था परन्तु उसे चार्टिस्ट लोगों के साथ सहानुभूति थी। उसने देखा कि चार्टिस्ट लोग मध्यम वर्ग के विरोधी थे, प्राचीन कुलीन वर्ग के नहीं। अतः उसने यह सिद्धान्त निश्चित किया कि प्राचीन कुलीन वर्ग को जनता का नेतृत्व कर उद्योगवाद (Industrialism) के अन्यायों तथा मध्यम वर्ग के प्राधान्य का विरोध करना चाहिये। इसी सिद्धान्त से आगे चलकर डिज़रेली के 'युवक इङ्गलैण्ड दल' (Young England Party) को तथा 'टोरी प्रजातन्त्र' को प्रेरणा मिली।† और जैसा हम अभी देखेंगे, डिज़रेली ने टोरी दल का नेता होते हुए भी द्वितीय सुधार-क़ानून पार्लमिण्ट से स्वीकार करवा कर इङ्गलैण्ड को प्रजातन्त्र के

---

* Muir : A Short History of the British Commonwealth, Vol. II, p. 405.

† Muir : A Short History of the British Commonwealth, Vol. II, pp. 417-418.

मार्ग पर आगे बढ़ाया। किन्तु वह सर्वसाधारण को शासन में भाग देना नहीं चाहता था। उसका मत था—"सब कुछ जनता के लिये, परन्तु जनता द्वारा कुछ नहीं।"*

शान्ति एवं सन्तोष का काल—चार्टिस्ट आन्दोलन के अन्त के बाद का काल इङ्गलैण्ड में समृद्धि एवं शान्ति का काल था। १८५० तक अनेक प्रकार के सुधार हो चुके थे और १८३० से १८५० तक वहाँ क्रान्ति की जो आशङ्का दिखाई देती थी, उससे भी मुक्ति प्राप्ति हो चुकी थी। देश में उद्योग-धन्धों की ख़ूब उन्नति हो रही थी, लोगों को काम की कमी नहीं थी, वस्तुओं के दाम कम थे और मज़दूरों की दर बढ़ी हुई थी। इङ्गलैण्ड का संसार के व्यापार में प्रमुख स्थान था और देश में धन की प्रचुरता थी। इस परिस्थिति में मज़दूरों की सामाजिक पुनर्निर्माण की योजनाओं में रुचि न रही, क्रान्तिकारी आन्दोलन समाप्त हो गया और उनका ध्यान अन्य प्रकारों से अपनी उन्नति करने की ओर लगने लगा।†

इसी कारण इङ्गलैण्ड की राजनीति भी शान्त रही और देश के अन्दर ऐसी कोई समस्याएँ उपस्थित नहीं हुईं जिन पर तीव्र मतभेद होता। १८३२ से १८४१ तक लिबरल मन्त्रिमण्डल रहे जिन्होंने कई सुधार किये। उनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। परन्तु वे अन्न-नियमों (Corn Laws) को रद्द करने की जनता की माँग को पूरी नहीं कर सके। इन नियमों के कारण देश में बाहर से यथेष्ट मात्रा में अन्न नहीं आ पाता था और जनता को बड़ा कष्ट था। वस्तुतः उन दिनों कॉब्डेन और ब्राइट के नेतृत्व में मुक्त विदेशी व्यापार के लिये आन्दोलन हो रहा था। १८४१ में रॉबर्ट पील का कंज़र्वेटिव मन्त्रिमण्डल बना। पील संरक्षणवादी (Protectionist) था, परन्तु जब उसने देखा कि अन्न-नियम बड़े अनिष्टकारी हैं और जब १८४५ में आयरलैण्ड में आलू के अकाल के कारण आयरिश जनता को अपार कष्ट सहने पड़े तो उसने अपने दल की नीति के प्रतिकूल लिबरलों की सहायता से अन्न-नियमों को रद्द कर दिया (१८४६)। इससे कंज़र्वेटिव दल में फूट पड़ गई। पील तथा उसके अनुयायियों ने पहले तो अपना पृथक् अस्तित्व क़ायम रखने का प्रयत्न किया परन्तु अन्त में वे लिबरल दल में सम्मिलित हो गये। १८४६ से १८७४ तक इंगलैण्ड में लिबरल दल का प्राधान्य रहा। इस अवधि में लिबरल दल की आन्तरिक फूट के कारण तीन बार कंज़र्वेटिव दल भी सत्तारूढ़ हुआ परन्तु कुल मिला कर पाँच वर्ष से भी कम के लिये। उन दिनों मुक्त व्यापार के प्रश्न को छोड़ दोनों दलों में बहुत कम मतभेद था।

पामर्स्टन—इंगलैण्ड की बाह्य नीति के क्षेत्र में इस समय का प्रमुख व्यक्ति

---

* G. Burell Smith : Outlines of British History, p. 461.

† Muir : A Short History of the British Commonwealth, Vol. II, p. 497.

लॉर्ड पामर्स्टन था। वह इङ्गलैण्ड के इस युग का सच्चा प्रतीक था। वह समझता था कि देश के अन्दर सब कुछ ठीक था और किसी प्रकार के भी सुधार की आवश्यकता नहीं थी। अपनी गृह्य नीति मे तो वह स्थितिपालक था, परन्तु उसकी बाह्य नीति उदार थी। वह बाहर योरोपीय देशों में स्वतन्त्रता के लिये होनेवाले आन्दोलनों का समर्थन करना इंगलैण्ड का कर्तव्य समझता था। वह १८३० से १८५१ तक के समस्त ह्विग (उदार) मन्त्रिमण्डलों में विदेश-मन्त्री रहा। रूस का विरोध करने और टर्की को संरक्षण देने की परम्परा उसी ने आरम्भ की और यही परम्परा पचास वर्षों तक इङ्गलैण्ड की विदेश-नीति का आधार बनी रही। क्रीमियन युद्ध के आरम्भ में वह एबर्डीन मन्त्रिमण्डल में गृह-मन्त्री था। जब युद्ध का संचालन ठीक न होने के कारण एबर्डीन मन्त्रिमण्डल को पद-त्याग करना पड़ा तो १८५५ में पामर्स्टन प्रधान मन्त्री बना और बीच के थोड़े से समय (१८५८-५९) को छोड़ कर मृत्युपर्यन्त (१८६५ तक) प्रधान मन्त्री बना रहा। जब तक वह प्रधान मन्त्री रहा तब तक इंगलैण्ड की राजनीति में शान्ति रही; परन्तु इस समय तक इंगलैण्ड के राजनीतिक मंच पर दो बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति आ गये थे—ग्लेड्स्टन (Gladstone) तथा डिज़रेली (Disraeli)। ग्लेड्स्टन एबर्डीन तथा पामर्स्टन के लिबरल मन्त्रिमण्डलों में अर्थ-मन्त्री था। डिज़रेली टोरी दल का नेता था और अपने दल को नये टोरीवाद की दीक्षा दे रहा था। परन्तु इनका समय पामर्स्टन की मृत्यु के बाद ही आया। जब तक पामर्स्टन रहा तब तक सुधारकों का उत्साह दबा रहा किन्तु उसके हटते ही दबा हुआ उत्साह फूट पड़ा और इंगलैण्ड की राजनीति का एक अत्यन्त क्रियाशील युग आरम्भ हुआ।

सुधार—गृह्य नीति में कोई विवाद-ग्रस्त विषय न होने के कारण इस काल का मुख्य कार्य राजस्व तथा आर्थिक क्षेत्र में हुआ। इस समय आर्थिक क्षेत्र में कॉब्डेन तथा ब्राइट के सिद्धान्त का प्राधान्य था जिसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा राष्ट्रीय समृद्धि का रहस्य अधिकतम आर्थिक स्वतन्त्रता में था। अर्थ-मन्त्री ग्लेड्स्टन मुक्त व्यापार का समर्थक था। उसने अपने वार्षिक बजटों द्वारा मुक्त व्यापार की दिशा में बड़े महत्वपूर्ण क़दम उठाये और अनेक आर्थिक सुधार किये। आर्थिक क्षेत्र में वैयक्तिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए भी औद्योगिक क्षेत्र में सरकार के सुधार के प्रयत्न चलते रहे। इस काल में कई फैक्टरी क़ानून बने। उन सबका तथा पहले के क़ानूनों का संग्रह करके १८६७ में दो बड़े फैक्टरी-क़ानून बनाये गये जिनके द्वारा वस्तुतः समस्त औद्योगिक क्षेत्र राज्य के नियन्त्रण में पहुँच गया और राज्य ने उद्योगों में लगे हुए समस्त नागरिकों, विशेषकर बच्चों के कुशल-क्षेम, काम की स्वास्थ्य के लिये हानिकर अवस्थाओं से उनकी रक्षा तथा श्रम के घण्टों की उचित व्यवस्था करना अपना कर्तव्य स्वीकार कर लिया। इन्हीं दिनों शासन-सुधार की ओर भी लक्ष्य दिया

गया और ग्लेड्स्टन के प्रयत्न से आगे चलकर नागरिक सेवा (Civil Service) के समस्त पदों पर नियुक्ति प्रतियोगिता-परीक्षाओं द्वारा होने लगी।

मजदूरों की राजनीति में तो इस समय रुचि नहीं रही थी, परन्तु वे इन दिनों आत्म-निर्भर होते जा रहे थे और अपना संगठन कर रहे थे। उन्होंने सहकारी समितियाँ स्थापित करना और ट्रेड यूनियनों (Trade Unions) के सम्बन्ध में नई पद्धतियाँ तथा नीति का अवलम्बन आरम्भ किया। पहले तो ट्रेड यूनियन बनाना कानून की दृष्टि से अपराध था परन्तु १८२४-२५ के कानूनों द्वारा उनकी स्थापना निषिद्ध नहीं रही। आरम्भ में तो मजदूर वर्ग पर क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का प्रभाव रहा परन्तु चार्टिस्ट आन्दोलन के विफल होने के उपरान्त उसने अपना ढंग बदला और छोटी-छोटी यूनियनों की जगह उन्हें शामिल करके राष्ट्रीय संस्थाएँ बनाना आरम्भ किया जो सुयोग्य व्यक्तियों के नेतृत्व में हड़ताल जैसे अनिष्टकारी उपायों को त्याग कर मजदूरों तथा मालिकों के बीच मेल-मिलाप तथा समझौते द्वारा मजदूरों की शिकायतों को दूर करने तथा औद्योगिक नीति पर सहकारी नियन्त्रण स्थापित करने की बात सोचने लगीं। ट्रेड यूनियन क्षेत्र में यह महान् परिवर्तन हो रहा था, परन्तु कानून की दृष्टि से अभी उनकी स्थिति सुरक्षित नहीं थी। ट्रेड यूनियन स्थापित करने का निषेध तो नहीं था परन्तु ट्रेड यूनियन का कानूनी अस्तित्व अभी राज्य ने स्वीकार नहीं किया था, जिसका अर्थ यह था कि ट्रेड यूनियन न्यायालयों में जाकर शिकायत नहीं कर सकते थे और न उनके विरुद्ध ही कोई मुक़द्दमा चलाया जा सकता था। यदि कोई व्यक्ति ट्रेड यूनियन-कोष का रुपया हड़प जाता तो उसे कानून दण्ड नहीं दे सकता था। यह तभी हो सकता था तब कि कानून में परिवर्तन हो। उस समय पार्लामेण्ट में मध्यम वर्ग का प्राधान्य था जो ट्रेड यूनियनों के प्रतिकूल था। ऐसी दशा में मजदूरों को यह स्पष्ट मालूम होने लगा कि जब तक पार्लामेण्ट का सुधार नहीं होता और मध्यम वर्ग के हाथ से शक्ति नहीं जाती, तब तक आवश्यक कानून भी नहीं बन सकते। अतः उन्होंने राजनीति के प्रति अपनी उदासीनता का रुख त्याग कर पार्लामेण्ट के सुधार के लिये आन्दोलन करना आरम्भ किया।

पार्लामेण्ट का द्वितीय सुधार—पार्लामेण्ट के सुधार के साधारण प्रयत्न १८३२ के सुधार के बीस वर्ष बाद से ही आरम्भ हो गये थे परन्तु उस शान्ति, उदासीनता एवं आत्म-तुष्टि के युग में वे विफल रहे। जनता और पार्लामेण्ट दोनों सुधार की ओर से उदासीन थे। पामर्स्टन की मृत्यु के बाद १८६६ में रसेल तथा ग्लेड्स्टन ने एक बड़ा साधारण-सा सुधार-बिल पार्लामेण्ट के सामने प्रस्तुत किया परन्तु कंजर्वेटिव दल तथा लिबरल दल के असन्तुष्ट सदस्यों के विरोध से बिल स्वीकार नहीं हुआ और रसेल को पद-त्याग करना पड़ा। अब देश में यकायक जोश उमड़ पड़ा और चारों ओर

से सुधार की ज़ोरदार माँग होने लगी। ट्रेड यूनियनों ने भी आन्दोलन में भाग लिया। रसेल के लिबरल मन्त्रिमण्डल के त्यागपत्र के बाद कंजर्वेटिव मन्त्रिमण्डल बना और डिज़रेली ने, जो सार्वसाधारण जनता का नेतृत्व कुलीनों के हाथों में पहुँचा देना चाहता था, नया सुधार-बिल पेश किया जो लिबरल दल के विरोध के कारण कुछ महत्वपूर्ण संशोधनों सहित स्वीकार हुआ (१८६७)। नये सुधार कानून के अनुसार नगरों में उन सब पुरुषों को मताधिकार प्राप्त हो गया जिनके नगर की सीमा में अपने मकान थे या जो कम से कम १० पौंड वार्षिक किराये के मकान में रहते थे। गाँवों में उन सब पुरुषों को मताधिकार मिला जिनके पास कम से कम ५ पौंड वार्षिक आमदनीवाली अपनी जायदाद थी या जो कम से कम १२ पौंड वार्षिक लगान देते थे।* इन कानूनों से शिल्पियों, मकानदारों तथा बड़े कृषकों को मताधिकार प्राप्त हो गया और मतदाताओं की संख्या पहले से दुगनी हो गई।† अब भी जनता का एक विशाल भाग मताधिकार से वंचित रह गया, फिर भी निस्सन्देह इस कानून के द्वारा इंगलैण्ड ने वास्तविक प्रजातन्त्र की ओर पहला महत्वपूर्ण कदम उठाया।

ग्लेड्स्टन—इस प्रकार पार्लामेण्ट का यह दूसरा सुधार अप्रत्याशित ढङ्ग से हुआ। सुधार तो डिज़रेली ने किया था परन्तु ग्लेड्स्टन ने उसका पूरा-पूरा लाभ उठाया। १८६८ के निर्वाचन में लिबरल दल का बहुमत हुआ, ग्लेड्स्टन ने अपना पहला मन्त्रिमण्डल बनाया और अगले ६ वर्षों तक वह अपनी अनेक सुधार-योजनाओं को कार्यान्वित करता रहा। प्रजातन्त्र की सफलता के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि जनता शिक्षित हो। अभी तक इंगलैण्ड में शिक्षा की व्यवस्था व्यक्तिगत एवं धार्मिक संस्थाओं द्वारा होती थी और सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य के कर्तव्यों में नहीं गिना जाता था। १८३३ से राज्य की ओर से व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा संचालित प्राथमिक पाठशालाओं को कुछ आर्थिक सहायता दी जाने लगी थी परन्तु सरकारी खर्च पर शिक्षा की व्यवस्था नहीं हुई थी। ग्लेड्स्टन ने प्रथम बार इस अत्यन्त आवश्यक सुधार की ओर ध्यान दिया और १८७० में एक शिक्षा-कानून बनाकर प्राथमिक शिक्षा की राष्ट्रीय व्यवस्था की। एक लोकल गवर्नमेण्ट बोर्ड की स्थापना करके दरिद्र-नियमों को समुचित रूप में कार्यान्वित करने की तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य की अधिक अच्छी व्यवस्था की। उसने न्याय-विभाग का पुनः संगठन किया और १८७१ में ट्रेड यूनियन कानून बनाकर ट्रेड यूनियनों को प्रथम बार कानूनी हैसियत प्रदान की। कारखानों के निरीक्षकों के अधिकारों में वृद्धि की गई और आयरलैण्डवालों की धार्मिक तथा भूमि-सम्बन्धी कठिनाइयों को भी दूर करने के प्रयत्न किये गये। उसने सेना का भी सुधार किया परन्तु उसकी

---

* Strong : Dynamic Europe, p. 275.

† Hazen : Modern European, History, p. 452.

विदेश नीति पामर्स्टन से भिन्न थी। वह योरोप के झगड़ों में पड़ कर अपनी सुधार-योजनाओं में विघ्न डालना नहीं चाहता था। इसी कारण वह १८७० में फ्रान्स और जर्मनी के युद्ध में तटस्थ बना रहा। परन्तु १८७४ के निर्वाचन में कुछ तो अपनी आन्तरिक फूट के कारण और कुछ उत्साहहीन विदेश-नीति के कारण लिबरल दल की पराजय हुई, कंज़र्वेटिव दल को पार्लमिण्ट में बहुमत प्राप्त हुआ और डिज़रेली ने अपना प्रथम मन्त्रिमण्डल बनाया। डिज़रेली साम्राज्यवादी था और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में इङ्गलैण्ड की प्रतिष्ठा बढ़ाना तथा उसकी धाक जमाना चाहता था। उसके समय में इङ्गलैण्ड ने फिर योरोपीय मामलों में सक्रिय भाग लेना आरम्भ किया। डिज़रेली की मनोवृत्ति समयानुकूल ही थी क्योंकि १८७१ के बाद ही योरोपीय इतिहास का साम्राज्यवादी युग आरम्भ हो चुका था, और विभिन्न योरोपीय राज्यों के बीच शीघ्र ही अत्यन्त तीव्र साम्राज्यवादी स्पर्द्धा का आरम्भ होनेवाला था।

अध्याय ३१

योरोप का विस्तार

हमने तीसरे अध्याय में नवजागरण के सम्बन्ध में सामुद्रिक क्रान्ति की ओर उसके परिणामस्वरूप पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तथा सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में महत्वपूर्ण समुद्र-यात्राओं एवं नये-नये प्रदेशों की खोज की चर्चा की थी। यह घटना केवल योरोप के ही नहीं, संसार के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन साहसिक प्रयत्नों के फलस्वरूप योरोपवालों ने समस्त संसार को खोज निकाला, योरोप के देशों की समृद्धि एवं शक्ति बढ़ी और धीरे-धीरे समस्त संसार पर उनकी सत्ता एवं सभ्यता छा गई।

इन साहसिक प्रयत्नों का सम्बन्ध मूलतः पूर्वी देशों से था। योरोपवासी पूर्वी देशों, विशेषकर भारतवर्ष, से अनेक प्रकार की अच्छी-अच्छी वस्तुएँ प्राप्त करते थे जो पश्चिमी एशिया के मार्ग से योरोप पहुँचती थीं और भूमध्यसागर के तटीय नगरों, मुख्य कर वेनिस और जिनोआ के द्वारा, समस्त योरोप में पहुँचती थीं। पन्द्रहवीं शताब्दी में पश्चिमी एशिया पर तुर्कों का अधिकार हो जाने और उनकी ओर से व्यापार में बाधा पड़ने के कारण इन वस्तुओं की प्राप्ति में कठिनाइयाँ होने लगीं। इन कठिनाइयों के निराकरण का एकमात्र उपाय पूर्वी देशों के लिये एक नये मार्ग की खोज करना था। योरोपवाले समुद्र-यात्राएं तो सदा से करते आये थे, परन्तु ये यात्राएँ केवल तटीय यात्राएं होती थीं; वे तट से बहुत दूर के समुद्र में नहीं जा पाते थे क्योंकि दिशा के ज्ञान के अभाव में समुद्र में भटक कर नष्ट हो जाने का डर था। किन्तु उस समय तक दिग्दर्शन-यन्त्र का आविष्कार हो चुका था, जिससे कहीं भी, किसी भी समय दिशा मालूम की जा सकती है। इस कारण अब दूर-दूर की यात्राएं सम्भव हो सकीं। नवजागरण से योरोपवालों में आत्मविश्वास उत्पन्न हो गया था; उनकी जिज्ञासा जाग्रत हो रही थी और उनमें नवीन जोश उमड़ रहा था। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से अरस्तू के पृथ्वी की गोलाई-सम्बन्धी विचारों का ज्ञान हुआ जिसकी पुष्टि कोपर्निकस द्वारा हुई। इन सभी कारणों से समुद्र-यात्राओं को प्रोत्साहन मिला। ध्यान रहे कि इन यात्राओं का मूल उद्देश्य नये देशों की खोज नहीं, वरन् पुराने (पूर्वी) देशों के लिये नये मार्गों की खोज करना था। यह खोज दो दिशाओं में हुई। प्रथम, अफ्रीका के पश्चिमी तट के साथ-साथ पूर्व की ओर और द्वितीय, अटलांटिक महासागर में से होकर पश्चिम की ओर, क्योंकि लोग समझते थे कि पृथ्वी गोल है तो पश्चिम की ओर से भी भारतवर्ष पहुँचा जा सकता है।

खोज का युग

नये मार्गों की खोज के विचार को साकार रूप देने का श्रेय पुर्तगाल के राजा 'नाविक' हेनरी (१३९४-१४६०) को है जिसके प्रोत्साहन से पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से ही साहसिक पुर्तगीज़ यात्रियों ने अफ्रीका के पश्चिमी तट के साथ-साथ यात्राएँ आरम्भ कर दी थीं और धीरे-धीरे दक्षिण की ओर बढ़ना शुरू कर दिया था। उसकी मृत्यु (१४६०) तक पुर्तगीज़ नाविक गिनी की खाड़ी तक पहुँच चुके थे। उनके आगे बढ़ने के प्रयत्न जारी रहे और अन्त में १४८७ में बार्थोलॉम्यू डियाज़ अफ्रीका के धुर दक्षिण में स्थित अन्तरीप को, जिसका नाम उसने केप ऑफ स्टॉर्म्स रखा, पार कर भारत महासागर के दर्शन कर सका। इस यात्रा से भारत के लिये समुद्री मार्ग मिलने की आशा बंधी और इसी कारण पुर्तगाल के राजा ने इस अन्तरीप का नाम बदल कर केप ऑफ गुड होप (उत्तमाशान्तरीप) रख दिया। ग्यारह वर्ष बाद जब एक अन्य पुर्तगीज़ नाविक वास्कोडिगामा, डियाज़ का अनुकरण करता हुआ, उत्तमाशान्तरीप का चक्कर लगाता हुआ भारत महासागर को पार कर भारतवर्ष के दक्षिण-पश्चिम में मलाबार तट पर स्थित कालीकट नगर आ पहुँचा (१४९८) तो यह आशा फलवती हुई और भारतवर्ष के लिये नया मार्ग मिल गया। वास्कोडिगामा अपने साथ बहुत सा भारतीय माल लेकर उसी वर्ष पुर्तगाल लौट गया। अब पुर्तगीज़ लोग निरन्तर पूर्व की यात्राएँ करने लगे और बीस वर्ष के अन्दर ही उन्होंने भारतवर्ष, लङ्का, सुमात्रा, जावा, सिलिबीज़ और आगे बढ़कर न्यू गिनी तक में अपनी व्यापारिक मण्डियाँ स्थापित कर लीं।

बार्थोलॉम्यू डियाज़ के पांच वर्ष बाद एक अन्य नाविक जिनोआ-निवासी कोलम्बस, जो पुर्तगीज़ नाविक सेवा में था, पुर्तगीज़ राजा को राज़ी करने में असफल होकर, स्पेन के राजा फ़र्डिनेण्ड की सेवा में प्रविष्ट होकर अगस्त में तीन जहाज़ लेकर पश्चिम दिशा में रवाना हुआ और अक्टूबर में अटलांटिक को पार कर कैरिबियन सागर में स्थित बहामा द्वीप में जा लगा। उसने समझा कि भारतवर्ष आ गया और इसी कारण उन द्वीपों का नाम उसने इण्डीज़ रखा। इसके बाद उसने तीन यात्राएँ और कीं। तीसरी यात्रा में वह दक्षिणी अमेरिका की भूमि पर ओरिनोको नदी के मुख के निकट भी पदार्पण कर सका, परन्तु अपनी मृत्यु (१५०६) तक उसे इस बात का ज्ञान नहीं हो सका कि उसने एक नया महाद्वीप ढूँढ़ निकाला था।*

---

* अमेरिका में सर्वप्रथम कोलम्बस ही पहुँचा था और उसका नामकरण भी उसी के नाम पर होना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं हुआ और अमेरिका नाम एक दूसरे यात्री फ्लोरेन्स-निवासी एमरिगो वेस्पुची के नाम पर पड़ा जो १४९९-१५०० में ब्रॅजिल पहुँचा था और जिसने वहाँ से लौटकर दो न्यू वर्ल्ड (नई दुनिया) नामक पुस्तक लिखी थी। Strong : Dynamic Europe, p. 167.

कोलम्बस की यात्राओं ने पश्चिमी योरोप के देशों में बड़ी सनसनी फैला दी और अब समुद्री यात्राओं का तांता लग गया। १४६७ में एक इटली-निवासी जॉन केबट, जो इंगलैण्ड के राजा सप्तम हेनरी की सेवा में था, अटलांटिक को पार कर उत्तरी अमेरिका के पूर्वोत्तर में एक द्वीप के तट पर, जिसका नाम न्यूफाउण्डलैण्ड (नवप्राप्त भूमि) रखा गया, जा पहुंचा और वहां अंग्रेजी झण्डा गाड़ कर लौट आया। १५०० में केब्रल, जो एक पुर्तगीज बेड़े में भारतवर्ष से वापस जा रहा था, तूफान में भटक कर दक्षिणी अमेरिका के तट पर जा लगा और उसने उस प्रदेश (ब्रेज़ील) पर पुर्तगाल के नाम पर अधिकार कर लिया। १५१३ में बल्बोआ ने पनामा के स्थल-संयोजक को पार कर प्रशान्त महासागर का पता लगाया। अभी तक भारतवर्ष तक न पहुंच पाते हुए भी लोगों का यही विश्वास जमा हुआ था कि अब वह दूर नहीं है और इसी विश्वास में नाविक नये महासागर को पार करने में लगे। इसी प्रयत्न में १५१६ में स्पेन से एक पुर्तगीज नाविक मेगिलन रवाना हुआ और दक्षिणी अमेरिका के दक्षिण में होता हुआ पश्चिम की ओर आगे बढ़ते-बढ़ते आस्ट्रेलिया के उत्तर में स्थित द्वीपों पर जा लगा। वहां से आगे बढ़ते हुए वह फिलिप्पीन द्वीपों पर जा पहुंचा जहां वह तो वहां के निवासियों के साथ युद्ध में मारा गया परन्तु उसके जहाज़ों में से एक आगे बढ़ता हुआ पूरी पृथ्वी की परिक्रमा करके लिस्बन वापस जा पहुंचा (१५२२)। इस प्रकार उसने पृथ्वी की गोलाई का सर्वप्रथम प्रमाण प्रस्तुत कर दिया।

कोलम्बस, केबट, मेगिलन आदि के अतिरिक्त अन्य अनेकानेक नाविकों ने भी पश्चिम की ओर से भारतवर्ष का मार्ग ढूंढ़ने के प्रयत्न किये जिनमें से फ्रेंच नाविक कार्टिये (१५३४-३६) तथा अंग्रेज नाविकों फ्रॉबिशर (१५७६), डेविस और हडसन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं जिन्होंने उत्तरी अमेरिका के उत्तर में होते हुए आगे बढ़ने का प्रयत्न किया। इन लोगों को सफलता प्राप्त नहीं हुई परन्तु उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप फ्रेंच तथा अंग्रेज लोग उत्तरी अमेरिका की ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने वहां अपने उपनिवेश स्थापित करके भावी इतिहास का सूत्रपात्र किया। कुछ लोगों का विचार था कि जिस प्रकार अफ्रीका के दक्षिण में होकर भारत तक पहुँचा जा सकता है, उसी प्रकार रूस के उत्तरी तट के साथ-साथ आर्कटिक महासागर में होकर भी पूर्वी देशों को पहुँचा जा सकता है। इसी विश्वास में १५५३ में ही दो अंग्रेज नाविकों—विलोबी और चान्सलर—ने उत्तर-पूर्व की यात्रा की परन्तु वे आर्केञ्जिल के आगे नहीं जा सके और उनका प्रयत्न विफल रहा।

उन्हीं दिनों एक अंग्रेज नाविक ड्रेक ने भी मेगिलन का अनुकरण करते हुए १५७७ और १५८० के बीच पृथ्वी की परिक्रमा की। इस प्रकार इन साहसिक नाविकों ने सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक आस्ट्रिया को छोड़ प्रायः समस्त संसार

का पता लगा लिया था। सोलहवीं शताब्दी इस प्रकार अन्वेषण की शताब्दी थी। अन्वेषण का कार्य समाप्त हो चुका था, अब उपनिवेश-स्थापन का कार्य प्रारम्भ हुआ।

उपनिवेश-स्थापन

उपनिवेश-स्थापन में भी पुर्तगाल और स्पेन आगे रहे और नई-नई खोजों से लाभ भी सर्वप्रथम उन्होंने ही उठाया। इन दोनों केथोलिक राज्यों के बीच संघर्ष की सम्भावना को दूर करने के लिये तत्कालीन पोप षष्ठ अलेक्ज़ेण्डर ने योरोप के बाहर के सागर को, अटलांटिक महासागर में पुर्तगाल के पश्चिम में स्थित अज़ोर द्वीप के पश्चिम में ३७० लीग (लगभग ११०० मील) की दूरी पर उत्तर-दक्षिण एक विभाजन-रेखा निर्धारित करके, स्पेन और पुर्तगाल के बीच विभक्त करके पश्चिम के समस्त प्रदेश स्पेन को तथा पूर्व के समस्त प्रदेश पुर्तगाल को दे दिये।

स्पेन ने केरिबियन सागर में स्थित हेटी (हिस्पेनियोला) के द्वीप से प्रारम्भ कर सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक पश्चिमी इण्डीज़ के अनेक द्वीपों, तथा उत्तर में उत्तरी अमेरिका में फ्लोरिडा और मेक्सिको से लेकर दक्षिण में दक्षिणी अमेरिका में चिली, पेटेगोनिया और प्लेट नदी के प्रदेश तक (ब्रेज़िल को छोड़कर जिस पर पुर्तगाल का अधिकार रहा) दक्षिणी अमेरिका का अधिकांश तटीय प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। विजय एवं उपनिवेश-स्थापन का यह समस्त कार्य राज्याश्रय में और राजकीय अधिकार-पत्रों (चार्टरों) के अधीन साहसिक नाविकों द्वारा हुआ जिनका उद्देश्य धन-लिप्सा, गौरव एवं धर्मप्रचार का सम्मिश्रण था। इन साहसी व्यक्तियों में कॉर्टेज़ (जिसने मेक्सिको विजय किया) और पिज़ारो (पेरु का विजेता) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने वहाँ के निवासियों के साथ बड़े-बड़े नृशंस अत्याचार किये, उनका निर्मम शोषण किया, उनकी सभ्यता नष्ट-भ्रष्ट कर दी और उन प्रदेशों से सोना-चाँदी लूट-लूट कर स्पेन को मालामाल कर दिया।

पुर्तगाल—पुर्तगाल ने ब्रेज़िल में अपना उपनिवेश स्थापित किया और पुर्तगीज़ लोग वहाँ जाकर बसने लगे परन्तु वहाँ के खेतों में, उष्ण जलवायु में उनके लिये कठिन काम करना असम्भव था। अतः उन्होंने अफ्रीका से हब्शियों को पकड़-पकड़ कर लाना आरम्भ किया। यहीं से अमेरिका में हब्शियों (नीग्रो) की दासता के बीभत्स इतिहास का श्रीगणेश होता है।*

अमेरिका में तो पुर्तगीज़ लोग ब्रेज़िल तक ही सीमित रहे परन्तु पूर्व में उन्होंने खूब हाथ-पैर फैलाये। पूर्व के मसालों आदि के अत्यन्त लाभप्रद व्यापार से आकृष्ट

---

* Muir : A Short History of the British Commonwealth, Vol. I, p. 241.

हो कर पुर्तगीज़ लोग भारतवर्ष और पूर्वी प्रदेशों की यात्राएं करने लगे और बीस-पच्चीस वर्षों के अन्दर ही उन्होंने भारतवर्ष, लङ्का, मलक्का, सुमात्रा, जावा तथा सिलिब्रीज़ और आगे बढ़कर न्यूगिनी तक अपने व्यापार-केन्द्र स्थापित कर लिये। अफ्रीका के तट पर तथा लाल सागर और फारस की खाड़ी में भी उन्होंने अपने सशस्त्र अड्डे स्थापित किये। चीन में भी उन्होने मकेग्रो के क़िलाबन्द बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया। पुर्तगालियो के प्रारम्भिक पूर्वी इतिहास में अलबुक़र्क का नाम विशेष उल्लेखनीय है जो १५०९ से १५१५ तक पुर्तगीज़ इण्डीज़ का गवर्नर था। उसने गोआ विजय किया और पुर्तगीज़ शक्ति को सङ्गठित करके उसका विस्तार किया। पुर्तगालियों का यह पूर्वीय साम्राज्य था जिसके द्वारा उन्होने पूर्वीय व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था, परन्तु भारत में गोआ, डामन, ड्यू तथा चीन में मकेग्रो को छोड़ कर उन्होंने अन्य कोई बस्तियाँ नहीं बसाईं।

सोलहवीं शताब्दी में तो स्पेन और पुर्तगाल का अपने-अपने क्षेत्र में एकाधिकार रहा परन्तु उनके एकाधिकार को चुनौती देनेवाले कई राज्य शीघ्र ही इनके मुक़ाबले में आ गये। पोप ने नवीन संसार का विभाजन इस विश्वास से किया था कि इससे संघर्ष नहीं होगा परन्तु यह बात अचिन्तनीय थी कि समृद्धि के इन नये स्रोतों का एकाधिकार इन दोनों देशों का ही बना रहेगा और हालैण्ड, फ्रान्स तथा इंगलैण्ड जैसे उदीयमान राष्ट्रीय राज्य (जिनमें से कुछ प्रोटेस्टेण्ट थे और जिन्हें पोप के आदेशों के प्रति कोई आदर-भावना नहीं थी) चुप बैठे रहेंगे। नई दुनिया में मेक्सिको के उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण में तो स्पेन और पुर्तगाल अपना अधिकार कर सके परन्तु समस्त अमेरिका पर अपना अधिकार मानते हुए भी स्पेन उत्तर की ओर किसी प्रदेश पर अधिकार नहीं कर सका। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही इंगलैण्ड, फ्रान्स और हालैण्ड के लोग नई दुनिया और पूर्वी व्यापार के असीमित लाभों से आकृष्ट हो कर अमेरिका तथा पूर्वी समुद्रों में उनके मुक़ाबले में जा पहुँचे।

इङ्गलैण्ड—आरम्भ में तो इङ्गलैण्ड के हॉकिन्स, केवेण्डिश, ड्रेक जैसे साहसी नाविक (समुद्री कुत्ते) अमेरिका से प्राप्त सोने चाँदी से लदे स्पेनी जहाजों को लूटते रहे परन्तु एलिज़ाबेथ के समय में उपनिवेश-स्थापना की ओर ध्यान गया। रेले की सलाह से उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट पर उपनिवेश स्थापित करने का प्रयत्न किया गया (१५८५-८६) किन्तु सफलता प्राप्त नहीं हुई। एलिज़ाबेथ के बाद सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रथम जेम्स (१६०३-२५) के समय में उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट पर वर्जिनिया प्रदेश में सर्वप्रथम सफल बस्ती जेम्सटाउन की स्थापना के साथ इंगलैण्ड की उपनिवेश-योजना का आरम्भ हुआ। १६२० में धार्मिक स्वतन्त्रता के लिये स्वदेश त्याग करनेवाले कुछ व्यक्तियों (पिलग्रिम फादर्स) ने न्यू इंगलैण्ड के उपनिवेश का आरम्भ किया और इसके बाद धीरे-धीरे अटलांटिक महासागर के तट पर उत्तर में सेंट लारेन्स

नदी से लेकर दक्षिण में स्पेनी फ्लोरिडा की उत्तरी सीमा तक अंग्रेज़ों ने बारह उप-निवेशों की स्थापना कर ली। हॉलैण्ड ने भी १६१४ में हडसन नदी के मुख पर न्यू एम्स्टर्डम नामक एक बस्ती बसाई थी, परन्तु १६५४ में इङ्गलैण्ड ने हॉलैण्ड से उसे प्राप्त करके और न्यूयार्क का नाम देकर अपना तेरहवाँ उपनिवेश स्थापित कर लिया। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब इन उपनिवेशों ने इङ्गलैण्ड से युद्ध कर के स्वतन्त्रता प्राप्त की तब तक इङ्गलैण्ड के पास इन उपनिवेशों की संख्या तेरह ही बनी रही।

हॉलैण्ड—सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में डच लोग भी अमेरिका की ओर गये। वास्तव में आरम्भ में अटलांटिक महासागर में डच लोगों का ही प्राधान्य रहा। उन्होंने दक्षिणी अमेरिका में ग्याना में व्यापारिक बस्तियाँ बसाईं, पश्चिमी इण्डीज़ में कुछ द्वीपों पर अधिकार किया और, जैसा हम देख चुके हैं, उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट पर भी न्यू एम्स्टर्डम नामक बस्ती स्थापित की। परन्तु उनका मुख्य लक्ष्य व्यापार था, वे स्पेनी प्रदेशों से चोरी-चोरी व्यापार करते थे, पश्चिमी अफ्रीका से हब्शियों को लाकर बेचते थे और अपने जहाज़ों में अमेरिका से होनेवाले व्यापार को, यहाँ तक कि अंग्रेज़ी और फ्रेञ्च बस्तियों के व्यापार को भी ढोते थे।

फ्रान्स—उत्तरी अमेरिका में फ्रेञ्च लोगों के कार्यकलाप का क्षेत्र उत्तर में रहा और उत्तरी अमेरिका में सर्वप्रथम योरोपीय उपनिवेश स्थापित करने का श्रेय फ्रेञ्च लोगों को ही है। १५३४-३६ में कार्टिये ने सेंट लॉरेन्स का पता लगाया और नदी के रास्ते भीतर जाकर वहाँ के निवासियों से सम्पर्क स्थापित किया।* परन्तु उप-निवेश-स्थापना का कार्य कई वर्षों बाद सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ जबकि १६०८ में चेम्प्लेन ने, जिसे नये फ्रान्स के पिता की उपाधि दी जाती है, क्वीबेक में सर्वप्रथम फ्रेञ्च उपनिवेश की स्थापना की, ओण्टेरियो तथा चेम्प्लेन झीलों का पता लगाया और ओटावा की घाटी की भी खोज की। इस सम्बन्ध में रॉबर्ट केवेलिये (१६४३-१६८७) का नाम भी उल्लेखनीय है जिसने महान् झीलों से दक्षिण की ओर बढ़ कर मिसिसिपी नदी के सहारे मेक्सिको की खाड़ी तक व्यापारिक केन्द्रों का एक सिलसिला स्थापित किया। फ्रान्स ने भी इंगलैण्ड के समान पश्चिमी इण्डीज़ में कुछ द्वीपों (मार्टिनिक, सेंट डॉमिनिक आदि) पर अधिकार किया, दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी तट पर ग्याना में कुछ बस्तियाँ बसाईं और अफ्रीका के पश्चिमी तट पर भी कुछ स्थानों को अपने अधिकार में ले लिया।

---

* वहाँ के निवासियों के मुँह से उसने एक शब्द सुना 'कनाटा' जो शायद वहाँ के एक गाँव का नाम था। उसी के नाम पर उसने उस प्रदेश का नाम कनाडा रख दिया। Carter and Mears : History of Britain, p. 309.

पूर्व में डच—जिस प्रकार पश्चिम में स्पेन और पुर्तगाल के एकाधिकार को चुनौती देने के लिये हॉलैण्ड, इङ्गलैण्ड और फ्रान्स पहुँच गये थे उसी प्रकार पूर्व में भी पुर्तगाल के मुक़ाबले में इन राज्यों के लोग पहुँच गये। इस दिशा में प्रथम आनेवाले डच और अंग्रेज़ लोग थे, फ्रेञ्च लोग बाद में आये। डच लोगों ने दो कम्पनियाँ बनाई थीं—पश्चिमी इण्डीज़ की कम्पनी जिसने अमेरिका की ओर ध्यान दिया और पूर्वी इण्डीज़ की कम्पनी जिसने पूर्वी व्यापार को संगठित किया। इङ्गलैण्डवालों ने भी इसी प्रकार पूर्वी व्यापार के लिये ईस्ट इण्डिया कम्पनी (१६००) और अमेरिका के लिये दो वर्जिनियाँ कम्पनियाँ स्थापित की थीं (१६०६)। अंग्रेज़ों और डच लोगों ने भारतवर्ष तथा मलय द्वीप (विशेषकर मसालों के द्वीपों Spice Islands) से व्यापार आरम्भ किया। आरम्भ में तो पुर्तगाल के विरोध में दोनों परस्पर सहयोग करते रहे परन्तु कुछ ही समय बाद उनमें प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने लगी और संघर्ष होने लगा जिसमें डच लोग विजयी रहे और उन्होंने अंग्रेज़ों को १६२३ में मलाया द्वीप-समूह से खदेड़ कर वहाँ के व्यापार पर अपना एकाधिकार कर लिया।

अपनी विजय से लाभ उठाकर डच लोगों ने मलय प्रायद्वीप के दक्षिण की ओर के समुद्र का अनुसंधान किया और १६५० तक उनके नाविकों ने जिनमें टस्मान का नाम उल्लेखनीय है (इसी के पीछे ऑस्ट्रेलिया के दक्षिण में स्थित एक द्वीप का नाम टस्मानिया पड़ा), ऑस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड का पता लगा लिया, परन्तु वे उन द्वीपों में बसे नहीं, क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य बस्ती बसाना नहीं, व्यापार करना था। इसी सिलसिले में उन्होंने सुमात्रा, जावा, सिलिबीज़, बोर्नियो आदि अनेक द्वीपों पर भी अपना अधिकार कर लिया। १६५१ में उन्होंने अफ्रीका के दक्षिणी छोर पर केप ऑफ़ गुडहोप में अपने जहाज़ों की मरम्मत तथा ताज़ा शाकसब्ज़ी, मीठा जल आदि प्राप्त करने के लिये एक बस्ती बसाई। १६५८ में उन्होंने पुर्तगालियों से लङ्का का द्वीप भी छीन लिया।

अंग्रेज़—मसालों के द्वीपों से हटाये जाने पर पूर्व में अंग्रेज़ों ने अपना सारा ध्यान भारतवर्ष के व्यापार पर केन्द्रित किया जिसका आरम्भ वे सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही कर चुके थे। अंग्रेज़ों ने भारतवर्ष में अपनी सर्वप्रथम कोठी सूरत में स्थापित की थी जो वर्षों तक अंग्रेज़ों के भारतीय व्यापार का केन्द्र बना रहा। इसके बाद उन्होंने कई स्थानों पर अपनी कोठियाँ स्थापित कीं—मसुलिपट्टम (१६३२), हुगली के मुख पर (१६३३), फोर्ट सेण्ट जॉर्ज (१६३९) जिसका नाम आगे चलकर मद्रास पड़ा।

अंग्रेज़ों को आरम्भ में ही पुर्तगीज़ लोगों की शत्रुता का सामना करना पड़ा परन्तु १६१२ और १६१४ में उन्होंने पुर्तगीज़ बेड़े को बुरी तरह परास्त करके अपनी

स्थिति निरापद कर ली। अब अंग्रेज़ों की प्रतिष्ठा जम गई और पुर्तगालियों का विरोध नष्ट हो गया। डच लोगों के विरोध का भी उन्हें सामना करना पड़ा परन्तु भारतवर्ष में डच लोगों की स्थिति आरम्भ से ही बड़ी कमज़ोर थी और उनकी ओर से अंग्रेज़ों को विशेष परेशानी नहीं उठानी पड़ी।

फ़्रेञ्च—डच लोगों और अंग्रेज़ों का अनुकरण करते हुए फ़्रेञ्च लोग भी भारतवर्ष आये और चन्द्रनगर, पाण्डुचेरी आदि नगरों में अपनी कोठियाँ स्थापित करके व्यापार करने लगे।

इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक स्पेन, पुर्तगाल, हालैण्ड, इंगलैण्ड तथा फ़ान्स के लोग योरोप के बाहर नई और पुरानी दुनिया में दूर-दूर तक फैल चुके थे और अपने औपनिवेशिक एवं व्यापारिक प्रयत्नों से अपार लाभ उठा रहे थे। इनमें से स्पेन तो, जैसा हम देख चुके हैं, अमेरिका में ही सीमित रहा और दूसरे देशों के मुक़ाबले से दूर हट कर अपने विशाल साम्राज्य को दीर्घकाल तक सुरक्षित रख सका परन्तु पुर्तगाल ऐसा नहीं कर सका। दक्षिणी अमेरिका में ब्राज़ील तो उसके अधिकार में बना रहा परन्तु पूर्व में अंग्रेज़ों और डच लोगों के सामने वह न ठहर सका। डच लोगों ने १६०५ में मसाले के द्वीपों से पुर्तगालियों को निकाल दिया, १६४१ में मलक्का छीन लिया और १६५८ में लंका से भी उन्हें खदेड़ दिया। अब इस प्रकार औपनिवेशिक क्षेत्र में इंगलैण्ड, हालैण्ड तथा फ़ान्स ही मुख्य प्रतिद्वन्द्वी रह गये। उनमें संघर्ष होने लगा जिसने अठारहवीं शताब्दी में बड़ा भीषण रूप धारण किया।

अमेरिका में—अमेरिका में डच लोगों की स्थिति आरम्भ से ही कमज़ोर थी और जब १६६४ में अंग्रेज़ों ने न्यू एम्सटर्डम का उपनिवेश उनसे छीन लिया तो उत्तरी अमेरिका में उनके पास कोई स्थान नहीं रहा और वे मैदान से हट गये।

उत्तरी अमेरिका में मुख्य संघर्ष इंगलैण्ड और फ़ान्स के बीच हुआ। इनके बीच अनेक छोटे-छोटे युद्ध हुए जिनके परिणामस्वरूप अमेरिका में फ़ान्स का साम्राज्य नष्ट हो गया। १७१३ में स्पेनिश उत्तराधिकार के युद्ध के फलस्वरूप फ़ान्स से इंगलैण्ड को न्यूफ़ाउण्डलेण्ड द्वीप, नोवा स्कोशिया का प्रायद्वीप तथा हडसन की खाड़ी के तटीय प्रदेश प्राप्त हुए और १७५६-१७६३ के सप्तवर्षीय युद्ध में इंगलैण्ड ने फ़ान्स से कनाडा तथा केप ब्रीटन द्वीप छीन लिये। इस युद्ध में अन्त की ओर स्पेन भी फ़ान्स की ओर से शामिल हो गया था। वह भी हारा और उसे भी फ्लोरिडा अंग्रेज़ों के सुपुर्द रखना पड़ा। इस प्रकार फ़ान्स को उत्तरी अमेरिका से हटना पड़ा और उसके पास वहाँ केवल न्यूफ़ाउण्डलेण्ड के समुद्र में मछली पकड़ने के कुछ अधिकारमात्र ही रह गये।

सप्तवर्षीय युद्ध में अंग्रेज़ों की विजय तो प्राप्त हुई परन्तु उन्हें यह विजय बड़ी मँहगी पड़ी। इस विजय ने उस स्थिति को जन्म दिया जिसमें इंगलैण्ड को अपने तेरहों

उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा । आप देख चुके हैं कि कनाडा के दक्षिण में पूर्वी तट पर अंग्रेजों के तेरह उपनिवेश थे । इन उपनिवेशों के निवासियों में बहुतसे लोग इङ्गलैण्ड के विरोधी थे । न्यू इङ्गलैण्ड के निवासी उन लोगों की सन्तान थे जो स्टुअर्ट काल में धार्मिक अत्याचार से त्राण पाने के लिये और स्वतन्त्र रूप से अपने धर्म के पालन के लिये स्वदेश छोड़कर एक अज्ञात देश में जा बसे थे । ऐसे लोगों को इङ्गलैण्ड से कोई मोह नहीं हो सकता था । इसके अतिरिक्त सभी उपनिवेश अपनी अन्दरूनी मुख्य-मुख्य बातों में स्वशासी थे और इसी कारण उन पर जो कुछ थोड़ा-बहुत इङ्गलैण्ड का नियन्त्रण था वह उन्हें अखरता था । उन्हें इस नियन्त्रण में इङ्गलैण्ड की सरकार की आर्थिक नीति बड़ी अप्रिय लगती थी । उन दिनों योरोप की आर्थिक व्यवस्था मर्केण्टाइल सिद्धान्त (Mercantile theory) के अनुरूप थी जिसके अनुसार उपनिवेशों का मुख्य प्रयोजन अपने मातृ-देश के लिये कच्चा माल तैयार करना तथा उसका तैयार माल खरीदना ही होता था । प्रत्येक देश व्यापार के नियमन द्वारा स्वाश्रयी और समृद्ध बनना चाहता था । राज्य का महत्त्व केवल आर्थिक साधनों पर निर्भर समझा जाता था और आर्थिक साधन का अर्थ किया जाता था – सोने का अपरिमित भण्डार । सोने से राज्य का भण्डार भरने की एकमात्र विधि थी अन्य देशों को अधिक से अधिक माल बेचना, उनसे कम से कम माल खरीदना और अपना पावना सोने-चाँदी के रूप में वसूल करना । जिन देशों के पास अपने उपनिवेश थे वे उन्हें अपनी समृद्धि का साधन समझते थे । वे अपना समस्त कच्चा माल अपने मातृ-देश को ही बेच सकते थे, अन्य किसी देश को नहीं । उन्हें अपने यहाँ कारखाने खोलकर अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ तैयार करने का भी अधिकार नहीं था और उन्हें अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुएँ मातृ-देश से ही खरीदनी पड़ती थीं । इस प्रकार साम्राज्यवादी देश अपने उपनिवेशों के व्यापार पर अपने ही हित में पूर्ण नियन्त्रण रखते थे । इंगलैण्ड की सरकार ने नैविगेशन क़ानूनों द्वारा उपनिवेशों के व्यापार पर बड़ा कड़ा नियन्त्रण लगा रखा था जो उन्हें बहुत अखरता था ।

जब तक उन्हें उत्तर की ओर से फ्रेञ्च लोगों का भय रहा तब तक वे इस नियन्त्रण को जैसे-तैसे सहते रहे परन्तु जब कनाडा पर इंगलैण्ड का अधिकार हो गया तो उनका भय जाता रहा और उनका असन्तोष मुखर होने लगा । वे नियन्त्रण का विरोध करने लगे, धीरे-धीरे तनाव बढ़ने लगा और अन्त में चाय पर लिये जानेवाले कर के प्रश्न पर १७७३ में उपनिवेशवासियों ने विद्रोह कर दिया । इंगलैण्ड ने उनका दमन करने का प्रयत्न किया; इस पर तेरहों उपनिवेशों ने फ़िलाडेल्फ़िया में एक सम्मेलन करके अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी । युद्ध कई वर्षों तक चलता रहा, फ़ान्स ने अपनी पुरानी पराजय का प्रतिशोध करने का अच्छा अवसर देखकर उपनिवेशवासियों की सहायता की । अन्त में इंगलैण्ड की पराजय हुई और १७८३ में वार्साय की सन्धि

द्वारा इंगलैण्ड ने तेरहों उपनिवेशों की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली और अमेरिका के संयुक्त राज्य का जन्म हुआ।

भारतवर्ष में — भारतवर्ष में भी फ्रान्स को नीचा देखना पड़ा। यहाँ दोनों ही देश व्यापार करते थे। फ्रेञ्च लोगों का व्यापार फ्रेञ्च कम्पनी के सरकार पर निर्भर रहने के कारण कभी नहीं चमका, परन्तु अंग्रेज़ कम्पनी का व्यापार धीरे-धीरे बढ़ने लगा। १७१७ में उसने मुग़ल सम्राट् से बंगाल से माल बिना कर दिये हुए इंगलैण्ड भेजने का अधिकार प्राप्त कर लिया। यहीं से उनका भाग्योदय प्रारम्भ हुआ और तत्कालीन राजनीतिक स्थिति से, जिसमें वे अपनी कूटनीति का बड़ी सफलता से प्रयोग कर सके, बड़ी सहायता मिली। उन्होंने यहाँ के राजाओं एवं नवाबों के पारस्परिक द्वेष से लाभ उठा कर अपने हाथ-पैर फैलाना शुरू किया। वे विभिन्न राज्यों के राजनीतिक षड्यन्त्रों में भाग लेकर अपना प्रभाव बढ़ाने लगे। १७५७ में उन्होंने बंगाल में नवाब सिराजुद्दौला के विरुद्ध होनेवाले षड्यन्त्र में भाग लेकर उसे प्लासी के मैदान में परास्त कर एक नया नवाब —मीरजाफ़र— बनाया जिसे उन्होंने कठपुतली बना कर बंगाल के शासन में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया। १७६४ में उन्होंने बंगाल के नवाब मीर-क़ासिम, अवध के नवाब शुजाउद्दौला और सम्राट् द्वितीय शाहआलम को बक्सर के स्थान पर परास्त कर अपने लिये बर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव के ज़िले तथा समस्त बंगाल की दीवानी का अधिकार प्राप्त कर लिया। उन्हीं दिनों सप्तवर्षीय युद्ध के सिलसिले में उन्होंने फ्रेञ्च लोगों को वाण्डीवाश के स्थान पर परास्त कर (१७६१) उनके राजनीतिक प्रभाव को बिलकुल समाप्त कर दिया और उनके पास केवल पाण्डुचेरी, चन्द्रनगर, माही, कारीकाल और यानाँव के नगर रह गये जिनमें वे केवल व्यापार कर सकते थे और जिनकी क़िलेबन्दी नहीं हो सकती थी।

बंगाल की घटनाओं के फलस्वरूप अंग्रेजों ने भारतवर्ष में राजनीतिक स्थिति प्राप्त कर ली जिसमें वे भारतीय राज्यों के पारस्परिक झगड़ों और षड्यन्त्रों में शामिल होकर निरन्तर उन्नति करते रहे, यहाँ तक कि सौ वर्षों में ही (१८५६ तक) उन्होंने गंगा तथा सिन्धु की घाटियों के समस्त उपजाऊ प्रदेशों, समुद्रतटीय प्रदेशों तथा मध्यवर्ती नागपुर प्रदेश पर अपना शासन स्थापित कर लिया और भीतरी प्रदेशों के राजाओं के साथ सन्धियाँ करके उन्हें अपने अधीन कर लिया। १८५७ में अनेक कारणों से अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध एक महान् विद्रोह हुआ जो अन्त में दबा दिया गया। भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य को कोई क्षति नहीं पहुँची, केवल इसके फलस्वरूप इंगलैण्ड की सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त करके भारतवर्ष पर अपना सीधा शासन स्थापित कर लिया।

इंगलैण्ड ने उन्हीं दिनों पूर्वी समुद्रों में भी अपनी हलचलें जारी रखीं। इस ओर

उच लोगों ने सत्रहवीं शताब्दी में ही टस्मानिया द्वीप तथा ऑस्ट्रेलिया के कुछ भागों का पता लगा लिया था परन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, उन्होंने वहाँ कोई बस्तियाँ नहीं बसाईं। यह काम इङ्गलैण्ड ने किया, जबकि कुक की यात्राओं के फलस्वरूप १७८८ में ऑस्ट्रेलिया के दक्षिण-पश्चिमी भाग में पोर्ट जेकसन (जिसका नाम आगे चलकर सिडनी पड़ा) नामक स्थान पर कुछ अंग्रेज कैदी बसा कर उसने अपनी प्रथम बस्ती क़ायम की। इसी प्रकार की एक दूसरी बस्ती १८०४ म टस्मानिया में भी बसाई गई। बाद में इङ्गलैण्ड से स्वतन्त्र लोग भी वहाँ जाकर बसने लगे जिन्हें प्रोत्साहन देनेवाला गिबन वेकफ़ील्ड था जिसने अन्य लोगों के साथ मिलकर इसी उद्देश्य से १८३७ में साउथ ऑस्ट्रेलिया कम्पनी की स्थापना की थी। गिबन वेकफ़ील्ड का ध्यान ऑस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्व में बहुत दूर स्थित न्यूज़ीलैण्ड की ओर भी गया। उसने १८३७ में न्यूज़ीलैण्ड कम्पनी बनाई और जब उसने सुना कि फ़ान्स वहाँ घुसने का प्रयत्न कर रहा है तो उसने इङ्गलैण्ड की सरकार से अनुरोध करके १८३९ में न्यूज़ीलैण्ड के द्वीपों पर अधिकार करवा लिया। इस प्रकार ऑस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड भी ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल हो गये।

इस प्रकार पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक स्पेन, पुर्तगाल, हॉलैण्ड, इङ्गलैण्ड तथा फ़ान्स योरोप से बाहर संसार के एक बड़े भाग पर फैल गये। यह विस्तार कई कारणों से, या तो धन की तलाश में, या व्यापार की इच्छा से, या धर्मप्रचार के बहाने से अथवा अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये लोगों के विदेशों में बस जाने के कारण हुआ। अठारहवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति ने भी इन प्रयत्नों में बड़ा योगदान दिया।

विघटन - परन्तु साम्राज्यवादी राज्यों के पारस्परिक द्वेष से उत्पन्न होनेवाले युद्धों तथा उपनिवेशवासियों की स्वातन्त्र्य-कामना-जनित आन्तरिक विद्रोहों के कारण अठारहवीं शताब्दी में ही औपनिवेशिक साम्राज्यों का विघटन होने लगा और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के अन्त तक ब्रिटिश साम्राज्य को छोड़ सभी साम्राज्य प्रायः नष्ट हो गये।

फ़्रेञ्च साम्राज्य— जैसा हम देख चुके हैं, सप्तवर्षीय युद्ध के परिणामस्वरूप फ़ान्स के हाथों से सेण्ट लॉरेन्स और मिसिसिपी के प्रदेश निकल गये और भारतवर्ष में भी उसका साम्राज्य-स्वप्न भङ्ग हो गया। नेपोलियन-कालीन युद्धों में भी उसके बहुत से प्रदेश छिन गये, यहाँ तक कि वियना-कांग्रेस के बाद अपने विशाल साम्राज्य में से उसके पास पश्चिमी इण्डीज़ के कुछ द्वीप, दक्षिणी अमेरिका में एक छोटा-सा प्रदेश (ग्याना) और भारतवर्ष में पाँच नगर रह गये थे। बाद में, जैसा आप पिछले अध्यायों में पढ़ चुके हैं, दशम चार्ल्स ने उत्तरी अफ़्रीका में अलजीरिया प्रदेश पर अधिकार कर फिर से

साम्राज्य-विस्तार का प्रयत्न आरम्भ किया और तृतीय नेपोलियन के समय में इण्डोचीन में एक प्रदेश अनाम पर तथा प्रशान्त माहासागर में कुछ द्वीपों पर भी फ्रान्स का अधिकार किया गया परन्तु १८७० तक उसमें कोई विशेष प्रगति नहीं हो पाई। तृतीय नेपोलियन के मेक्सिको पर अधिकार करने के दुर्भाग्यपूर्ण प्रयत्न का हाल आप पढ़ ही चुके हैं।

स्पेन और पुर्तगाल—स्पेन के अधिकार में उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका का बड़ा विशाल प्रदेश था। उत्तरी अमेरिका में मिसिसिपी के पश्चिम में रॉकीज़ पर्वत तक और उत्तर में आधुनिक कनाडा की सीमा तक उसका अधिकार था, परन्तु १८०१ में उसे यह समस्त प्रदेश (लुईसाना) नेपोलियन के सुपुर्द करना पड़ा जिसे उसने १८०३ में संयुक्त राज्य को बेच दिया। १८१९ में उसने फ्लोरिडा भी संयुक्त राज्य को बेच दिया। शेष समस्त उपनिवेशों ने भी कुछ तो स्पेन के कुशासन से तङ्ग आकर, कुछ अमेरिका की स्वतन्त्रता तथा फ्रेञ्च क्रान्ति के नवीन विचारों से प्रेरित होकर तथा कुछ स्पेन की दुर्बलता के कारण, जैसा आप देख चुके हैं, अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी जिसमें उन्हें इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका के संयुक्त राज्य से भी सहायता प्राप्त हुई। इस प्रकार १८३० तक स्पेन का साम्राज्य नष्ट हो गया और उसके पास पश्चिम में क्यूबा तथा पोर्टोरिको और पूर्व में फ़िलिप्पाइन द्वीप ही बच रहे। पुर्तगाल के हाथों से भी इसी प्रकार १८२५ में ब्राज़ील निकल गया और उसके बाद उसके पास अफ्रीका में कुछ छोटे-छोटे प्रदेश तथा भारतवर्ष में कुछ नगर ही रह गये।

हालैण्ड—योरोपीय जातियों में सर्वप्रथम विदेशों से व्यापार स्थापित करने वाले डच लोग थे। उनका देश छोटा है, उनके साधन सीमित थे, और वे उपनिवेश स्थापन की स्थिति में नहीं थे, फिर भी उन्होंने सब तरफ़ अपने हाथ-पैर फैलाये परन्तु महाशक्तियों के मुकाबले में वे ठहर नहीं सके। इङ्गलैण्ड ने उनसे उत्तरी अमेरिका में न्यू एम्स्टर्डम तथा भारत में उनकी बस्तियाँ छीन लीं और नेपोलियन-कालीन युद्धों में केप ऑफ़ गुड होप, लंका तथा अन्य कई प्रदेशों से उन्हें हाथ धोना पड़ा और उनके पास केवल डच ईस्ट इण्डीज़ तथा वेस्ट इण्डीज़ में कुछ द्वीप ही रह गये।

इंगलैंड—इस विघटन की प्रक्रिया से इंगलैण्ड भी अछूता नहीं बचा, हालांकि उसकी अधिक क्षति नहीं हुई और आगे चलकर नेपोलियन-कालीन युद्धों में उसके साम्राज्य की वृद्धि ही हुई। हम देख चुके हैं कि उत्तरी अमेरिका में स्थित अंग्रेज़ी उपनिवेश १७८३ में स्वतन्त्र हो चुके थे। इससे तथा स्पेन और पुर्तगाल के उपनिवेशों के स्वतन्त्र हो जाने से इङ्गलैण्ड में उपनिवेशों की ओर से कुछ निराशा सी हो गई थी और यह धारणा बन गई थी कि उपनिवेश सदा ही मातृदेश के आधीन नहीं रह सकते। इङ्गलैण्ड के महान् साम्राज्यवादी-राजनीतिज्ञ डिज़रेली ने १८५२ में इसी नैराश्य-भावना को व्यक्त करते हुए कहा था कि "ये अभागे उपनिवेश कुछ ही वर्षों में स्वतन्त्र

हो जायेंगे। ये हमारे गले में चक्की के पाट की तरह हैं।" फ्रेंच अर्थशास्त्री तुर्गो ने भी कहा था कि उपनिवेश फलों की तरह बेवफा होते हैं। वे उसी समय तक पेड़ से सम्बन्ध रखते हैं जब तक कि वे कच्चे रहते हैं किन्तु परिपक्व हो जाने पर वे पेड़ से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं। यह भावना इस कारण और भी तीव्र हो रही थी कि साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत होने के कारण इंगलैण्ड को कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था। कनाडा में १८३७ में इङ्गलैण्ड से भेजे हुए गवर्नरों तथा प्रान्तीय सभाओं के बीच संघर्ष होने के कारण विद्रोह हो गया था। विद्रोह को दबा दिया गया, परन्तु दमन से कनाडावासी चुप बैठ रहेंगे यह आशा नहीं हो सकती थी। अतः उसकी शिकायतों को दूर करने के निमित्त कुछ सुझाव प्रस्तुत करने के लिये इङ्गलैंड की सरकार ने लॉर्ड डरहम की अध्यक्षता में एक कमिशन नियुक्त किया जिसने १८३६ में अपनी विस्तृत रिपोर्ट पेश करते हुए कनाडा के समस्त उपनिवेशों का संयोग स्थापित करने तथा उसे इंगलैण्ड के राजा के समान सांविधानिक गवर्नर के अधीन उत्तरदायी शासन प्रदान करने की सिफारिश की। पार्लामेण्ट ने इस सिद्धान्त को स्वीकार करके १८४६ में कनाडा को स्वशासन प्रदान किया और अन्य गोरे निवासियोंवाले बड़े उपनिवेशों को भी इसी सिद्धान्त के अनुसार १८६० तक उत्तरदायी स्वशासन प्रदान कर दिया।* परन्तु यह नीति केवल गोरे उपनिवेशों के लिये थी, भारतवर्ष के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त की पूर्ण रूप से उपेक्षा की गई। इस प्रकार इङ्गलण्ड के औपनिवेशिक इतिहास में १८१५ के बाद का समय 'शिथिलता का काल' था।

परन्तु उपनिवेशों के प्रति इस नवीन नीति को अङ्गीकार करते हुए तथा उपनिवेशों की ओर लोक-रुचि में शिथिलता आ जाने पर भी इङ्गलण्ड कुछ तो सरलता के कारण और कुछ साम्राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से इस युग में भी नये-नये प्रदेशों पर अधिकार करता रहा और इस सिलसिले में न्यूज़ीलैण्ड (१८४०), हांगकांग (१८४२), नेटाल (१८४३), मलय प्रायद्वीप के राज्य (१८७४) तथा फिजीद्वीप (१८७४) अपने साम्राज्य में सम्मिलित करके साम्राज्य-विस्तार करता रहा।

परन्तु अब ब्रिटिश साम्राज्य का रूप बदल रहा था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक तो ब्रिटिश साम्राज्य का रूप भी स्पेन, पुर्तगाल तथा फ्रान्स के साम्राज्यों के

---

* १८६० तक दस उपनिवेशों को स्वायत्त शासन प्राप्त हो चुका था; उत्तरी अमेरिका में चार—कनाडा के संयुक्त प्रान्त (क्वीबक और ओन्टेरियो), नोवा स्कोशिया, न्यूफाउण्डलैण्ड और न्यूब्रन्स्विक को, आस्ट्रेलिया में पाँच—न्यू साउथ वेल्स, विक्टोरिया, क्वीन्सलैण्ड, दक्षिणी आस्ट्रेलिया तथा टस्मानिया को और न्यूज़ीलैण्ड को। १८७२ में दक्षिणी अफ्रीका में केपकालोनी को स्वायत्त शासन प्राप्त हुआ। १८६७ में कनाडा को 'डोमीनियन पद' प्रदान किया गया। बाद में अन्य उपनिवेशों को भी यह पद मिला। इस पद से प्राप्त अधिकारों का धीरे-धीरे विकास होता रहा और डोमीनियन देश प्रायः स्वतन्त्र हो गये; उनका इङ्गलैण्ड से नाममात्र का सम्बन्ध रह गया।

समान ही था और उपनिवेश मातृ-देश की आर्थिक समृद्धि के साधनमात्र समझे जाते थे। साम्राज्य का आधार व्यापारिक एकाधिकार था; भारतवर्ष पर इङ्गलैण्ड का नियन्त्रण ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एकाधिकार पर आधारित था; पश्चिमी इण्डीज पर दास-व्यापार के एकाधिकार पर और उत्तरी अमेरिका के तेरहों उपनिवेशों तथा अन्य उपनिवेशों पर नाविक नियमों द्वारा आरोपित मातृदेश के व्यापारिक एकाधिकार पर आधारित था। परन्तु कुछ तो इस कारण कि एकाधिकार का सिद्धान्त स्वयं मातृदेश के लिये हानिकर सिद्ध हो रहा था और कुछ दास-प्रथा के विरुद्ध भावना जाग्रत होने के कारण इङ्गलैण्ड में इस पुराने सिद्धान्त के औचित्य के सम्बन्ध में गम्भीर शंकाएँ उत्पन्न होने लगीं, और, जैसा हम देख चुके हैं, इस नीति का परित्याग होने लगा तथा नई औपनिवेशिक नीति का उदय हुआ। औपनिवेशिक नीति को नई दिशा में मोड़ने का श्रेय इङ्गलैण्ड के राजनीतिज्ञों को है जिनमें, इस सम्बन्ध में, कैनिंग और हस्किसन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नई रीति के अनुसार उपनिवेशों पर से व्यापारिक नियन्त्रण हट गया और अधिक विकसित गोरे उपनिवेशों को स्वायत्त शासन प्रदान करने का सिलसिला आरम्भ हुआ, जैसा आप कनाडा के सम्बन्ध में अभी देख चुके हैं। इसके पहले ही १८०७ में ब्रिटिश सरकार ने दास-व्यापार बन्द कर दिया था और १८३३ में ब्रिटिश साम्राज्य के समस्त दास दासता से मुक्त कर दिये गये थे। इतिहासकार नई नीति के आरम्भ होने तक ब्रिटिश साम्राज्य को प्रथम ब्रिटिश साम्राज्य कहते हैं और नई नीति आरम्भ होने के बाद के साम्राज्य को द्वितीय ब्रिटिश साम्राज्य।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १८७० तक ब्रिटिश साम्राज्य को छोड कर अन्य समस्त साम्राज्यों का ह्रास हो चुका था। ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार होता रहा परन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, उसका रूप धीरे-धीरे बदलता जारहा था और इसी कारण वह सुदृढ़ बनता जा रहा था। यह योरोपीय विस्तार संसार के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण है। इसके कारण संसार में योरोपीय सभ्यता का प्रसार हुआ, संसार के विभिन्न भागों में सम्पर्क स्थापित हुआ, उपनिवेशों की आर्थिक उन्नति हुई और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास हुआ। परन्तु इससे जहाँ ये लाभ हुए वहाँ विनाश भी बहुत हुआ। जिन प्रदेशों में योरोपवालों ने अपना अधिकार स्थापित किया उनकी सभ्यताएँ उन्होंने नष्ट कर दीं, उन प्रदेशों को अपनी समृद्धि का साधनमात्र मान कर उनका यथेष्ट शोषण किया और स्थानीय लोगों के हितों की पूर्ण रूप में उपेक्षा की। कई जगह तो वहाँ के आदिम निवासी प्राय: निर्मूल हो गये। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि उपनिवेशों में योरोपियन लोगों के प्रति विरोध की भावना जाग्रत हुई और बढ़ने लगी। परन्तु अभी उपनिवेशवासियों (रंगीन) की स्वतन्त्रता के दिन बहुत दूर थे। अभी तक अफ्रीका का विशाल महाद्वीप और प्रशान्त महासागर में असंख्य द्वीप योरोपवालों के प्रभाव से बचे हुए थे और उनके लिये शीघ्र ही साम्राज्यवादी ताण्डव आरम्भ होनेवाला था।

———

पाठ्य ग्रन्थ

(अ) पृष्ठभूमि

1. Adams : Civilization in the Middle Ages, New York, 1922.
2. Fisher : A History of Europe, London, 1946.
3. Freeman : General Sketch of European History.
4. Hayes and Baldwin : A History of Europe, Vol. I, New York, 1949
5. Hayes : Moon and Wayland : World History, New York, 1947.
6. Myers : Medieval and Modern History.
7. Strong : Dynamic Europe, London, 1945.
8. Swain : A History of World Civilization, New York, 1947.
9. Wells : An Outline of History, 1950.

(आ) आधुनिक योरोप (१७८९-१९१७)

1. Belloc : The French Revolution, London, 1929.
2. Bradby : A Short History of the French Revolution, Oxford, 1926.
3. Cambridge Modern History, Vols. X and XI, Cambridge, 1958.
4. Chaytor : The Making of Modern Europe (Vol. IV of Greshams' European History), London, 1914.
5. Fisher : A History of Europe, London, 1946.
6. Fisher : Bonapartism, Oxford, 1928.
7. Fyffe : History of Modern Europe, London, 1924.
8. Gershoy : The French Revolution and Napoleon, Allahabad, 1960.
9. Gottschalk and Lach : Europe and the Modern World, Vol. I, Bombay, 1962.
10. Grant and Temperley : Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries, London, 1950.
11. Hassall : The Balance of Power, London, 1947.
12. Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Vols. I and II, New York. 1932.
13. Hayes and Cole : A History of Europe, Vol. II, New York. 1949.
14. Hazen : Europe since 1815, Calcutta, 1955.
15. Hazen : Modern European History, New York, 1938.
16. Hazen : The French Revolution, 2 Vols., New York, 1932.

17. Hearnshaw : Main Currents of European History, London, 1925.
18. Holland Rose : Life of Napoleon.
19. Ketelbey : A History of Modern Times, London, 1951.
20. Lockhart : The History of Napoleon Bonaparte, London, 1916.
21. Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries, London, 1949.
22. Lodge : A History of Modern Europe, London, 1942.
23. Ludwig : Napoleon, New York, 1924.
24. Madelin : The Revolutionaries.
25 Madelin : Consulate and the Empire, 2 Vols.
26. Marriott : The Eastern Question, Oxford, 1924.
27. Marriot : The Remaking of Modern Europe, London, 1928.
28. Muir : A Short History of the British Commonwealth, Vol. II, London, 1934.
29. Muir : British History, London, 1929.
30. Palmer : A History of Modern World, New York, 1961.
31. Phillips : Modern Europe, London, 1924.
32. Rene Arnaud : The Second Republic and Nepoleon III, London, 1930.
33. Robertson : Bismarck, London, 1947.
34. Robinson and Beard : The Development of Modern Europe, Vol. II, New York, 1908.
35. Shapiro : Modern and Contemporay European History, Cambridge, U. S. A., 1953.
36. Schevill : A History of Europe, New York, 1946.
37. Smith G. P. : Outlines of British History, London, 1920.
38. Stephens : Revolutionary Europe, London, 1924.
39. Strachey : Queen Victoria, London, 1948.
40. Strong : Dynamic Europe, London, 1945.
41. Thompson : The French Revolution.
42. Thomson : Europe since Napoleon, London, 1960.
43. Trevelyan : British History in the Nineteenth Century and After, London, 1948.
44 Trevelyan : Garibaldi and the Thousand, London, 1936.
45. Vernadsky : A History of Russia, Philadelphia, 1944.
46. Wakeman : The Ascendancy of France, London, 1927.
47. Warner and Martin : The Groundwork of British History, London, 1931
48. Wells : The Outline of History, 1950